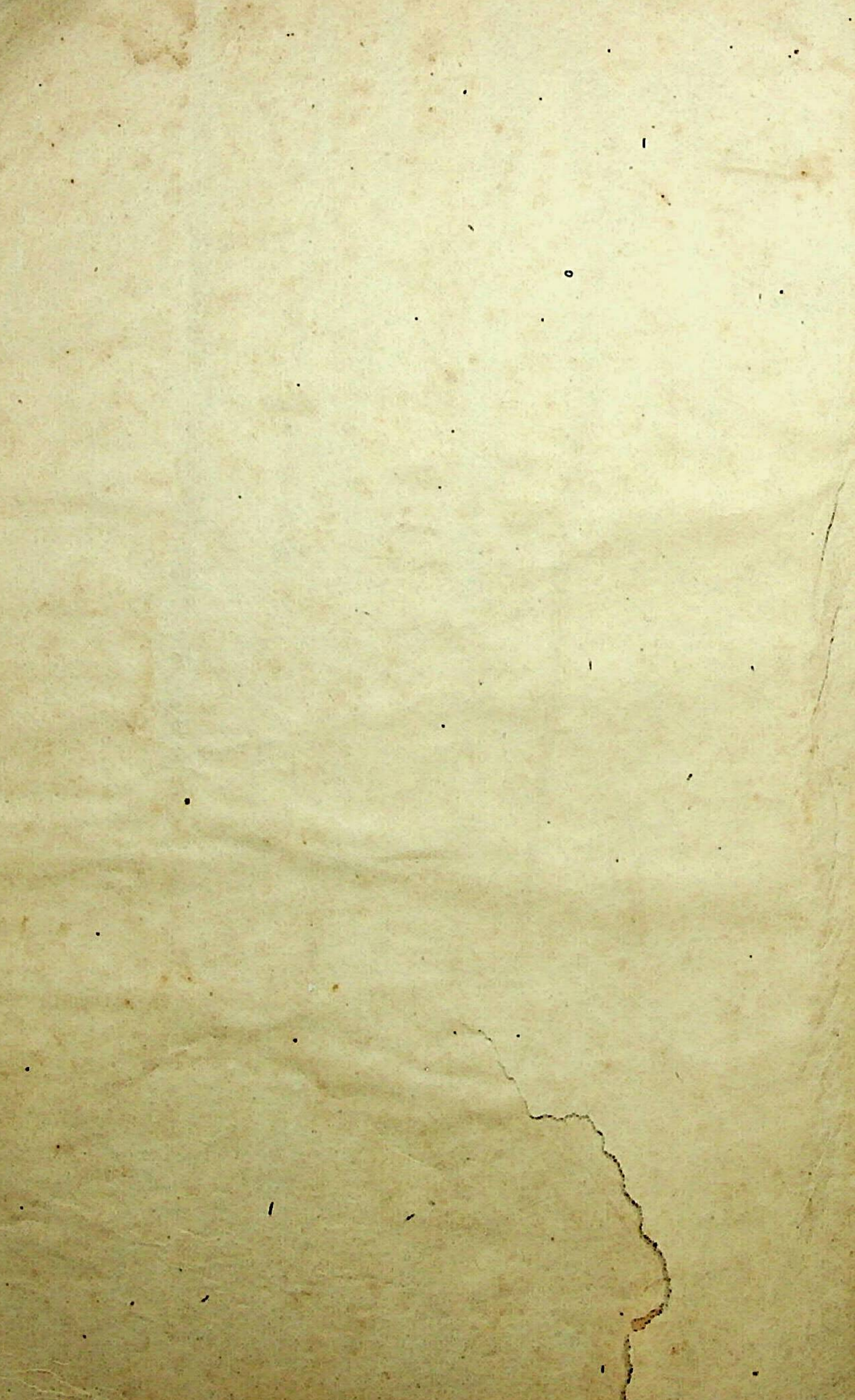
सूर्य्यप्रभा किंवा वैभव पिशाचः

हीरं नैव विचिन्तयन्ति पटवो निष्कासितं केन वा,
कस्माद्वारिधितो विनिर्गतमदः काले कदा निर्मितम् ।
आभां निर्मलतां परीक्ष्य विविधं गृह्णन्ति निःशङ्किताः,
तद्वत् दृक्समतां विधाय कवयः! काङ्क्षन्तु सूर्यप्रभाम् ॥

—कविराज श्रीनिवास शास्त्री



सू
र्श
प्र
भा

किं वा वैभवपिशाचः

सत्यं गुणा गुणवतां विधिवैपरीत्याद्
यत्नार्जिता अपि कलौ विफला भवन्ति।
साफल्यमस्ति सुतरामिदमेव तेषां
यत्तापयन्ति हृदयानि मुहुः खलानाम् ॥

सब मनुष्योंद्वारा सबकेलिए सभी उपायोंसे सबका सर्वत्र अभि=सर्वतो भावेन उदय [सर्वेण सर्वस्मै सर्वस्मात् सर्वस्य सर्वस्मिन्नभित उदयः] सर्वाभ्युदयका शब्दार्थ हैं। यह मानवके धर्मात्मभावसे होता है। धर्मात्मा शब्दका आशय मन्दिरी कीर्त्तनिया तिलकी प्रदर्शनप्रिय आधुनिक दाम्भिकों से नहीं है, अपितु मनुप्रोक्त "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्से अभीप्सित आकृत्या एवं प्रकृत्या मानवसे है। धर्म गुण है अतः उसको धर्मीद्वारा देखा जाता है। धैर्यादिमान्में धैर्यादिकी प्रतीति होती है। उन्हें पृथक् नहीं देख सकते, क्योंकि वे शब्द अर्थकी तरह अभिन्न है। अतः धृत्यादि धर्मके साथ तद्वान् होना ही पूर्ण मनुष्यता है। वस्तुतः आकृति एवं प्रकृतिसे वही मनुष्य है। आरम्भमें पुरुष वैसे ही थे शनैः शनैः पुञ्जवादी प्रवृत्तियोंसे प्रकृति परिवर्त्तित हुई, फलतः मानव मानसरोगाक्रान्त हुआ।

जिन दुस्तत्त्वोंसे विकृति हुई, उनका निराकरण ही मानवताका विकास है यही सर्वाभ्युदयकी प्रतिष्ठा है। प्रस्तुत उपाख्यायिका सर्वाभ्युदय विचारधाराके आधारपर है। पुञ्ज निर्जीव वस्तु के ढेरका नाम है। वह चाहे नोटोंका हो, मकान सोना चान्दी या अन्य वस्तुओंका। [उन्नत्या पुमांसं जयति स पुञ्जः] जो बढ़कर पुरुषको तिरस्कृत करदे वह पुञ्ज है। इन पुञ्जोंसे ईश्वरमूर्त्ति मनुष्यमें दोषाविर्भाव हुआ, जिसको चिकत्साका विवरण इस ग्रन्थ में है।

—श्रीमदाचार्य श्रीनिवास शास्त्री

इस ग्रन्थपर राजस्थानशासनद्वारा २५००) का सर्वोच्च पुरस्कार एवं उत्तरप्रदेशशासनद्वारा 'श्री गङ्गानाथझा पुरस्कार मिला है केन्द्रीय शासनने इसकी प्रतियां खरीदी हैं श्रीगोविन्द नारायणजी न्याय साहित्याचार्य, प्राचार्य, महाराज सं कालेज जयपुर, प्राचार्य संस्कृत कॉलेज कलकत्ता, श्री सुनीति कुमार चटर्जी म० स० कालीपद तर्काचार्य आदि मूर्धन्य पण्डितों की सम्मतियाँ हैं।

लेखक :—

कविराज श्रीनिवास शास्त्री, आयुर्वेदाचार्यः काव्यतीर्थ, पुराण तीर्थ, साहित्यरत्न, B. A., D. N. T.

प्रकाशक :—श्रीवाणीवेश्म

१६१/१, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-७ फोन : ३४-६८०२

(१) साधिकारविक्रेता :—श्रीनिवास आयुर्वेदभवन

१६१/१, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-७

(२) सर्वाभ्युदय, राजगढ़ पो० सादुलपुर जि० चूरू (राजस्थान)

विक्रेता :—भारतके प्रसिद्ध बिक्रेता

मूल्य :—दश रूप्यकाणि [दश रुपैये]

मुद्रणकाल :—वैक्रम संवत् २०२५ [अगस्त सन् १६६८ ई०]

मुद्रक :—मृणालकान्ति चौधरी

न्यू अल्फा प्रिंटिंग प्रेस

३४ए, सरकार लेन, कलकत्ता-७

बीजम्

परिमाण, प्रमाण, आयु, शक्ति, रूप, रङ्ग, लिङ्ग, वर्ण, वर्ग, धर्म, देश वेषके भिन्न होनेपर भी असंख्यजनोंको मलेरिया आये तो लक्षण समान ही होंगे। शीत लगना, दांत कटकटाना, घरभरके रजाई कम्बल ओढ़ना ६ डिग्री तक ज्वर बेचैनी उल्टी शिरदर्द आदि सभी होंगे। ये लक्षण उक्त वर्णवर्गादिसे सम्बन्धित नहीं, कोई इन लक्षणोंका स्वाँग रचता हो, ऐसो बात भी नहीं, अपितु उस रोगके आक्रमण होनेपर सभी ऐसा करते हैं, अतः उक्त दोष उसी रोगके हैं, यह सिद्ध है।

जो धार्मिक आस्तिक, मर्यादापोषक मधुरभाषी उदार परदुःखकातर एवं पतिव्रत पत्नीव्रतके उदात्त पोषक थे, पर थे दरिद्र, अत एव समाजोपेक्षित। उनके लिए सोचा था कि वे धनी हुए तो भी इनके स्वभावमें परिवर्त्तन न आ सकेगा। धनागमसे सद्गुणोंका मेल स्वर्णारविन्दपरिमलसा होगा। पर, यह भ्रम सिद्ध हुआ। पुनश्च यह सम्भव भी कैसे था कि मलेरिया आये और शीत न लगे ज्वर न चढ़े ?

धन आया वे बदले। परिवर्त्तनको दर्शक देखते रहे, पर, वे न देख सके आँखके काजलकी तरह। पवित्र गंगाजलपायी धार्मिकता आस्तिकता के ठेकेदार अब सपत्नीक होटलोंमें चषक चूसने लगे आमलेट खाने लगे, मांसाशियोंकी पंक्तिमें मुर्गा, बतक, गौ और बकरीके मांसके पारखी गिने जाने लगे। गङ्गाङ्कविहारी अब रंगभरी रातोंमें मयङ्कमुखी पौरवधुओंके अङ्कविहारी बने पत्नीव्रतनिर्वाहक अब कर्सियांगसे कमनीय काननोंमें कुमारियोंसे निर्व्रीड क्रीडारत हुए। सत्य, उनकेद्वारा अपवित्र और अव्यवहार्य घोषित हुआ, जीवनसे फेंका गया। मधुरभाषिता, उदारता, परदुःखकारतरता अब दरिद्रोंको वस्तु बनी आस्तिकता वञ्चना और गरीबोंकी स्थितिपर बिना तरस खाये बड़ासा मुंह बनाकर शुद्ध मक्कारीको हंसी हंसकर स्वकृत गरीबी और बेवसीको देशका कलङ्क कह, उसे हेय करार देना बना उनका 'तकिया कलाम'। दूसरेके लिये कटु शब्द सुनकर दुःखी होने वाले अब निःसङ्कोच एकही ग्रासमें पूरे परिवारको निगलने पचानेवालेकी शक्ति रखने लगे। अर्धनग्न चित्रको देखकर 'शिव शिव' कह कलाकार को कोसनेवाले अब प्रेममन्दिरमें प्राकृतिक सौन्दर्यके

पुजारी बन निर्वस्त्र 'नूर' के लिए दर्जनों दलाल रखने लगे। समाजशासनसे निर्भय वे व्यभिचारको 'पर्सनललाइफ' में सुरक्षितकर, उसपर कहना अपराध कहने लगे और समाजमें शासनमें घुसकर अपने रोगोंको निर्बाध फैलाने लगे।

पर यह सब हुआ कैसे ? क्या यह धनीका दोष है ? नहीं। यह तो स्पष्ट ही धनका दोष है मलेरियाकी तरह। धनीसे निर्धन होने पर ये दोष कहां रह पाते हैं ? मलेरियामें जिस दिन ज्वर नहीं होता तो रोगी ठाठसे खाता है, सुखसे रहता है। पर, दूसरे दिन ज्वर आते ही सारे लक्षण पुनः उत्पन्न होते हैं। गम्भीरता से चिन्तन करने पर आजका धनो धनपति नहीं, धनरोगीसा प्रतीत होता है। इस रोगकी यह विशेषता हैकि मीलों दूर बैंकोंमें जमा रहने पर भी सम्बन्धित पुरुषमें धनरोगके लक्षण पैदा करता है जबकि अन्य रोग शरीर में प्रवेश करनेके बाद विकार उत्पन्न करते हैं। एकसौ चार डिग्री ज्वर हानेपर कुछ रोगी चुपचाप पड़े रहते हैं और कुछ मोहल्लेभरको उठा लेते हैं इसे उनका चातुर्य्य या सहिष्णुता कहा जा सकता है। यह दोनों स्थितियां इस रोगी को भी हैं।

स्वयं त्रस्त और विश्वको त्रस्त करनेवाला यह बेचारा दयापात्र जन्तु धन रोगी विवेकसम्पन्न समाजसे चिकित्साकी प्रतीक्षामें है। जैसे भी हो, इसकी चिकित्साअविलम्बहोनी ही चाहिए। विवेकहीन रोगी अपने उज्ज्वल भविष्यको न समझकर चिकित्साके लिए आनाकानी कर सकता है, पर विवेकी चिकित्सक उसकी एक न सुन उसकी चिकित्सामें लग ही जाते हैं और रोगी स्वस्थ होनेपर उनका कृतज्ञ बना रहता है।

धन रोगको निर्मूल करनेके लिए विवेकी समाजको भारतीय पद्धतिसे यह कार्य करना है।

सावधान ! इसकी चिकित्सामें बाहरी अभारतीय उपकरण काममें न लाये जांय।

त्रपाश्यामा जम्बूर्व्रणितहृदयं दाडिमफलं
सशूलं सन्धत्ते हृदयमवमानेन पनसः ।
अभूदन्तस्तोयं तरुशिखरगं लाङ्गलि फलं
रसाले सम्प्राप्ते जगति फलराजे रसमये ॥

श्रीवाणीवेश्मोपस्थापयति-

सूर्यप्रभां कृष्णतारया, चन्द्रेण च सह

वैभवपिशाचे

[अत्र सर्वाणि पात्राणि, स्थानानि, नामानि च कल्पितानि, क्वापि केनापि कथमपि सम्बन्धो भासेत चेदाकस्मिक एव सः]

कथाकारः— श्रीमदाचार्यः श्रीनिवासशास्त्री के० के०

नानीयन्ते मधुनि मधुपाः पारिजातप्रसूनै-
र्नाभ्यर्थ्यन्ते तुहिनरुचिना चन्द्रिकायां चकोराः ।
अस्मद्वाचां धुरि मधुरिमा यद्यपूर्वावतारः
सोल्लासाः स्युः स्वयमिह बुधाः किम्मुधाभ्यर्थनाभिः ॥



Shri Vani Veshma, Presents

SOORYAPRABHA

With

KRISHNATARA and CHANDRA

in

VAIBHAVA PISHACHA

Story by—Shrimadacharya Shriniwas Shastri. K. K.
[Room D-9, 54 Ezra St. Calcutta—1]

भूमिः

श्रीमतामक्षिसमक्षं सूर्यप्रभां निक्षिपन् परं सङ्कोचमञ्चामि। एषा खरा घर्मस्राविणी विक्लवावहेति मे नाणीयोऽपि सङ्कोचकारणम्, यतो भवन्तोऽद्यतने जगत्यनयाभ्यस्ताः, अपि तु सूर्यप्रभायां कलङ्किताया: कणमेव प्रदर्शयितुमपारयमित्येव मे सङ्कोचकारणम्। बहुविधां वर्णिकां कणश उपस्थापयितुम्, विश्वस्मै नवीनां विचारसरणिं चिन्तनाय नवीनां दिशं वामु प्रयासं मन्येरन्नाम केचन वचस्विनः, निश्चित-मेवादरास्पदानि ते।

यैर्भावैर्भावनेयं प्रजननमाससाद, येनाहमङ्कानत्रालमकृषि, तान् भावोत्पादकान्प्रति कृतज्ञताज्ञपनमपि मम कर्त्तव्यमामनन्ति मनस्विनः।

ग्रन्थस्थैर्विचारैः पाठका मां क्रुद्धम्, क्षुब्धम्, भ्रान्तम्, केचन बुद्धम्, शुद्धम्, परिपक्वमतिं वा वदिष्यन्ति, वदेयुर्नाम। भूर्विशाला विचारा अनन्ताः, कालश्च निरवधिः। कदाचन लोक इमान् विचारानादरेण पश्येत्, सतोऽपि वदेद् व्यवहरेच्चेत्याशयाऽलिखम्। लोकः पठतु, निध्यायतु, अनुतिष्ठतु, निन्दतु, अपवदतु वेति तस्येच्छा।

> सत्यं गुणा गुणवतां विधिवैपरीत्याद्
> यत्नार्ज्जिता अपि कलौ विफला भवन्ति।
> साफल्यमस्ति सुतरामिदमेव तेषां
> यत्तापयन्ति हृदयानि मुहुः खलानाम्॥

अहं लोकस्य मानसमभ्येतुमचेष्टिषि। बृहत्यातुरालये प्रतिदिनं विविधपरिस्थितिप्ररूढानां शताधिकानां जनानामध्ययनादेतदध्ययनं सारल्येनाजायत च।

मानवः शाश्वतसुखाभिलाषः। प्रणाल्यां वैविध्यं भवेत्परं लक्ष्य-मेकमेव। तदर्थमेतस्य कणोऽपि यद्युपयोगाय मन्येत; अद्यतनसत्य-मन्वेषयितुं वैकल्यमनुभवद्भिर्वायमुपयुज्येत मम श्रमः सफलः—

श्रीवाणीवेश्म
डी ६
५४, इजरा स्ट्रीट, कल-१

श्रीनिवास शास्त्री
श्रीनिवा



श्रेयःशोचिःस्रोतसां ज्यायसां प्रवयसां विदुषां

मनसि

निरागसां सुखायुषां सौजसां सचेतसां सवयसां

वचसि

अनल्पीयसाऽनेहसाऽनणीयसामंहसामोकसां धरौकसा-
मद्यतनहिरण्यकशिपुहिरण्याक्षरावणानां

शिरसि

गरीयसोऽहंसोऽनसां पापीयसां
दोषैकदृशां सरुषां सतमसामतपसां सरजसां

वक्षसि

निक्षेपः



लेखकस्य प्रथम उपन्यासश्चन्द्रमहीपतिरुत्तरप्रदेशशासनेन सर्वोच्चं राजस्थानशासनेन च विशिष्टं पुरस्कृतः। मध्यप्रदेशोत्कलमहाराष्ट्रजम्बूकाश्मीरराजस्थानशासनैः स्वशिक्षासंस्थासूपादेयो घोषितः, महाराष्ट्रशासनेन, वङ्गशासनेन च क्रीत्वा स्वशिक्षालयेषु दत्तः, विदेशविश्वविद्यालयेषु ससम्मानं प्रेक्षित आकारितो भारतीयैर्बाहीकैश्च भाषाशास्त्रिभिर्महामहोपाध्यायैर्लेखकैः कविभी राजनयकर्णधारैः प्रशंसितश्च। चन्द्रमहीपतिर्नैतादृशसम्मानभाजनमासीत्, परम्, बालकाकलीमाकर्ण्य प्रणयप्रस्नुता इव ते तथाकार्षुः।

लेखकः सर्वान् प्रत्येव साभारः।

आधुनिकसूक्तम्

The wealthy, though of meanest birth,
Are much respected on the earth,
The poor, whose lineage is prized,
Like clearest moonlight, are despised. (1)

जन्मसे परम अधम भी धनी, परम सम्मानभाजन होता है और विशदतम चन्द्रिकाके तुल्य निष्कलङ्क कुलमें जन्मा हुआ, किन्तु दरिद्र, असम्मानपूर्ण दृष्टिसे देखा जाता है ॥१॥

The wealthy, are however, old,
Rejuvenated by their gold,
If money has departed, then,
The youngest lads are aged men. (2)

धनी कितना ही वृद्ध हो, पर निरन्तर धनरसायनसे कायाकल्प किया हुआ युवा ही रहता है। धन चला जाये तो छोटे बच्चे भी उससे प्रौढ हो जाते हैं ॥२॥

Charms, courage, eloqence, good looks,
And thorough mastery of books,
If money does not back the same,
Are useless in the social game. (3)

समाजमें नरको धनका सहारा न मिले तो आकर्षण, साहस, प्रवचन शक्ति, सौन्दर्य और शास्त्रोंकी प्रवीणता सर्वथा व्यर्थ हैं ॥३॥

Conduct, patience, purity, manners,
Loving, kindness, birth,
After money disappears,
Cease to have the slightest worth. (4)

सच्चारित्र्य, धैर्य, शुद्धता, सुन्दर प्रणाली, प्रियदयालुता कुलीनताका कोई अर्थ नहीं यदि धन नहीं ॥४॥

Wisdom, sense and social charm,
Honestpride and self esteem,
After money disappears,
All atonce become a dream. (5)

धन नष्ट होनेपर बुद्धिमत्ता, चेतना, सामाजिक आकर्षण, शुद्ध मान और स्वाभिमान स्वप्नसे अधिक मूल्य नहीं रखते ॥५॥

'कश्चन'

ब्रह्मसूक्तम्

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता दधातु मे ॥

सारः—वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु, और ब्रह्मा मुझे मेधा दें ।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ॥

सारः—ऋभु, असुर और ऋषि जिस मेधाको जानते थे वह उत्तम मेधा मुझे दो ।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कृणु ॥

सारः—विश्वस्रष्टा मेधावी ऋषि जिस मेधासे मेधावी थे, वही मेधा मुझे दो ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥

सारः—हे अग्ने ! देव, पितर जिस मेधाको धारण करते हैं, वह मुझे दो ।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

सारः—ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यशूद्रोंमें तेज हो ।

वर्च आधेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रतिगृह्णामि शतशारदाय ॥

सारः—मुझमें तेज ओज दीर्घायुः एवं बल दो । सम्पन्नेन्द्रियता, शक्ति कर्मसामर्थ्य मुझमें सौ वर्ष तक बना रहे ।

इदं मे ब्रह्मक्षत्रश्चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमाम् ॥

सारः—ब्राह्मणक्षत्रिय श्रीका उपभोग करें । देवगण मुझमें श्रीका आधान करें

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ।
नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥

सारः—धनियोंमें एवं समानोंमें मैं श्रेष्ठ हो सकूं । धनियों एवं समानोंका केन्द्र हो सकूं ।

मा मां प्राणोहासीन्नो अपानोऽवहाय परागात् ।

सारः—प्राण अपान मुझे छोड़कर न जायें (मैं जीवित रहूँ) ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं ददतु शन्तिवाम् ॥

सारः—पिता-माताके अनुगामी सुमना सुत हमारे हों । शान्त वाणीका व्यवहार करनेवाली स्त्रियां पतियोंके लिये मधुर हों ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं ददतु भद्रया ॥

सारः—भाई-भाईमें बहिन-बहिनमें द्वेष न हो । अनुकूल एवं समान व्रत होकर भद्र व्यवहार करें ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सञ्ज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

सारः—जिससे देव प्रतिकूल न हों, न द्वेष करें, वह चैतन्य ब्रह्म हमारे पुरुषोंमें हो ।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥

सारः—माता, पिता, गौ, विश्व और मानवका मङ्गल हो । सर्वविध ऐश्वर्य उत्तम ज्ञान हमें प्राप्त हो, बहु काल तक सूर्यको देखते रहें ।

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते, रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते ।
असिन्वन्दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं यस्ता कृणो प्रथमं सास्युक्थ्यः ॥

भावः—भगवदनुग्रहेण, गृहस्थाश्रमिणः पुष्टिं=पोषकं द्रव्यं धनादि, प्रजाभ्यः=लोकाय, विभजन्तः=परस्परं विभागशः कुर्वन्तः, आसते=स्वगृहेषु सुखं निवसन्ति । अत्रोदाहरणम्—यथा आयते=आगन्तुकाय अतिथये पृष्ठम्=पृष्ठवद्देहधारकम्, प्रभवन्तम्=प्रभुत्वशक्तिं कुर्वाणम् (असामान्यम्) रयिमिव=धनमिव । अयम्भावः-यद् गृहस्थाः स्वार्जितं द्रव्यं निःसङ्कोच-भावेन तथा परस्परं विभजन्ति यथा राष्ट्रेऽतिथिभ्यो निःसङ्कोचं प्रचुरं धनं दीयते । सर्वत्र गृहेषु असिन्वन्=स्वयोग्यं कर्म कुर्वन् सर्वः पुत्रः पितुर्गृहे

दंष्ट्राभिरन्नं चर्वयन्नत्ति। कर्म कुर्वाणं युवानं पार्थक्यभावाय न कश्चन प्रेरयति। संयुक्तपरिवार एवात्राभिमतः। अतः स युवा शान्तमनाः सुमना निर्विकार-भावेनान्नं दंष्ट्राभिश्चर्वयन् वर्त्तते। भगवन्, यस्त्वम्, एतद्राष्ट्रव्यवस्थापकं विधानमकरोः, अतस्त्वमस्माकं प्रथममुक्थ्यः=पूज्योऽसि।

सारः—भगवन्, गृहस्थी धनका आपसमें उसी तरह निःसङ्कोच भावसे विभाजन करते हैं, जैसे आगन्तुक अतिथिको प्रचुर एवं प्रभुत्व सामर्थ्य देनेवाले धनको निःसङ्कोच भावसे देते हुए करते हैं। सभी जगह कर्म करने वाले युवक पिताके घरमें सानन्द भोजन करते हैं। उनमें परिवारसे पृथक् रहनेकी भावना नहीं है। ऐसा विधान बनानेवाले भगवान् तुम हमारे सर्व-प्रथम पूज्य हो।

ओं गोत्रं नो वर्द्धतां वेदाः सन्ततिरेव च।
[हमारा गोत्र समृद्ध हो, वेद और सन्तान भी]
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहु देयञ्च नोऽस्तु
[शास्त्रोमें श्रद्धा रहे और हम बहुत दे सकें]
अन्नञ्च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि
[हमारे बहुत अन्न हो, बहुत अतिथि मिलें]
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन
[हमसे लोग मागें, हम किसीसे न मांगे]।
जीवेम शरदः शतम्। पश्येम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

चैत्रशुक्ला ४ रवौ
पूर्वरात्रे १०.१५
२०१६ वै०

श्रीः

श्रीमदाचार्य्यश्रीनिवासशास्त्रिविरचितं

श्रीनिवासकाव्यम्



तस्यायं द्वितीयो भागः

सूर्यप्रभा

किं वा

वैभवपिशाचः

ब्रह्माण्डैरण्डकाण्डा निखिलखलबला डिण्डिमोद्घोषचण्डा
मुण्डोद्दण्डा वितण्डा गुणिगुणनिगडा खण्डयमार्त्तण्डपिण्डा ।
चञ्चत्पण्डाथ शौण्डी विहतजनमहा मण्डभाण्डाऽऽत्तदण्डा
पाखण्डाऽऽषण्ढकुण्डा जयति जितजया कापि रण्डा प्रचण्डा ॥१॥

वाल्मीक्याद्यकवीश्वरैर्निरुपमं ख्यातां कलाकौमुदीं
वाक्यैः सिद्धसुधैः स्रवन्मधुरिमापूर्णैः समासेविताम् ।
सद्वर्णोज्ज्वलदिव्यवैभववरां स्निग्धां मनोमादिनीं
वन्द्यामद्य सरस्वतीं कतिपयैः सेवे नु रूक्षाक्षरैः ॥२॥

वाल्मीकि आदि कवीश्वरोंद्वारा सुधामधुर वाक्योंसे सादरसेवित, कला-प्रकाशिका, दिव्यवैभवा स्निग्ध मनोमादिनी वन्दनीया वाणीकी आज मैं कुछ रूखे अक्षरोंसे सेवा करता हूँ ।

सिङ्घाणाकुलितोऽप्यनारतगलल्लालोऽप्यजस्रं रुदन्
क्लिन्नाक्षो मलिनोऽपि शौचविकलो नग्नोऽपि भग्नोऽपि वा ।
पुत्रः स्वस्य विचुम्ब्य निर्भररसं निश्शङ्कमङ्के मुहु-
र्मात्राऽऽरोप्यत एव वत्सलतया केनात्र सन्दिह्यताम् ? ॥३॥

क्या ऐसा समझते हैं कि माँ स्वीकार न करेगी इन रूखे अक्षरों को ? नासामलसे दूषित, लार गीडसे वेष्टित, मैले कुचैले नग्न-भग्न बच्चेको भी

पूर्ण रससे निश्शङ्क गोदीमें लेकर चूमती ही है माँ, उसका वात्सल्य उसे ऐसा करनेको विवश करता है, अतः कौन सन्देह कर सकता है कि वह इसे अस्वीकृत करेगी ?

सारल्यं सुखबोधनाय जगतो न्यासि प्रयत्नान्मया
गर्भान्निर्गतमात्र एव हि शिशुर्यस्मिन् सुखं खेलतु ।
न स्यादत्र कुवेत्रहस्तविहितः प्रासादरोधो मनाङ्
निःस्वैर्लभ्यमिनैर्यथा मधुरिमन्यासज्जनं सज्जनैः ॥४॥

सभीके सुखपूर्वक समझनेके लिये प्रयत्नपूर्वक सरलतासे विषय इसमें वर्णित है यतः साधारण ज्ञान वाला शिशु भी इसमें सुखपूर्वक खेल सके। इस प्रासादमें कुवेत्रहस्त प्रहरी द्वारा प्रवेशनिषेध न हो। यहाँका आनन्द निर्धन भी धनियोंके समान उपभोग करें।

यत्र क्वाप्यतिशायि सत्कविमनोमोदि प्रकृष्टं वच-
स्तत्प्राप्तं सुधियः सदुच्चसुकृतेः सर्वोच्चवाग्वैभवात् ।
नैयून्यन्तु यदत्र कुत्रचिदपि प्रेक्ष्येत तच्चास्तु मे
स्वल्पज्ञस्य विवेकविच्युतमतेर्मृष्येत जोषं बुधैः ॥५॥

इस ग्रन्थमें कहीं अच्छा मनोमोदी शब्द मिले तो उसे किसी विद्वान्से प्राप्त हुआ समझें और न्यूनता मिले तो मेरी। इस अल्पज्ञताको क्षमा करें।

यस्यामद्यतनं श्रुतं व्यवहृतं वृत्तं हृदुद्वेजकं
दृष्टाधीतपरीक्षितं विलिखितं विद्वद्विनोदाय सा ।
काव्यानन्दसुधामयी बुधमता सूर्यप्रभा सेव्यतां
गुर्वी मङ्गलिनी शनैश्शशिसमा सर्वग्रहाभोगिनी ॥ ६ ॥

इस ग्रन्थमें देखे, पढे, परीक्षित, आधुनिक हृदुद्वेजक व्यवहार विद्वानोंके विनोद (विशेष प्रेरणा) के लिये लिखे हैं अतः सूर्यप्रभा विद्वानोंके सेव्य है

भङ्क्त्वा पर्वतसन्निभां वसुमयीं पाषाणकारां बुधाः
विश्वं वैभवमूढमात्मनिरतं द्राग्बोधयेयुर्हितम् ।
येन स्याद् विभवार्चनस्य विषये जीवार्चना सर्वतः
कारुण्याम्बु च निर्झरेद्विभविनां शून्यात्कठोराद्धृदः ॥७॥

विद्वानोंको पर्वतोच्चा वसुमयी पाषाणकाराको तोडकर वैभवमूढ विश्वको हित बतलाना चाहिये, ताकि धनपूजाकी जगह मानवपूजा होसके और धनियोंके कठोर हृदयसे कारुण्याम्बु वह सके।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगविद्धमनसो वाणी यथाच्छ्लत्कवेः
मर्त्यं मर्त्यनिपीडनाय निरतं वीक्ष्यैव तद्वन्मम।
उद्यच्चूतसुमे यथा पिककुलं माद्यन्मधावुत्स्वनं
भावे विज्ञमनःप्रवेशनिपुणे वाचां प्रचारो ध्रुवम् ॥८॥

जैसे वाल्मीकिके मुखसे क्रौञ्चद्वन्द्वके वियोगदुःखसे वाणी निकल पड़ी, तद्वत्, मानवको मानवसे पीडित देखकर मेरी वाणी भी प्रस्फुरित हुई। आम्रके बौर लगनेपर विना प्रेरणाके ही कोकिलकाकली सुनाई पड़ती है। वस्तुतः, भाव जब भावुक मानवके मानसमें घुसता है तो वाणी स्वतः प्रस्फुटित होती है।

'यूकाः सन्ति' विचार्य किं वनितया चण्डातकं मुच्यते ?
वैपुल्यञ्च गवां विचार्य कृषकैर्वापो नु किं त्यज्यते ?
लोकैर्दस्युभयाच्च विश्रमसुखं किं वैभवं नार्ज्यते ?
वर्त्तन्ते कृतिनोऽन्तरायविहता अप्येकलक्ष्याः सदा ॥९॥

'जूयें है' यह सोचकर कोई स्त्री लहंगा नहीं फेंकती, पशुवोंकी विपुलताको देखकर कृषक बुआई नहीं छोडते। लोग चौर डकैतोंके भयसे विश्रामकालमें सुख देने वाले धनको इकट्ठा करना नहीं छोडते। अपने अपने लक्ष्यपर विघ्नबाधा होनेपर भी लोग चलते ही हैं।

उर्व्यां निर्भयनिर्भरं स्वपिति यः कृत्वोपधानं भुजं
मुद्गानङ्कुरितान् मनाग्घृतयुजो गव्यं पयः सेवते।
दृश्यश्रव्यपतिः पदेऽतुलरतिर्निर्द्वन्द्वराजेश्वरो
ब्रह्मानन्दमखण्डमश्नुति गृहे सर्वास्ववस्थास्वपि ॥१०॥
चन्द्रो येन महीपतिर्विरचितः प्राज्ञैर्मतः शैशवे
जाग्रद्वृत्तविचारशोधमहिता सूर्यप्रभा यौवने।
विक्रीतं न कदापि येन विपदा सारस्वतं वैभवं
सोऽयं काव्यकलाविदामनुचरः श्रीश्रीनिवासो भिषक् ॥११॥

अपनी भुजाका तकिया लगाकर निर्भय निर्भर पृथ्वीपर सोनेवाले, किञ्चित् घी डालकर अङ्कुरित मूँग और दूधका सेवन करने वाले, दृश्यश्रव्यमें साधिकार, शब्दशास्त्रके प्रेमी, अपने क्षेत्रके प्रतिद्वन्द्वीविहीन राजेश्वर, सभी अवस्थाओंमें, अखण्ड ब्रह्मानन्दका अनुभव करने वाले, काव्यकलाविद्वानोंके अनुगामी विपत्ति आनेपर भी सारस्वतसम्पत्तिका विक्रय जिसने कभी न किया, उस वै० श्रीनिवासशास्त्रीने प्राज्ञसम्मत चन्द्रमहीपति शैशवसमयमें और आधुनिक विचारसम्पन्न सूर्यप्रभा यौवनकालमें लिखी।

वित्तान्धदुर्मदधियां कुटिलैः कटाक्षैर्मा लेखनि त्वमिह भीकुलकातरा भूः।
काल्यन्तिके मयि लिखावनिमङ्गलं द्रागङ्गारवाचि किल भीः पदशार्ङ्गपाणौ

धनमदसे उन्मत्त कुबुद्धियोंके कुटिलकटाक्षसे तू कही डर न जाना लेखनि ! अङ्गारवाक् पदशार्ङ्गपाणिके पासमें रहते तुझे भला डर ही क्या है ?

मात्सर्येर्ष्याद्वेषपांसुप्रपूर्णाः स्वल्पोद्रेके सैकतं सारयन्ति।
उद्यानानि स्वैरमप्रार्थितानि श्रान्तौ कान्तं सौरभं सारयन्ति ॥१३॥

मात्सर्य ईर्ष्या द्वेषधूलसे भरे हुए लोग साधारणसी उत्तेजना होनेसे ही धूल वरसाते हैं, और उद्यान विना किसी प्रार्थनाके यथेच्छ मनोरम सौरभ फैलाते हैं। यह स्वभाव सिद्ध है।

विड्भुग्वराहशिशुसंव्यथनायतानां रथ्येशतां गतवतां कुशुनां कथा का ?
लक्ष्यं द्विपाधिपविदारिनखाग्रभङ्गो लोकाय लोककृतमात्ममितं सुखञ्च

विष्ठाभक्षी सूअरके बच्चेको डरानेकेलिए टांगे चौड़ीकर खड़े हुए स्वतः गलीके मालिक बने हुए कुत्तोंकी कोई बात नहीं ? हमारा लक्ष्य है गजेन्द्रको विदारण करनेवाले सिंहके नखके अग्रभागको तोड फेंकना और लोकमें लोककृत अपने समान सुख फैलाना।

येनोद्धृता वसुमती सुमतिश्च राष्ट्रात्,
कीटीकृतो विभुनिभः सगुणो मनुष्यः।
वैद्यज्ञभक्तजननायककारणाय
तस्मै नमो भगवते वत रूप्यकाय ॥१५॥

धनधान्यपूर्ण पृथ्वी और सद्बुद्धिको जिसने राष्ट्रसे उखाड़ फेंका, ब्रह्मके समान सगुण मनुष्यको जिसने कीटतुल्य कर दिया, वैद्य, विद्वान्, भक्तप्रवर, और जननेताके निर्माणके कारण उस आधुनिक भगवान् रुपयेको नमस्कार है।

लोका वदन्ति नहि लोककथा नवीना
या निर्दिशेत्प्रतिदिनं जगतः कथां नः।
अद्यत्ववृत्तपरिशीलनगर्ह्यबुद्धे-
र्भीतोऽपि देवगिरि कल्पनया लिखामि ।।१६।।

लोग कहते हैं कि संस्कृतमें आधुनिक जन-जीवनकी कोई कथा नही है, इस कमीको पूर्ण करनेकेलिए, आधुनिक व्यवहारके परिशीलनसे सम्भावित गर्ह्यबुद्धिसे डरता हुआ भी, संस्कृतमें यह कल्पनासे लिखता हूँ।

नाहं कविर्न च बुधो विदुषामुपासी
नानल्पधीः शिशुरहं विकलाकुलाक्षः।
सत्रीकृतक्षितितलान् विदुषोऽनुयास्यन्
पार्श्वेऽनुभूतमसतां लघुनाङ्कयिष्ये ।।१७।।

मैं न कवि हूँ न विद्वान्, केवल विद्वानोंकी उपासना करता हूँ। विपुलबुद्धि भी मैं नहीं हूँ। मैं विकल आकुलेन्द्रिय शिशु हूँ। पर अपने चरणक्षेपसे पृथ्वीको यज्ञ करदेनेवाले विद्वानोंका अनुगमन करता हुवा दुष्टोंके सम्पर्कसे ज्ञात वृत्तको संक्षेपमें लिखूँगा।

नादः सुमं सुरभिसत्कृतनामधेयं
नो वा सुरागसुभगाक्षिसमूहकर्षि।
नो वा विचित्ररचनाचकितीकृतज्ञं
मातुः पदेऽर्पितमतोऽतिगुणास्पदं स्यात् ।।१८।।

पुष्पमें तीन आकर्षण होते हैं—गन्ध, रंग और रचनावैचित्र्य। पर यह ग्रन्थपुष्प सुरभिसे अच्छा नाम न प्राप्त कर सका, न अच्छे रंगसे भले मनुष्योंकी आँखोंको खींच सका और न विचित्ररचनासे विद्वानोंको चकित कर सका। माताके चरणोंमें अर्पित होने के कारण ही सम्भवतः अतिगुणास्पद समझा जाय।

नालङ्कृतिर्न वसनं न च भव्यसज्जा
शोभा न वा गुणिषु गण्यतमाः गुणाश्च ।
प्रेष्ठाः परं तदपि सेवितुमर्थये वः
सूर्यप्रभां जगदरुक्करणीं वरेण्याम् ।।१९।।

परम्, तदपि प्रियतमाः, सूर्यप्रभा विश्वको नीरोग करनेमें श्रेष्ठ है चाहे उसमें अलङ्कार, वस्त्र, भव्यसज्जा, गुणियोंमें गणनीय गुण न हों। अतः उसके सेवनकेलिए मैं आपको आमन्त्रित करता हूँ।

बाधैव भव्यवसनाभरणानि पुंसां
क्रीडासु रञ्जनकलासु च केलिकुञ्जे ।
क्षिप्त्वा भयं मलिनघर्षणजं रसज्ञाः
शङ्काकलङ्करहिताः कवयो रमध्वम् ।।२०।।

केलिकुञ्जमें मनोरञ्जक क्रीडाओंमें उत्तम वस्त्रभूषण बाधा ही तो हैं, अतः मैलापन और रगड़के भयको त्यागकर निश्शङ्क होकर सूर्यप्रभामें आप खेलें।

याचे न किञ्चन न किञ्चन सञ्चिनोमि,
निष्किञ्चनोऽपि च न कञ्चन संहिनोमि ।
वासोऽञ्चितोऽद्मि रमणीयतमं भजेऽर्च्यान्
वाग्वैभवं स्फुरतु मे शिवकल्पवृक्षः ।।२१।।

मैं कुछ नहीं चाहता, न संग्रह ही करता, निष्किञ्चन होकर भी किसीके पास याचनाकेलिए नहीं जाता। उत्तम खाता हूँ, वन्दनीयोंका संसर्ग है। कल्याणकल्पवृक्ष मेरा वाग्वैभव प्रस्फुटित हो, केवल यही इच्छा है।

शुच्यासने ग्रन्थनिगूहितेन स्वान्तं समाधाय जगद्धिताय ।
यल्लिख्यते निश्चितदृष्टसत्यं मनोमुदे केवलमेव तन्न ।।२२।।

ग्रन्थोंके बीचमें पवित्र आसनपर बैठकर विश्वहितको हृदयमें रखकर लिखी गई निश्चितदृष्टसत्य वस्तु केवल मनोरञ्जनकेलिए ही नहीं होती।

सूर्यस्य विद्युच्छशिनोः प्रभायामतन्द्र उन्निद्र उदङ्मुखोऽङ्की ।
निर्मथ्य सारं जगतो लिखेद्यत् कथं मनोरञ्जकमेव तत्स्यात् ।।२३।।

सूर्य चन्द्रमा व बिजलीके प्रकाशमें अतन्द्र अनिद्र आकाशमुखी लेखक

विश्वसमस्याओंका मन्थन कर जो लिखता है वह कैसे मनोरञ्जकमात्र ही हो सकता है ?

जातो हनूतरामो रामपदार्पितसमस्तसत्कृत्यः ।
भारद्वाजमहर्षेर्वंशेंऽशेनेश इव वाचाम् ॥२४॥

भारद्वाजमहर्षिके वंशमें अंशवागीश्वर हनूतराम हुए ।

तस्माच्छ्रीमान्भानुर्विनयनिवासो वशंवदो विदुषाम् ।
तस्माच्च सूर्जितौजा नान्यकरामो जनिं लेभे ॥२५॥

उनसे विनयी भानुराम, ओर उनसे ओजस्वी उर्जस्वल नान्यकराम हुए ।

शास्त्रावगाहदक्षा प्रक्षालितसमस्तकलिमलप्रसरा ।
सुरतरुदलद्वयीव श्रेष्ठा पुत्रद्वयी तस्मात् ॥२६॥

नान्यकरामसे कल्पवृक्षके दो पत्रकी तरह दो पुत्र हुए ।

नवरङ्गराय आद्यस्तपसां वचसां समुज्ज्वलं धाम ।
साधुर्विदग्धचरितैश्छात्रैः संसेव्यमानोऽलम् ॥२७॥

ज्येष्ठ, तप और वाणीके धाम विद्वानोंसे सेवित, श्रीनवरङ्गराय हैं ।

तस्माद् गिरां समुद्रात्तनयाः पञ्चाथ लेभिरे जन्म ।
विद्याकलाचिकित्सावाणिज्यव्यवहृतौ दक्षाः ॥२८॥

इनसे विद्या, वाक्चातुर्य्य, चिकित्सा, वाणिज्य, व्यवहारमें दक्ष पाँच पुत्र हुए ।

ज्येष्ठःश्रियां निवासः पदगतिमाप्तः शिशुर्विनाऽऽयासम् ।
गुरुकुलवासाक्लिष्टः पितुरापच्छास्त्रनैःशेष्यम् ॥२९॥

इनमें ज्येष्ठ श्रीनिवासने पितासे ही आशेष शास्त्र पढे ।

खेदः कलिप्रभावान्नापदयं मनोनन्दिनीं वृत्तिम् ।
अध्यैतायुर्वेदं त्रिमुनि त्रिमलं विवेकेन ॥३०॥

पर, कलिप्रभावसे नन्दिनी जीविका न मिली तो आयुर्वेद पढा ।

पाश्चात्यानां भाषा वाचो विपुलमाचाम्य भूतानाम् ।
वित्तैषणाप्रवृत्तो मधुकरवृत्त्या मधु प्रापत् ॥३१॥

पाश्चात्योंकी भाषा तथा अन्य भाषाऐं पढकर वित्तार्जनमें प्रवृत्त होकर उसने मधुकरवृत्तिसे मधु प्राप्त किया ।

संस्कृतभाषोन्नत्यै लोकक्षेमाय भूतये विदुषाम्।
रुग्णाचर्याव्यग्रः कवते लब्धक्षणः किञ्चित् ॥३२॥

वह संस्कृतभाषाकी उन्नतिकेलिए, विश्वके कल्याणकेलिए, विद्वानोंके ऐश्वर्यकेलिए, रोगियोंकी सेवा करता हुआ जब समय मिलता है तो लिखता है।

उत्तरदेशे काशी विश्वमता काशते बुधैरनघैः।
विदुषां यत्र परीक्षा हेमग्रन्थाकषो जयति ॥३३॥

उत्तरप्रदेशमें विश्वमान्य काशी है जो ग्रन्थसुवर्णकी कसौटी है।

चन्द्रस्तद्राज्येशैः सर्वोच्चं सुमतपुरस्कृतो भाति।
नेत्रातिथ्यं प्राप्तो नभो द्विचन्द्रं चरीकर्त्ति ॥३४॥

चन्द्रमहीपतिको इसी उत्तरप्रदेशसे सर्वोच्च सम्मान मिला है।

एष च तस्यांशोऽपर इतिहासो दुष्टनित्यकृत्यानाम्।
विभवपिशाचसमाख्यो विदितः सूर्यप्रभानाम्ना ॥३५॥

यह उसका दूसरा भाग है, जिसमें ऐसे मनुष्योंका इतिहास है जिनका नित्य कृत्य दुष्टता है। इसको विभवपिशाच और सूर्यप्रभा कहते हैं।

धौर्त्त्यं दौष्ट्यं क्रौर्यं धनमलिनानां हृदां समवलोक्य।
चेतः कणशः शीर्णं कीर्णं वर्णक्रमेणेदम् ॥३६॥

धनमलिन हृदयोंकी धूर्त्तता, दुष्टता और क्रूरता देखकर लेखकका हृदय कण-कण हो गया जो अक्षराकारमें इस ग्रन्थमें बिखर गया।

चेतो नुः पाषाणीभूतं विभवाभिभूतभावञ्चेत्।
मूर्त्तिः कार्या, टङ्कैश्छेदो भेदो ह्यसन्दिग्धः ॥३७॥

धनके प्रभावसे स्वाभाविकताको खोकर पाषाणरूपमें परिणत हुए मानव-मनको, उपयोगमें लानेके उद्देश्यसे यदि उसकी मूर्त्ति घड़ी जाय तो, टांकीसे छेद-भेद करना ही होगा।

यस्य न धर्मोऽर्थो वा कामः शास्त्रानुगो न वै मोक्षः।
मरणं केवलमेकं जन्मफलं तस्य मर्त्यस्य ॥३८॥

जिस मानवमें न धर्म न अर्थ न शास्त्रविहित काम और न मोक्ष है, उस मनुष्यके जीवनका फल केवल मृत्यु है।

विपुलविषयावगाहः परमः क्लेशो हि केवलं विदुषाम् ।
लोकविवेचनवित्तं वृत्तं श्रीशास्त्रिणो नो चेत् ॥३९॥

जिन्होंने आधुनिक लोकवृत्तका ज्ञान देने वाले श्रीशास्त्रीविरचित ग्रन्थ न पढे तो वे दूसरे विषयोंमें व्यर्थ ही श्रम करते हैं ।

भावान् विषयाञ्छब्दान् स्वैरं गृह्णन्तु मामकान् सुधियः ।
अस्ति न ममात्र किञ्चित् प्रत्नाः शब्दाश्च भावाश्च ॥४०॥

मेरे विषयों, भावों और शब्दोंको यथेच्छ लोग ग्रहण करें । क्योंकि मेरा कुछ नहीं है यतः भाव और शब्द तो प्राचीन हैं ।

सूते गौः सर्वस्य न सूक्तिसुधासारदुग्धमधुधाराम् ।
प्रस्यन्दद्रससारासारां मनसश्च झङ्काराम् ॥४१॥

सभी कवियोंकी वाणी मधुर सुधासम सूक्तिदुग्ध नहीं देती और न मनको झङ्कृत ही कर सकती है ।

जयति सुकविसम्राडम्बिकादत्तशास्त्री
मरुमृदभिजनोऽलं काशमानस्तु काश्याम् ।
शिवविजयपवित्रा यस्य कीर्त्तिः सुचित्रा
शिवविजयपताकेवैति लोकं नुदन्ती ॥४२॥

मरु अभिजनवाला काशीमें प्रकाशमान सुकविसम्राट् अम्बिकादत्त व्यासकी शिवराजविजयपताकाकी तरह पवित्र कीर्त्ति लोकको प्रेरणा देती हुई फैल रही है ।

वासुदेवो विजयते व्याकरणोपेतकाव्यकर्तॄवरः ।
विज्ञो येनाकारि च धातुककाव्यं गुणागारः ॥४३॥

व्याकरणके ज्ञानसे परिपूर्ण काव्यकर्ताओं श्रेष्ठ वासुदेव और वह अज्ञात कवि जिसने गुणागार धातुकाव्यकी रचना की, वन्दनीय हैं ।

वन्द्यो नन्द्यो दान्तो न्यासी भासी वचस्विवर्चस्वी
शङ्कर आद्य इवाचार्यः करपात्रो हरिहरानन्दः ॥४४॥
मङ्गलदेवः, काणे, रघुवीरोमापती भुवि प्रख्याः ।
मान्या वाचः पुत्रा विद्याधरमञ्जुनाथौ च ॥४५॥

श्रीमङ्गलदेवशास्त्री, पी० वी० काणे, भाषाशास्त्री रघुवीर, पारिजात हरणरचयिता उमापति, विद्याधरशास्त्री, श्रीमञ्जुनाथ (मथुरानाथ भट्ट) वाणीके मान्य पुत्र हैं।

साहित्यदर्शनायुर्वेदव्याकरणविद्वरेण्यस्य।
हनुमत्प्रसादशास्त्रिण इज्या सारस्वती शस्या ॥४६॥

साहित्य दर्शन आयुर्वेदके विद्वानोंमें वरिष्ठ श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्रीका सारस्वत यज्ञ स्तुत्य है।

स्वामी लक्ष्मणशास्त्री नागौरी गौरगीर्गुणग्रामः।
प्राहर्षयद् बुधानां लक्ष्मण इव चिन्तितं चेतः ॥४७॥

नागौर निवासी स्वामी लक्ष्मणशास्त्रीने अपनी रचनासे विद्वानोंके चिन्तित चित्तको प्रसन्न किया।

कालीपदहरिदासौ यतिपतिविमलः क्षितीशगौरीशौ।
सुकृतिसुनीतिकुमारो नन्द्यन्ते वङ्गविद्वांसः ॥४८॥

म० म० कालीपदजी, म० म० हरिदासजी, यतीन्द्रविमल चौधरी, क्षितीश चन्द्र, डा० गौरीनाथशास्त्री, भाषाशास्त्री सुनीतिकुमारचटर्जी वङ्गके ये विद्वान् नन्दनीय हैं।

प्रीतिकथास्विव भार्याऽऽचार्या ज्ञानाध्वदर्शनेऽहार्या।
बदरीनाथस्याऽऽर्या कीर्त्तिं गौवर्द्धनीं लभते ॥४९॥

बदरीनाथकी आर्या प्रणयकथामें भार्याके समान, ज्ञानप्रदानमें आचार्य के समान हैं और गोवर्द्धनसमकीर्त्तिशालिनी हैं।

वसुदेवोऽगरवालः सम्पूर्णानन्द आस्पदं वाचाम्।
श्रद्धास्पदं बुधानां वैदुष्यं नन्द्यते जगति ॥५०॥

श्रीवासुदेवशरण अगरवाल, तथा वागास्पद डा० श्रीसम्पूर्णानन्द विद्वानोंके श्रद्धापात्र हैं। विश्वमें वैदुष्यकी प्रशंसा सर्वदा हुई है।

दीक्षितपदानुयाता व्याकरणक्षीरपूरिता वितता।
कल्लोलिनी सुललिता ज्ञैर्गाह्या रामशरणस्य ॥५१॥

भट्टोजीदीक्षितक्रमका अनुगमन करने वाली व्याकरण दुग्धसे पूर्ण रामशरणकी कल्लोलिनीका अवगाहन विद्वानोंके योग्य है।

व्यासा भाससुवन्धवोऽजहुरसून्नज्ञातसञ्ज्ञास्तथा
भूयांसोऽद्य तथैव दैवदलिताः प्राणानथो जुह्वति।
अज्ञातानि सुमानि विज्ञरसिकैः शुष्यन्ति च प्रान्तरे
सूर्यत्विंष्यपि भान्ति नो भुवि यथा रत्नानि रत्नाकरे ॥५२॥

बहुतसे अज्ञात व्यास भास सुबन्धु संसारसे जा चुके, जिन्हें संसारके सम्मुख आनेका मौका ही भाग्यने न दिया, और वही स्थिति आज भी पूर्ववत् है। आज भी दैवदलित उसी तरह प्राणपरित्याग करते हैं। विज्ञरसिकों द्वारा अदृष्ट पुष्प 'बीयावान उजाड़' में यों ही सूख जाते हैं। सूर्यके समान प्रकाशवाले रत्न समुद्रकी गहराईमें पड़े हुए जैसे प्रकाश दे नहीं पाते।

लक्षञ्चैव सतां हुतं व्यसु भुवः स्वातन्त्र्ययज्ञेऽश्रुतं
यस्योच्चास्थिषु निर्मितं बृहदिदं विभ्राजते भारतम्।
तानज्ञातविकासनामगुणभान्नाकर्णितान्नादृता-
नन्यूनानतिकीर्त्तितोऽचलबृहत्सच्छ्रद्धयाऽदोऽर्पये ॥५३॥

भारतके स्वातन्त्र्य यज्ञमें लाखों वीर अज्ञात रूपमें मरे, जिनका हड्डियोंपर निर्मित यह भारत आज चमक रहा है। जिनके विकास, नाम, गुण, प्रभा, न सुने गये न आदृत हुये, पर प्रशस्त कीर्त्तिवालोंसे वे किसी भी अंशमें कम न थे, मैं उन्हींको अचल, बृहत्, सत् यह श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।



श्रीहरिः

सूर्यप्रभा किं वा वैभवपिशाचः

अवगुण्ठनोद्घटनम् ।

असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।
धूलेर्मा धनं गमय ।

"सूर्यप्रभे ! मालतीमत्र रोपय ।"

"रोपयाम्यार्यपुत्र !"

"पश्य, दूर्वास्तत्र घनाः, तत उत्खन्य इतो रोपय ।"

"तथैव करिष्ये देव ।"

"वात्याप्राप्तं रजः परिखायाः सम्प्रति निःसारयितुं न शक्यम्, श्रान्तासि, विरम, श्वः प्रातर्निःसारयिष्यामि ।"

"तत्तु निःसारितं देव ! सर्वन्तु देवेन निःसारितमेव, किञ्चिदेवावशिष्टमासीत्......... ।"

"तत्त्वया निस्सारितम् । धन्या ......" ।

"प्रशंसा मानवं मोहयति देव ! धन्यं तु नासीत् किमपि । उत्खात-धूल्या धूलिकोट्ट इव निर्मितः । तथापि वाटिकाया रक्षायै प्राचीरं कण्टकवरण्डिका (वाड) वा करणीयैव ।"

"अधुनापि किमु ?"

"अनवद्युतौ भवादृशे महीपतौ तस्या आवश्यकता नाभवत्, परम्, पशवस्तु पशव एव ।"

"पशूनां व्यावर्त्तनायैव तु परिखा विहिता । समयेनैते पशवोऽपि सर्वाभ्युदयस्याभ्यासं प्राप्य वाटिकासु न प्रवेक्ष्यन्ति । न चिराद् द्रक्ष्यसि ।"

"ह्यस्तनं वृत्तं देवेन किं विस्मृतम् ?"

"नहि, अहमेकाकी समेतः। मेघमुक्त आकाशे प्रखरसूर्यो वह्निं वर्षति स्म। शान्तोऽयं प्रदेशो मादिनी च नीरवता। समीरणस्य सणत्कारो वन्यपक्षिणां कादाचित्को ध्वनिश्च स्यान्नाम। विश्वस्याशान्तिः कोलाहलोऽत्र सर्वथा नास्ति। एकान्तप्रियाणां निवासायोटजाः कुञ्जगृहाणि लतावितानानि सन्ति। प्रायशः पशव इतो नायान्ति। परम्, स गर्दभराजः कस्मादपि परित्राणं लब्धुम्, ग्रीष्माद्भीतो वा इतः समायातोऽस्यां प्रविष्टः। उटजे कवाटरहिते मम लेखनसामग्री लिखितानि पत्राणि कविताः काश्चन योजनाश्चासन्। तेन भद्रगर्दभेन सर्वाण्याघ्रातानि योग्यतानुसारं सत्कृतानि विकृतान्यपि। अमर्षकरुणाक्रान्तस्तमहमवोचम्; "वैशाखनन्दन, कथमाषाढे नन्दसि ? एतत्किमकार्षीः ? यदि कश्चनान्य एवमकरिष्यत्, तस्मै तव नामोपाधिस्वरूपमदास्यम्, परं भवांस्तु भवानेव। आस्वादितदूर्वोऽधुना याहि इति।" अर्थितो हस्तेन परामृष्टः प्रेम्णा स जगाम। तेनैवेतस्ततः परिखा विटपा आलवालाः सुभगसमीरशीतः शेफालिकाकुञ्जश्च वैकल्यं नीताः। अधुना वृक्षात्पतिता लतेयमारोहणीया। अहं वृक्षमारोहामि, त्वञ्च...."

"अहं वृक्षारोहणोत्सुका यदि देव आदिशति।"

"यथेच्छम्, परं सेयमायासस्वेदस्यन्दिनी सूर्यप्रभा त्वाम्...."

"अकिञ्चित्करी सूर्यप्रभायाः सूर्यप्रभा"—वृक्षमारुह्य निर्देशानुसारं लतां योजयन्त्यवदत्सूर्यप्रभा।

"प्रभे, श्रान्तासि विरम।"

"बुभुक्षायां भोज्यमिव श्रान्तौ समीरः सुखदो देव, एष आनन्दो बहुदिनेभ्यः परमद्य लब्धः।

"अवधेहि प्रभे, अन्यथा निपतिष्यसि।"

काण्डात्स्खलितामधस्तादवलम्बितामवदच्चन्द्रः।

"भवत्यवलम्बके गिरिराजशिखरारोहणेऽपि न शङ्का।"

"प्रभे, तव यात्रावृत्तस्पृहा बहुशो मामत्वरत। परम्, व्यवस्थापन-भारेणाहं निरवकाश आसम्। किमु त्वमप्युत्सुका निवेदयितुम्?"

"कस्य न स्यादीदृशी स्पृहा। सर्वः स्वकीयमतिकर्म प्रियाय श्रावयितुं विकलः। परं प्रभावित्तरकार्यप्रवणे निवेदयितुमक्षमाऽऽसम्।"

"तदा वद कदा तदारम्भः?"

"अद्यैव। रात्रौ देवस्य शयनात्पूर्वं पादौ संवाहयन्ती प्रारभ्य, नवमिरहोभिः पूरयिष्यामि, यदि देवस्यादेशः।"

"स्वीकृतम्।"



॥ श्रीः ॥

कथारम्भः

प्रथममाह्निकम् ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥अथर्ववेद

सत्य, न्याय, शक्ति, समर्पण, तप, ज्ञान, दान पृथ्वीको धारण करते हैं । वह भूत, भविष्यद् वर्त्तमानकी स्वामिनी भूमि, हमें विस्तृत स्वतन्त्र सम्पन्न-साधन क्षेत्रको प्रदान करे ।

Truth, Justice, Vigour, Devotion, Knowledge, Sacrifice, these uphold the land. May this land, the grand Mistress of all, that was, that is, and will be, provide us wide space full and free.

स्नातं वारिदवारिभिर्विरचितो वासो घने कानने
शीतैश्चन्दनविन्दुभिर्मनसिजो देवः समाराधितः
नीता जागरणव्रतेन रजनी व्रीडा कृता दक्षिणा
तप्तं किं न तपस्तथापि स कथं नाद्यापि नेत्रातिथिः ।

"भानुकरः"

उत्कटोऽथ विमलो मनोरथो यो भवेत्स परिपूर्यते सदा ।
शश्वदस्य नियमस्य सत्यतां दृष्टवाननुभवेऽहमात्मनः ॥

"चिन्तामणि देशमुखः"

"प्रवेशोऽद्य निषिद्धः कृष्णतारे, ममापि । तस्याः स्थितिरद्य विचित्रा । शृणु, कापि मन्दा वाक् श्रुतिपथमुपैति ।"

"जीवनेऽयमपूर्वः सुसमय आसीत्,............कुसमयश्च । वसन्तः प्रादुरभूत्.........प्रवलस्तुषारपातश्च.... । शीतल आलोको मां परमाह्लादयत् .... अपीडयच्च निविडं तमः । विश्वस्य सुखं मम पुरो

हसदवर्त्तत, स्वोपभोगायाऽऽवेदयदिव····दुःखञ्च। भगवतः कृपेव शरीरिणी प्रादुरासीत्········कोपदृष्टिश्च।"

"कवाटे कर्णमायोज्याहमशेषमश्रौषम्। त्वं मा भैषीः। अहं सर्वं साधयिष्ये।" अन्तः प्रविशन्ती द्वारपालिकामवदत्कृष्णतारा।

"सूर्यप्रभे, कथं ताम्यसि ? मन्ये सव्यापसव्यपरिवर्त्तनैः पर्यङ्कपङ्केरुहान् ग्लपयन्ती शतयामामिव यापितवत्यसि त्रियामाम्।"

"द्वारपालिके, कथमियं प्रवेशिता वाचाला कृष्णतारा ?"

"आ एवम्। अननुभूतपूर्वेयं प्रणाली। तदा कश्चन विचारवातस्त्वामप्युन्मादितवान् ? परम्, राष्ट्रस्य भारो यत्र निहितः सा यदि विचारवात्याक्रान्ता, तदा राष्ट्रस्य किं स्यात् ?········महाराजस्तु सूच्य एव।"

चिकित्सकानां समूहः कृष्णतारया सहोपेत्य बहुशो बहुभिः प्रकारैर्मां पर्यैक्षत। सर्वेषामङ्गानां चित्राणि दोषधातुमलानां बहुविधं परीक्षणं विशिष्टज्ञानां विचारान् ज्ञातुं प्रेषितानि। परं सर्वं निष्फलम्। अन्ततो वैद्यः परामृष्टः। स कृष्णतारया बहुश आलप्यानौषधिचिकित्सामवदत्।

मम मनसो रहस्यवेदिनी शैशवसंसर्गपेशला प्रियवयस्या कृष्णतारा मां परमस्निह्यत प्रेम्णाहोरात्रमाराध्यच्च।

अथ क्रमशो यात्सु यामेषु, सरत्सु वासरेषु, हीयमानेषु सप्ताहेषु, म्रियमाणेषु मासेषु, ऋच्छत्सु ऋतुषु, अयमानेऽयने, क्रामति काले, पितृप्रेम्णा सदृशभासां सखीनां विनोदेन, स्वस्मरणेन चाहं प्रबुद्धा। समयम्, अवस्थानम्, परिस्थितिञ्चाविज्ञाय कदाचन मानवः स्वानेव तिरस्करोति, परम्, पश्चात् पश्चात्तापानुतप्तश्चक्षुषी विस्फार्य तानवलोकयति।

दिवसेऽवसितेऽभिसारिकेव तिमिराञ्चलमचञ्चलं परिधाय सौभाग्यचिह्नं सीमन्तमणिमिव शुक्रमायोज्य नीरवतया सहानलङ्करणसुन्दरी सन्ध्यासुन्दरी शनैश्शनैराकाशादवततार। शनैश्शनैः रविविरहविधुरा द्यौः शान्ता। चन्दनवनीवसतिरिव परिमली पवनो मन्दं मन्दमयमान आसीत्।

क्षणेन प्रोषितपतिप्रेयसीधैर्यतस्करो हिमकरो गलितत्रपया चन्द्रिकया साह्लादं रममाण आकाशक्षेत्रं समाससाद।

अद्य मम मनः प्रसन्नमासीत्, व्याकुलञ्च वक्तुम्। वृत्तव्रणवेदनाऽधुनाऽसह्याऽऽसीद्, वृत्तञ्च बहिर्निःसर्तुं विकलम्।

स्मितैर्मार्दयन्ती कृष्णतारा मामुपेत्याश्रुप्लुताक्षी सुगोपितामपि भवद्विषयां रतिं ज्ञातुमाजग्राह।

"प्रभे, केयं दशा ? वलीभासि विच्छायं विवर्णं मुखमण्डलम्, जलकणलुलिताञ्जनमजस्रमश्रुस्रावि नेत्रयुगलम्, कर्णिकारपाण्डुः सलज्जः कज्जलमलिनः कपोलः, सद्योरोदनपिशुनं पाणितलम्, अलससङ्गता निद्रितेव शून्येवापस्मारितेव प्रज्ञयापराद्धेव, अग्निप्लुष्टेव कदली, निदघघर्माघ्रातेव शिरीषकलिका, दावाग्निदष्टेव बालवनवल्लरी, प्रकम्पनप्रकम्पितेव लता जाता ते तनीयसी तनूः। अन्तःस्थितं प्रेक्षितुमिव मुहुर्मुहुरन्तः प्रवेशयसि बहिर्दर्शनाक्षमामुदीर्णदारुणदुःखां दृष्टिम्। अमृतरसाधारः शुष्यति दाडिमाधरो निःश्वासेन ग्लपितः। सज्जशय्याद्बिभेषि पर्यङ्कात्। शशाङ्कशीतलां सुमनःशय्यां कण्टकितामनर्कसम्पर्कामप्यङ्गाराकीर्णां मनुषे। निशीथिनीनाथं वीक्ष्य गवाक्षमाक्षिपसि। प्रसरत्यपि मलयानिले मलयजकर्पूरलिप्ताप्युरुनीरोशीरसिक्तापि चपलाञ्चलवीजितापि स्विद्यसि। परिसर्पन् समीरोऽपि यस्याः स्पर्शेन निदाघघर्मोष्णः, सान्द्रचन्दनद्रवोपि येन च्यवते। प्रियभ्रमणापि सविनयमनुनीतापि वयस्या अपास्य स्नानं प्रसाधनं ताम्बूलं विलासांश्च विहाय गृहान्न निर्गन्तुमीहसे। शृङ्गारमङ्गारं मनुषे। उत्तिष्ठन्तं मानसोद्वेगं वारयन्तीव हस्ताभ्यां वक्ष आवृणोषि। सीत्कुर्वती शय्यायामेवात्मानं निगूहसे। वनानिलकम्पितानि कमनीयानि कमलानि विषाक्तसर्पफूत्काराक्तानीव मधुरां कीरकेकिकोकिलकाकलीञ्च काकक्रन्दनां मनुषे। सुमस्रक्सर्जने वैराग्यं तनुषे। वीप्सया शार्करं पिबन्त्यपि शुष्यद्गला। कदाचन रोमाञ्चिता कदाचन दाहाञ्चितेवोत्कम्पमाना प्रियतमामपि न जुषसे निमीलितनयनापि निद्राम्। मुग्धकुलकुमारीशीललक्ष्मेव किमिदम् ? यौवननदस्य प्रवाहो बाहुभ्यां न रोद्धुं शक्यः प्रभे ! परं जानीहि, शैशवं प्रमोदैः, वार्द्धकं विषादैरिव यौवनं किल प्रमादैः पूर्णम्। अकस्माददृष्टचरञ्चेदं लक्षणम्। कश्चन भद्रमुद्रस्त्वामपि प्रभावितवान् किम् ? अम्लानभावपुष्पा भव।

ग्लानिं त्यज, धृतिं भज। धैर्येणैव व्रणः प्ररोहति। सज्जा भव कार्यं साधयितुम्। दुःखं हि सुहृदे निवेदितं लघु भवति, यद्यपि तीव्रतमे दुःखे जिह्वा मूका चक्षुरनश्रु। स्नेहहितैषिणां परस्परमाधिव्याधिहरमेव सौहार्दम्। सिद्धये व्याप्रियमाणायास्तव नाहं परिपन्थिनी। भीतिवैक्लव्यजालं त्यज। वद विवक्षितम्। पुनर्नोपैति गतोऽवसरः। समयवेगः प्रबलोऽश्रुप्रवाहेण रोद्धुमशक्यः। आशा पुंसो बलम्। आशयैव संसृतिर्हिरण्मयी।

इयं मुखाकाशे प्रसृता मेघमालेवालकावली, सालसं वदनम्, चक्षुश्च, अप्रेरितमपि सुस्पष्टमाधिं निवेदयितुमुद्वेल्लति, परं जानीहि, अगाधा प्रेमसरसी, यौवनासवमत्ता मा निमज्जेः। त्वयाधुना वहु करणीयं प्रभे, कथय, कथमद्या-हतासि? किमर्थं व्यर्थं कल्पनाद्वीपे प्रवहसि? सूचय, कोऽसौ, तवोल्लासं शान्तिं शौर्यञ्च भङ्क्त्वाऽश्रूणि सारयति। कथय, कस्ते निद्राया आसनं जहार? यथा लक्षणं निरूपय। अज्ञात्वा कारणरूपे न प्रतिविधिः।

परमनुतापायातुच्यमाना विवक्षा। इदन्ते सुस्पष्टमनङ्गविजृम्भणम्।

"आग्रहिणि गृहाण मौनम्"—जल्पाल्पीभूतशोकाऽल्पाक्षरमहमुदतरम्। "उपदेशे परमो विद्वानखिलः किल, श्रवणे व्यवहरणे च विरलः। तारे, त्वं वेत्सि, यदहं त्वामिदं वृत्तं त्वदाग्रहेण श्रावयामि, परमिदं सर्वथा मिथ्या। नहि तारे, नाहमेवं करोमि। तारे, जीवनस्य वृत्तं तिरोहितुमशक्यम्। मानसगुहागेहसुप्तं तदवश्यं कस्मैचन प्रकाश्यम्। अन्यथाऽऽध्मापयत्तद् गुहामेव भिन्द्यात्। श्रोता वायुर्भवेद् भित्तिर्वा, आकाशो भवेन्मूर्त्तिर्वा। श्राव्यमेव। अनेन मनः प्रसीदति। अश्राव्यमाणं वृत्तं मन उन्मादयेत्। वृत्तं पाचयितुं मस्तिष्कस्य सामर्थ्यं नहि तारे! अतो मानसोद्वेगोपशमाय त्वामहमद्य कथयामि।

तद्दिनेऽहमेकाकिन्येव केलिक्कान्तापि काननकेलिकुतुका सिंहाऽऽखेटाय प्रावर्त्तिषि। मदश्वः श्रान्त आसीदतः परोऽश्वो मया गृहीतः। सिंहो मां प्रतीक्षमाण इवाप्रयासं लब्धः। उत्सटः स मां वीक्ष्य जगर्ज। तस्य गर्जितं वनं परिक्राम्यदिव चचार। पशवः पक्षिणश्च मृत्युसमां नीरवतां भेजिरे। वेगेन वायुना कूर्दनेन च चञ्चलास्तस्य केशराः स्कन्धेऽक्रीडन्। दर्पेण स स्वमपश्यत्, धनुर्मुक्तः शर इव ममाभिमुखं समागच्छच्च। तस्य चक्षुर्मानवशोणितपिपासु प्रत्यैयत।

यावदहं कुतुकतरला लक्ष्याय सज्जीभवितुं प्रवृत्ता, तावदेवातर्कितागमनः सोऽभ्यगात् । उद्विग्नोऽश्वो मां निपात्यैकतः प्राद्रवत् । सिंहस्य कराला दन्ता मम सामीप्यमुपेयुः । भूमौ प्रसृता निमीलितनयनाङ्गविक्षेपणमवरुध्य मृत्युं प्रतीक्षमाणा चीत्कारमाकर्ण्योत्कर्णा सिंहस्य विदीर्णे वक्षसि निखातं शरमद्राक्षम् । क्षणेनैतज्जातम् । क्षणात् पूर्वं मे मारको मच्चरणान्तिकं मृत आसीत् । विलक्षणा विधेर्भवितव्यता ?

अहमधुना विस्फारिताभ्यां नेत्राभ्यां पश्यन्ती, स्वप्नसृष्टिमिव विभावयन्ती, भगवतेऽसङ्ख्येयान् साधुवादान् वितरन्ती, भविष्यज्जीवनं भगवत्सेवायां व्यतियापयितुमभिलषन्ती साश्चर्याऽऽसम्, तावदेव ऋद्धवृक्षघनावनीतोऽपदर्पितकन्दर्पोऽलिकुलकेशी त्रिजगज्जयिश्रीकः स्मितेन शैवं शैलं तिरस्कुर्वन्, अमृतं वर्षन्, सभ्यपदास्पदं कश्चन चक्षुष्पदं प्राप्तः । साधकस्याभीप्सितो वर इव, शीतलः सुखदः शान्तिदो मलयानिल इव ।

अक्ष्णोः समक्षं सुन्दरमाकर्षकं जगदुदैत् ।

अनेनैव दयोदयेन महाकर्मा भिन्नमर्मा विहितो वनराजिराजः ।

नतवदनः सौरभवसनः समीरः सरन्नासीत् । आलोकदीपितलोकोऽक्षीणदाक्षिण्योऽनुत्तरणीयतर्क आत्मविश्वासविग्रहः प्रियंवदो हृष्टः स्पष्टमन्मथः कल्पनामधुरं सस्नेहं सार्जवमालपन् मां स्मरतरलां युद्धाद्विमुखामुद्वेगाग्निनिमग्नाञ्च विधाय निरस्त्रशस्त्रमजैषीत् । अश्रुतपूर्वाणि तस्य वचांसि जीवनं भ्रमकुर्वन् । तस्य वाहीकी मूर्तिस्तडितस्तन्वी रेखेव क्षणमाहत्य विलीना, परम् , पक्ष्मणोस्तस्य मूर्तिः स्थायिनी ।

यदा स मामपश्यत्, अपश्यत् साधारणदृष्ट्यैव, परमहं विलक्षणं विचित्रमनिर्वचनीयं किमप्यन्वभवम् । यत् क्वाप्यखण्डानन्दे निस्सीमप्रेम्णि सौहार्दसरोवरे निमग्नास्मि । एतन्निमज्जनमपि मे परममाह्लादकमासीत् । अहमस्मान्निमज्जनादुद्धर्तुं कमपि साहाय्यायाह्वातुं नाभ्यलषम् । इयन्मे सुखकरमासीन्निमज्जनम् । सुखस्य केवलस्य सुखस्य परमानुभूतिस्तत्राभूत् । अहं कृतार्थाऽभवम्, स्तब्धा चित्रितोत्कीर्णा मत्ता विरतोपरता सुप्ता चरण-

निरता शरणगता सर्वस्वसमर्पणाकुला मूर्च्छिता निष्क्रिया निश्चेष्टा निः-सञ्ज्ञा निर्विकारेव च।

विलक्षणं स्नेहसङ्गीतम्। अप्रेर्यमाणमुदेत्यनन्तम्, अलिखितोऽप्ययं सन्दर्भः परमाह्लादकः, अनालोकः प्रकाशश्च।

संसारस्यासारतां विभाव्य, सञ्चयमकिञ्चित्करं निश्चित्य सौरभं मुक्तहस्तं वितरन्तः पादपाः, गन्धमुग्धोऽन्ध इव पवनश्च मामानखशिखं प्रकम्पयामासुः। पुष्पहस्ता लताः सङ्केतैस्त्वरायै बोधयन्त्योस्मान् परस्परमालिङ्गितुमिव प्रैरयन्। तरुकुञ्जवासिन्यो विहगवालिका अस्मन्मेलनमङ्गलगानमिवागायन्। मधुकरकुमारीणां सरसं मधुरं कूजनं सखीनामनुरोधनमिव, वल्लरीयुवतीनां पुलकाकुलं साभिप्रायं विटपालिङ्गनं परितः प्रासरत्। केनापि भावेन स्पृष्टा हृत्तन्त्री वैकल्यं व्याञ्जीत्।

तस्य स्मितसूर्योऽस्पृष्टपूर्वं प्रविश्य मानसं मानसोपवनकलिकां विकासयामास। शुचि शान्तं कामशयनागारमालोकयामास। सुप्तं जीवनं जागराञ्चकार।

यदा स मां स्मितेन सच्चकार, तदाहमन्वभवं यत् प्रशान्तमहासागरे कम्पनं भूतम्। स्मितम्! अमृतस्य पात्रम्, जीवनपथस्यानुपमेयं पाथेयम्, मधुरम्, सौरं तेज इव स्वच्छं स्मितम्! माधवस्य विकसनमिव मादकम्। येनैतद्विश्वम्, नीरसं शुष्कं विश्वम्, सुन्दरात्सुन्दरतरमन्वभवम्। मध्ये मध्ये किमपि चिन्तयितुं क्षणं मौनमवालम्बत, तदा तस्य मधुरारक्तयोः प्रशान्तकोमलयोरोष्ठयोर्मौनमपि मधुरमभूत्। मूकमुद्रयाऽनिमिषं तस्य भाषामधीयाना मौनमालपम्। मूकः प्रणयो मादकः परिमल इव सर्वाङ्गाणि लिम्पन्, विध्यन्, श्लिष्यन् प्रससार। भुवो रजोऽपि सुरभितमिव प्रत्यैयत। अहञ्च मत्ता मृगीव मृगनाभ्या। तस्य प्रणयमूर्त्तिर्मम मानसाकाशे सर्वस्मै कालायोदैत्।

हन्त। अपराजेयोऽनुरागः।

लोको मां बहुशोऽशंसद् यत्त्वं सुन्दरं वक्षि, समयेन च श्रेष्ठा वचस्विनी भविष्यसि, परं तदग्रे वागवरुद्धा, गुरोः समक्षं विकलितवाचो बालस्येव।

तस्य स्मृतिरधुना मे मनसः शृङ्गारः। अहमक्षिणी निमील्य पक्ष्मणोरन्तः

कमपि विचित्रं विशालं संसारं पश्याम्यात्मरचितम्। पक्ष्मद्वारं पिधाय तन्मूर्त्ति-मेव पश्याम्यविच्छिन्नधारम्। अहं स्वप्नमिव पश्यामि जागरितापि सत्यम्।

मन्येऽफलिततपाः साधक इव स कस्या अपि केशजाले वाग्वीच्यां भ्रूभङ्गेऽधरे स्मिते च नात्मानमाससज्ज।

बहुशोऽहं निद्रां नानुभवामि, चिन्तयामि, तस्य मूर्त्तौं नयनवर्त्तिन्यां पक्ष्मणी कथं मुद्रिते स्याताम्? निद्रा वा कथमुपेयात्?

तस्य चक्षुषोः कापि विशिष्टाभिव्यञ्जना नासीत्। परम्, मया चक्षुर्भ्यां पक्ष्मभ्यां स्पन्दनैश्चैका प्रणयकथैव रचिता। तस्य नेत्रनिपातसमकालमेव मम चाञ्चल्यं व्यपगतम्। कथम्? इति नाहं वेद्मि। कस्यापि प्रभावेण चाञ्चल्य-व्यपगमनं जीवने सर्वतः पूर्वमनुभूतमासीत्। लज्जया मम नेत्रे धरां निरीक्षमाणे आस्ताम्। तर्षः, तं वीक्षितुम्, चक्षुष्पूरं वीक्षितुमभिलाषो मां पुनः पुनः प्रैरयत्। परमहं गम्भीरैव बुद्धिमतीव विवेकशीलेव सद्गृहिणीव सुशीला सरला-ऽचञ्चलाऽनुच्छृङ्खला भूता। किमर्थम्? न वेद्मि।

प्रणय आवयोः किं वा मयि समुत्पन्नः। परमयं जड आवां बन्द्धुं नाशकत्। भावनाकणविरहितो विचारशून्यो भावसमाधिर्मे भूतः। जिह्वा जडायिता, ओष्ठौ काष्ठायितौ परस्परमालिङ्गितुमिव मांसपेशीषु स्पन्दनमनुभूतम्, बाह्वोश्च, परं निर्जीवसमम्। वक्षः श्वासवेगेनोन्नतम्, चक्षुरनिमिषम्, एतद्-दृश्यं साक्षात्कर्त्तुमिव। परम्, प्रणयो गलं विशोष्य वाणीमवारुधत्। अमङ्गला मौनगीतयो मनसैवानुभूताः। भावो निष्प्राणतां प्रापत्तनूश्च स्थाणुताम्।

प्रणयपूर्णचन्द्रं सङ्कोचराहुर्जग्रास।

मया जीवने प्रथमं चिन्तितम्, यत्स मामेवंविधे रूपेऽवस्थाने च प्रेक्ष्य हर्षिष्यति। जीवने परमनोऽनुरूपं व्यवहारमद्यैवाकृषि। परेषां व्यवहारं ममाज्ञानुरूपन्तु सहस्रशोऽकारयम्, परम्, तद्विपरीतमद्य चरामि, तदपि त्वरया, अनुशासनप्रिययेव स्वामिन इङ्गितं प्राप्य नहि, अनुमायैव केवलम्, इति विचार एव न प्रादुर्भूतः। एतदाचरणं प्रीतिकरमासीत्।

अहं बहुशोऽचिन्तयम्, अचेष्टिषि च यत् स वार्त्तया ममान्तः स्पर्शयेत्, जिज्ञासायै विकलः स्यात्। मम शौर्यम्, सौन्दर्यम्, औदार्यम्, कौशलञ्च प्रशंसेत्।

अत एवाहं बहुशो निरर्थकमहसम्, यत्सोऽपि मम हासेन सह स्वं युञ्ज्यात्, हासोद्वेल्लितं सौन्दर्यं तं प्रभावयेच्च, परम्, स स्थिरोऽप्रभावितो निश्चल आसीत्।

अहं प्रत्यक्षपराजयेन भृशं लज्जिता। मर्मरपत्राः पादपा मामुपाहसन्। लज्जयाऽरुणारुणं मे मुखमवर्त्तत। ग्लान्या मानसं मेऽरोदीत्। अहं मय्येव क्षुब्धा क्रुद्धा, यदहं कथमेतादृशी भावदुर्बला भूता? परम्, तस्मिंश्चक्षुष्पदं प्राप्ते क्षोभः क्रोधश्च क्षणेनैवान्तर्हितः।

अधुनापि दिवसावसानस्य ते क्षणाः स्मृतिपथमुपेताः मानसं मेऽवसादयन्ति प्रसादयन्ति च।

रात्रौ कदाचन कथञ्चन सुप्तापि तमेव स्वप्ने पश्यामि, दिवा तु तस्य मूर्त्तिर्मम साम्मुख्यं मुञ्चत्येव नहि। कदाचन तं वीक्षमाणेवावगुण्ठनमाचरामि। अहमपह्नुत्या तमनुभवामि, यत्स मां पश्यति, मम चिबुकमुत्थाप्य मम जलाविलं चक्षुः प्रेक्षते, विक्षिप्तालकैर्व्याप्तं मुखञ्च, अनिमिषम्, मद्विलोचनवाष्पवारिणि स्वं रूपञ्चापि। परम्, सर्वदैव सङ्कल्पमृगान् सङ्कल्पव्याघ्रः समाजिघ्रति, मधुनाऽऽप्लाव्य कण्टकेन विध्यति च।

मुकुरे मम धन्ये चक्षुषी सादरमहं पश्यामि, याभ्यां स वीक्षितः, स मेऽभिनवः शिक्षकः। रात्रौ जागरस्य हृदः स्पन्दनस्य, निर्निमेषं वीक्षणस्य स एव तु शिक्षकस्तारे, किमहं करोमि, मनोऽश्वो मे रश्मिरहितः, अधिकाराद् बहिः।

अहं बहुशश्चिन्तयामि, चिन्तयन्ती श्राम्यामि, यत्स क आसीन्मम? परमयं विचारः स्निग्धघटे जलविन्दुरिव नातिवेलं तिष्ठति। किमर्थम्? कारणमज्ञातम्। मिथ्यैव सख्यो मम सौन्दर्यमशंसन्निति विचार्य दर्पणे स्वं पश्यामि, सख्यनुरूपम्।

परिस्थितौ विपरीतायामपि मानसं तस्मै स्पृहयति। वस्तुतो मनो यद् दृष्ट्वा स्निह्यति यस्मै स्पृहयति वा, तस्य दुर्गुणान् न तत् प्रेक्षते।

श्रूयते समयस्रोतः स्मृतिं प्रवाहयति, परमहन्तु स्मृतिशतावर्ते सम्भ्रमामि। एभिर्विचारैरहं परं विषीदामि, परं न ज्ञायतेऽस्मिन् विषादे कोऽपि विलक्षणो मधुरिमा मां प्रभावयति। एतद्दुःखमपि मां सुखयति। इदं दुःखं सञ्चितं

निधिमिव कृपणस्य मानसगुहायां सुरक्षितं स्थापयामि। नितरां मनोमादिनी विलक्षणेयं व्यथाऽकथ्या चान्येभ्यः। सैषा क्रीता, नोपेताऽनाहूता।

प्रवर्षणम्, प्रकाशः, परिमलः, पवनो ममातिशयं प्रियाणि। परं न जाने कथमधुना मानसं मे व्यथयन्ति।

यदा महिलाः स्वपतिभिः सह प्रातरुद्यानेषु भ्रमन्ति, दोला आरोहन्ति, तदा मम मनोऽपि किमप्यभिलषति। यदा विवाहोत्तरमश्रुपूर्णा रमण्यः पितुर्भ्रातुर्गलमालिङ्गन्ति, तदा मामकीनां दशामहमेव वेद्मि, परमां न्यूनतामनुभवन्ती। आह्लादः, उल्लासः स्फूर्त्तिर्जीवनेऽभवन्नेव नहि, इतीवाहमवैमि। उद्यानेषु भ्रमणम्, गानम्, मधुरालापं विषाक्तानीवानुभवामि। एकाकिनी, तेन विना, अमून्यास्वादयामीति पापमिवाचरामीति मानसं मे मां प्रबोधयति। अनुभवामि यन्ममायुरकस्मादेधितम्, विचारणविवेचनसामर्थ्यञ्च। अहं प्रौढेव गम्भीरेव भूतास्मि, बाल्यं मे व्यपगतम्।

अन्यमनस्कतया वस्तु निपतति, विचूर्णतामेति, तदाहं स्वामवस्थां बुध्ये, गच्छन्ती देहल्याऽऽहता वा। अहं रुग्णेव सालसेव भूतास्मि, सर्वमेवोदस्तं पश्यामि। एषा फलशून्या प्रतीक्षा मां बहुशो विह्वलयति।

मम चक्षुषी तस्यागमनं प्रतीक्षमाणे कोणेभ्यस्तस्य निस्सरणमिव, द्वारतः प्रवेशनमिव निरीक्षमाणे स्तः। अधुनापि तस्याऽऽशाऽस्ति, नापि। परम्, अविस्मृतस्मृति मम मानसं वधूधैर्यद्राविणा तेन सहैकान्ते कस्मिँश्चिदुद्याने तस्य वृषोपमे स्कन्धे हस्तं निधाय निर्निमेषं मूकजिह्वयाऽऽलपितुं निर्वर्णयितुमभिलषति। कस्याञ्चिदुपत्यकायां निर्झरतटे गहने वने तेन सह भ्रमितुम्, निरर्थकमविच्छिन्नधारमालपितुम्, मध्ये मध्ये किमपि भयं विभाव्य उद्भाव्य तदङ्गमाश्लेष्टुं कामयते।

कथमुल्लासिन्यासम्? अधुना सर्वत आलस्यमौदासीन्यं प्रसृतम्। परमेतत्परिवर्त्तनं मह्यं रोचते। अनेनाव्यक्तमनिर्वचनीयं सुखमहमनुभवामि।

परमेतत्परिवर्त्तनं तस्यापि भवितव्यम्। तेनापि तदनुभवितव्यम्, यदहमनुभवामि। अवश्यं भूतं भविष्यति। कालः सर्वं साधयिष्यति। जीवनक्षणे यां विच्युतिं सोऽकार्षीत्तां स स्मरिष्यति, सम्भावयामि स्मरत्यपि।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते यदा तुषाराकीर्णः क्षुपान् लताः सुमनसः स्पृशन् सणत्कुर्वन् समीरणः, क्रुद्धसर्पाणां फूत्कार इव सरति, उपवनेषु वायुनाऽऽलिङ्गिताः सुमनसो मां हसन्ति नृत्यरतास्तदा समस्तां विभावरीं नागदन्तान् गणयन्त्या ममैकाकिन्याः शय्याऽङ्गारावृतेव तापयति।

अवैमि, दिनं गच्छति शनैश्शनैर्नितरां मन्दं मन्दम्; यदा चास्तमेति, अहह! कीदृश्यनन्ता यामिनी, प्रसर्पत्येव नहि गमनशक्तिविहीना। सूर्यो यदा स्वकार्यकालं समाप्य गृहं गन्तुं विकलस्तिष्ठति, तदा वैकल्यमेतन्मां परं विषादयति। यदा स प्रतीक्षाक्षीणया दिनवियोगविकलया आतपोत्तरीयेऽपहृते लज्जयेव ताम्रया सन्ध्यया गृहद्वार एव काश्मीररागमादाय वसन्तविहारे व्यासज्जति, नीडं प्रत्यावर्त्तमानाः पक्षिणश्च सहचरीभिः कलं रुवन्ति, तदा मे मानसं शून्यमाकाशं पश्यति केवलम्। सायं मौनं सर्वत्र व्याप्नोति, तिमिरतर्यामिङ्गुलिमेलं नृत्यन्त्यस्तारिका हसन्त्यो भ्राजमाना मामाह्वयन्तीव, तदाऽविज्ञेयात्पथश्चन्द्र उदेति, ज्वलदङ्गार इव। तस्योष्मणा सर्वं ज्वलदिवावैमि। नक्षत्राणि ज्वलन्ति निर्धूमाङ्गारनिभानि सन्धुक्षितानीव। हिमांशुर्मां दर्शयन् ज्योत्स्नामालिङ्गति, ज्योत्स्ना मां वीक्षमाणा साकूतं हसति तापयन्त्युपहसन्ती। अहो कीदृगुत्पीडनम्? कदाप्येष सुखं दददप्युदेष्यति चन्द्रः?

सप्तर्षीणामस्तकालो भवति, पक्ष्मस्वनिद्राजन्योऽवसादः, तदाहं क्रुध्यामि। परं क्रोधोऽपि तस्मिन् स्मृतिपथमुपेतेऽपसर्पति। गगनस्य वक्षो यदा कृष्णमेघैः पूर्य्यते तदा ममापि। रात्रौ द्विशस्त्रिशः कवाटानुद्घाट्य पश्यामि, विस्मिता शङ्काकुला बहिर्व्याप्तमन्धकारं सस्मिता। गरीयांसोऽभिलाषा अप्रकटिता एव लज्जिताः। प्रतिपलं व्याकुलता, पिपासोर्जलाय यथा, अनियन्त्रणीया पिपासा। प्रबल आवेशः, विविधाः कल्पनाः, अनन्ताः सङ्कल्पाः, मेघाच्छन्नेऽपि दाहः, ज्ञानेऽप्युन्मादः, विभवेऽपि विषादः, शान्तावपि क्लान्तिः, विवदमाना मूककामनाः, तस्य वचसां गुञ्जनम्, उपकर्णं श्रूयमाणमिवानुभूयमानम्। तस्य शब्दोऽनन्ताच्छब्दगुणकादाकाशात् सम्प्रत्यपि कर्णौ विशन् प्राणानाकुलयति।

हन्त! मुग्धभावकपोतान् समयश्येनोऽपाहरत्।

तारा—प्रभे, त्वं सौभाग्यशालिनी। रूपं धनं यशो वचस्त्वयि समाविष्टम्। तदपीयं व्यथा किमात्मिका?

अहम्—सर्वमस्ति, परं किमपि नास्ति। एतत्सर्वन्तु जन्मना लब्धम्। परम्, व्यञ्जने लवणाभाव इव सर्वं वैयर्थ्यमुत्पादयति। अधुना त्वहमपरिचिते भावे सपुलकमात्मानमर्पितवती। मानसोपवनं कामवात्यया विमर्द्दितम्। परम्, हन्त ! अस्मिन् विमर्द्दनेऽपि परमानन्दः।

दिनोत्तरं सायम्, तदनन्तरं निशा, निशोत्तरं प्रातः, तदनन्तरं दिनम्, एषोऽनादिरनन्तः क्रमः। परम्, तद्दिनं विलक्षणमासीत् सर्वथा नवम्। तादृशः सूर्यो न कदाप्युदैत् भास्वान्नात्युष्णः। तदपराह्णमाजीवनं, स्मरिष्यामि तारे, अकस्मादेकेन कमलाक्षेण वाग्विरहितमालपनम्। तादृशो न दृष्टो न श्रुतो दिव्यलोकादवतीर्णो देवकुमार इव प्रतीयमानः। प्रशान्ते सरसि येनाग्निर्योजितः। योऽधुना विना वायुं विनेन्धनञ्च वर्द्धते। तस्य हासो ज्वलदङ्गारप्रतिमः शर इव मानसं मेऽविध्यत्। मम मानसं साक्षि यत्सोऽन्यस्मिञ्जन्मनि मम कश्चनासीत्। यतः स सर्वथा नवीनोऽपि परिचित इव व्यवहृत इव प्रत्यैयत, शीतेनैजमानं चेतो वह्निना सिञ्चदिव।

स राजहंसोऽधुना मे मानससरसि सन्तरति। त्वं कथयसि, लोकोऽपि कथयेत्, यदेतद्विस्मरणीयम्। परम्, कश्चन हृदयात्स्पन्दनं पृथक्कर्त्तुं शक्तः किमु ? यदि शक्तस्तर्हि तद् हृदयं नहि, अचेतनः पाषाणः। हन्त ! कथं स्वप्नरङ्गशालाया जवनिका निपतिता ? स गतः। अनामन्त्र्य। एतन्नियतेर्दुर्विलसितम्, यदभिलषिते सुभगे क्वचित्सहसा दुर्भगं भवति, अतिशयदुर्भगमपि।

अहं स्मरामि यदैकदा त्वं कामोद्विग्नां मदनदीधितिमबोधयः। सा च त्वामुन्मुक्तमुखं गतव्रीडमुदतरद् यद्—

"अधुनाहं प्रेमोन्मत्ता तस्मै सर्वस्वमर्पयितुमाकुला। नयनसरोजेऽश्रुमुक्तामणिमायोज्य विकला च निवेदयितुम्, यदहं त्वदाश्रया, तव शौर्यमौदार्यं सौन्दर्यं रसिकत्वं विभाव्य मम मनस्त्वयि लीनम्। तव दृष्टिममृतनिषेचनीमनुभवामि, यद्यपि सा वैकल्यदा। अधुना मम मृद्वीं तनीयसीं तनूं त्वदर्पितां विरहव्याघ्राद् रक्ष, वियोगनिदाघानिलात् पालय। यत्किमप्यहं धारयामि, तत्सर्वमर्पये। नात्र ममाधिकारः।

"सखि, कलोद्भासितपक्षद्वयोऽपूर्वश्चन्द्र इव स कोऽपि भवेत्, तेन सह प्रासादं विहाय गुहायां वृक्षच्छाये सानन्दं वस्तुमुत्सहे। तद्वियोगपावकदह्यमानं मदीयमङ्गं तद्वदनामृतपूरं प्रेक्ष्यैव शान्तिमाप्स्यति। यां मधुरामस्फुटां व्यथामहमनुभवामि तस्या निर्वचने जिह्वा मूका। वस्तुत उपानत्तोदं याथार्थ्येन परिधारक एव जानीते।"

तदा त्वं तामबोधयः—"परम्, ममायं परामर्शो यत्कुमारीभिः प्रेमाश्रयो विचार्यैव विधेयः। निर्मोहा नरा अकिञ्चनकारणमुपलभ्य सौहार्दं क्षपयन्ति। तेषां समीपे स्त्रीणां सौन्दर्यं चातुर्यं शीलञ्च भर्जते। ते चिक्रीडिषया साग्रहं प्रेयसीमनुसरन्तोऽपि शान्तायां वासनायां विपन्मग्नां प्रेयसीं काणेनाक्ष्णापि नेक्षन्ते। परं मुग्धाः स्त्रियो यं प्रेमभाजनं विदधति तस्मै सर्वस्वं निर्व्याजं समर्पयन्ति। मया सत्यमेवानुमितं यत्तव दृष्टिः कस्यापि दृष्टिमपेक्षते। परमवधेहि, एतद् दर्शनं भयावहम्। यत एवं विलोकनं हृदये स्पन्दनमेवावशेषयति।"

"अवशेषयेन्नाम, अत्र स्पन्दन एवानन्दः। वस्तुतः स न प्रेमा यः परिस्थितौ विपरीतायां परिवर्त्तते। प्रेम सौन्दर्याश्रितं नहि तारे, अपितु संस्काराश्रितम्। सौन्दर्यमपायि प्रेमानपायि। वस्तुतो यत्र मानवः स्वं विस्मरति स प्रेमा"। अस्वस्तिभावेन मदनदीधितिरुदतरत्।

तदाहं भवत्योर्विवादं व्यर्थमज्ञासिषम्। परमधुना तद्विपरीतमनुभवामि।

कृष्णतारा—नारीसुमनसश्छायायामेव परिमलं प्रसारयन्तीति सत्यम्। वस्तुत एकाकिजीवनं कर्त्तर्या एकफलकवदनुपयोगि न च पूर्णम्। दाम्पत्यजीवनमेव सज्जीवनम्। एतन्मुक्तेः सांसारिकं रूपं यत् स्त्री पत्यौ लीयते। परं त्वादृश्यपि केनापि लुण्ठनधर्मणा लुण्ठितेत्येवाश्चर्यम्।

सत्यम्, मदनमहीपतेराज्ञावशंवदो लोकः।

अहम्—अस्तु, प्रसङ्गं मा व्यवच्छेत्सीः। अथातुरभावेनाकूलं पूर्णे नीलसागरायिते प्रीत्याऽऽशङ्कया च व्याप्ते चक्षुषी पठन्नपि स्मितेन सलज्जेन साभिप्रायेणेक्षितेन च प्रेमाणमाचक्षाणोऽपि कठोरो निर्दयो हृदयविहीनो विशिष्टकार्याकुलो वाऽश्वमारुह्य गन्तुमुद्यतः। मम हृदये ध्वनिरभूत्, यथा कश्चनायोघनेन घनमाहन्ति 'ठक्', 'ठक्', 'ठक्' इति।

परं विकसनोन्मुखं स्नेहसुममवहेलनतुषारेण निर्दयमभिहत्य निर्ग-च्छन्तमानन्दोच्छ्वासमवगणय्य सोऽपसृतः। तस्याश्वः शनैश्शनैरगोचरतां दधार। केवलं रजो दृश्यमासीत्, तदपि शनैश्शनैर्विलीनम्।

नूनमयं प्रेमाभिनयं रचयति, क्षणेनावश्यं परावर्त्स्यतीति विचारयन्ती पाषाणप्रतिमेव निमीलनस्पन्दनविरहितेन चक्षुषा वनश्यामं पन्थानं पश्यन्ती केनापि भावेन स्वस्मात् स्वयं लज्जिता भूमिं निरीक्षमाणाऽऽसम्। सहसा वनभूमिर्मे स्मृतिपथमुपैत्। "अहो वनं न निर्मृगम्।" सिंहनादस्य करि-चीत्कारस्य कल्पनाप्रसूतो ध्वनिर्मत्कर्णाववविशत्। स्वैरं धावन्तीनां भावनानां वेगं विचाररश्मिना नियम्य वनभूमेर्भीषणतामनुमाय सकृदहं प्रकम्पिता। तदनुपस्थितौ जिज्ञासा परितापः पश्चात्तापस्तीव्रतरोभवत्। परं गतः समय इव परावर्त्तयितुमशक्यः स निशान्तसुखस्वप्नवच्छिष्टस्मृतिरभूत्।

अथाहं दीर्घमुष्णञ्च निःश्वस्य श्रोणिलग्नां धूलिं फट्कारेण स्वयमेवापनी-याश्वमारोढुं चलिता। मम पादौ नितरामक्षमाविव सुतरां न निपततः स्म। प्रेरणविरहितोप्यऽश्वोऽभ्यासवशात्प्रासादमायातः। पथि कथमहमासमिति न किञ्चिदवेदिषम्। सहसाऽश्वावरोधेन मम ध्याननिद्रा भग्ना।

मम जीवनेऽयमपूर्वोऽवसर आसीत्। मम मतौ कामः कश्चनासीदेव नहि, प्रणयश्चासीद्दुर्बलमनसो विकारः। मनोरञ्जकपुस्तकेषु रीतिकारग्रन्थावलोकनप्रसङ्गे च कामरचनाः प्रणयप्रसङ्गश्च केवलाः कल्पना एवासन्निष्कर्मकविमानससम्भवाः। परमद्याविज्ञात एवायं भावोऽवहिताया अपि मम मानसं प्राविशदिति।

विचित्रो धातुर्नियोगः। गर्भविनिःसृतार्द्धवपुरपि सिंहशावको मत्त-गजेन्द्रं धावति। कुक्कुटैः सह लब्धजन्मापि हंसस्तटाकमविशङ्कं विशति। अदृष्टमूषिकाऽपि मार्जारी मूषिकाम्, अनीक्षिताहिरहिञ्च नकुलोऽत्तुं धावति। विलीनोऽपि संस्कारः सङ्घर्षेण विद्युदिव प्रादुर्भवति सत्वरम्। विलक्षणं संस्कारवैशिष्ट्यम्। एतदेव तु पुनर्भवस्य मूलम्।

अहो विचक्षणोयं कलाकारः कलागारः। एष एव प्राणिभ्यो विविधानि रूपाणि ददाति, वृक्षेषु च विविधमाकारं रागमास्वादं पत्राणि पुष्पाणि फलानि

च निर्माति। पक्षिभ्यो मधुरां गीतिं पशुभ्योऽव्यक्तां ध्वनिञ्च प्रयच्छति।

पीतभ्रमरी लघीयांसं कीटं मर्मस्थानदंशनेन विमूर्च्छ्य मृद्गृहे स्थापयति, येन स न म्रियते सुरक्षितभोज्यत्वेन तिष्ठति च। परिपक्वे कालेऽण्डविनिर्गतः शिशुर्जीवन्तं मूर्च्छितं कीटं शनैश्शनैस्तथा भक्षयति यथा न स म्रियते, यतः शवभोज्यं प्राणघातकं स्यात्। ततो जातबलः स समये मृद्गृहं विदार्य निःसरति। पीतभ्रमरी जीवने न कदापि स्वापत्यानि पश्यति शिक्षयति वा। परमेषा क्रिया सुशिक्षितेवान्यूनानतिरिक्तमासृष्टेः प्रचलति। नास्याः कश्चन शिक्षकः संस्कारातिरिक्तः।

अहो दुरवबोधं संस्काररहस्यं किल। विश्वस्मिन् प्रसृतस्य सर्वस्य प्राणिन आद्यं स्वरूपं वीर्याणु यद्येकत्रीकृतं स्यात्, सर्वमदोऽङ्गुलीपर्वगर्त्तमपि पूरयितुमक्षममित्यसन्दिग्धम्। अहो तेषां वासनाजन्या विविधाऽनन्तता। याभिः प्रेरितः स जीवने विविधं वैलक्षण्यमाविष्करोति। सत्यम्, अनन्तजन्म-वासनाशासितः किल प्राणी।

परमेष विचारः केनाप्यज्ञातोद्भवेन बलीयसा विचारेण पराहतः, क्षणादूर्ध्वमेव न लक्षितः, लक्षितं केवलं विकसितस्मितं मुखारविन्दमन्तः।

लोकः प्रेमाणं प्रसन्नतायाः परिपूर्णं निधिं मधुरतमञ्च वदति। परं तथाभूतः संयोग एव वियोगे तु तिक्तासमः।

तारे, प्रेमाभिलाषः प्रेमाणं कुर्वन् प्रेमाश्रयं नेक्षते। चातकः किमु जलदस्य प्रतिप्रीतिं परीक्षते? प्रतिप्रीति प्रेम नहि, अपि तु वाणिज्यम्।

आः प्राणाः प्रयातुकामास्तारे! प्राणान्धर्त्तुं कस्याप्याधारस्यावश्यकता तारे! इदं शून्यञ्जगत्, व्यर्थम्। संसारव्यापारादवसन्नाहम्। प्रमत्तः प्रभञ्जनो भावसमुद्रमुल्लोलितवान्।

दास्यः सख्यश्च यथापूर्वं मामभिनन्दयितुं समेता अपि मां वीक्ष्य स्तब्धा अतिष्ठन्। अहञ्च द्वितीयं तलमुपेत्य "न कापि प्रवेष्टव्या न च प्रवेशाय प्रष्टव्या" इति द्वारपालिकामादिश्य कौमुदीभवनमासाद्य शयनकक्षमुपेत्य शय्यामासादयम्।

सलज्जा सन्ध्या गोधूल्यवगुण्ठनेऽङ्गुलिगवाक्षं विधाय प्रियं मार्गयमाणाऽवर्त्तत। परम्, सीमशासकभीतो विपुलोदरः कृताभ्यासो नौवणिक् सुवर्णगोलक-

मिव सूर्यमगिलद्वियत्। क्षोभारुणा प्रतीकाराक्षमाऽबला सन्ध्याश्रूणीव नक्षत्राणि व्यमुञ्चत्, तप्तानि यानि वियच्छरीरे उष्मव्रणानीव प्राकाशन्त। तैरपि स कृशः कृष्णो विरूपोऽपि लोकोच्छ्वासैराहतोऽपि चौर्याप्तधनो भ्राजमानोऽवर्त्तत। अहञ्च मृद्वीकामधुरां क्षणं परिपीतां तस्य वाक्सुधां पुनः पुनर्भावयन्ती निस्सीमानन्दमास्वादयन्ती मनोरथमयं जीवनं कल्पयन्ती व्यचारयम्—स्मराराती जीवत्यपि विलक्षणा शक्तिरनङ्गस्यापि पुष्पबाणस्य। परमोयं तुषारहारमृणालकर्पूरचन्द्रचन्दनैर्नापहार्यो गात्रदाहो मर्मदाहः। प्रकामं कमनीयोऽपि कामो निकामं क्षमः क्षयाय विषमं विषमिव। स्मरमुषितो मतङ्गोपि कदर्थनां सहते।

अद्याहं लुण्ठिता, लुण्टाकमाहूयानिच्छन्तमपि तं सर्वस्वमर्पितवत्यहृदया।

कृष्णतारा—प्रणयैकगम्ये पथि को नाम संसारी सहृदयः परावर्त्तेत? परमेतत्तव कर्मणः प्रतिकूलम्। इदमाश्चर्यं महद् यद् बाणनिक्षिप्तहरीन्द्रकरीन्द्रां त्वामेवावधीरितधैर्यां रोमाञ्चकञ्चुकाञ्चितां चपलां तरलां विदधाति पापः कामः। नात्र चित्रम्, यदि स कोमलभावना महिलाः खेदयेत्। परमेष प्रेम्णः स्वभावः। पतङ्गो ज्वलन्नपि ज्वलतः पतङ्गान् पश्यन्नपि ज्वलति। पूर्णतायै विकलः प्रेमा, आशारज्जौ बद्धो नैराश्याहतोऽपि प्रयाति प्रयास्यति च। परमहं तव कुसुमायिते लोचने अपश्रिणी द्रष्टुमक्षमा। निराशामावस्यायां विरहवर्षर्त्तावश्रुबिन्दून् निपातयन्तो नेत्रपयोदा मां परितापयन्ति प्रभे!

अहम्—निश्छलः स्मयो विस्मयश्च मे व्यपगतः। चक्षुषोस्तोद इव स्वापः। आः विनैव पोत्रं नाविको मध्येधारं निनाय पोतम्।

सम्प्रति तस्य स्मृतिश्छायेव तापं मे हरति। प्रासादपताकामिव चञ्चलां मनःस्थितिमवरुणद्धि। यदा यदा मनोमञ्जूषामुद्घाट्य पश्यामि, हसद् भ्राजमानं द्रव्यमेव सर्वदा पश्यामि। एतादृग्यौवनं रूपम्, यस्मिन् प्रतिकणं वीरता प्रविश्य विश्रान्ताऽऽसीत्, अदृष्टचरम्। तारे, तस्मिन् रूपप्रवाहेऽहं प्रवाहिता। अधुनाहं वीणाताराः स्वरेणेव तेन तादात्म्यमनुबुभूषामि। सकलङ्कः परापकृतिकृती विरहिणीवर्गवधाधमो दुर्विनीतो विधुः, व्याध इव नराद इव पुष्पबाण-

पूर्णतूणः संहितशरासनोऽनाहूतोऽनाज्ञप्तः पञ्चशरश्च मामुपैति। विश्वं वेदनामयं सुरभिं समीरं ज्वालमिवावैमि। मामवलम्बस्व बुध्यस्व चेष्टस्व। अवसरे गते पश्चात्तापो व्यर्थः। अयमाधिः प्रेमाख्यो मां शातयति।

कामदेव, त्वत्तः किमपि नाकामयम्। त्वया च सुखं दत्तं भवेत्, यदि त्वमसमर्थः काम्यं दातुम्, तदा दुःखं दातुं कस्तवाधिकारः ? वरायासमर्थः शप्तुमीदृगुदारः कथम् ? परं तवेच्छा। त्वया यद्दत्तं तेनैवाहं प्रसीदामि। परम्, व्याधोऽपि कणान् विकीर्य पक्षिणो बध्नाति, सर्पग्राही वीणां वादयित्वा सर्पम्, शष्पं करिणीञ्च प्रदर्श्य हस्तिपो हस्तिनम्, त्वं पुनर्मामेवमेव बध्नासि निर्दयम्।

अहो, किन्तु करवै, परितः सञ्चरन्तं तातं वातमापृच्छे, मेघं वा दूतं विदधे। कुलिशकर्कशः किल विरहशब्दः। सखि, मार्गं मे दर्शय, भग्ना भावनाः संयोजय। आपद्गतो नोपदेशपात्रम्। विधेयः प्रयत्नः प्रतीकारे। जीवनस्य मुकुलं सदुपदेशामृतैर्नहि जीवयितुं विकासयितुं शक्यं तारे ! अग्निज्वालया दह्यमानो वचनेन न शान्तिमधिगच्छति। को नाम खद्योतेन दीपं ज्वलयितुं क्षमः ? वयसः सन्देशः स्वतः प्राप्तस्तारे, तस्यादेशस्तु पालनीय एव। प्रेम्णस्तिमिराच्छन्नं पन्थानं जाने नहि, परं त्वं सहचरी।

कृष्णतारा—प्रणयवेगो निद्रावेग इव प्रबलः किल प्राथमिकः। समयेऽप्रेरितानि कुसुमानि विकसन्ति। समुद्रे विलयाय नद्य उद्विजन्ते। पक्षिणः पशवो जलचराश्च सङ्गमाय व्याकुला वीक्ष्यन्ते, पुनः पञ्चेन्द्रियो मानवः कथं नाम······ ? लताङ्कुरः पर्वतस्यापि वक्षो विदारयति। जलमिव मृदुलं प्रेम पाषाणहृदयादपि स्फुरति। परमहं तव विशृङ्खलां वेणीम्, अस्तव्यस्तानि वासांसि, निर्निमेषं चक्षुः प्रेक्षितुमक्षमा। स्नेहं ज्वलयन्नेव दीपः स्वं दाहयति, परांश्च प्रकाशयति। त्वामहं परामृशामि, मा शोकं विशः। स कुत्रापि भवेत्, तमहं प्रान्तरेष्वन्विष्यामि नगरेषु च।

अहम्—पुरो व्रजन्ती सरित् तटौ स्पृशन्त्येव प्रवहति। परम्, यदा समुद्रं स्वलक्ष्यमुपैति, तदा तस्य मानसे तटस्मृतिर्नहि तिष्ठति। एतादृश्येव मम स्थितिः। अधुनाहं विकला विलयितुं पतिसमुद्रे। परं, नहि,

विलयेऽधुना विलम्बः। सम्प्रति त्वादृशतटस्यावश्यकता। सखि, कथमहमीप्सितमधिगमिष्यामि। मम मानसमुकुरं त्वमेव। त्वत्साहाय्येनाहमात्मानं द्रष्टुं शक्ष्यामि।

कृष्णतारा—पर्वतोद्भवा नदी तस्य समीपमेव सर्वदा न प्रवहति। अपि तु लोकलोचनेभ्योऽवहितेव बहुश उत्तरां दक्षिणां पूर्वां पश्चिमां दिशमभिसरन्ती दूरवर्त्तिनं समुद्रं सङ्गच्छति।

अहम्—परं तस्य किमपि ज्ञातं नास्ति नामादि।

कृष्णतारा—ततः किम्। या शक्तिर्युद्धोद्योगे चातुर्यमभजत साधुना ललितकलासु योज्या। तस्य चित्रन्त्वया लेख्यम्, येन स त्रिभुवनव्याप्यपि सुखं प्राप्यः। धैर्यमाधेहि, पतत्पत्रता गच्छति, पुनरुपवनं कोमलकिशलयैराच्छाद्यते।

अहम्—तत्तु सज्जमेव वर्त्तते।

उपधानस्याधस्तान्निःसार्य चित्रं प्रदर्शितम्। तेन चित्रान्तराणि कारितानि। विमलपुरेशस्य प्रशंसा भवन्मुखादाकर्णितासीदतश्चतुराश्चरास्तत्र प्रेषिताः। तत्र श्रीमतामभिज्ञानं क्षणाल्लब्धम्। अनुकूलगामि चेतो मया प्राशंसि; परं भवाँस्तत्र न लब्धः। देवीं कमलामनुसन्धातुं भवान् क्वापि गत आसीत्। राजनगरञ्च महाशोकाविष्टमासीदेव। अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः।

वसन्तो विकसितः, पर्णानि शीर्णानि। ऋतुः परिवर्त्तमानोऽवर्त्तत। निशा तारकावलीमायोज्य विकसितमुखचन्द्रा बहुश उपातिष्ठत, परं पुनर्व्योम स्वच्छम्। अथाहं विविधमङ्गलव्रतान्याचरन्ती दीपज्योतिश्शिखेवाप्राप्तनिर्वाणा ज्वलन्ती भवतामन्वेषणाय अचिन्तितचरं पितृस्नेहत्यागं निश्चित्य, दूर्वाग्रविगलत्तुषारबिन्दुभी रुददिव प्रतीयमानं प्रियं प्रमोदवनम्, स्रवदश्रु सखीजनं निर्दयं सर्वस्मै कालाय विहाय आमोदप्रमोदैर्मुखरितं प्रासादं तस्य स्निग्धां मादिनीं छायाञ्च नीरवतायै समर्प्य आप्रसवाल्लालिनीं भुवमपुनर्दर्शनाय नमस्कृत्य गृहान्निष्क्रमितुमैच्छम्।

गन्तुमुद्यतां पिता मां प्राबोधयत्। पत्न्यै पुरुषाणां भ्रमणं तु बहुशः श्रुतम्, परमिदं नवीनं नियतेर्भुजङ्गकुटिलं विलसितं यत् स्त्रीभिः पुरुषान्वेषणम्। अस्तु, यादृशी तवेच्छा। अहं सर्वदैव तवेच्छानुरूपं कृतवानस्मि। परम्,

मनस्येनां सरस्वतीमाधातुमर्हसि । इमामुपदेशसुधां भग्नः कुम्भ इव मा त्याक्षीः । ज्ञानमुपयुज्यमानमेव मनसि तिष्ठति । एवं कुर्वता सह विश्वमयते । अन्यथा स नराकीर्णमपि नगरं निर्जनं वनमिव विशति ।

संसारं याहि, परं तस्य मायामोहैः पङ्केन पङ्कजिनीवास्पृष्टाऽनाकृष्टा स्वोद्देश्यं व्रज । पृथग्भूतोऽग्निर्जलं तापयति, संयुक्तश्च स्वं क्षपयति । एवमेव पुमान् संसारयुक्तः । सततसाधनायाः परिणामः किल सफलता । सर्वदा विनयमातिष्ठेः । दर्पलेशोऽपि संस्कारसमुच्चयमुच्छिनत्ति । शान्तः स्निग्धो बन्धूचितेन पथा शत्रोरपि मानसं वशयति । प्रेम किलारज्जुबन्धनम् । श्वा केवलं प्रेमैव प्रदर्श्य जीविकामर्जयति ।

सर्वदा मधुरं वद । अर्थहीनोऽपि मधुरशब्दो वीणाक्वण इवाह्लादयति । स्मर, अवधेहि, बिन्दुमात्रं मधु यावतीर्मक्षिका एकत्रयति, शुक्तस्य समुद्रोऽपि तावतीर्नहि । अग्निदाहादपि विषमं वाक्पारुष्यम् । वाचां नियन्त्रणं विवेकः ।

शुभाकाङ्क्षा मैत्री साधुता च सर्वस्यामोघसञ्जिन्यः । लोकातीतप्रवृत्तीनां प्रेरणाकेन्द्रं नियन्ता च मानवः स्वयमेव केवलम् । समवेक्षितार्थो धृतिं दृष्टिं दक्षताञ्चोपयुञ्जानो न क्वचन दुःखमश्नुते । परिणामविवेकेऽविकलः सदानन्दप्रसवभूमिः । पूर्णं विचारय पूर्वम्, ततो निर्णयानिवर्त्यम् । सर्वेषु कार्येषु त्वरामनुतिष्ठ विवेकयुक्ता । जडः परप्रेरणया प्रवर्त्ततेऽन्यश्वसितेन शङ्ख इव । कर्त्तव्यस्य कोणान् बहुविधैर्विचारचक्षुर्भिर्निरीक्षस्व । किमपि करणमेव न मानवस्य कर्त्तव्यम् , कदाचनाक्रियमाणमपि गरीयः कर्त्तव्यम् । उत्तेजनां त्यज सा विवेकाद् भ्रंशयति । बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसते । निरीक्षणं करणञ्चाधिकं स्यात्, वचनमल्पम्, अत एव विधिर्नयनपादद्वयीं जिह्वाञ्चैकाञ्चकार । दुर्जनसङ्गं हालाहलं मन्यस्व । सत्कर्मणि सोत्साहा भव । जीवनसङ्घर्षः शौर्येणैव किल जेयः । परीक्षणं धैर्येण वीक्षस्व । भुवनाभरणं सुवर्णमुपलेन परीक्ष्यते। तरङ्गघर्षणैस्तटशिला निर्भरं मसृणीभवन्ति यद्याघातैर्न विचूर्ण्यन्ते । अनुत्साहस्य विचारोऽपि कातर्यकारी । नहि नभो निष्पक्षभोग्यम् । उत्साहे निश्चये च दृढो वस्तुतत्त्वाध्यायी फलश्रिया व्रियत एव ।

कण्टकेषु स्थित्वापि विकासो हासः स्वेन सुमनसां प्रसादश्च त्वया सुमनोभ्यः प्राप्तव्यः। आतपे प्रवर्षणे शरदि झञ्झायां कटुतिक्तमामपक्वं विरससरसं रूक्षशुष्कं जग्ध्वापि मधुरं मानसतोषि वचस्त्वया कोकिलात्किल प्राप्तव्यम्।

परुषं पुरुषैश्छिन्नेऽपि तेभ्यः फलेन सह छायादानं पादपेभ्यस्त्वया प्राप्तव्यम्। विकटपाषाणेभ्यः निविडकान्तारेभ्यः पन्थानमासाद्य स्वोद्देश्यं निर्भरं निर्भयं व्रजतो निर्झराद्दुर्गमव्रज्या त्वया प्राप्तव्या। धरित्र्या धैर्यं सुरसरितः शैत्यं समुद्राद् गाम्भीर्यं पर्वतेभ्यो दाढ्यं पिपीलिकाभ्यः कर्म, स्वं दग्ध्वापि परानालोकयतो दीपात् परेषां तमोहरणञ्च त्वया प्राप्तव्यम्।

विनम्रीभूय प्रवहणम्, लक्ष्यं विहाय न क्वाप्यवस्थानम्, अवरोधादप्रभावनम्, अवरोधकानामप्युद्धरणं शैत्यञ्च त्वया जलाद् ग्राह्यम्। तत्सर्वदा लोकमाप्याययन् न कमपि परामृशन् निम्नान्निम्नतरं गच्छति, तदपि महान्तस्तस्मै सस्पृहाः। अयं सेवकानामादर्शः। सामान्यजनदुर्गमात् समुद्रात् जलमादाय, तन्मधुरं विधाय लोकमाप्लाव्य जगतः सुखं समृद्धिञ्च विरचय्य स्वयं विरिच्य आकाशस्य क्वापि कोण आकार्यप्रसङ्गं स्वस्य विलायनं त्वया प्रशंसाभीतादिव मेघाद् ग्राह्यम्।

प्रशंसाया भेतव्यम्। आत्मशंसा मानवप्रकृतेः प्रधानं व्यापारः। गरीयसी मानवस्य प्रशंसाबुभुक्षा। यया पीडितो घासमपि जिघत्सति कीटाकीर्णम्। वासो न स्याद् ग्रासो न स्यात् आहार्यं न स्याद् धार्यं न स्यात्, स्थानं न स्याद्, यानं न स्यात्, केवलं स प्रशंसितव्यः प्रशंसायै विकलः, जातम्। स मलमप्युत्सार्य परिष्करिष्यति। मा बिभीया आक्रामकमालोक्य, परम्, परं बिभीयाश्चाटुकारेभ्यः।

स्वापराधः शुद्धेन मनसा स्वीकार्योऽनुतप्तव्यञ्च तस्मै। मित्रेष्वकपटां पटुतां व्यवहरेः। मित्रस्य सत्यं नाशङ्कस्व। सर्वे तरङ्गास्तटं न स्पृशन्ति, परं ये स्पृशन्ति तत्र सर्वतरङ्गाणां कारणता। क्वचन मानवः स्वेनैव वञ्च्यते, तत्र नावसादो विधेयो न च स प्रकाश्यः। जगद्धास्योत्सुकम्, हसता सह हसति; परं रोदितव्यमेकाकिनैव, यतो रोदनं तु तेषां समीपे स्वस्यैवापारम्। दुःखमपि वृत्तं शिक्षयति, शुभचिन्तकं मित्रमेव तत्, स्यान्नाम तस्य शिरसि कण्टक-

किरीटम्। दुःखं मानवहीरकस्य शाणोल्लीढनम्। सङ्कटं दिव्यां दृष्टिं वितरति। विपत्तौ मानवः संसारस्य सत्यं रूपं पश्यति। विपत्तिर्मानवस्य चक्षुषी अश्रुभिर्धावयति, यस्मात्स वस्तूनि सम्यगीक्षितुं प्रभवेत्। दुःखस्य धारा वर्षस्य धारेव पङ्कमुत्पादयति सत्यम्, परं पुष्पाण्यपि सैव विकासयति। परिस्थितौ विकटायामेव बुद्धिर्वर्द्धते। विकटा स्थितिर्बुद्धेः शाणपट्टिका। विविधज्ञानसमृद्धबुद्धिरेव संसारस्य कण्टकाकीर्णे मार्गे सुखं व्रजति, उपानन्नद्धपाद इव न मन्थरगतिः। विकटा परिस्थितिराचार्या लोकस्य।

अनन्तान्यालोकभाञ्जि नक्षत्राणि सूच्यभेद्ये घने तमस्येव भ्राजन्ते।

आलस्यं बहिष्कुरु, तद्धि निर्बुद्धीनामवकाशदिनं निष्फलानामाश्रयश्च। यशः साहसैकफलम्। अनवरतप्रयत्नफलमेव जीवनम्। कण्टकाकीर्णकान्तारे भ्रमन् भृङ्गः कुसुममकरन्दमास्वादयति। साफल्यसूर्यो विघ्नशैलदुर्गशिखरमारुह्योदेति। कातराणां वेश्म नैराश्यम्। नैराश्यस्पर्शो विचारशक्तेः पक्षवधः। नानुप्तं प्ररोहति।

मित्राणां तत्त्वनिकषो विपत्। मनुजमतिमोहिकासु प्रपञ्चविषमास्वपि स्थितिषु धैर्यं न त्याज्यम्। उपायोऽन्वेष्टव्यः। विवेकाञ्जनशुद्धनेत्रस्य पराक्रमेण क्रीता भूः। विमर्शविरहितो विधिर्हास्यायापदे च। उपायपूर्वं सर्वं सुकरम्, प्रयत्नदारिद्र्ये कातर्यं न तु वैफल्ये। गम्भीरविपदब्धितरणे सज्जः साफल्येनाभिषिच्यते। सुखं भोगं मोहं वासनाश्च विस्मृत्य लक्ष्यानुसरणं विजयः। श्रमशीलता जीवनम्। अकर्मण्यस्य सत्ता विद्यते न तु जीवनम्। उद्योगमनुवर्त्तते भाग्यम्। स्त्रीत्ववृत्तिरपि परस्मै प्रवर्त्तमाना पुंस्त्वं प्राप्नोति। मार्गे पुष्पाणि स्युः कण्टका वा, हिमपातः स्यादौष्ण्यं वा, मित्राणि स्युर्वन्या हिंसका वा गगनचुम्बीनि सानूनि स्युः सरलो मार्गो वा दृढव्रतस्य न किञ्चन भयम्। पुरोगमनेन काठिन्यं द्रवतेऽसम्भाव्यता च विनश्यति। सुधाबन्धुरपीक्षुर्बहिः कर्कश एव। बहुभिः परिचयः क्लेशकरः। नवं क्षणमेव सुन्दरम्। असत्यं महत् पातकम्। मस्तिष्कमन्दिरं तिष्ठेच्छान्तं पवित्रमप्रवेश्यञ्च दुर्विचारैः। आकृतिं वीक्ष्यैव मानवेषु नाधेयो विश्वासः। परेषां प्रतिष्ठां जीविकाञ्च नाधिक्षिपेः। अज्ञातविषये नैपुण्यं मा गमः। अतिचातुर्यं व्यापदे। अव-

हितता साधना तद्विपरीतो विनाशः। अभ्यस सत्प्रकारान्। आस्थामाधेहि सैव पुंस आशा। अकृतर्णा भव, सत्ये च सत्वरं शोधितर्णा। पूज्यानां मतमाद्रियस्व। सिद्धान्तापेक्षया धनं नितरामल्पमूल्यम्। आदर्शस्य बलं सैन्यबलाद्बलीयः। कठिनकठिनमपि मार्गं सरलसरलं विदधति विवेकशीलाः। प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः। आचरणेन लोकं सरलजीवनाय प्रेरय। मद्यं मा स्पृश, माऽऽस्वादय, मा स्मर च। विषयविषं विषादपि भयङ्करम्। सत्कर्मणे सेर्ष्यं श्रमः साफल्यस्य परिचायकः। अत्यायते त्रोटनभयम्। अतिह्रस्वे सर्वस्माद् भयम्। अतो मध्यमां वृत्तिमवलम्बस्व। अवकाशं स्वोन्नतौ युङ्क्ष्व। इति।

कृष्णतारा—चण्डांशुश्चण्डांशुभिर्ग्रीष्मशोषितान् नदीतडागान् विध्यन् न मनागपि दयां कलयति। निर्दयता प्रचण्डानां धर्मः किल। त्वमिह मां विमुच्यानाश्वास्य गन्तुं प्रवृत्ता, परं काण्डाद् विहीना कमलिनी क्वापि जीवितं धारयति नाम ?

"एकभूमिर्विश्रम्भस्य परेङ्गितावबोधप्रगल्भा प्ररूढयौवनाप्यविकृता मम बाहीकमस्तिष्कीभूता कृष्णताराऽवश्यमेवावियोज्या—" अहमचिन्तयम्, एतादृशीं सहयोगिनीं विना यात्रा तु तमस्येव भविष्यति विना दीपम्। इति।

देवस्यायं शयनसमयः, देवः स्वपितु।

प्रथममाह्निकम्।

——०——

सूर्यप्रभा

किं वा

वैभवपिशाचः

द्वितीयमाह्निकम्

—*—

कुसुमसुकुमारदेहा वज्रशिलाकठिनसद्भावाः।
जनयन्ति कस्य नान्तर्विचित्रचरिताः स्त्रियो मोहम्। क्षेमेन्द्रस्य।

प्रवयसि यौवनशालिनि हीनकुले सत्कुलप्रसूते च
रोगवति दृढशरीरे समचित्ता योगिनश्च गणिकाश्च। दामोदरगुप्तस्य।

उच्चैरेष तरुः फलञ्च विपुलं दृष्ट्वैव हृष्टः शुकः
पक्वं शालिवनं विहाय जडधीस्तन्नारिकेलं गतः।
तत्रारुह्य बुभुक्षितेन बहुशो यत्नः कृतो भेदने
तत्राशा नहि केवलं विगलिता चञ्चुर्गता चूर्णताम्॥

कुम्भपर्वपुण्यपत्तनं क्षीयमाणमासीत्। अल्पीयांस आपणिकाः, विकलाङ्गा भिक्षुकाः गन्तुमनाक्षमुद्रा आशया स्थिताः साधवः स्वयं सेवकाश्चासन्। भग्नशिरसां त्रुटितहस्तानां क्षतशरीराणां यूथं यत्र तत्र क्रन्ददासीत्। लुण्ठिताः स्त्रियो भ्रंशिता बालिका यूथमुक्ताः शिशवो मृतानां दाहसंस्कारश्च पौरप्रतिष्ठानिकानां शिरोऽव्यथयन्त। अन्तिमं दृश्यन्तु सर्वत्र करुणमेव।

क्वचन क्वचन तेजस्विनो मनस्विनो महात्मान एकान्ते जनसम्मर्दव्यपगमं प्रत्यैक्षन्त। केचन पशूनाञ्चमत्कारेण जनानाकर्षयन्त आडम्बरेणाव्रजन्।

किमपि कार्यं तत्र न जातम्। प्रयागावतरणेन कुम्भसङ्क्रान्तेः पुच्छोत्सवस्य दर्शनमेवानुभूतम्।

वाष्पशकटी तीव्रवेगेन हुस् हुसन्ती श्वसती धावमानाकस्मादवरुद्धा। प्रवेष्टुं विकला सा निष्करुणमाचक्रन्द प्रवेशानुमत्यै। परम्,

प्रवेशचिह्नं (सिग्नल) चपेटामिव पट्टिकां क्रोधारुणं रक्तं ज्योतिश्च दर्शय-दवर्त्तत । पुनः सा चक्रन्द, स्त्रीणां रोदनमेव बलम् । परं क्षणेन प्रेमात्मकमिव हरिद्वर्णं ज्योतिर्वीक्ष्य पुनः सा हडहडन्ती निःश्वसत्युच्छ्वसती रुदती विदती प्राचलत् प्रापच्च 'हावरं' नगरम् । प्रबलवेगोऽदम्योत्साहः कमपि विजेतुमिवोद्विग्नो रक्तबीजाज् जायमान इव जनसमूहः सर्वतः प्रैक्ष्यत ।

इयमेव जनकुलाकुला कलङ्किता नगरी । कुल्याप्रयुक्तानां नावां समुद्रप्रवेशे यथाऽस्माकं तत्र गतिरभूत् । अपरिचितस्याश्रयो धनशाला (होटल) । वैभव-विलासायां (Grand) दिनत्रयाय मुद्राणां त्रिशत्या कोष्ठमेकमधिगतम् । स्थायिन आवासाय घटका आमन्त्रिता ऊचुः "रिक्तपाणिर्मधुरवाणिर्नात्रावास-मधिगच्छति । नमस्कारशुल्कमत्र देयम् ।" "किन्नाम तत् ?" अहमपृच्छम् । "आवासमभिलषन् गृहस्वामिने ग्राह्यावासस्य मूल्यं जिज्ञासाकाले कृतेन नम-स्कारेण सह प्रयच्छति तन्नमस्कारशुल्कम् । मासि मासि देयता च पृथक् ।"

"आ एवम्, तर्हि विचार्य कथयिष्ये ।"

"अस्तु, ममाद्यतनश्रमशुल्कं विंशतिमुद्राः कृपयाऽधुनैव देयाः ।" इति ।

तत्रत्यो जनपदसेवाविभागाध्यक्षोऽस्मद्राज्ये कर्मकार आसीदित्यकस्मान्मे स्मृतिपथमुपेतः । दूरालापेन समयं निश्चित्य तस्यावासं गता ।

भवनस्य विरामदे व्यञ्चेषु बहवो जना उपविष्टा आसन्, द्वारस्य कोणे त्रिपाद्यां चर्परास्यः प्रतीक्षक (Waiter) श्च ।

प्रतीक्षकस्यौष्ठौ जनदत्ततताम्बूलैः कृष्णौ, दन्ता मलयचन्दननिभाः, शरीर-ञ्चोपरितनायेन स्थूलम् ।

उपविष्टा वेषेण मरुत्तरेण आकृत्या च सम्पन्ना इव प्रतीयमानाः प्रती-क्षकं सादरं सस्मितं नमस्कृत्य शनैः पृच्छन्ति स्म ।

"हैयङ्गवीनं साभाय किमु रुचितम् ?"

"हीरकखचितमङ्गुलीयकं भगिन्या हस्ते कथमभ्राजत ?"

"श्रीमातुर्गले हारः स कथमशोभत ?"

"काश्याः सा शाटी रागेण मामहिम्नः (मेमसाहिब) किं प्रसादमक-

रोत् ? मम धर्मपत्नी तामानीतवती ।"

एभिरुपाख्यानैस्ते स्वं साभस्य निकटतमं मित्रं सूचयन्तस्तमपृच्छन् । परं स गर्वितो वृष इव तानुपेक्षमाणोऽवर्त्तत ।

पत्रशकल (पेपरस्लिप) माभुज्य तदन्तः पत्रमुद्रा ददतां दर्शनार्थिनां व्यग्राः पृथगासन्, अन्येषाञ्चान्ये । रूप्यकस्य प्रभावोऽपि विलक्षणः । तत् स्वतः शीतमपि कठिनतमं विलाययति । पत्रशकले दत्ते मां स निरपेक्ष उदतरत् "साभोऽधुना कार्यव्यग्र आस्यतामेकतः" इति । परं तस्मिन्नेव क्षणे साभ उपेत्य मामन्तर्नीतवान् । सोऽधुनाप्यात्मानमस्माकं भृत्यमिवामन्यतापत्यवदस्निह्यच्च । स मदीयां कथां व्यथाञ्च धैर्येणाकर्ण्यावदत् । "महतः साहसस्याभिक्रमः । कठिनतमः पन्था आक्रमितुमभिलषितो यद्यपि त्वं क्षमा । परमद्यतने समये राज्याद्बहिरेवं भ्रमणं दुष्करमेव । ममायं परामर्शो यत्त्वं जनसेवाविभागे भृत्या भव । एवं जगद्वृत्तज्ञानसौकर्यं सुरक्षा चानायासेन भविष्यति । मम वैयक्तिकसहायकस्य पदं रिक्तमास्ते, तत्रैव तव नियोगः श्रेयस्करः । परं पिशुनप्रवेशेनावधातव्यम्, न मन्दतेजसा भवितव्यम्,[1] सावष्टम्भतया व्यापर्तव्यं करणीयमाख्येयञ्च ।" इति ।

मया सर्वं स्वीकृतम् । सूर्यनाम्ना पुरुषरूपेण नियोजिता । सोपस्करस्य शासनबकधवलस्य मरुत्तरस्य च व्यवस्था भूता । अध्यक्षादन्यो न कश्चनाज्ञासीद्यदहं महिला, परमासीत्सर्वो विस्मितो यदल्पवयाःसुकुमाराङ्गः कथमस्मिन्पदे नियोजितः । इति ।

स्त्रीचरविभागाध्यक्षायाः पदं रिक्तमासीत् । साभेन कस्मैचन कालाय पदमिदं चरकार्योचितायै कृष्णतारायै मदनुरोधेन प्रदत्तम् । एकस्मिन् चतुष्प्राकारे द्वौ बकधवलावास्ताम्, एकं मह्यं परं तारायै दत्तम् ।

अहं कृष्णतारामवोचम्—तारे, यत्र कुत्रापि गता प्रत्यावर्त्य तथा विवृणु, यथाहमनुभवेयम्, यदहमेव पश्यामि करोमि वा, इति ।

कृष्णतारा—तथैव भविष्यति ।

कृष्णतारा भवच्चित्रमादाय प्रभातस्य प्रथमकिरणेन सह गृहान्निरगच्छत्, सायं मां सर्वमसूचयत्कृत्यं वृत्तञ्च । एकदा सा मामाह—'धिग् धिग् जीवनमेव

कलङ्कितायाम्। मन्ये धाताऽशेषभुवनानामशेषविधं कलिकलङ्ककैतवमेकत्र द्रष्टुं व्यरचयदिमां कलिकान्तारे प्रदर्शनीमिव कलङ्कानां कलङ्किताम्। कथं मानवा निर्जनां निरानन्दां निर्धनां नगरीमुपेताः सदाचारजीवनं जीवन्ति? कथं वा कमनीयकुलाः कन्या अनन्तरावणायां हिरण्यकशिपुपूरायां हिरण्याक्षाक्रान्तायां प्रचुरवेनायां कणकंसायां शीलं पालयन्ति? हन्तायं केवलो विचार एव, कार्ये परिणतिरस्य परिणता। मयाद्यास्य वर्णिका (बानगी) वीक्षिता।

अद्याहमातुरालयं गता। जनपदसेवाविभागीयपादत्राणेनाऽऽच्छिन्नं पादाङ्गुष्ठस्य चर्म पट्टिकाबन्धनमपैक्षत। पथि प्राप्तं विशालमातुरालयमहं प्राविशम्। सहस्रं मानवा उपविशन्तो भ्रमन्तो निद्रामनुभवन्तश्चासन्। चिकित्सकास्ताञ्छनैः शनैः पर्यैक्षन्त। मध्याह्ने आसन्नेऽप्यर्द्धादधिका रोगिणोऽपरीक्षिता एवासन्। चिकित्सकाः स्वमभितो जनसम्मर्द्दमीक्षितुं प्रभावातिशयं ख्यापयितुं रुग्णानुपैक्षन्त। ते वराका महत्कष्टमनुभूय व्ययं विषह्य भृतिं विमुच्य दुःखविघाताय परमयाऽऽशयोपेता उपैक्ष्यन्त। एकत एकश्चिकित्सको युवत्या सह मधुरमधुरमस्फुटाक्षरमालपन् घटीं क्षपयामास,वृद्धेनासह्यया परं पीडित उदरव्यथया पृष्टस्तं तथाऽभषद्यदाकर्ण्य रोगिणोऽत्रस्यन्। रसभराधरैः परां प्रीतिमनुभवन् को नाम वृद्धेन भाषेत। उन्मत्तस्य वार्ताक्रम इव तयोरपि सोऽनन्त आसीत्। आर्त्तेषु सदैन्यं प्रतीक्षमाणेषु द्वित्राश्चिकित्सकाः सम्भूयालपन्। क्षणेनापर आगत्य शंसन्नाह "साधु चतुर्धर, साधु, विश्वविद्यालयेन तव संलेखः (थीसिस) स्वीकृत एव।"

"भवतां सद्भावनायाः फलम्, किमु सिंह,"

सिंहः—सत्यमेव, अन्यथा योग्यता तु शून्याश्रया। सुहृदः! सत्यन्त्विदम्, यदस्माकं व्यवसायोऽपि विचित्र एव। वस्तुतो विपन्नव्याकुलत्रस्तानां लुण्ठनाय सुसङ्घटित उद्योगः। अस्मासु केचनैवैतादृग्विधाः सन्ति, येषां ज्ञानं मध्यमां पठन्त्या बालिकाया न न्यूनम्। परं शासनस्य दया परमा, यतः स्वैरं चरतां लोकं लुण्ठतां नरान् घ्नतामपि प्रभाव ईश्वरतुल्यः। लोको जानाति यद्वयमीश्वरस्य लघवो भ्रातरः। परं वयं तस्य भ्रातरः स्मो न वा यमस्य तु भ्रातरः स्म एव। परमं वैशिष्ट्यमस्मा-

सूपेतं मूर्च्छकौषधप्रादुर्भावेण पूयप्रतिरोधकवर्गेण च, येन सर्वो नापितः स्वं शल्यकर्मणि निपुणं मनुते। अपि स्मर्यते? तद्दिने मित्रेण पूर्णगर्भायाः स्त्रिय उदरं विद्रधिं मत्वा विदारितम्, पूर्णो जरायुरेव निःसारितः। परेण सहायकेन यदा जरायुर्विदारितः पूर्णः शिशुर्मृत आसीत्। परं नायमपराधः। एवं विधानि कृत्यानि कुर्वाणा एव वयं शासनात् समाजाच्च सम्मानं प्राप्नुमः।

चतुर्धरः— बहूक्तं विरम। विज्ञानविकलो विवेकमध्यायन् विज्ञानमेवावमनुते।

सिंहः—चतुर्षु = छलच्छिद्रदम्भपाखण्डेषु धुरीणो भवान्।

चतुर्धरः—अस्तु, अधुना साभस्यागमनकालः, अस्माभिः पृथग्भवितव्यम्।

सर्व उत्थिताः। धैर्यमाधायोपविष्टा रोगिण उपेक्ष्य व्रजतस्तान् वीक्ष्योद्विग्नाः।

"मिश्रक (कम्पाउन्डर) सर्वेभ्यः पूर्ववद् भेषजं वितर। काचन विशिष्टा चटका चेदावासे प्रेष्या। अपि ज्ञातम्?"—उद्विग्नाच्छान्तयँश्चतुर्धरो मिश्रकमादिशत्।

"ओ के सर, दासस्य केशा अस्मिन्नेव कर्मणि सिताः। सर्वं साधयिष्ये।" मिश्रक उदतरत्।

औषधविक्रयकारिणां समूहो भेषजवर्णिकानां मञ्जूषा रूपगर्वितसुन्दरीचित्रोपेतानि तिथिपत्राणि (कलेण्डर) चादायाभ्रमत्। सर्वः निःशुल्कां भेषजवर्णिकां लब्धुम्, तस्य वैशिष्ट्यज्ञानेन स्वकोशमुपचेतुं कामयमानः सूक्ष्मेक्षिकया प्रायस्यत्। एकस्मिन् गते परस्तत्स्थानमलङ्कुर्वन्नवर्तत। विविधकर्मसु व्यासक्तचित्ताः स्वामिनामाक्रोशभीता वराका रोगिणो विवक्षयौत्सुक्येन पार्श्वमुपेताः 'उपविश, उपविश' इति शनैः क्वचन सभर्त्सनञ्च शृण्वन्तो दीना अनुपाया उच्छ्वस्योपाविशन्।

एकत्र व्यवस्थापत्रलेखकरोगिणोः संवादमश्रौषम्—

लेखकः—किं नाम तव?

रोगी—किं मम?

लेखकः—आम्, तवैव।

रोगी—(किञ्चित् स्मृत्वा, इतस्ततो वीक्ष्य च)साभ ! भगलू ।

लेखकः—कियद्वयः ?

रोगी—मम किम् ?

लेखकः—आम्, आम्, तवैव ।

रोगी—एतदहं कथं जाने । मम मातरपितरौ मृतौ । एको लघु भ्राता काष्ठप्रतिष्ठाने हस्तवाह्यशकटं वाहयति । तं पृष्ट्वा सायं समेष्यामि ।

लेखकः—अरे भद्रमानुष, अनुमानतो निरूपय ।

रोगी—औषधव्यापारेऽनुमानत आयुषो निरूपणं नोचितम् । भवता कथ्यते चेल्लिख्यताम् । प्रथमे महायुद्धे मम ज्येष्ठो भ्राता समुच्छ्राये तवासन्दीभुजसम आसीत् । (साश्रुः) सोऽधुना मृतः ।

लेखकः—अहं तवायुः पृच्छामि, न तव भ्रातुः परिमाणम् ।

रोगी—तर्हि भवतैव विज्ञायताम् । दन्तौ भग्नौ चक्षुषी द्रष्टुमसमर्थे केशा अपि क्वचन क्वचन श्वेताः । विचार्यतां कियद् वयः ?

लेखकः—एतत्तु बाल्येऽपीदानीं भवति ।

रोगी—तर्हि कमण्डलुद्वयं भवाँल्लिखतु ।

लेखकः—(क्षुब्ध इवाभिरोगि पश्यन्) क आशयोऽस्य ?

"अस्मद्ग्रामे पञ्चदश वर्षाणि कमण्डलुर्व्यवह्रियते, पश्चात्स नश्यति, अतोऽस्य वयस्त्रिंशद्वर्षम्" साक्षरेण रोगिसहचरेण सभाष्यं वदतोत्तरितम् ।

लेखकः—क्व निवससि ?

रोगी—मन्दिरस्य समीपम् ।

लेखकः—मन्दिरं क्वास्ते ?

रोगी—मद्गृहसमीपम् ।

लेखकः—क्व ?

रोगी—इहैव ।

लेखकः—अपि स्नासि ?

रोगी—स्नामि, परं बोधय केन स्नामि ?

लेखकः—जलेन ।

रोगी—जलेन। तत्तु सत्यम्, परमुष्णेन शीतेन वा, कतरेण?

लेखकः—उष्णेन।

रोगी—परं यद्युष्णमुपलब्धं न स्यात्तदा?

लेखकः—तदा शीतेन।

रोगी—परं शीतेन रोगो वर्द्धेत चेत्?

लेखकः—तदोष्णेन।

रोगी—परमुष्णस्योपलब्धिरशक्या।

लेखकः—को रोगः? (क्रुद्ध इव)

रोगी—एतत्तु भवानेव जानीताम्। एतदर्थमेव भवान्सर्वकारेणाऽऽसन्द्यामारोपितः। मयि के के रोगाः सन्ति यद्यहमेवाज्ञास्यं तदा भवन्निकटे नागमिष्यम्। इति कथयता तेन शमीकाण्डप्रचण्डो दोर्दण्डस्तस्याग्रे कृतः।

लेखकः—(नाडीं स्पृशन्) क्षुधा कीदृशी?

रोगी—द्विः प्रस्थं सक्तुकमद्मि। वराकोहं नाधिकं कर्तुं क्षमः।

लेखकः—मलशुद्धिः कीदृशी?

रोगी—मलोत्सर्गो यथा भवति तथैव।

लेखकः—परमेतन्मया कथं ज्ञातं तिष्ठेत्?

रोगी—वृषभतुल्यं शकृदुत्सृजामि सकृत्।

लेखकः—मूत्रं कथम्?

रोगी—तत्सम्यक्। यथेच्छं स्वच्छं मूत्रयाम्युदञ्चनपूरम् (चडसभर)

लेखकः—निद्रा कीदृशी?

रोगी—सायं सुप्तः प्रातरेवोत्तिष्ठामि स्वप्नाक्लिष्टः।

लेखकः—अपि विवाहितः?

रोगी—आम्।

लेखकः—कया?

रोगी—स्त्रिया।

लेखकः—बोधय, किं कस्यापि पुरुषेणापि विवाहः सम्पद्यते?

रोगी—आम्, मद्भगिन्याः पुरुषेणैव सह विवाहः सम्पन्नः।

लेखकः—(क्षुब्ध इव) तर्हि को रोगः ?

रोगी—एतदर्थमेवाहं श्रीमन्तमुपेतः ।

लेखकः—सम्मुखमावासं व्रज । तत्र चिकित्सकस्य मस्तिष्कं भक्षय ।

केन मूर्खेणासाविहागन्तुं परामृष्टः ?

एकत्र रोगिचिकित्सकयोर्वार्त्तामश्रौषम् ।

वृद्धः—को रोगश्चिकित्सक, सम्यग्ध्यानेनेक्षस्व प्रभो, भवान् भगवानिवापरः । ममायमेकमात्रं पुत्रः । हस्तवाह्यशकटं वाहयित्वा दुग्धं विक्रीय रात्रौ याममेकमुद्घने (घण) अयोघनेन (हथौड़ा) लोहं सन्ताड्य महता श्रमेण बृहतीभिराशाभिरयं वर्द्धितः पाठितोस्मिन्नेव वर्षे वाणिज्याचार्यो (M.Com.) भूतः । नितरां श्रमशीलोऽयम् । अनध्यायेष्वपि बहुशो विद्याविटपी प्राचार्योऽनेन सेवितः, ऐषमः परिणीतश्च । मम चरणो विक्षतः कुदालेन (कुं दलतीति) । अयमधुना वृद्धयोर्युवत्याश्चैकमात्रमाश्रयः । रात्रावनेनोक्तं वक्षसि व्यथायै । अहं श्रुत्वैवं निर्निद्रः प्रमुद्विग्नोऽस्मि, कथयास्य को रोगः ?

मुहुर्मुहुर्वार्यमाणोपि भर्त्सितोऽपि सपादोपग्रहं चिकित्सकाधमं स्तुवन्नवर्त्तत ।

"नितरां खेदावहा स्थितिर्वृद्ध, यूनोऽस्य क्षयस्यान्त्या स्थितिः, कथमस्य रक्षा स्यादिति विचारयन्न कमपि पन्थानमीक्षे" ।

नासां भ्रुवञ्च सङ्कोच्य ललाटे वलीराधाय रुग्णस्य स्त्रियाः सौन्दर्यं साभिलाषं वीक्षमाणः सहावमवोचच्चिकित्सकः ।

वृद्धः—परं नास्य ज्वरो न कासो न पाणिपादे दाहो न मांसबलपरिक्षयो न निरोजस्त्वम् । रात्रावेव व्यथास्य भूता, भगवन्, रक्ष ।

चिकित्सकः—जीवन उढशकटस्त्वं कथमेतज् ज्ञातुमर्हसि ? मूर्ख !

वृद्धः—एतत्तु सत्यमेव श्रीमान् भणति, परमधुना किं करणीयम् । मुद्रा द्वित्रा व्ययिताः स्युर्न कापि हानिः परमयमुल्लाघतामुपेयाच्छीघ्रम् । वासन्तग्रैष्मकं धान्यं न भूतम्, देवकृपयाऽऽश्वयुजकं सम्यग्भविष्यति चेद्गवन्तमपि नवं धान्यमास्वादयिष्यामि ।

चिकित्सकः—परमस्त्वं मूर्खः । द्वित्राभिर्मुद्राभिः किं भवति कौशिक ? द्विसहस्रमुद्रा अपेक्ष्यन्ते ।

वृद्धः—परमियत्तु त्रिष्वस्मासु विक्रीतेष्वपि न लब्धुं शक्यते।

चिकित्सकः—तदास्य जीवनं रक्षितुमशक्यम्।

वृद्धः—त्वं माता पिता प्रभुश्च कमपि पन्थानं निर्दिश।

चिकित्सकः—शृणु, नापरं किमपि कर्त्तुं शक्यते। भेषजव्ययस्त्वयैव सोढव्यः, चिकित्साश्रमो मया सहिष्यते। लोकरक्षणमेवास्माकं व्रतम्। परं शृणु, साम्प्रतमस्माकं गृहे गृहिणी नास्ति, अतो रुग्णपत्नी चिकित्सासमाप्तिं यावदस्मद्गृहकर्माणि करिष्यति। अस्याः सामीप्येऽस्य चिकित्साऽशक्या। त्वयां च प्रतिदिनं षट्प्रस्थं पयोऽर्द्धप्रस्थं नवनीतञ्च देयम्।

तादृशीं नवयौवनां वीक्ष्य चिकित्सकः परममोदत।

"निवर्त्यतां तात, ईदृशचिकित्सयाऽचिकित्सनमेव वरीयः।"

यूनः करौ बद्धमुष्टी कमप्याहन्तुमिव, शरीरमुद्विग्नम्, आघातं प्राप्तवतः कृष्णसर्पस्येव, परं सोऽवददेव।

एकतो रोगी सदैन्यमवदत्—मधुरमासीद् भोजनम्, जानन्नप्यधिकं भक्षितवानस्मि, सर्वां निशां जागरित आसम्, प्रातरेवाहमुपेतः सर्वासु कक्षासु भ्राम्यन्नवर्त्तिषि। परं कश्चन पश्यत्येव नहि। नवाः सद्वेशा वडवा इव अश्वस्यन्त्यो युवतयो वीक्ष्यन्ते। सर्वस्माद् भवतो नामाकर्ण्य महता कष्टेन जिज्ञासमानोऽत्रोपेतो देवस्त्वरताम्।

चिकित्सकः—विश विश। मा कर्णौ कर्त्तय। का व्यथा?

रोगी—उदरे महती वेदना।

चिकित्सकः—(हस्तेनोदरं परामृश्य) भेदो (Operation) विधास्यते।

रोगी—परं पीडा मेऽपररात्रे जाता। इयता कालेनैतावान्दोषो जातः किमु? येन भेदो विधास्यते।

चिकित्सकः—भविष्यति मूर्ख, भविष्यति।

रोगी—वर्षद्वये व्यतीते ममैकदेदृशी पीडा भूता, भिषजैकया मात्रया व्यपगमिता। परं स साधुस्वभावो धनार्जनेऽक्षमोऽन्यत्र गतः।

चिकित्सकः—स कश्चन गदहा आसीत्।

रोगी—भवान्सत्यमेव वक्ति। परं गर्दभेनापि तेन व्यथापहृता भवान्मनुष्यः सन्नपि व्यथां गमयितुमक्षमः। स्यान्नाम, भेदाय भवान् मह्यं किं दास्यति यतस्तवानेन हस्तलाघवं भविष्यति।

प्रभे, बकदृशां मिथ्यादृशां तादृशां यूथैर्मथ्यते भुवनम्। एवमहं पश्यन्ती प्राविषम्। सर्वस्तीक्ष्णनेत्रश्चिकित्सको मां विलोक्य चक्षुर्भ्यां पिबन्निव, दूरस्थां लिहन्निव रोगिसङ्कुलेऽप्यालिङ्गयन्निव स्कन्धयोरुत्थाय जिगमिषन्निवावर्त्तत। तेषां लेखनी प्रश्नावली व्यरमत् पथ्यकथनं प्रलपितमिव कपोलाः स्विन्ना मुखमण्डलानि च श्वेतान्यभूवन्। मृगयुनेत्रभीता मृगीवाहं कोष्ठात्कोष्ठं प्रयान्ती तानेव भावानेधमानानपश्यम्। वस्तुतो बलनामधिगतो गुण इव प्रतिदिनव्यवहारस्य बलमादाय बलीयान् भवत्यभ्यासः। अन्ततो गमनसज्जामिव कुर्वत्सु चिकित्सकेषु एकमावासमविशम्। यत्र रुग्णशतद्वयीमध्ये कपोलगर्त्तः कलितदन्तोपनेत्रः खल्वाटः प्रच्यवता शिङ्घाणेन करपटं लिम्पन् भ्रश्यन्नस्यविरङ्गीभूतपूतिवासा मलिनवासा आसीदुपविष्टश्चिकित्सकः। परीक्षणं भेषजदानञ्च क्रमश इति सर्वत्र लिखितमासीत् कर्मकारेभ्यः किमपि न देयमित्यपि च।

परं पिपीलिकाघ्राणश्चिकित्सको मदागमनात्पूर्वमेव मदागमनं विवेद। कालकनीनिकेव तस्य दृष्टिर्मयि पपात। स रुग्णान् सम्भत्स्यैकतो विधाय मां मधुरस्वरेणाहूयोपवेश्यापृच्छत्—"का सेवा?"

"अङ्गुष्ठव्रणबन्धनम्"—अहमुदतरम्।

"स्विन्नं भालं त्रुट्यन्ती वाक् स्थूलं जघनं कम्प्यान्तरं व्याधिं सूचयन्ति, अविदिततत्त्वा भवती महति रोगगर्त्ते निपतनोन्मुखा। श्रीमत्याः सर्वाङ्गं परीक्षे"—करुणार्द्र इव प्रतीयमानोऽवदच्चिकित्सकः।

"नहि नहि स्वस्थास्मि" इति भणन्तीमनिच्छन्तीमपि मां सोऽन्तर्नीत्वा कवाटं घटयित्वा कर्त्तव्यमूढां विचारायाप्राप्तसमयां काष्ठपट्टेऽशाययत्। मधुरमधुरमालपन् जातिं निवासं कार्यं प्रवृत्तिञ्च जिज्ञासमान उदरं कोमलकोमलं शनैश्शनैरामृशन् नैतादृशी सुशीला मुग्धा सौम्या रम्या काम्या मधुरदर्शना देवमादिनी कोमलस्पर्शाऽऽकृतिरवालोकीत्याम्रेडयन् सुखसाम्राज्ये निमग्न इव

मधुमयवागन्तर्विषोऽन्तरङ्गकथादक्षोऽपूर्वनाटकाभिनेताऽभिनववाग्भववैभवोऽनुकुचतटं लोलपाणिं प्रेरयँश्चण्डातकनीविमपि स्वयमुदमोचयत्। अहञ्च झञ्झावेष्टितां दीपिकामिव तनूं चरित्राञ्चलेन वारयन्ती लज्जया क्षोभेण क्रोधेन पूर्णा स्त्रीत्वं सौन्दर्यञ्च निन्दन्ती साशङ्काऽऽसमेव।

तस्य हस्तश्शनैश्शनैरचलत्, मम देहश्चाग्निमुष्टमिवावर्त्तत।

अहं सत्वरं साहसं समुद्याप्य सव्यहस्तचपेटया कपोलेताडयम्। तस्य दन्तयुगलमुपनेत्रं खण्डशो भूत्वा कुट्टिमे प्रसृतं सरक्तं शिङ्घाणञ्च। स च भित्तौ लग्नो ज्ञानशून्यः। अहं झटिति चण्डातकमाबध्य द्वारमुद्घाट्य रक्ता स्विन्ना क्रुद्धोष्णा निःश्वसती यावत्प्रत्यावर्त्ते मार्गमापन्ना धात्री मामवोचत्—

अहं भवतीं जालमार्गेण पश्यन्त्यासम्। तव कर्मणे चानन्तान् साधुवादान् वितरामि। गहनं सेवाकर्म चरितुं प्रवृत्ता धृतव्रता ईदृग्विपरीतमाचरन्तीत्यवर्ण्यम्। एष पौरप्रतिष्ठानाध्यक्षस्य जामाता चिकित्सकप्रमाणपत्रमुपदयोपलभ्य दृष्ट एव वर्णलुब्धकः। अपरेऽपि विविधमनुचितं चरितुं स्वैरं हन्तुमनुमतिं लब्ध्वा वागुरा आदाय चरन्ति। तद्दिने स्वास्थ्यमन्त्री पर्यवैक्षत। मासात्पूर्वमेव रोगिसेवा लुप्ता। कथमवस्थानम्? कथं पर्यवेक्षणम्? कीदृशो लघ्वाहारः? कतमा चिकित्सिका परिवेशिका? तस्याः शाट्या रागः सुरभिः सज्जा च कीदृशी? कीदृशं भाषणम्? कथं स्वागतम्? क्व क्व चित्रम्? इत्यादिष्वेव सर्वेषां मनो व्यापृतम्। तीव्रोद्यमविषमा प्रासरत्। सर्वत्र प्रद्रावः (भागदौड) परिष्करणम्। आतुरालयस्यापूर्वः स्फुटितसंस्कारः (मरम्मत) आरब्धः। चिकित्सका धात्र्यो मिश्रका उपस्थापकाश्च व्यग्राः। मलमेदस्विनः कवाटा द्वारशाखाः काचाः कुट्टिमाः क्षारेण सुरयाऽशोध्यन्त। सुधया बहिःस्थो युगानां कालिमाऽपाह्नियत। यतो वार्षिक्यः सुधामुद्रा व्यवस्थापकस्य पक्षकोटरं प्रयान्ति स्म। वर्षेभ्यो निरालोका विद्युद्दीपाः पर्यवर्त्यन्त। वर्षेभ्यो रुद्धा घटी संस्कर्तुं यान्त्रिकाय प्रहिता। एवं शवे प्राणान् प्रवेश्य निष्क्रिये क्रियामापाद्यातिशायिनी त्वराऽचर्यत। चिकित्सकावासेभ्य आनीताः पयःफेनसिताः प्रच्छदपटाः सत्यशय्यासु प्रासार्यन्त। मासैः क्लिन्नानि वासांस्यपनीयाङ्गाच्छप्रोञ्छितेषु शिशूनां शरीरेषु सुगन्धिमसृणपरागमवचूर्णनं न्यक्षि-

प्यत। चिकित्सकानां गृहेभ्यो बालक्रीडनकान्यादाय सत्याधिकारिभ्योऽदीयन्त। एवमकल्पेष्वकल्प्या शक्तिः समेता। कीदृशी कृत्रिमता ? रूक्षं शुष्कमामं पक्वं दग्धं भर्जितमप्यन्नं रोगिभिः समये नाप्यते। तेषां पयः फलानि चान्यैरास्वाद्यन्ते तेषामौषधं व्रणबन्धनं तूलपट्टिका च विक्रीयते। क्रन्दन् मरिष्यन्न केनाप्यालप्यते। आत्ययिके विभागे (एमर्जेन्सी) सद्य आपत्प्रतीकाराय चिकित्सकोपलब्धिर्मरणोत्तरम्। परं युगातिथिं सम्भावयितुं प्रसादयितुं तस्मात् सन्तोषजनकः प्रबन्ध इति श्रोतुम्, तेन हस्तमाश्लेषयितुम्, दशनसुधामीक्षितुम् प्रसन्नेन वेतनवृद्धिं वा कारयितुं सर्वो व्यग्र आसीत्।

स आयातः। प्रातरेव सर्वे द्वारेक्षणा हस्तयोर्माला आदायातिष्ठन्। भक्त्या प्रसन्नः प्रभुरिव स मध्याह्ने प्रादुर्बभूव। चलचित्रनटी पीतशतघट्टपानीया मलजाता (मालजादी) मालती सम्प्रति मन्त्रिणा भ्रमरवृत्तिना प्रणयपरिणीता सहैवासीत्। यां प्रभावयितुं मन्त्रिणा विशिष्टादेशो दूरालापेन वोधित आसीत्।

स्मितसुधया सिक्ताः कर्मचारिणो नवपत्रिता इव वसन्तोद्गमेन, पुष्पिता इव प्रावृषा, फलिता इव शरदा बभूवुः। प्रधानचिकित्सको हस्ताभ्यामाश्लिष्योभौ सहयोगिनः सहयोगिनीश्च परिचाययाञ्चकार। परिचीयमाने विविधनेपथ्येन विश्वविलोचनान्याकर्षन्त्यश्चूषितशोणिता इव रञ्जितौष्ठ्यश्चिकित्सिका महता हावेन भावेन मालतीपतिं प्रभावयितुं साभिप्रायमस्मयन्त। यतस्ताश्चिकित्सकानां सेवकानामातुराणाञ्च मनोरञ्जयितुमेव न्ययोज्यन्त हासवेषहावभावाभिनयविज्ञाइ तीव प्रत्यैयत। पर्यवेक्षणं भूतं भोजो भाषणञ्च॥

प्रधानचिकित्सकोऽभाषत, द्विवर्षपूर्वं यदाहमुपेतः, रोगिसङ्ख्याऽऽसीत् त्रिलक्षम्। अधुना चातिक्रान्ता दशलक्षम्। आशासे द्वित्रैर्वर्षैरेषा द्विगुणा भविष्यति। अतः सर्वकारोऽत्र दशचिकित्सकानपरान् योजयेदिति।

मन्त्री सन्तोषप्रदकर्मणे साध्ववादीत्। चिकित्सकपरिषन् मालत्यै दशसहस्रमूल्यमुपायनमदात्। सायमभूत्। न केनापि रोगिभ्यश्चिन्तितम्। तद्दिने दश शिशवः पञ्च युवानोऽपरिचर्यया भेषजाभावेन भोज्यजलाप्राप्त्या प्राणवायोरलब्धेर्भेषजमूर्च्छिताः शल्यकर्मोपेता रक्तस्रवणाच्च मृताः। जानासि भद्रे,

सत्यं विवृण्वन्नापन्नपदो नवनीत्यनभिज्ञो दयाशीलश्चिकित्सकः सभर्त्सनं पदाच्च्यावितः। पैशुन्यपराणां को नामानुरागो गुणेषु।

परिचारका येभ्यः किमपि लभन्ते तानेव रोगिणः परिचरन्ति। चिकित्सालया दीनेभ्यो निर्मीयन्ते परं तेषां लाभोऽदीनानामेव। प्रार्थये यद्यातुरालयान्भवती प्रतिदिनमुपेयादार्त्तनारीलोकस्य दुर्गतिर्नश्यादवश्यम्। रोगोपशमाय प्रसह्य प्रलोभ्य प्रवेशितास्ताः किमनुभवन्तीति को नाम ज्ञातुं क्षमः?

कथमसन् सत्यां वाचं श्रृणुयात्? तासां चीत्काराः श्वासोच्छ्वासेन समं निःसरन्तः प्राचीरमाहत्य परावृत्तास्तत्रैव विशन्ति। धर्म्यं (दस्तूरी) माणकमेकं ददतां व्यवस्थापत्राणि भेषजेन सह परावर्त्यन्ते, इतरेषाञ्च प्रातरुपेतानामपि आमध्याह्नं तिष्ठतां व्यवस्थापत्राण्येव न लभन्ते। असहाया उच्छ्वस्य निःश्वस्य कस्मा अपि वदितुमसमर्थाः पद्भ्यामेव चलन्तोऽपराह्णे रोगिभिरौत्सुक्येन प्रतीक्ष्यमाणाः साश्रव एव तिष्ठन्त्यसहायाः।

जानासि भद्रे! वन्या हंस्य इव सज्जा अश्वकिशोर्य इव प्रसाधनैरुन्नतरूपाश्चञ्चलाक्ष्यः श्वेतशिरःपट्टिकयोड्डीयमाना अप्सरस इव सपक्षाः प्रत्याययितुं चेष्टमाना उपानहां खटखटशब्दैरेकलयतामापादयन्त्यः सौन्दर्याधारेण नियोजिता एता धात्र्यः प्रतिमासमशीतिमुद्रा लभमाना इमां सज्जामीदृशीं निश्चिन्ततामियतीं मादकतामेतत्स्वास्थ्यञ्च व्यवस्थापयितुं क्षमाः किमु?"

अहञ्च शौल्किकी (टेक्सी) मारोहम्। सूर्यप्रभे, किमस्यामेव जगत्यां प्रविविक्षसि? विषमो भयङ्करः कण्टकाकीर्णो भुजङ्गव्याप्तश्चायं संसारः। विभविनां गृहाणि गच्छन्, तैर्व्यवहरन् वसन् प्रतिदिनं भोगसामग्रीं वीक्षमाणो भोगाभिलाषो लोक आभिजात्याद् भ्रश्यति, अर्थलिप्सायै कामवासनायै दुष्प्रवृत्यै प्रवर्त्तते च। त्यागस्तपस्या सदाचारो ब्रह्मचर्यं यदा क्वापि नावलोक्येत तदा कथं तत्र प्रवृत्तिः?

समाजसञ्चालकानां प्रवृत्त्यनुरूपं हि लोकश्चलतीति।

अहन्तु पुलकिताऽऽसम्, कीदृशो व्यामोहः? कुवासनायाः कीदृग्विधं राज्यम्? अहो! रामलक्ष्मणानुयायिनः क्व गन्तुं व्यवसिताः?

प्रभे, कार्यारम्भस्य प्रथमे दिनेऽद्येमा घटना मम समक्षमुपेताः—

प्रथमा घटना—

एको भिषग् विपद्विवरणमाचष्ट—'कश्चन च्छलैककर्मा भैरवो घटको मामवदत्—वैद्यराज, षष्टिवर्षवयस्केन महाधनेन षोडशी परिणीता साक्षादुर्वशी चञ्चलेव चञ्चला च। शैशवादेव पुंस्त्ववर्जितो महाधनश्चिकित्सायां दशलक्षमुद्रा व्ययितवान्। परं कुसुमाकरेऽपि करीरो निष्पत्र एव। जिह्वा यदा स्वादं न विद्यात्तदा पक्वान्नानां कोऽर्थः? भवान् पीयूषपाणिर्विश्रुतश्च धनिषु। तद्यदि स चिकित्स्येत, सङ्ख्यातीतं धनं तस्माल्लब्धुं शक्येत षोडश्याः कृपा च। अपि जानासि भिषग्वर! तस्याः स्पर्शेन वातोपि माद्यति। अस्तु, एवं जाते भवाँस्तु सुखी धनी ख्यातश्च भविष्यत्येव, वयमपि भवत्कृपया किञ्चिल्लप्स्यामहे। वृक्षाणां दिगम्बरता वसन्तेनैवापहार्या। इति।

अहं तस्य चिकित्सायै सज्जः। घटको मामसूचयद्यत् सद्वेशेन सुवर्णालङ्कारेण तत्र गमने प्रभावातिशयः।

अहं प्रतिवेशिनो हीरकजटितमङ्गुलीयकं, गले स्वर्णसूत्रं लोहापीडिते चीनांशुकचोलके स्वर्णशृङ्खलं मुक्तावटनम्, सौवर्णीं मणिबन्धघटीञ्चादाय स्वर्णमुष्टिं कलायष्टिं गृहीत्वा शौल्किकीमारुह्य तेन सहाचलम्। उपस्येव नाडी परीक्ष्येत्यादिष्टे निर्बाधमार्गे वातमारूढेव शौल्किकी प्रत्यैयत।

नीरेणुः सुभगः समीरणो महाधनमुर्वशीञ्चावलोकयितुं प्रथमावसरश्च मां परमाह्लादयत्।

अहं लक्ष्मीबलमदमत्तस्यानुजभार्याभर्त्तुर्बलशालिनो बालिनः स्मृतिं प्रस्तुवद्भिः स्थापितमिव बालिकुञ्जं वितीर्य्यालिपुरमविशम्। यत्र प्रतिक्षणमभिनवं कमलिनीक्रोडं वासायाभिलषन्तः कमलिनीमधुमत्ता अलयो निवसन्ति। यत्र फुल्लनयनाः श्लथद्वसना रतामर्दविलुलितकेशाः केलिकल्लोलिनीवगाहश्रमभरा भ्रमर्यः कमलकुड्मले रात्रौ सहचरेण सह निबद्धा रतिरणशिथिलाङ्ग्यो निशावासेभ्योऽरुणोदयात् प्रागसहचरा निस्सरन्त्यः प्रकृतिनियमं परिवर्त्तयन्ति दिने दीनमुख्यः।

यत्र म्लायता माल्येन ग्लायता गात्रेण मुहुर्मुहुर्मीलयता निद्रोद्विग्नेन नेत्रयुगलेन रिञ्चता चरित्रेण परं पूर्णेन करकोशेन, स्तब्धैर्बाहुभिर्व्यथामिवा-

नुभवद्भिः स्खलद्भिः पादैर्निर्विद्यमानेन मनसा क्रीडाजडकैरङ्गकैः, मर्दितया शाटिकया, लुञ्चितपिच्चितेन कञ्चुकेन, च्युतेन ललाटबिन्दुना, धौतेनाधर-रागेण, विलासालसालकेन मुखेन ताम्बूलरागेणेव चिह्नितैः कपोलैर्निन्द्य-पङ्कविहितावगाहनाः प्रतीयमानाः प्लुष्यद्वपुष्कान्तयः परिम्लानमुखश्रियः कराहताः सभ्यसौरभा मयभुवो वामभ्रुवः साश्रुस्रावमैक्षन्त विमलकुलकन्या अपि घनेन वराङ्गनीकृताः। काश्चन चाम्लानैः सीमन्तसुमैः क्षपावासं नियन्त्रितशीततापमबोधयन्।

केलिक्लान्ता कामिनीयामिनी तमोमयं केशकलापमाबध्य गगनाङ्गनमप-हाय कोणकुञ्जे श्रममपनेतुमिवापसरत्। प्रातःकालेन च्छिन्नकरो विलासीव शशी स्वमगूहत्। भ्रमरा भैरवारावैः कमलकोशसुप्तां सहचरीं भ्रमरसहवास-सुप्तां कमलिनीं चण्डकराश्च प्राबोधयन्।

घटकादेशाच्छौल्किकीचालकाय पञ्चमुद्राः प्रदाय विशालं भवनमविशम्। सास्त्रशस्त्रं नेपालीयद्वाःस्थं पश्यन् सोपानमारोहम्। एकामावासकक्षां प्रवेशितः स्थितिस्थापिकायामासन्द्यामुपाविशम्। तस्मिन्नेव क्षणे छन्दोमयं शिञ्जितं समागच्छन् सुरभिश्च मामवहितं चकार, कामपि सत्कर्त्तुम्, परं स्मितविकसितं सलज्जं तडिद्रेखानुकारि हसन्ती आषाढी मेघमालेव मन्दं मन्दं यान्ती लीलाकमलमिव रक्तोत्पलानुकारि कोशं करे कलयन्ती सैव मां स्मितेन सच्चकार; सा विश्वविपिनाद् विश्वसौन्दर्यं समुह्य समेता रूप-वल्लरी, पञ्चेषुवेधेन व्यथिताङ्गतयेव त्रिवलयिता भाद्रे धान्यधन्ये धन्वनि यौवनोद्रेकेण विदरितुं व्यग्रा कर्कटीवाऽऽपूर्णयौवना, विजने वने यूथिकावल्लीव भ्रमरैरस्पृष्टा, शरच्चन्द्रिकया धौतेव कमनीया कोमलाऽमला, सरिदुपवनसमीर-शिशिरा तनीयसीं तनूं प्लुत्या लोलयन्त्युर्वशी स्मितवशीकृतचित्रा। सा कदाचनाधरं दन्तेन पीडयन्ती, मधुशालायां मधुहस्ता मधुबालेवानवगतावसादा उत्फुल्ला यौवनवाटिकेव चला मन्दारचन्दनकाश्मीराभिनन्दिता अमन्दमृग-मदामोदिनी फुल्लैलामिव परिमलितां तमालनीलां लीलालोलां शाटीं दधती, रत्नमणिसमुद्भासिता, कामयौवनवैभवदर्पिता शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमयी हसि-तेन भवनं भासयन्ती हावैर्भावैर्मोहयन्ती कदाचन कुलकन्याकमनीयं

शीलमभिनयन्ती अबोधबालासरलं हसन्ती कदाचन क्रीडाव्याकुलतां बोधयन्ती विद्युदुद्भासितमुखश्रीः, मनसोऽनन्ताभिलाषाणां भारणेनानता सानन्दवदना पादवन्दनां विधाय मदङ्कपीडं सव्रीडहासमुपाविशत् ।

प्रोद्दामस्मररसं लसन्नववयःश्रि शरीरि स्मितमिव यौवनस्य वपुः, मदेन घूर्णमाने शतदलनिबद्धभ्रमराभे चक्षुषी प्रस्फुटनोन्मुखं दाडिमसुमसवर्णं रूपञ्च विलोक्याहं विस्मितः। विचित्रमाकर्षकं लक्षशः सुमैर्वासितं वासन्तिकमिव सौरभमुत्तरङ्गलावण्यं चञ्चलं चक्षुश्च सहावमितस्ततः सञ्चचार। तस्या दर्शनेन चक्षुः कर्पूराञ्जनेन, शरीरं चन्दनेन लिप्तमिव चन्द्रिकया सिक्तमिव प्रत्यैयत ।

नवावासप्रवेशोद्विग्नमपि मनस्तां विद्युदपाङ्गां चारुस्मितां सजीवां पद्मरागपुत्तलिकां प्रेक्ष्य प्रासीदत्तमाम् । तस्याः पादक्षेपः स्मितं विलोकनं स्वरश्च सङ्गीतमयान्यासन्, तनुयष्टिश्च वीणायष्टिः । सुषमाया उद्वेलो जलधिराविरभूत् ।

रम्या कुलिशकञ्चुकी, स्वच्छं त्वक्सवर्णं तनुश्लिष्टं बलौर्जम् [बलमूर्जयति तत्, यस्य परिधानेन निविडं बद्धं शरीरं स्फूर्त्तिं प्रकटयति, ब्लाउज] यस्य नागवल्लीदलाकारो गलस्तद्वदिवाग्रभाग आसीत्, मण्डनिघुंष्टेषु वासःसु च सङ्गीतम् ।

"साभः स्वस्थो भविष्यति किम् ? अस्माकमनन्तं धनम्, परं प्रजाभावे सर्वं व्यर्थम् ।"

सिनीवाल्यां पूर्णचन्द्रो ममोपमुखमुदैत् । मर्यादामतिक्रम्य तडिज्जहास । चन्द्रे सरोजयुगलं व्यकसत् । विधेः सुन्दरतमप्रतिमाया मायामयो मधुरस्वरः कर्णयोश्चचार । मधुक्षरा वाणी । मम मुखेन कमलदलानां प्रवर्षणमिवानुभूतम् । तस्या राजहंससितानां राजदन्तानां धवलिमा मम चक्षुषी चमदकृत । चन्द्रिकयाऽवगुण्ठनमिवापसारितम् ।

"निश्चितम् । अस्मद्गुरुपादानां योगैर्बहवः क्लीबा उल्लाघतां गमिता उपदशैः पुत्रैः पौत्रैश्च युक्ताः । नात्र मनागपि सन्देग्धव्यम्" लुप्तेऽपि चैतन्ये

चन्दनानिलनिर्धूतमतिस्तन्मुखमारुतमोहितः स्पर्शानन्दजडीभूतो रोमाञ्च-निचयकवचितोऽवचित्य साहसमुदतरम्।

"एका मुन्नी (मुदं नयति या) रेव स्यात्तदैव सन्तोषः। परमो दाहकोऽनपत्यतातापः। साभो यद्येतत्कार्यं कर्त्तुं न प्रभवेच्चेत्........साफल्यन्तु केनाप्युपायेनाऽऽसाद्यमेव। भवादृशस्य यूनो विदुषः सङ्गमो न भवेद् व्यर्थः.......।

तस्या अङ्गमङ्गमुद्विग्नम्। दृष्टावुत्कटं प्रेम शरीरञ्च चञ्चलम्। कौशेयमसृणाः केशाः, भाले वेणीबन्धान्निर्गतौ वर्त्तुलीभूतौ मकरध्वजस्य चामराविव केशाङ्गुलीयकौ, तस्याश्च उर्वरमस्तिष्कस्य चारुकारुकरैश्चन्दनेन चन्द्रलेखः, तस्याधः कृष्णे विनाऽञ्जनं कृष्णे पार्वतनिर्झरस्याऽऽवेगेनेव पूर्णे चक्षुषी, एजमाने भ्राजमाने, प्रलम्बे पक्ष्मणी विकसितनीलोत्पलस्य द्वे दले, चक्षुषोर्दर्शनावरोधाय द्वे प्रतिहारिण्यौ, फुल्लकुसुमाविवोद्वेजिनौ कपोलौ हीरकमण्डितकर्णकुसुमेन भ्राजमानौ कर्णौ, सुभगा नासा, स्मितसिक्तः पक्वबदरीफलरक्तः पत्रोपमोऽभिनवो व्रण इव व्रणयन्नपरानधरः, मुक्ताभा दन्ताः, अवगुण्ठितालोकेनोद्भासितौ कुचौ, वासस्सु सुरभिसारस्य मादकं सौरभम्।

इत्युक्त्वा सा नवरतिरसावेशविवशा उच्छ्वासा, प्रणयपरिपाटीप्रवीणा योगिमुनिव्यामोहिहावा केलिविलासविह्वला त्वराभरतरङ्गिता नीरसे मन्मानसे प्रेमपीयूषं निरवधि च्यावयन्ती मुक्ताविमलं साभिप्रायं हसन्ती सौन्दर्येण स्रावयन्ती सान्द्रानन्देन माद्यन्ती धम्मिल्लनवमल्लिकाकुसुमैरनासवां मादकतां प्रसारयन्ती मोदयन्ती मादयन्ती ललितरतिकलाकल्लोलिनी महोदारमाधुर्य्यं गम्भीरानुरागं नवसङ्गमाय तारल्यञ्च प्रदर्शयन्ती मम त्रपासङ्कोचं विपाटयन्ती, महारत्नजटितां चोलीं केनापि मिषेण विषेणेवोक्षितौ स्वयम्भुवौ सुवृत्तावपि दुर्वृत्तवद् व्यथकौ प्रौढिप्रकर्षेणोच्छलन्तौ कवोष्णौ कुचौ च मदङ्गेन घर्षयन्ती मलयानिलाभेन सुरभिश्वासवायुना मृदुस्मितामृतैर्मां प्रभावयन्ती निशितसितशरातिशायिना कटाक्षेणाक्षिपन्ती मुद्रया रमणाभिलाषमभिव्यञ्जयन्ती मितया सस्मितया गिरा गरन्ती मधुरिमाणं दमनापूर्णवदनाऽन्तवलीय विशन्तीव मदङ्गु स्मर-

भरेण गद्गदोच्चारिताभिर्वाग्भिर्ममाऽशङ्कां शमयन्ती दामोदरगुप्तादधीताशेष-कुट्टिनीसिद्धान्तेव पञ्चबाणस्य पट्टशिष्या कन्दर्पदर्पयौवनप्रसरान्धा, वैलज्ज्य-विनता वनिता मुदितवदनमुदितमदनं विदधती सीत्कुर्वती मां बलेन चुचुम्ब।

पूर्णानुरागरसमूर्त्ति तडिल्लताभं रमणाकुलकातरं ज्योतिस्तन्मुखान्नि-ष्क्रपणं निर्गच्छदवर्त्तत। शब्दं मेघञ्च विना द्वे विमुक्तचाञ्चल्ये तडिच्छिखे मम समक्षमास्ताम्। हृदयस्पन्दनं परस्परमन्वभूयत। सौवर्णी कोमला लतोत्सङ्गे प्रासरत्।

तस्या अङ्गस्पर्शेन विचारवात्यालोलं दह्यमानं मनोऽपूर्वां शीतलता-मन्वभूत्, पीयूषवल्लीस्पर्शेनेव चन्द्रदीधितीनामवतारेणेव जायमानां शीतल-ताम्। तस्या अनुनयपूर्णे अक्षिणी, अनुरागरससिक्ते पक्ष्मणी, मादकः परिमलः विम्बविनावुरोजसरोजौ, रहस्यात्मकमोष्ठस्पन्दनम्, नवनीतनमनीयाः कल्पना-कमनीयाः प्रसारिणो नवनीलनीरदरुचिराश्चिकुराः, मधुमोही स्नेहस्यन्दो वाचां परिस्पन्दो मां विस्मृतमकुर्वन्। तस्या व्यवहारेण वचनैश्च सा जन्मान्तर-प्रेयसीव प्रत्यभात्।

कपोलावर्त्ते व्रीडामिव क्रीडन्तीं नाटयन्ती सहावं सङ्कोचमञ्चन्ती रचनेव सत्कवेर्हृदयस्पर्शिनी सा मामालिङ्गनाश्लिष्टं विदधौ, स्निग्धमुष्णं कोमल-मालिङ्गनम्। तडितः प्रवाह इव रक्तस्य प्रवाहो धमनीषु त्वरया चचार। तस्याः शरीरे कापि दैवी प्रेममयी शक्तिरिवासीत्।

एवं सा चातुर्यं सारल्यं प्रेम चाभिनयन्ती मन्त्रमुग्धस्येव मोहाविष्टस्य मे शरीरेणाभेदभावं भजमाना मानससरोजं व्यकासयत्। सर्वदा स्त्रीष्व-ननुरक्तोऽपि आवासस्य शान्त एकान्ते मायाविन्याः समीपे स्वं व्यस्मार्षम्। हन्त! ज्योत्स्नाधवलोऽपि पारदो गन्धवत्याः सम्पर्कात्कज्जलमालिन्यं धत्ते।

अधुना घटको महाधनेन सहोपेतः। तौ विलोक्यैव स्खलन्नयन-वारिर्वारिजाक्षी नयनोदबिन्दुभारेणेवानता परिवर्त्तनविवर्त्तनैर्लुलोठ भुवि। अहञ्चामितं विस्मितः स्तिमितो विषादेन घूर्णमानोऽतिष्ठम्।

अहो धनिवच्च इव विदग्धवञ्चकं विद्युद्विलसितादपि विलोलं ललना-मानसम्।

महाधनो द्वारपालमाहूय मां दण्डयितुमादिशत्। परं कपटघटक-प्रेरितोऽनुनीत आभरणानि वासांसि चापनीय अवशिष्टकौपीनं मरुत्तरेण विदूरममोचयत्।"

आशानिराशस्य, सुखदुःखस्य, मोदखेदस्य, उत्साहग्लान्योश्च द्वन्द्वात् स्वात्मानमुद्धरन् पुनः सोऽवदत्—

"सम्प्रति प्रतिवेशी द्वादशसहस्रमुद्रामूल्यं भूषणं कथयति। विपन्नोहम-धुना किङ्करोमि। मम तु सर्वस्वं लुण्ठितम्, परं प्रतिवेशिने कथङ्कारं कृष्णं मुखं दर्शयिष्यामि" इति।

"मुग्धो मानवो गर्भान्निर्गतमात्र एव नारीं जेतुं चेष्टते। सर्वं जीवनं चेष्टयित्वापि विफलः पुनस्तस्या एव गर्भं विशति। वस्तुतो नरो नार्या अंशः सर्वञ्जीवनं तामभितो भ्रमति अन्ते च तत्र लिनाति"—अहम-चिन्तयम्।

"सम्यगेव जातम्। अद्य लोकः सेवाभावेन नहि, अपितु लोकं वञ्चयितुं-वञ्चनार्जितेन धनेन लोकं प्रभावयितुं चिकित्सको भवति, भूतश्च पणस्य दीनारं करोति, जलममृतभावेन विक्रीणाति। आर्त्तं पीडितं विपद्ग्रस्तं यो लुण्ठति तस्य त्वीदृश्येव दशा वरिष्ठा।"

द्वितीया घटना :—

कश्चन विद्वान् कुतोऽपि भृत्यै समायातः कार्यालयेषु भृतिं मार्गयमाणो भ्रमन्नवर्त्तत। परं नवीनायाभागिनेयाय, अश्यालाय, अनावुत्ताय अपैतृ-स्वस्रीयाय सचिवेनाप्रवर्त्तिताय भृतिप्राप्तिरीश्वरप्राप्तिरिव दुःसाध्या विदुषोऽपि। एकदा स श्रान्त उद्याने श्रममपनुदन्नासीत्। कश्चन सभ्यवेशस्तं कुशलमपृच्छत् उदासीनतायाः कारणञ्च। कलङ्कितायां कुशलप्रश्नः आश्चर्यावहः, यतः कोऽत्र कुशलप्रश्नाय प्राप्तावसरः? परं

कलङ्कितव्यवहारानभिज्ञः खिन्नो विद्वान् निर्भयं सर्वमसूचयत् ।

"तदा भवान् महति कष्टे वर्त्तते, परेषां कष्टनिवारणं मानवस्य धर्मः" सभ्यवेशः सहानुभूतिं प्रकटयन्नाह । "अहमवकाशोऽस्मि । मम बहवः परिचिताः, भवतां कार्यं साधयिष्यामि । एहि मथितं (लस्सी) पिब, त्वामहं क्षुधितमिवावैमि" ।

सभ्यवेशो माथितिकमासाद्य विद्वांसमाशयन्मथितमपाययत् तिस्रो मुद्राऽवव्ययच्च । प्रभावितो विद्वाँस्तस्मै धन्यवादान् व्यतरत् । तौ परस्परं वियुक्तौ परस्मिन् दिने चतुरङ्ग्यां सङ्गमाय ।

द्वितीयस्मिन् दिने एकादशनदनसमये सभ्यवेशः उपेत्याब्रूत, "अत्र कार्यालये मम सम्बन्धी व्यवस्थापको वर्त्तते दूरालापेन सर्वं निश्चितम्, अधुना भवता सह साक्षात्कारयितुं समयं जिज्ञासमानो यामि, त्वं प्रार्थनापत्रं लिख" इत्युक्त्वा व्रजन् प्रतिनिवृत्तोऽवोचत् "मित्र, मणिबन्धघटीं गेहे व्यस्मरम्, क्षणाय तावकीं देहि" । स चोन्मुच्यादात् । विद्वान् आसायं तत्रातिष्ठत् । सभ्यवेशो न निवृत्तः ।

अन्ततः परैर्बोधितो विद्वान् साश्रुर्विपद्विवरणं जनसेवास्थाने (पुलीस स्टेशन) ऽसूचयत् ।

घटना तृतीया :—

"अहं भवानीपुरं गच्छन् दृष्टवान् यत् कस्यापि करकोशात् सुवर्णभारः स्खलितः । तं परः कश्चनोत्थायायाव्रजत्तावदेवान्यः संमेतो विभजनाय । पूर्वो मां लक्षीकृत्य जगाद यदेषोऽपि वृत्तज्ञाता विभागेऽधिकारी । विवदमानौ तौ मामुपेत्य प्राप्तस्वर्णवृत्तमूचतुः । स्वर्णं दशतोलकमिवासीत् त्रयोदशशतमुद्रामूल्यम् । द्वितीयोऽसूचयदस्य त्रयो भागाः कार्याः । सुवर्णकारमन्तरेण तदविभाज्यमासीत् । तादृशद्रव्यस्य तत्सन्निधौ प्रापणमपि न वरम् । अन्ततस्तौ मामेव किमपि दत्त्वा तद्ग्रहणायोचतुः । शतं मुद्रा मणिबन्धघटी च मम समीप आस्ताम् । यथाकथञ्चिदेको मणि-

बन्धघटीं परः शतं मुद्राश्चादाय स्वर्णं मह्यं दत्वा प्रतिनिवृत्तौ। परस्मिन् दिने सुवर्णकारस्तत्पित्तलमेकरूप्यकस्येत्यघोषयत्।

चतुर्थी घटना :—

कश्चन वाक्कीलो नवपरिणीतां महाविद्यालयमोहिनीं विदुषीं वधूं विदेशभाषाचलचित्रं दर्शयितुं चतुरङ्ग्यां मैत्र आनयत्। निशीथोत्तरं हाला (hall) न्निःर्गतौ भोज्यशालां गतौ।

रमणी स्त्रीलक्षेष्वेकाऽऽसीदप्रतिमा। तस्या निर्दोषो हासो हावो भावो योग्येनानुव्रतेन पत्या सङ्गश्च हर्षातिरेच्यासीत्।

शौल्किकी निशीथनीरवतायामेकान्ते एकमार्गे (one way) वातमारूढा। परमनतिदूरं गता विजनराजपथेऽवरुद्धा। चालक इतस्ततो दण्डानघ ऊर्ध्वमकरोत्, परं घर्घरं स्वनयित्वा पुनर्विरता। चालको वाक्कीलमवदत् पृष्ठतो बलेन चालयितुं दयस्वेति"। मुग्धो वाक्कीलो यावदवतीर्य बलं प्रयुङ्क्ते शौल्किकी तीव्रवेगेन चलन्ती चक्षुषोरगोचरतां दधार। वाक्कीलगृहलक्ष्मीः सम्प्रति कस्य वेश्मश्रीरिति कश्चनैव जानीते। विपन्नः पतिर्विपद्विवरणमाचष्ट।

पञ्चमी घटना :—

एका नारी नरं हत्वा धावन्ती गृहीता।

तामहमपृच्छम्—एतत्किमकार्षीर्भद्रमातुषि !

"विचार्य कृतवत्यस्मि। एतत्कृत्वा च मनो मे नितरां प्रसन्नम्। पाशः स्याच्छूलारोहणं वा, न मे भयम्। लक्ष्यं समापम्, अधुना किमपि स्यात्।"
"बाले, वृत्तं विशदय, यथाशक्ति सहाययिष्ये, मा बिभीहि।"

"साहाय्यमाचरतु न वेति न मे भेदः। परं लोकज्ञानाय वृत्तन्तु प्रकटयितव्यमेव। त्रिभिर्दिनैः क्षुधितो भ्रातुर्व्याधिना खिन्नो मम पिता म्रियमाणस्य मे भ्रातुरिच्छया देवं प्रसादयितुं पूजास्थानं गतः। कस्य देवस्यालय

इति न वेद्मि, मन्ये पितापि च नावेदीत्। धौतप्रसाधिताः नरा नार्यश्च तत्रागच्छन्। पितरि प्रयाते भ्राता मे प्राणाञ्जहौ।

दिवसशवे प्रक्षिप्तानि तूलानीव नक्षत्राणि वियदङ्गने प्रासरन्। अहं पितरं सूचयितुं गता मन्दिराद् बहिरेव तं मृतमपश्यम्। एका भिक्षुकी मामसूचयत्, यत् स्नात्वोपेतो जनैः परिचितश्च। "चाण्डालः पूजालयं प्रविष्टः" इति केनाप्युक्ते, दण्ड्योऽनुचिताचारीति रुषा पूजकेनोक्ते जनसम्मर्दे युगपत्ताडितः पूजास्थाने देवस्य सम्मुखे पपात प्राणाञ्जहौ च। भृत्यास्तं पदपद्मासु प्राक्षिपन्" इति। अहं विलपितुमैच्छम्, परम्, अरण्यरोदनमिव तन्मत्वा मृतस्य दाहाय पूजकमपृच्छम्।

स मां वीक्ष्य सस्पृहः प्रसादयितुं शनैश्शनैरवदत्।

तदा किमेष तव पिता? अहो मूर्खैरेष तथा ताडितो यथा मृतः। परम्, स तु मृतः, सम्प्रति परस्तव कः?

"भ्राताऽऽसीत्सोऽप्यद्य मृतः। सम्प्रति भवन्तमृते कोऽपि नास्ति।"

"मा भयमाधेहि। वयं तव सर्वे सर्वाश्च। त्वमत्र निवस, भोजनाच्छादनं लभमाना देवं सेवस्व। दीनार्त्तिप्रशमनफला वयम्। एतादृशोऽवसरः कदापि न लप्स्यते, कोऽपि नास्ति देवस्य चरणौ स्पृश। कथं बिभेषि? अये रूपं भगवतः कृपायाश्चिह्नम्। त्वं भागवतीं कृपां प्रापः, त्वां को रोद्धुं शक्तः?" इति। आनुवंशिकक्रमेण विधुरः पूजको मामवदत्।

अहमचिन्तयम्, यस्य भगवतः प्रसादाय दर्शनाय पिता भ्राता च मे मृतौ, तमहं यदि स्पृशेयम्, तयोरात्मशान्तिः स्यात्।

अहमवोचम्—परमहं चाण्डाल्यस्मि, येन हेतुना पिता मे हतः सैव मम जातिः।

मूर्खासि, स्त्रीरत्नम्, रत्नं नाशुद्धिं याति। प्रणयपरिणये रूपमपेक्ष्यते न जातिः। अथ च बहिःस्थितौ मृतस्य संस्कारे महान् व्ययः शासनाद् व्यापन्न। अन्यथा तु शासनेन सर्वं सेत्स्यति।

अहं क्षणेन बहु विचार्य मन्दिरमविशम् । द्वाःस्थो द्वारं प्यधात् । स्नातुं सुरभिसारेण देहं देग्धुं रम्यां शाटीं परिधातुमादिष्टा तथा कृत्वा देवस्य सम्मुखं राजते पीठे राजते पात्रे स्वादीयो भोज्यं तेन सहास्वादयं काश्मीरमिश्रं पयश्चटकाण्डानि च । अधुना दानवः कुमारीं मां पातयितुमाचक्राम । स्थूल-विशालस्य हीरकखचितस्य पद्मासनोपविष्टस्य देवस्य पादौ गृहीत्वोपाविशम् "देव ! अहिंसामूर्त्तेः पुरः कथमियं हिंसा ? विषीदामि देव !

परं पूजकः कवाटं पिधाय देवस्य समक्षमवदत्—"एष पाषाणः किमु रक्षितुं क्षमः ? देवत्वेन बोधितो मुग्धैर्जनैः स्वीकृतः पाषाणः ।"

तडित्प्रकाशे तस्य खलितं शिरस्ताम्रपत्रमिवाभ्राजत धात्रीमर्द्दितम् । स रजस्वलां मामधर्षयत् । मूर्त्तेः पृष्ठात् काचकूपीस्थं द्रवं मुहुर्मुहुः पिबन् पाययँश्च स स्वबलं पौरुषमुत्साहञ्चाऽऽपररात्रं दर्शयामास । असहाये पौरुष-प्रदर्शनं दुर्जनानां स्वभावः । क्लान्ता स्मृतिविहीना चाभवम् । सोऽपि तादृशो-ऽशयिष्ट । मम सर्वं शरीरं रक्तस्नातमवर्त्तत । अहोरात्रभूतं वंश-विच्छेदमद्यतनमानववृत्तञ्च विभाव्य क्षुभिता नारिकेलच्छेदनाय स्थापितं दात्रमादाय साहसं समुह्य पूजकमहनम् । महता विलम्बेन सूर्य उदितः । प्रातर्निर्गमनसमये द्वाःस्थो मामग्रहीत् ।

षष्ठी घटना :—

नगर्याः सर्वाधिकोऽर्ज्जको धनिगृहगामो व्यापृतचिकित्सकः कृष्णोऽद्यो-त्कटपाटवां वञ्चनघटनामाचष्ट—

"काचन पञ्चविंशी युवतिः, बहुषु रोगिषु रोगिनिरीक्षणकक्षे प्रतीक्षमाणेषु मामुपेत्य प्रार्थयत यत्—मत्पतिर्गृहे वर्त्तते, कृपया तं परीक्ष्य चिकित्सितुं प्रसीद । तस्या वचो दीनं करुणं कोमलं निर्मलम्, आकृतिर्निर्माया सुन्दरी प्रभावशालिनी च ।

—एतेषु रोगिषु मां प्रतीक्षमाणेषु कथमहं तव गृहं गन्तुं क्षमः ?

—एवं तु चलने भ्रमणे शक्तः सः, न कोऽपि तं दृष्ट्वा रोगीति सन्दिहीत, परं स स्वयमाशङ्कमान इव त्रस्यति । भवानाकर्णितो धन्वन्तरिरिवापरः ।

अतः श्रीमन्तमुपेतास्मि। भवानाज्ञापयेच्चेत्तमहमत्रैवानयेयम्।

—तथैव कुरु, अत्रैवानय।

—तर्हि तमहमानेतुं यामि, नमस्ते। (चलिता पुनः परावृत्त्य) अहं चिकित्सायै मुद्राणां सहस्रमानैषम्। मम मरुत्तरं कर्मशालायां प्रहितम्। पथि च वसादिष्वियद्धनं न नेतुमुचितं कलङ्किताम्, पक्षकोटरापहारादि-भीतेः। अतः कृपयेमा रक्ष। भवते तु देया एव।" इति।

अहमगृह्णाम्।

सा च बहिर्गता घट्यर्द्धेन परावृत्ता च मामसूचयत् यत् कापि शौल्किकी नाधिगता, वसयात्राया अभ्यासो नहि। जनसम्मर्दश्च गरीयान्। भवान् क्षणं मरुत्तरं दातुं प्रसीदेच्चेदहं क्षणेन तमानयेयम्। इति।

अहं तस्याः प्रभावेण औदार्येण विश्वस्त आश्वस्तो नकाराय न प्राभवम्। चालकायाज्ञापयम् 'अनया सह गच्छेति'।

ततः सा युवतिः काञ्चन बृहतीमलङ्कारोद्योगशालां गता प्रविष्टावोचत्, यदहं चिकित्सककृष्णस्य धर्मपत्न्यलङ्कारक्रयायागतास्मि।

मम मरुत्तरं चालकञ्च तस्मिन् क्षेत्रे सर्वोऽजानात्। प्रतीक्षमाणानि तेषा-मक्षीणि तस्मिँल्लक्षशो निपतितानि भवेयुः। अतो न कश्चन तस्यां सन्देहलेशं दध्यौ। तस्यै बहुमूल्या हीरकालङ्काराः प्रदर्शिताः। यतः सर्वोऽजानाद्यदहं धन-पतिरस्मि। सा पञ्चाशत्सहस्रमूल्यं हारं त्रिंशत्सहस्रकं कर्णाभरणं दशसहस्रकं नासाकुसुमं दशसहस्रिकाञ्चोर्मिकां परिधार्य विपणिस्वामिनमवदत्—प्रेष्यतां कश्चन मुद्रानयनाय, अहं चिकित्सकाद्दापयिष्यामि।

स्वामिनो लघुभ्राता रूपयौवनवेशभूषासम्पन्नस्तया सह मामुपेतः। भ्राजमाना प्रसन्ना सा तमेकस्यामासन्द्यामुपवेश्य तर्जन्या तं निर्दिशन्ती ममोपकर्णमसूचयत् यत् स उपेतो भवताऽऽश्वस्य द्रष्टव्यः कापि शीघ्रता न कार्या। अस्माकं भृत्य आगमिष्यत्येनं नेतुम्, मुद्राश्च भवत्सविधे वर्त्तन्त एव। अधुनाहं यामि कार्यव्यापृता। इति।

हारेण भ्राजमाना सा विभिन्नव्याजेन हारं कर्णकुसुमं नासाभरण-मूर्मिकाञ्च मामदर्शयत्। अहमपि कलाकृष्टस्तान्यपश्यम्। अहं रोगिणः पश्यन्नवर्त्तिषि। सा तमसूचयत्, अहं चिकित्सकाय सर्वमकथयं भवान् क्षणमाश्वसितु।

परद्वारेण प्रविश्य सा पक्षद्वाराद् बहिरगात्।

अहं घट्यर्द्धेन तमाहूयावोचम् "कथय किं कष्टमनुभवसि ?"

—कष्टम्, मम तु किमपि कष्टं नास्ति। साश्चर्यः सोऽवोचत्।

—तदा किमर्थं भवत्पत्नी भवन्तमिहानयत् ?

—किमु मम पत्नी उत भवत्पत्नी ?

—अद्य किमु भङ्गा पीता ? मद्यं वा ? मम पत्नी त्वत्र वर्त्तत एव नहि। सा तु स्वास्थ्यलाभाय मासादुत्कटमण्डं (उटकमण्ड) गता वर्त्तते। कथय केयं योजना ? उपहसितुमेव केवलं प्रतारयितुं वा ?

स सर्वमसूचयत्, चिकित्सकश्चास्मान्।

साभोऽप्यद्याश्रावयत्प्रतिभाप्रभोपेतां घटनामेकाम्।

कश्चन धनी शनैश्चरे सार्द्धैकनदनवेलायामेकस्मान्मरुत्तरविक्रयप्रति-ष्ठानादेकं मरुत्तरं चतुर्दशसहस्रमुद्राभिः क्रीतवान्। दशसहस्रमुद्राः सज्जा (नकद) अदात् चतुः सहस्रस्य चीकम्। (चीक आमर्षणे, घञ्)

ततः स मरुत्तरं स्वयं चालयन् प्रक्षेप्यपाषाणान्तराले प्रतिष्ठिताय परस्मै तादृशप्रतिष्ठानायैकादशसहस्रमुद्राभिर्विक्रीणानोऽवोचद्यदहं अमुकस्मात्प्रति-ष्ठानाच्चतुर्दशसहस्रमुद्राभिरधुनैवाक्रैषम्, परं मह्यमदो नारोचत। अत एकादशसहस्रमुद्राभिः विक्रेतुमिच्छामि। इति।

क्रेता क्षणं विचिन्त्यावदत् 'क्षणमास्यताम्, वयं क्रेष्यामः।'

सोऽभ्यन्तरं गत्वा दूरालापेन पूर्वव्यापारिणं सर्वमसूचयत्। प्रचुरा-शङ्को व्यापारी तं प्रत्युदतरत्, यदयं चतुःसहस्रमुद्राणां चीकमदात्। परमवैमि यदस्याधिकोशे (बैंक) मुद्रा न सन्ति। अधुनासावेकसहस्रस्य लाभमर्जयितु-मिच्छति। क्षणं विलम्ब्यतामसौ धूर्तः, यावदहं जनसेवाविभागं सूचयामि। इति।

क्षणेन जनसेवाविभागीया गतास्तमवारुधन्। अधिकोशश्च शनैश्चरे द्विनदनसमये कार्यं समाप्नोति। अतः स कारायां निरुद्धो रवावपि। सोमे प्रातरधिकोशः परामृष्टः। तस्य खातपत्रे द्विलक्षमुद्रा न्यस्ता आसन्।

ततोऽमुना धूर्त्तेन मानहानेरभियोग उपस्थापितः। यत्र तस्य विजयोऽसन्दिग्धः। विकलो मरुत्तरप्रतिष्ठानस्य स्वामी तस्मै द्विलक्षं दत्त्वा क्षमां प्रार्थ्य प्रसाद्य कष्टात् स्वममोचयत्। यतः स दशलक्षमुद्राणामभियोगमुपास्थापयत्। पश्य प्रभे! कीदृक् कैतवम्?

× × × × ×

साभो जनसम्मर्दे सभासूत्सवेषु मां प्रेषयति, वक्तुं प्रेरयति च। अहमपि तथैवाचरामि। प्रतिदिनं ममागच्छत्पत्राणां सङ्ख्या वर्द्धते। उत्सवानां पत्राण्यहं प्राप्नोम्येव, परं बहून्यालपितुकामानामपि। मध्याह्नोत्तरमहमद्य ग्रन्थागारवार्षिकोत्सवं गता। ग्रन्थागारस्यैको वर्गो लोकसेवायामपि ख्यातो बुद्धिश्रमजीविभिः परिचाल्यमानः।

सचिव आयव्ययं विवारयाञ्चकार। सेवाक्षेत्रमस्य विशालम्। जलौघे दुर्भिक्षे जनपदोद्ध्वंसे मेलेषु तस्य सेवाकार्यं सर्वत्र विदितम्। दशवर्षपूर्वं श्रीमतां प्रियं ग्रन्थागारं प्रारब्धम्। लोकात् सद्ग्रन्थाः सङ्गृहीताः। एकोऽध्यापको विनैव वेतनं ग्रन्थागारिको नियोजितः। लोकादेव शणपट्ट आस्या मुखपीठञ्चासादितानि। हन्त? अस्माकं सत्साहित्ये सौहार्दं नास्ति, येषामस्ति ते निर्धनाः। ते ग्रन्थागारस्य सर्वं साधयन्ति, परं धनाभावस्तेषां परमः। येषाञ्च धनम्, तेषां साहित्यसौहार्दाभावः परमः। ते यत्पठितुमिच्छन्ति तन्नास्मद्ग्रन्थागारे प्रवेशायाज्ञसम्। अस्यां स्थितौ धनं परमावश्यकम्।

सदस्यः- [धौताद्र्धच्छन्नतनुः प्रवृद्धश्मश्रुः] कस्मिन्प्रसङ्गे धनस्यावश्यकता?

सचिवः- ग्रन्थागारस्य मासिकं भाटकं त्रिंशन्मुद्राः। दशमासानां भाटकं देयं वर्त्तते। गृहस्वाम्यस्मान्निर्वासयितुं चेष्टते। यतस्त्यक्ते षष्टिमुद्राः प्रतिमासमायस्तस्यानेन भविष्यति दशसहस्रं नमस्कारशुल्कञ्च।

सदस्यः- गृहस्वामिन उपविंशं भवनानि श्रूयन्ते, येभ्यस्तस्य दश सहस्रमुद्रा आयः प्रतिमासम्। एकस्य भवनस्यैकमागारं तेन विना भाटकं किमु न दातुं शक्यते ?

सचिवः- अप्रजस्य गृहस्वामिन उपत्रिंशं भवनानि, येभ्यस्त्रिंशत्सहस्रमुद्राः प्रत्यक्षम्, दशसहस्रमुद्राः परोक्षञ्चायः प्रतिमासम्। परं सोऽस्मै कार्यायैकामलमारीमपि न दातुं क्षमः।

सदस्यः—मम स्त्री मृता, तस्या मासिको व्यय आसीद् दशमुद्रा। अहं ताः प्रतिमासं दास्यामि।

सचिवः—परमृणं न शुद्धमेतावतापि।

सदस्यः—तदपि भविष्यति। म्रियमाणा स्त्री मामवोचद्यदेतत् स्वर्णाभरणद्वयं राजीवस्य वध्वै देयम्। परं राजीवोऽधुना शिशुरेव। अतस्तद्विक्रीय भाटकर्णं शोध्यम्।

केषाञ्चन चक्षूंषि साश्रूण्यासन्। सद्वाससां मणिबन्धे पाञ्चशतिकी घटी गले स्वर्णसूत्रं करशाखासूर्मिका अभ्राजन्त, येभ्यो द्वित्रशतं न गण्यमासीत्, परं पाषाणमूर्त्तय इवातिष्ठन् श्वासप्रश्वासविरहिताः।

केचनाध्यापकस्य मौर्ख्येऽहसन्—शतायोऽध्यापकः कथं मूर्ख इवाचरति। कश्चनावदत्—रिच्यमानैव निर्झरलेखनी प्रचुरां मसीं प्रक्षिपति न पूर्णा।

सचिवः--एतत्तु जातम्, परं प्रतिष्ठानस्य स्थैर्याय भवनं निर्माप्य सन्दर्भाणां सुरक्षायै आयस्योऽलमार्यश्च क्रेयाः। एतदर्थं त्रिलक्षरूप्यकाणि प्राप्तव्यानि। भवन्तोऽधुना विचारयन्तु।

द्रव्यस्यावश्यकतायां घोषितायामेव जनाः काकिणीत्यागं प्राणत्यागमिव मन्वानाश्शनैश्शनैरपसर्त्तुमारेभिरे। केचन कर्णे न पूर्वमायोजितं यज्ञोपवीतमायोज्य मूत्रणस्य, परे श्लेष्माणमाकृष्य निष्ठीवनस्य, केचन ताम्बूलदलोद्गमनस्य, केचन कस्यचनाह्वानस्य व्याजेन शनैश्शनैः परं यूथशोऽपसस्रुः। केचनातिष्ठन् रिक्तपक्षकोटराः किमपि लब्धुमेवोपेताः कामं मखान्न (मखाणा) मेव भवेत्।

अहं पत्रशकलं प्रहितवती । सभाध्यक्ष उत्थायासूचयद्यदधुना देवी कृष्णतारा भाषणमधुवर्षणेन मानसं न आनन्देनाप्लावयिष्यति ।

अहमवोचम्—अद्यतने समये सौभाग्याल्लोकस्य विकिरणायाश्रुवमस्य नावश्यकता । तथाकर्त्तुं लोकः पणाय प्रार्थयितव्यः । लोकः स्वयमेव स्वस्य पादौ शिरस्याधाय द्रविष्यति ।

मान्याः ! देवानां महात्मनामृषीणां नामान्यहं बहुशोऽश्रौषम् । अद्य सौभाग्यम्, यद्दर्शनावसरमलभे । अमुं दरिद्रमध्यापकमेवं दानशीलं विनतमुदारं कर्मठं वीक्ष्य लोकान्तरदेवदर्शनस्पृहा मे व्यपगता । यत्र देश एतादृशा उदारास्तत्र धनाभावस्य कः प्रश्नः ?

महोदयाः !

महानविनाशी खल्वालोकोऽज्ञानान्धतमसप्रमाथि शास्त्रम् । बन्ध्वविभाज्यमहार्यं धनम्, कर्त्तव्याकर्त्तव्ये शात्रवापकाराय चाकुण्ठितधारं शस्त्रम्, सत्पथप्रवर्त्तक आपद्गतस्याप्यनुयायी परमः सखा, अविवेकव्याधेर्महौषधम्, यशसो धर्मस्य विजयस्य भूतेरैश्वर्यस्य च निधानम्, व्यसनपङ्कनिमग्नानां परमुद्धारकं शास्त्रं नाम । शास्त्रेण वयं दूरस्थेनालभ्यदर्शनेन च सङ्गन्तुं शक्ताः । सङ्गमश्चैष विचारेण । एवं मृतस्यापि विचारा ज्ञातुं शक्याः शास्त्रेणाविसंवादिनः । दूरस्थलेखकसमागमेच्छया गतानामप्यस्माकं तेन साक्षात्कारो भवेन्न वा ? साक्षाद्भूतेऽपि दैर्घकालिक आलापो भवेन्न वा ? परं शास्त्रं यथेच्छोपभोगम् ।

शिक्षायाः स्वरूपप्रतिपत्तौ विदुषां वैमत्यम् । केचन वदन्ति स्वार्थसम्पादनशक्तेरर्जनं शिक्षा परे योग्यतमजीवनविधायकं ज्ञानं लोकव्यवहारज्ञानं वा शिक्षा । परं वस्तुतो जीवनस्य स्वरूपज्ञानं शिक्षा । सा शिक्षा शास्त्रेणैव साध्यते । मानवः शिक्षया जीवनप्रासादं स्थिरं निर्मलं निर्माति लोकानुकरणीयम् । शिक्षा विषमावस्थासु सन्देहसन्दोहमोहभयेष्वालोक आशाविश्वासयोर्मूलञ्च । शिक्षितः साशो विश्वस्तश्च । दैन्यं हैन्यं मनोदौर्बल्यं नाशयन्ती विषमायां सङ्घर्षभुवि मर्त्यभुवि साफल्यं साधयन्ती

निर्बाधचरित्रोदया शिक्षा। तया शिक्षया प्रगतिः। सदसद्विवेकनिपुणः सुधीरेव साधारणं जनं हित्वा पुरः प्रयाति, त्वरं गामी तुरगोऽशीघ्रगामिनमिव। तानि शास्त्राणि ग्रन्थागारेभ्यः प्राप्यन्ते। अल्पसाधनो न कथमपि शास्त्राणि क्रेतुं रक्षितुं वा क्षमः। शिक्षाप्रसाराय ग्रन्थागाराणामनिर्वचनीयं महत्त्वम्।

असुरूपः शास्त्रसङ्गत्या दर्शनीयः, अधिकारैः पुमानिव शीलशाली। अविद्योऽसभ्यः कार्येऽकार्ये धर्मेऽधर्मे च विवेकविहीनः। जलेन रहितं सरः, पुष्पलताविहीनमुद्यानम्, नक्षत्रैर्विना नभश्च विद्याविहीनं वपुर्विरहितमिव प्राणैः। जगद्रणक्षेत्रेऽशिक्षितोऽनायुधो योद्धेव। शाश्वतसुखं मोक्षो ज्ञानेनैव। ज्ञानेन वाल्मीकिर्व्यासः कालिदासाद्याश्चामरत्वमध्यगमन्। जनस्य त्रात्री कल्पलता च विद्या व्ययेनोपचीयते।

मृदु मधुरं हितं मितमुपयोगि वचो वदन् विद्वान् शास्त्रेभ्य एव वैशिष्ट्य-मासादयति। ये च जीविकायै विद्या अधीयते ते ज्ञानपण्या वणिजः किल।

परमद्य निपीतश्रुततोयाः शुष्काः सारस्वतह्रदाः। सर्वत्र विलोक्यते केवलं ज्ञानं पण्यमेव।

भारतीयसंस्कारे विदुषो महत्त्वम्। परं तादृशो विदुषो न येन षट्शास्त्राणि साङ्गो वेदश्चाधीतः परं कोपि पाठितो न। विद्वान् स एव मतो वैदुष्यं तस्यैव प्रचरति, येन बहवो बुधीकृताः। एवं चिकित्सकोऽपि यो लोकस्य सर्वाधिकस्त्राता-पस्थाता सेवकश्च। तद्वद्धनी। सङ्ग्राहको नात्र मतो वरीयान् गरीयान् वा। स मतो वरीयान् गरीयान् वा, यस्य धनं सर्वाधिकमुपयुक्तम्। भोजसमा असङ्ख्येया आसन् राजानः, परं न केऽपि स्मर्यन्ते, अदानशीलाः। भामासाह-समा अपि बहवो व्यापारिणः परं सर्वे मृताः। दानिनस्तु कल्पान्तस्थायिनः। परं मान्याः, रत्नाकरोऽपि स्वेच्छया लोकायादित्सन् मथित एव बहूनि रत्नान्यदात्। एष सङ्ग्राहकाणां स्वभावो यत्ते मथिता एव ददति। योऽसौ जलधिः पूर्णोऽपि क्लान्तानां पान्थानां तृषां शमयितुं पादपान् पोषयितुमनीहो जलं क्षारं परिधिबद्धश्च व्यधात्तदा मेघाः परमोष्मणा तस्माज्जलमादाय जगते वितरन्ति। धनस्य यदि दानं भोगो वा न स्यात्तदा विनाशस्तु सत्यमेव, सामुद्रस्य जलस्य

वाडवेन यथा। परं परिग्रही तस्य विनाशं विदन्नपि दानविकल एवाभ्या-
सवशात्। अस्तु, अहमस्मै ग्रन्थागारायायुतं सश्रद्धं दातुं प्रतिजाने इति।

मध्ये गन्तुमुत्सुकानां कोलाहलः कार्यमवारुणत्। केषाञ्चिदुपानद्युगलं कैरप्यपहृतम्। सभासूपानच्चौर्यं नवीनं नासीत्। परमद्य भयात्सर्व एवोपानहौ परिधार्य विद्रुताः। चकिताया मम दृष्टावेकत आसीद्धौतार्द्धच्छन्नतनुरध्यापकः एकतश्चेत उपानच्चौराः।

यतः प्रभृति सभास्वहं भाषे सम्मेलनानां शतशः पत्राणि प्रतिमासमलभे। तेभ्यो बहुशः शुभकामनामादिशम्, क्वचन जिज्ञासापरवशाऽगच्छञ्च। ये मां परमागृह्य सभाध्यक्षां मुख्यां वक्त्रीं वा भवितुं समादिशँस्तत्र गमनमावश्यकमभूत्।

भारतीयसंस्कृतिसम्मेलनं तादृशमेवासीत्, यत्रासमहं मुख्या भाषिका।

सम्मेलनस्य वितानं वेश्याभवनमिव सज्जितम्, यत्र नासीद्भारतीयसंस्कृतेर्लेशोऽपि। अभितो युवानो युवतयश्चासन् प्रतिस्पर्द्धयेव भूषितशरीराः, येषु नासीद्भारतीयसंस्कृतेर्वेशोऽपि। एका वक्रहासिनी युवतिः पाश्चात्यदेशेषु विद्यामधीत्य तत्रातिवेलं स्वच्छन्दनिवासेन पुरोगामिप्रधानपदमवाप्य तदेव स्वातन्त्र्यमेकाकित्वं भारते प्रचारयितुं प्रत्यावृताऽऽस्याप्रधानमध्यास्त, यस्यां नासीद्भारतीयसंस्कृतेः केशोऽपि।

तस्याः कमलदलदैर्घ्यद्रुहा दृष्टिः विबुद्धसरोजानुवादि वदनम्, उभयतो ग्रीवां लम्बमाने निशीथघनानुकारिण्यौ वेण्यौ तां स्पष्टं सुन्दरीमघोषयन्।

भारतीयसंस्कृतयेऽद्यतन उत्साहो नवीन आसीत्। अद्यतना युवानः कस्याश्चन हास्यसुधाविसारिदशनान् वीक्षितुं महोत्कण्ठा भवेयुः परं संस्कृतावनुरागस्तेषां कथमभूदित्यहमचिन्तयम्।

स्थानं खाचं खाचं मानवमुण्डैः पूर्णं मां प्रत्यैक्षत। मय्युपेतायां सचिवो विदूषक इव प्रतीयमानः पुष्पस्रजा मां सभाध्यक्षाञ्च सभाजयामास।

अथाहं लोकाननानि विलोकनेनाधीयाना करतलाघातध्वनिं दमयन्त्यभाषे—

परममिदं सौभाग्यं यदद्य श्रीमतां दर्शनसुखमनुभवामि। मान्याः सुधियः! भारतीयसंस्कृतेः प्रधानमाधार आध्यात्मिकी भावना। तया सह तस्या-

स्तादात्म्यम्, तिलेषु तैलमिव पुष्पे परिमल इव दुग्धे घृतमिव वियन्मण्डले च विष्णुपदामृतमिव ।

वृष्टौ शान्तायां निरुपद्रवेषु मार्गेषु धनधान्येन पूर्णेषु गृहेषु सुखसौविध्ये भ्राजमाने जनमानसे शान्ते भारतीयं संस्कारं धर्मं साहित्यञ्च प्रसारयितुम्, अन्यायिनां राज्ञां मण्डले सुखसम्पादनाय योद्धुम्, नवदेशेषु विमूढान् ज्ञानसूर्यो-द्भासितान् असभ्यान् सभ्यान् कर्त्तुम्, विमूढात्मनां मोहमपनेतुम्, पशुप्रतिमान् बोधयितुम्, तेषामन्धकारावृतान् पथः प्रकाशयितुमस्माकमग्रजन्मानो योद्धारश्च विजययात्रामकुर्वन् राष्ट्रसीमानमुदलङ्घयँश्च । तदैष उत्सवो विजयाय व्रजतां सत्कारायाभूत् ।

आनवरात्रं शक्तिं सश्रित्य विजयाशंसायै साभिमानं व्रजतां यूनां भालाँ-श्चर्चयितुं मातरो भगिन्यश्च पूजासम्भारान् पात्रेष्वादायागुः । व्रजतामु-त्साहोऽवर्द्धत । एवमस्मै कार्याय प्रतिशरदं लक्षशो नरा असज्जन् ।

एवं राष्ट्रस्य शिर उन्नयन्तस्तस्याजेयां शक्तिं देवस्पृहणीयां संस्कृतिं ज्ञानविज्ञानपूर्णां सरस्वतीञ्च प्रसारयन्तो विद्वांसो विचारकाः प्रचारका योद्धारो बोद्धारो भारतीयं विद्वत्त्वं पराक्रमं प्रभावञ्च प्रचार्य समागच्छन् । क्वचनापि तेषां राज्यलोलुपता नैक्ष्यत ।

तत एषा विजयादशमी राष्ट्रे राष्ट्रियोत्सवे परिगणिताऽनन्तकालात् ।

परिस्थितिः परिवर्त्तिता । अस्मासु दुर्गुणा ईर्ष्याद्वेषकलहा उत्पन्नाः । दुर्नीतिराचारतां बभार । वृद्धानां सम्माननं व्यपगतम् । सङ्घटनानि भग्नानि । आध्यात्मिकता द्राविता । भारतं विविधेषु स्वार्थनिर्मितेषु वर्गेषु विकीर्णम् । दुष्प्रवृत्तयो राष्ट्रमविचार्य संस्कृतिमुपेक्ष्य केवलं स्वार्थाय राष्ट्रं न्यघ्नन् । हस्तो हस्तं बन्धुमाकुलः । स्वकरः स्वग्रीवां छेत्तुमुच्छलितः । फलं यज्जातं तदनुभूयत एव । अस्माकं परम्परा विशीर्णा कार्यमवरुद्धम्, अधुना बुद्धिमन्मन्यैर्भ्रान्ताः सम्बोद्ध्यमाना अपि तस्य स्मृतिं रक्षामो विजयदशम्यां विरलाः । दुरवस्थायाः परा काष्ठा । कल्पवृक्षे दग्धे तस्य भस्मैव वीक्ष्य हर्षोऽनुभूयते । आशा पुंसः पर आश्रयः । दग्धोऽपि कल्पद्रुमो भस्मनः प्रादुर्भविष्यति यदि चेष्टेष्टा ।

सुदूरं विदेशेषु प्राचीनस्थलानामुत्खननकाले यत्र तत्रोपलब्धा भारतीयाः प्रतिमा वास्तुवैशिष्ट्यानि अपभ्रष्टा मन्त्राः शब्दाः लोकैश्चीर्णा व्यवहारा अभिनीयमाना भारतीया अवतारकथाश्चाधुनापि निष्पक्षपुरातत्त्वज्ञानां मानसे भारताय श्रद्धामुत्पादयन्ति। यद्यप्यस्मासु केचन तेभ्यः सन्दिहाना एव। विचित्रा स्थितिः। के वयमास्म के चाधुना भूताः। अधुना त्वेतद् गौरवमप्यस्मन्मनसो विनश्यदिव। परं यदि वयं सत्यमेव भारतमुन्नेतुमभिलषामस्तदाऽस्माभिः पञ्चसहस्रवत्सरपूर्वं गत्वा प्रतिज्ञातव्यं भविष्यति राष्ट्रोन्नत्यै। मान्याः! भारतीयसंस्कृतेर्विशालः परिधिः। विषयभोगे क्षणपरिवर्त्तिनि जीवनेऽनास्था, आत्मसंयमः, आत्मनो विश्वेन सह कल्याणकामना, परलोकभावना तस्यै सत्कर्म, जीवनव्यवहारे सारल्यम्, महतामाज्ञा सत्यं संयमस्तपोविविधव्रतोपवासाः, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्याद्याश्रमचतुष्टयम्, वर्णव्यवस्था, यमा नियमाश्च। मातृशक्तेः सम्मानः, सर्वस्योत्कर्षकामना, सौम्यं मैत्री त्यागः, शुभाचरणम्, आर्षवचस्सु श्रद्धा वनस्थली विपिनानि कन्दरास्तपोवनाश्रमा नदीतटानि राष्ट्रस्यानन्ताब्देभ्यो ज्ञाने विज्ञाने धर्मे शासने कौशले आध्यात्मिकतत्त्वे रीतिषु नीतिषु गहनं चिन्तनमुपलब्धिश्चेत्येतेषां सामस्त्येनाऽऽकलनं भारतीया संस्कृतिः। भारतीयः कुलाचारः (कलचर) शनैः शनैर्मानवं निर्दोषं विधाय उच्चैः प्रापयन् अन्ते निःश्रेयसं साधयति। एतादृशि भारतीयसंस्कृतेरङ्गानि।

परमधुना भारतीया संस्कृतिर्विलपन्ती प्रलपन्ती स्वपती लुम्पतीव प्रतीयते। आध्यात्मिकी आधारशिला शिथिला स्खलिता च। एतस्याः परिचालकेष्वप्येनां प्रत्यनास्थां प्रेक्षे। गृहे गृहे दम्पत्योर्भ्रात्रोः मातापित्रोः गुरुशिष्ययोः स्वस्वामिनोः सुहृदोः स्वाभाविकं सौहार्दमुन्मूल्य दण्डादण्डि मुष्टीमुष्टि गालागालि कदर्थनापूर्णं युद्धं प्रेक्ष्यते भारतीयसंस्कृतेः प्रतिकूलम्।

संस्कृतिपोषका विशेषतः सन्ति विश्वविद्यालयाः, परं तत्रापि शास्त्राननुशीलनं स्वच्छन्दचर्या गुरुघातः परदारिकानुसरणञ्चैव वृतं कर्म।

वैषयिकवैदेशिकेन्द्रियलोलुपतां तत्पूर्त्तिञ्च कामयमानाः संस्कृतेः स्वरूपं विपरीतं मन्वतेऽज्ञानोपहतबुद्धयः।

सत्यमद्य सुप्रभाता रजनी निश्चितमार्यावर्त्तोऽधुनोदयाभिमुखोऽभ्युदय-भास्वान् यद् भवन्तः संस्कृतिसमुन्नत्यै प्रयतन्ते। भवतां निमन्त्रणपत्रं विलोक्यैव मम मानसकलिका व्यकसत्, सर्वं कार्यं विहायाहमत्र समवेतुं समुत्सुकाऽभवम्।

पुनश्चायं परमः प्रमोदो यदद्य भारतीयसंस्कृतेः स्तम्भान् वृद्धान् विदुषो नावलोकयामि, मन्येऽयं भारो युवभिरेव वोढुमभिलष्यते। अधुनाहं नवसृष्टे-र्विचारान् श्रोतुमुत्सुका भाषणाद् विरमामि।

विरतायां मयि करतलध्वानैराकुले वितानाकाशे जवनिकाकोणान्निरसर-च्चारुगात्री विस्मयदस्मरोदया नलिनीदलजललवतरलतरं लोचनयुगलं साभिप्रायं भ्रमयन्ती, अलसवलयितेन कोमलेन करेण कज्जलकूटकालं खर्वी-कृतं केशपाशं समाक्षिपन्ती, अविलेपधवला, अनलङ्कारभास्वरा निसर्गपेशला काभिश्चिदलसचलिताभिः विभिन्नरागप्रभोद्भासितदेहसौन्दर्याभिः पीन-पयोधराभिः शरज्ज्योत्स्नावदातवदनाभिः कृशोदरीभी रचितालवाला, प्रभा-वयन्ती रङ्गमञ्चम्, प्रवाहयन्ती मादकतां रोमभिरपि, मादयन्ती शृङ्गारभावैश्च षकहस्ता, क्षयरहितकनकघटितशरीरा, देहाभिन्नवर्णां नगण्यां चोलीं तद्वदन्तरङ्ग (अन्डरवीयर) वासश्च परिधाय नग्नेव भासमाना करपत्रायिता-भ्यां कज्जलिभ्यां चक्षुर्भ्यां तीक्ष्णैः साभिप्रायैः कटाक्षैः विभिन्नवलयनैर्गातु-मारब्धवती च।

प्रियतम ! एहि, निवस मम मनसि। स्थायी।

श्रद्धा नदीबन्धविघातेनोटजिकेव प्रवाहिता। क्षोभो वर्षणोत्तरं रौद्र आतप इवोपेतः।

अहमुत्थायावोचम्, अहो विपथगामित्वमस्माकम्। किमिदमेव भारतीय-संस्कृतेः स्वरूपम् ? मङ्गलं पुण्यं भारतं वर्षम्, ब्रह्मसारूप्याय प्रयतमानम्, तल्ल-क्ष्यम्, यत्र मानवस्य सर्वे भावाः परमं विकासमापुः, तदिदं भारतं वर्षम्, तस्य संस्कृतिः किमु एतादृशी ? हन्त ! आनुकूल्ये प्रातिकूल्यमानिनः सुरूपे वैरूप्य-मानिनो मूर्खाः सर्वमेव भ्रंशयन्ति। लोको दुर्विचाराच्छादनाय नाम परिवर्त्त-

यितुं शक्नोति रूपं नहि, व्यभिचारी वृद्धो राधागोविन्दलीलाभिनयं नाटयन्निव। दुर्भावनो मानवो वस्तुनो दूषितमेवाङ्गमन्विष्यति क्रमेलकः कण्टकिद्रुममिव मक्षिकाश्च व्रणमिव। हन्त कीदृग्वैपरीत्यम्? नित्यं मिथ्यारतः सत्यम्, विषयनिषण्णः संयमम्, रणमाकर्ण्य सिंहस्य चित्रं वा वीक्ष्य मलोत्सर्गी शौर्यम्, वेश्यावेश्मसेवी ब्रह्मचर्यम्, वेश्या पातिव्रत्यम्, मलेच्छो (संसारस्य द्रव्याणि मलभूतानि य इच्छति) म्लेच्छो धर्मम्, निरक्षरो वैदुष्यम्, चोरोऽस्तेयम्, क्रोधनः शमम्, प्रतिदिनं लक्षशो गवां हन्तोपानत्कर्मा (शूवर्क्सवाला) गोपालनं व्याचष्टे।

यद्यहमज्ञास्यं नागमिष्यम्। क्षम्यताम्, एतादृशोऽपराधोऽक्षम्यः।

विश्वस्मिन्नस्माकं वैशिष्ट्यं सम्मानश्चाध्यात्मचिन्तनवैशिष्ट्यमधिकृत्यैव केवलम्। कामोत्तेजकं वेशं विन्यासं वासो हावं भावं सज्जाञ्च विभाव्य किमन्यद्भवतीति तु मनोविज्ञानशिक्षाविशारदा एव प्रष्टव्याः, परमिदमहं जाने यत्किशोराणां किशोरीणां चरित्रध्वंसस्य श्रीगणेशस्तु भवत्येव। वस्तुतो वयसाऽशक्त्या प्रतिष्ठया पदेन मानेन लोकभीत्या वा प्रत्यक्षं व्यभिचरितुं वञ्चितैराप्ताधिकारैस्तिरोहितपापैः पापिभिः प्रारब्धैषा योजना विद्यते कामवासनोपशमाय। वस्तुतः संस्कृतिः सा यास्माकं भावान् परिष्करोति, ययाऽऽचारो विचारो व्यवहारः सत्यः शिवः सुन्दरः सम्पद्यते। यया तेषु विकारः सा किं संस्कृतिः? स तु दार्शनिको व्यभिचारः। अहो, किमेषा प्रगतिः? राष्ट्रोद्धारस्य प्रस्तावना वा? एतद्विचार्यैव विहतं भवति दुर्विचारैर्मस्तिष्कम्, तमश्छादयति मूढां मतिम्, आशा क्षयं याति सर्वस्मै कालाय। किमनेन समाजकल्याणम्, राष्ट्रोन्नयनम्, वैदुष्यम्, कलानैपुण्यम्, आर्यभारतीयत्वं वा व्याप्यते? किमेतदनुष्ठानेन कुमारिलशङ्करचैतन्यनानकदयानन्दप्रभृतयो लोकनमस्कृता रमण्यो वा सम्पाद्यन्ते?

भारतीयसंस्कृतिप्रणयं क्षपयन्त्येषा संस्कृतिः कथमुद्धाराय चिन्तिता? परा काष्ठा दौर्भाग्यस्य। भारतीया संस्कृतिरुदात्ता भारतीया संस्कृतिर्नृत्यगीतरागेष्वेव बद्धा किमु? हन्त? तरुणीनां नग्नकल्पनृत्यानां मोहकताया मादकतायाः

प्रदर्शनम्, संस्कृतेः सञ्ज्ञायां व्यभिचारस्य प्रदर्शनम्, संस्कृतेः सर्वथा विपरीतं तत्त्वम्। को भाव उच्छेद्यः ? कः संरक्ष्यः ? एष विवेकः। विवेकसिक्ता सद्विचारकृषिरेव संस्कृतिः। परमेतत्सर्वमविवेकविलसितं विषयाकीर्णम्।

अस्माकं ज्ञाननेत्राणि विनष्टानि, विपरीतज्ञानमस्मासूपेतम्। शास्त्रचक्षुर्विषयविषेण विषण्णं घनघनान्धकारे लुप्तम्। अनाचरणीयमाचारः, पापं पुण्यम्, पतनमुत्थानम्, तमस्तेजः, अन्यायो न्यायः, विषयसेवनं त्यागः, व्यभिचार आराधनमधना चिन्त्यते हन्त ?

विद्यालयो भवेच्छाला वा, धार्मिकपर्व भवेत् राष्ट्रियोत्सवो वा, मन्त्रिण आगमनं भवेद्धनिनो वा, कस्यचिद् गमनं भवेदागमनं वा, मधुरं कर्णप्रियं मनःप्रसादि रसिकोन्मादि समागतोन्माथि छात्रचरित्रनाशि निर्लज्जतां लज्जयत् नूपुरशिञ्जितं तु सर्वस्मात् प्रधानं गण्यत एव।

हन्त भारतीयमानवस्य धारा कथमधोमुखीभूता ? ध्येयं साध्यं भौतिकसुखम्, लक्ष्यं मिथ्यायशो धनं शासनं प्रभुत्वञ्च, उपायः साधनञ्चासत्यं कपटं छलमीर्ष्या द्वेषो द्रोहो हिंसा चौर्यञ्च। अस्थिरजीवनो मानवः कथं परान् प्रणाश्य सुखमर्ज्जयितुमीहते ? परमद्यतनो मानवो मातुः पितुर्गुरुकुलात् सहचराच्चेमामेव शिक्षामधिगच्छति। सर्वत्र साधना श्रमस्त्यागस्तपो धर्मश्च भोगाय। तपस्विनो मनस्विनो वचस्विनोऽपि भोगप्रसक्ता एव वीक्ष्यन्ते। परं स विकासो विनाशः, उन्नतिरधोगतिः, भोगो रोगः, उत्थानं पतनम्, सौभाग्यं दौर्भाग्यम्, पुण्यं पापम्, सम्पद्विपत्, यानि जीवन आध्यात्मिकीं भावनां विनाश्य भौतिकीं भावनां प्रसारयन्ति। नैषास्मद्राष्ट्रस्य प्रणाली। अद्य संसारे चौरपूजा व्यभिचारिपूजा अत्याचारिपूजा समानं साडम्बरं प्रवर्त्तिता। अहो व्यामोहो निरवधि मौर्ख्यञ्च ? अद्य नग्ननृत्येन शुल्कावासानां महिमशालित्वमुत्तमजनभोग्यत्वमिव संसदां संस्कृतेश्चापि तथाकरणीयता प्राप्ता। हन्त ! अहमेवं न सूचिता। अस्तु, भवन्तः सभां चालयन्तु न वेति भवतामिच्छा। परमहं गच्छामि। प्रार्थये च नाहमीदृक्प्रपञ्चे आह्वातव्या।

क्षणं नीरवता प्रासरत्। परं मयि निर्गतायामेव शिञ्जितं भवनं गुञ्जयामास।

× × × ×

कार्तिककृष्णत्रयोदश्यामपराह्ले शतशो वैद्याः शिरोवाससा महर्घीकृतवाससो धौतप्रसाधिता धन्वन्तरिमुपातिष्ठन्त। अहं चकिता। क्वचनापि वैद्योत्सवेषु दशोत्तरं वैद्या नावलोकिताः, अद्यात्र च मुण्डानां शतम्। सर्वेषामेव गले फुप्फुसपरीक्षि यन्त्रं वक्षःपक्षकोटरे तापमापकं कर्णे सुरभिसारपिचुः। बहुशः परस्परं शास्त्ररहस्यं व्यशदयन्। कश्चन चिमनप्रकाशस्य गुणान् परो विरामीरसायनस्य क्रियाम्, परः कोटिपतेः पुत्रसञ्जीवनवृत्तम्, एवं सर्वो धन्वन्तरेः पितृत्वं प्रत्याययन्नवर्त्तत। परमः खेदो यत्तत्र वक्तार एवासन्न श्रोतारः।

"कथमद्याभिनव आयुर्वेदानुरागः? किमु वाद्यगानस्याकर्षणम्? अल्पाहारस्य लब्धेर्वा प्रबन्धः?" इति वैद्यामपृच्छम्। सोदतरत्—आतिथेयः प्रतिवर्षमुपायनेन भिषजस्तोषयति, अतस्ताम्बूलिका अपि क्षौरं विधाय वैद्यीभूयोपेताः। इति।

सम्मुखे कलालीने और्णासने धन्वन्तरेस्तैलचित्रं मित्रकृतं माल्या लालितं व्यराजत पूजनसामग्री च। चिरेण प्रतीक्ष्यमाणः परमविलम्बेन समेतो वितरणविभागाध्यक्षोऽध्यक्षासनमलञ्चकार, येन सहासीदातिथेयस्याह्निको व्यापारः। आयुर्वेदज्ञो न स भवेत्, परमायुर्वेदीयौषधागमानुमतिपत्रदाने तु तस्य योग्यता गरीयस्यासीदेव।

मङ्गलाचरणं कश्चन रुदितप्रलपितमिवोदचरत्। केचनाजीर्णाध्ययना घृष्टपिष्टं पठितरटितं दृष्टश्रुतं प्रलपितविलपितं बभाषिरे निरोजः परिदेवनात्मकमिवासम्बद्धम्। जीवनविज्ञानवेदितारो ज्ञानजगत्येवं क्षोदीयांसः सन्तीति विचार्य चेतो निर्विण्णम्।

शास्त्राणां सम्पर्केणायुर्वेदपरिचिता वदितुमुत्कण्ठया पत्रशकलं प्रैषयम्। "अहं वदितुकामा, काँश्चित् क्षणान् प्रार्थये"—कृष्णतारा।

पत्रशकलमधीत्योत्फुल्लनयनोऽध्यक्षो घण्टिकां निपीड्य भषन्तं भिषजमवरुध्य मां प्रार्थयत यतो मद्भाषणे लोकस्य औत्सुक्यमपूर्वम्। द्विरोषु चित्रावतारकेषु चक्षुश्चमत्कुर्वत्स्वहमवोचम्—"नितराञ्चिरन्तनोऽस्माकमायुषो वेदः। सृष्टेरादौ प्रसूयमानाय शिशवे स्तन्यमिव रोगसमुदयसमुच्छेदाय सृष्टसृष्टेः संरक्षणाय लोकपितामहेनासौ स्मृत्वाऽऽविष्कृतः। इतरे यदा बिलेषु शयाना आसन्, अष्टाङ्गेयं चिकित्साऽत्र यथोन्नताऽऽसीद्यत्तथोन्नतिरद्यतने पूर्णविज्ञाने युगे प्राप्स्यते न वेति सन्देह एव।

परमद्यानाचरितचरकाचारा अश्रुतसुश्रुताः अवाग्भटा अनिघण्टवः अप्राप्तयोग्या अनाराधितगुरवो भूतभाषापुस्तकैः प्राप्ताल्पज्ञानाः ज्ञानिद्वेषिणो धवलेन वाससा सुरभिणा कर्णपिचुना राजतेन दण्डेन सौवर्ण्योर्मिकया परिष्कृतयोपानहा नित्यनिर्घुष्टेन मुखेन मधुरैः रोगिप्रसादिभिर्वचनैः विदेशभाषाया आसन्नविंशैः शब्दैर्योग्यतां बोधयन्तो रोगबोधविकलास्ताम्बूलीदलेन विदुषो विमोह्य विचरन्तो विलोक्यन्ते प्रायशो भिषक्पाशाः।

रोगज्ञानोपशमाय चांशांशकल्पनाऽऽचार्यैः प्रतिपादिता, परमहं सविनयं पृच्छामि यत् कश्चनैकोऽपि विदधाति विधातुं शक्नोति वा।

भारतीयमिदं विज्ञानमिति कथनेनैव केवलं नाप्यं लोकाकर्षणम्। तस्याधारः सत्यं स्यात्। सर्वदा शुद्धस्य मूर्च्छितस्यैव पारदस्य प्रयोग आम्नातः। तद्विपरीतपारदभक्षणन्तु पातकं घातकञ्च। परं तदेव सर्वे व्यवहरन्ति, तस्य लाभालाभौ विचारयितुमप्यक्षमाः।

शुद्धौषधसमागमो दुर्लभः। विविधविज्ञपनाबलेन मुग्धजनानाकृष्याना-युर्वेदज्ञा अपि कोटिपतयो भूताः। लोकवञ्चनमेव तेषां परमाश्रयः। सौवर्णं भस्म मया परमविश्वासपात्राद् बृहत आयुर्वेदौषधनिर्मातुः कोटिपतेः प्रतिष्ठानात् क्रीतम्। परं भवन्त आश्चर्यचकिता भविष्यन्त्याकर्ण्य यत् काचकूप्यां पीता मृदेवासीत्। पित्तलं स्वर्णवङ्गो वापि तेन भद्रव्यापारिणा न तत्र प्रवेशितः। यत्र परमविश्वासपात्राणां प्रतिष्ठानानामीदृशी स्थितिः स्यात् तदा का कथा साधारणानाम्?

सर्वाधिको ह्रास आयुर्वेदस्यायुर्वेदेन काञ्चनकूटं विरचयद्भिर्विहितः। आयुर्वेदेऽनास्था अश्रद्धा उपेक्षा एभिराविष्कृता एभिरेव च मिथ्याफल-श्रुत्या रसायनेषु मिथ्यानिर्मितेषु भ्रमः प्रसारितः। एते लिखन्ति स्त्री-रोगाणामेकमात्रमौषधम् 'अशोकारिष्टम्'। साधारणो जनः "स्त्रीशरीरे यावन्तो रोगास्तावन्तोऽनेन शम्यन्ते" इति विचार्य प्रयुङ्क्ते न च फलं लभते।

आर्त्तत्राणपरायणव्रतचरा वैद्याः सम्प्रति केवलं पक्षकोटरपूर्त्यै समाकुलाः विलोक्यन्ते। साधारणरोगानपि महाव्याधीन् घोषयित्वाऽऽतुरं भयेनाप्लाव्य धनाहरणं तेषां कौशलम्। समस्या जटिला मयाऽहोभिरेव नियमितेति प्रतिष्ठया वा प्रचुरधनलाभः। असाधारणं रोगं दम्भेनाज्ञानेन वा साधारण-मुद्घोष्य यमसदनप्रापणे तेषां हस्तलाघवम्। न किञ्चन तेषां सङ्कटनम्। अस्त्यपि चेद् विशृङ्खलं कलहकोलाहलाकुलञ्च। परस्परं द्वेषस्य निन्दायाश्च प्रकाराविष्कारे तेषां मानसं व्यग्रम्।

एतादृशैर्दाम्भिकैर्वयं मुषिताः। अस्तमितोऽस्माकं विज्ञानादित्यः लुप्तोऽनश्वरो भास्वरो ज्ञानप्रकाशः। अन्धतमसाच्छन्नं जीवनम्। अस्माक-मुत्तराधिकारिणोऽस्मान् कथं स्मरिष्यन्तीत्येष विस्मयः। पूर्वजानां सम्पद-स्माभिः पालयितुमपि न पारिता, वर्द्धनस्य तु प्रश्न एव नहि।

परं गतं तद् गतम्। अधुनापि समयोऽस्ति। सूर्यो न सर्वस्मै कालायास्त-मितः। पुनस्तस्य स्वर्णकिरणा विश्वं भासयितुं क्षमाः। अस्माकं तपःपूतैः पूर्वैर्जीवनतत्त्वं साक्षात्कृत्य विश्वस्य स्वास्थ्यायापूर्व उद्घोषः कृतः, परं सोऽस्माकं दौर्बल्येनाघमानां पादत्राणताडनामसोढ परमधुना क्लीबता त्याज्या। अधुनाऽस्माकं कर्त्तव्यं यत् प्रतिपल्लि स्वास्थ्यसमितयः स्थाप्याः शास्त्रा-णामयातयामत्वं साधयितुं स्वाध्यायमण्डलानि च स्थाप्यानि। सद्भेषजप्राप्त्यै प्रतिजनपदं भुव ऋतोश्चानुकूल्येन भेषजक्षेत्राणां वपनं विधेयम्। रसस्य शास्त्रीया परिपाटी व्यवहरणीया। गवेषणागारैः ग्रन्थागारैः निर्माणाध्ययन-शालाभिश्चोपेताश्चिकित्सालया आतुरालयाश्च स्थाप्याः।

निर्माणशालानामौषधानि नीरजस्तमसामनास्याभिलाषिणां भिषजामनुमोदनेन विक्रीतानि स्युः, न त्वास्याभिलाषिणां मधुरमुपभुज्यासङ्गतं प्रलपतां लोकनायकम्मन्यानां रहस्यानभिज्ञानां प्रलापेन।

मान्या विद्वांसः ! परमिदमाश्चर्यम्, यत्तच्छास्त्रानभिज्ञः कथं तत्र स्वाभिप्रायं प्रकटयति भुवश्चक्रवर्त्यपि निर्लज्जः ? कथं वाऽऽदाता स्वीकरोति स्वार्थाकुलः ? देशान्तरेष्वेवंविधेभ्यः प्रतिष्ठानेभ्यः क्वेदृग्विधाः सम्मतयो दृष्टाः ? सम्मतिः स्याद् विशिष्टज्ञस्याधनस्यापि। परमत्रोच्चासनस्थस्यैव प्रामाण्यमनक्षरज्ञस्यापि। अयं दोषोऽस्माभिर्निर्मूल्यः।

मान्याः ! ममायं परामर्श उत लोकवाणीयं वा मन्यताम्, विचारयितव्यं निर्णेतव्यञ्च भवद्भिरेव। मम भाषणस्य केनाप्यंशेन क्षोभो भूतश्चेदहं भाषणं सफलं मन्ये। अवसरप्रदानाय साधुवादः। विजयतां परमं जीवनविज्ञानमायुर्वेदः।

× × × × ×

अहं व्याख्यानमञ्चेषु भाषमाणा बहुशोऽन्त्यजैर्दृष्टा भवेयम्, अतस्ते मामेकदाऽऽजुहुवुः। पूर्वन्तु ते सङ्कोचमानञ्चुर्यद्वराकमण्डले गमिष्यामि न वेति, परमन्ततस्तेष्वेकः पठितगुणितः क्वापि शिक्षकः कतिभिश्चन पट्टधरैः सह स्वाशयं प्राचकटत्। स्वीकृत्य निर्दिष्टस्थानेऽगच्छम्। काष्ठपीठे वृद्धा नेतारः परत्र परेऽन्त्यजाः सङ्घीभूयोविशन्। मध्ये रिक्तकाष्ठपीठ उपविश्य साधारणाचारानन्तरं व्याचक्षि च। बन्धवः ! परमः सुखावहोऽवसरो यत्सङ्घीभूतेषु भवत्सु स्वं पश्यामि। भवन्तो देशस्य श्रेष्ठाः सेवकाः। वस्तुतोऽत एव भवन्तो देशे महत्तरशब्देनोपाहिताः। अन्ये केचन महान्तः स्युः सैनिकाः शिक्षका व्यवस्थापका वा परं सेवकास्तेभ्यो महत्तराः। महत्तमाः स्युः परमहंसादयः। एष भवतां सेवायाः सम्मानः। लोके भवन्तः सार्द्धशब्देन सम्मानिताः। सर्वस्य स्वरूपमेकम्, राजसु केषाञ्चन स्वरूपं सपादम्, (सवाई) परं भवन्तः सार्द्धाः (डेढ)। बन्धवः ! नद्या वक्षस्तस्या निःस्वार्थजनसेवाप्रभावेणैव साभिमानं विशालं सबलञ्च भवति, तद्वद्भवतामपि स्यात्। परमुपाधेर्महत्त्वेऽपि सेवाकार्यरता भवन्तो बहुष्वनाचारेषु प्रवृत्ताः। केचन

भङ्गाव्यसनिनो भङ्गिनो मद्यधुतज्ञाना उच्छिष्टाशिनो मृतमांसाशिनश्चाण्डालतामवापुः। शिक्षा व्यपगता दोषा उपेताः सदाचारो विस्मृतः समाजस्तरात् प्रतिदिनं पतनं भूतम्। फलतोऽद्य भवतां वर्ग एव पृथग्भूतो मन्यते स्वार्थपरैः। परं शरीरात् पादतले पृथक्कृते कश्चन सुखं चलितुं शक्ष्यति किम् ? नेत्युत्तरम्। परं पादतले रुग्णे शून्ये स्फोटव्याप्तेऽपि चलनं तादृगेव, एवं पादतले शिरस्यारोपितेऽपि। अतः पादतलं पादतल एव नीरोगं कर्मसु कुशलं रक्ष्यम्। कर्म भगवतः स्वरूपम्, तत्तु यथा चर्यते तथा चरणीयमेव। परं शौचाचारे खादनपाने निवासव्यवहरणे शिक्षासंस्कारे व्यवस्था परिवर्त्तनीया। निषिद्धं भोज्यं व्यवहरणञ्च त्याज्यम्। राष्ट्रभगवतः सेवोत्तरं गृहमागत्य स्नात्वा वासांसि प्रक्षालनीयानि राष्ट्रं कथं परिष्क्रियेत शरीरञ्च परिष्कारदोषशून्यं तिष्ठेदिति चिन्तनीयं चिकित्सकवत्। भवन्तो न जानन्ति परं ज्ञातुं क्षमा भविष्यन्ति यद् भवतां वंशे जाता अद्य व्यापारे लग्नाः पूर्ववंशं विस्मृत्य वाणिज्यवर्गे गण्यन्ते। अधुनापि तेषामान्तरिकी प्रवृत्तिः कुलाख्याश्च तेषां प्राक्तनीं जातिं स्पष्टमाचक्षते। परमद्य स धनी वशीकृतकालोऽधीनीकृतलोको दासीकृतकृतविद्यः। कश्चनैवं प्रमापयति यत् "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः"[१] वर्णद्वयमेवाद्योऽन्त्यश्च। काममेतत्स्यान्नाम, अस्माभिस्त्वस्मदर्थं चिन्तनीयम्। वयं सनातनधर्माणः। स्वधर्मे निधनमपि श्रेयो मन्महे। अद्यतनाः केचन काञ्चनोन्नता मानोन्मत्ता धनोद्धता एकदा भवतां भ्रातर आसन्। ते कुकामै राजवंश्यै-

---

१ इदानीन्तनक्षत्रियाणामपि शूद्रत्वमाह मनुः—शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। बृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्। विष्णुपुराणमप्याह-महानन्दीसुतः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धो महापद्मनन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रियान्तकारी भविता। ततः प्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति, इति। तेन महानन्दीपर्यन्तं क्षत्रिय आसीत्। एवञ्च क्रियालोपाद् वैश्यानामपि तथा। शुद्धितत्त्वम् पृ० १५८। वैश्यानान्त्वितः प्रागपि हीनत्वं महाभारते उक्तम्—स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। स्वभावतः सत्क्रियाबहिष्कृताभ्यः स्त्रीभ्यः परस्माद् वैश्योपादानाच्च। बृ० धर्मपुराणे उत्तर खण्डे अ० १४. ब्राह्मणातिरिक्ताः षट्त्रिंशज्जातय उक्ताः सर्वा एव शूद्राः। अतएव तत्र "शौक्रं तथा च सावित्रं दैक्षं जन्म च सम्मतम्। जन्मत्रयं ब्राह्मणानां स्त्रीशूद्राणां द्विजन्मता। बृहद्धर्मपुराण प्र० ख.अ. ४ श्लो० २२ केवलं विप्रशूद्रावुक्तौ नान्ये जाती।

भृत्यतां नीताः। तेषां कुमार्यो युवतयश्च निर्भरमुपभुक्ताः। साङ्कर्यात्सौन्दर्यं धनञ्चैधत। तेऽधुना द्विजेषु गण्यन्तेऽर्ह्यन्ते च महर्षिवत्। कन्याविक्रयो विधवाविवाहादयस्तेषु गतदिनेष्वासन्। परं तेऽन्त्यजाता दुर्जातिबन्धवः कथङ्कथमपीतरसम्प्रदायेषु प्रविश्य व्यापारं प्रसार्य तदाख्यया स्वं प्रसिद्धिं नीत्वा सद्वृत्ताभं चरन्तः सच्छिक्षामाददाना उच्चवर्गे समेताः प्रथमेन सममर्ह्यन्ते, पोतेन नदीर्दारयन्तः पोतदारा नाविका धीवराः पोतवणिजां सम्पर्कात् प्राप्तेन ज्ञानेन व्यापारं कुर्वन्तः पोतदार इत्याख्ययेव। शौण्डिको मद्यपण्यः, चर्माणश्चर्मोपजीवी, वनाटः, गर्दभोपजीवी, लाक्षिककापटिक-प्रभृतयः शब्दाः स्पष्टमेवेतिहासं स्मारयन्ति। तेषां कर्माणि च सुस्पष्ट-मेवाद्यापि तेषां प्रवृत्तीः प्रत्याययन्ति। समयेन शब्दा अपभ्रष्टाः परिवर्त्तिताः विपरीताश्च। अधुना ते धनबला विदुषां मस्तिष्कं क्रीत्वा स्वां जातिमीश्वरा-दुत्पन्नां घोषयितुं क्षमाः। परमितिहासस्तेभ्यो मौनावलम्बी। ते शूद्रा अन्त्यजा अप्यधुना न तथा।

संसारे विस्मृतिरपूर्वा। एष व्यवहारपरिवर्त्तनं सद्यो विस्मरति, प्रचलितं व्यवहारं च श्रेष्ठं मनुते। केचन भवत्सु तथा कर्त्तुमुत्सकाश्चेत्तदैष उपायः करणीयः। किञ्चिद्धनमर्जनीयं वेशो भूषा शिक्षा संस्कारश्च परिवर्त्तनीयानि। व्यापारस्याभ्यासो विधेयः। एवं सम्पाद्य स्थानं त्याज्यम्। सुदूरं गत्वाऽज्ञात-क्षेत्रे व्यापारः प्रारब्धव्य उच्चकुलमर्यादा ग्राह्या कल्पितोपजात्या चात्मा ख्या-पयितव्यः शर्मा वर्मा गुप्त इत्यादिनाथवाऽन्यया कयापि कुलाख्यया लोकप्रियया लोकविदितया। एतद्रहस्यं पुत्रायापि नाख्येयं यत् के वयं स्म आस्म वा। भवत्सु मृतेष्ववशिष्टा उत्तमजातयः। अनेके वंशा भवद्विधा आसन् येऽद्य सम्मान्यन्ते। अज्ञानप्रियो हि साधारणो लोकः। विज्ञलोकश्चानवकाश उपेक्षते।

एकदा भवन्तः कोट्टपाला आसन्। राष्ट्रस्य रक्षणं प्रधानतमं कर्म भवत्सु नियोजितमासीत्। विरोधिनां हननं हतानामुत्थाप्य निपातनं भवन्तोऽकार्षुः। अधुनापि मृतोत्थापननिपातनं भवद्भिरेव क्रियते। परमद्य केवलं नामैवाव-शिष्टम्। परं कर्मलोके कर्मणो महत्त्वम्। कर्मणा निम्नजाता अपि श्रेष्ठाः। अथ चाद्य प्रवृद्धे व्यभिचारे क्व वंशः क्व वर्णः?

अधुना धनी सुन्दरीमधमजातीयां स्त्रियमुद्वहन् गौरवं मनुते। अतः कष्टं विषह्यापि सुन्दर्यः कन्याः पाठनीयाः नाट्यसङ्गीतशालासु विभ्रमहाव-भावेषु वैचक्षण्यं प्रापणीयाश्च। पश्चाद्धनिनां सुतास्ताः परिणेतुं स्वतो विकलाः स्थास्यन्ति। तैः सम्बद्धे विकास उत्सङ्गगतः। तदा भवन्तो हरिजना नारदसमा लोकपूज्याश्च भविष्यन्ति। ततो भवतां प्राचीनत्वं सेवकस्य महत्तमं स्थानञ्च श्रुतिस्मृतिपुराणेभ्यः साधयिष्यते भवद्भिरोधिवर्गेण मुद्राक्रीतमस्तिष्केण। अतः स्वधर्मच्युतिरभिलषिता चेदेष योगः पाखण्डपण्डितैर्मण्डयितव्यः, अन्यथा त्वत्राप्यानन्द एवेति शम्।

× × × ×

होलिका

"होलिकोत्सवः कथं चरणीयः" इति विषये कालाकारे पथि जनभवने विचारपरिषद् भविष्यति, मान्यो वकसरीयः प्रधानो व्याख्याता, विषयविचार-स्पृहिण उपस्थित्यै प्रार्थ्यन्ते"—इति समाचारपत्रेभ्यो ज्ञात्वाहमगच्छम्।

कश्चन कुरीतिनिवारकम्मन्यः शुष्कमुखः क्लिन्नचक्षुर्निष्केशमूर्धा दुश्चरित्रेषु व्यतियापितजीवन इव प्रतीयमान उत्थाने वचनेऽपि श्राम्यन् वदन्नासीत् :—

वैधवे मण्डले कलङ्क इवायमस्मत्पूर्वजैः प्रचालितो होलिकोत्सवः। एतादृशानश्लीलानुत्सवान् कुर्वाणा वयं सभ्यसंसारेऽसभ्या एव बोध्यामहे। यत्र बालानां यूनां वृद्धानां स्त्रीणाञ्च समक्षमशिष्टशब्दोच्चारणमुच्छृङ्खलं वा व्यवहरणं स्यात् स किमुत्सवः? अस्माकं पूर्वजा वनवासिनो निरक्षराः सद्व्यवहारानभिज्ञा वासोभूषणरहिता असभ्या आसन्। वयमधुना शिक्षिताः सभ्याश्च सम्प्रत्येष नोचितोऽतः सर्वथा त्याज्यः। परम्पराप्रेमाणो जरठा मूर्खा युवभिर्बोधनीयाः परिहार्या वा।

अहं पत्रशकलं प्राहिणवम्। होलिकोत्सवे युवत्या विचारान् श्रोतुं सर्वैः सम्भ्रान्तः। आज्ञप्तावोचम्। उत्कर्णाः सर्वे श्वासं नियम्याश्रौषुः।

मान्याः ! माननीयेन पूर्ववक्त्रा यदुक्तं तत्समीचीनमेव। अस्माभिः सभ्याचारोऽवश्यमेष्टव्यः। सदसद्विवेककुशला जगतः कल्याणाय निर्बाधं विकासाय त्रुटीनां परिशोधाय च सङ्गच्छन्ते। अतस्तथाविधेन सर्वविध-कोणान् सम्यक् परामृश्य वक्तव्यं रहस्यमुद्भाव्यमज्ञाते च रहस्ये न स्वैरं प्रलपितव्यम्।

विद्वांसः ! आर्याणां जीवनमानन्दमयम्। भोजनाच्छादनप्रपञ्चचिन्ता-रहितास्ते संवत्सरमेव सानन्दमयापयन्; प्रातः सन्ध्या भगवदाराधनोत्सवः मध्याह्नेऽतिथिसपर्या, अपराह्णे गोष्ठीसंवादः सायं गवोत्सवः सन्ध्यार्चादि च पूर्वरात्रे भोजनोत्तरं कथाकौतुकम्, ब्राह्मे मुहूर्त्ते विविधं गानञ्च। एव-मार्याणां क्षणा अप्यानन्दपूर्णाः। वत्सरे षष्ट्युत्तरत्रिशत्यामुत्सवानां चतुःशती। सर्वेष्वेव तेषु विविधा भावा उद्देश्याश्च। वस्तुतो जीवो ब्रह्मात्मकः सच्चिदानन्दस्वरूपः। आर्याः सर्वदा शोकं भयं चिन्तां दुःखमित्यज्ञ-कृत्यानि विहायानन्दमेवान्वभवन् अनुभवन्ति च। सर्वत्रास्य भावस्य छाया प्रसरति।

एष उत्सवश्चानादिकालात्। वस्तुतो मानवोप्यन्ययोनिवत्सदसद्गुण-समवायः। यद्यपि मानवे सद्गुणानामाधिक्यं दुर्गुणानाञ्चाल्पता सदसद्विवेकश्च विपरीतत्वान्याभ्यो योनिभ्यः। परं मानवमानसेऽपि दुर्वासनासन्वयः स्वभावसिद्धः। यो मानसरोगकारणम्। अतः मलदोषस्य निराकरणाय विरेचनमिव दुःखोष्मशमनाय रोदनमिवैष उत्सवो वत्सरसञ्चितदुर्वासनानां वमनाय। यस्यावरोधेन विविधरोगोत्पत्तिः सम्भाव्यते, अतिसारावरोधेनान्ये रोगा इव। गुरुजनानां मातापित्रोश्च सन्निधौ यच्चर्यते रोगनिवारणप्रयोग इव तत् पापं किमु ? वस्तुतो य एतत् पापं मनुते स एव पापः। वस्तुत उत्सवस्यार्थ एवैषः। उत्=ऊर्ध्वं सुवति=प्रेरयति स उत्सवः। यस्मिन् दैनिकाचारादन्यत् किमपि चर्यते सः। वस्तुत एष उत्सवो मानसविकारशोधक आनुषङ्गिकः शरीरलाभोऽपि। अस्य त्रीणि निमित्तान्तराण्यपि :—

(१) ऋतुराजस्यागमनोत्सवः, येन शीतजडं शरीरं विविधखेलाभिरानन्द-प्रमोदैर्लघु भवति। (२) गृहमानीतायां सस्यसम्पदि प्रसादः। (३) सत्यनि-

ष्ठस्य प्रह्लादस्यार्त्तजनप्रतिनिधेः दुष्टहतकहस्ताद् रक्षणञ्च। हिंसके पातरि तत्प्रतीकारोद्यतस्य न पर्वताद् भयं नाग्नेर्न मत्तद्विपान् न सर्पान्न च समुद्रात्। सत्याधिष्ठितः सर्वानतिक्रामति। तस्याग्निः सुखसलिलायते। राक्षसोपमो हस्ती मित्रायते च। अस्माभिः सर्वाणि सुखानि दुःखानि च विस्मृतानि परं यस्मिन् दिने उन्मत्तशासकस्य मूकः प्रतिरोद्धा सत्यनिष्ठः प्रह्लादः पीडितस्तद्दिनमस्माभिरद्यापि स्मर्यते स्मरिष्यते स्मर्तव्यञ्च। ज्वलयितारः स्वयं ज्वलन्ति ज्वल्यमानश्च जीवति, इति तेन प्रकटितम्। एवञ्च राष्ट्रसेवकस्य दुर्वृत्तशासकपीडितस्यापि निश्चलस्य प्रह्लादस्यैतत्-स्मृतिदिनम्। शासनभीताः प्रजा विविधमिषेणान्यायप्रतीकाराय सङ्घटिता जनानुद्बोधयामासुरित्यस्य प्रत्यायकञ्च। परं राक्षसोपमा अज्ञानिन एतस्य महत्त्वं विलोप्तुकामा अहोरात्रमश्लीलतामाचरन्तः कामुका निरन्तर-मपाङ्गै रक्तध्वजमपि कुदृष्ट्या वीक्षमाणा मूर्खान् भ्रमयितुं स्वस्य सच्चरित्रतां वैदुष्यं नेतृताञ्च ख्यापयितुमसम्बद्धं प्रलपन्ति शास्त्रद्वेषिणो मिथ्याचाराः। सुहृदः! तेभ्यो भेतव्यमवधातव्यञ्च। त्रिषयस्योभौ पक्षौ विभाव्य भवन्त प्रवर्त्तन्तामिति निवेद्य विरमामि। इति।

कृष्णतारा मामाचष्ट। देवस्य शयनवेला।

द्वितीयमाह्निकम्।

सूर्यप्रभा

किं वा

वैभवपिशाचः

तृतीयमाह्निकम्

त्वं मां मुञ्च दयां विधेहि विरहेत्यालप्य वामभ्रुवा
विश्लेषाय समर्पिता नरहरे स्थूलाश्रुमुक्तावली ।
मूर्खः प्राणपतिर्विदेशरसिको धाम स्मरत्येव न
प्राणानेव जिघृक्षुरेष स कथं दानादिना शाम्यति । नरहरिः ।

तस्मिन् गतार्द्रभावे वीतरसे शुण्ठिशकल इव पुरुषे ।
अपि भूतिभाजि मलिने नागरशब्दो विडम्बाय। गोवर्द्धनाचार्यः ।

रेमे यस्मिन् मधुपपटली यस्य लीलावतीभिः
क्लृप्तो बालैर्बहुलमुकुलैः केलिकर्णावतंसः ।
तस्य क्रीडाकुरवकतरोरङ्कके दुर्निवारः
स्फारं मुञ्चत्यहह ? दहनोद्गारमङ्गारकारः । शम्भुः ।

पाथोनाथस्य पाथसा पूर्णैः पयोदपटलैः प्रभावं प्रथयन्ती पृथुलविप्रुट् प्रावृडुपैत् । जननीं दग्धुमुद्यतं ग्रीष्मं विस्फूर्जितेन तर्जयन्तो धराया दग्धं दह्यमानञ्च शरीरमुज्जीवयितुं समीरयाने सत्वरं धावन्तो मेघाः परस्परं सङ्घटिताः, क्वचन सृष्टवृष्टयो वसुधामेकार्णवप्रतिमाञ्च व्यधिषत । कणशश्छिन्नापि भूमिराषाढस्यामृतं निपीय स्मयमानाऽऽसीत् । इदमेव सर्वंसहायाः सेवाव्रतम् । भूमेर्नवं यौवनं पुष्पेषु रागीभूय परिमलीभूय चकाशे । प्रतिशाखं नवं जीवनपल्लवं प्रस्फुटितं धरा च रोमाञ्चितेव क्षुपोद्गमेन ।

सभ्यताया ज्ञानविज्ञानयोरुन्नतेश्च मूलं कृषिः । अस्थिमात्रावशेषा अनावासाः अवाससस्त्रस्तनेत्राः कृषकाः प्रफुल्लोद्गतनयननीरं मेघानैक्षन्त । अद्य स्थिराप्युद्विग्नेव प्रत्यैयत । सस्यसम्पन्नेषु क्षेत्रेषु तनीयसी सरला पद्या

सीमन्तमध्यरेखेव प्रैक्ष्यत। शस्यश्यामाया उन्मुक्तकुन्तलावलीव घासावली स्पन्दमानासीत्। परं विरहदग्धहृदयस्याङ्गारा इवेन्द्रगोपा उष्णोच्छ्वासैः सह तदुदरान्निरगमन्। उद्ध्वस्ताऽरण्यानी करणाधिपैः पीडिता जनतेव शोकाकुला मौनिनी।

ममापि मानसं तादृशैर्भावैरुद्भिद्याश्रुरूपेण नेत्रद्वारा निरैदविरलधारम्, निस्सीमाकाशेनैकाकारतामनुभविष्यदासीच्च भवद्दर्शनाकुलम्।

जलक्षालिता कलङ्किता ज्ञानलवदुर्विदग्धा धनमदान्धस्य वधूरिव निर्लज्जा दिगम्बरेवालक्ष्यत।

विचाराः स्वच्छन्दं चरन्तोऽवर्त्तन्त परमवशं शरीरं स्थिरम्। सायमभूत्। प्रतीच्या लज्जाऽऽरक्तमुखं विचुम्ब्य गुहामविशत् सूर्यः। अस्तङ्गते भास्वति तदनु सन्ध्याग्नौ चितायामिव वीतायां दिवसशोभायाम्, दग्धशेषेषु दन्तेष्विव भस्ममलिने वियति प्रतीयमानेषु नक्षत्रेषु, दिशि दिशि निश्यवसरप्रतीक्षिणः प्रसभकर्माणो धनिन इव प्रकटितविकटाकाराः कडकडशब्दैस्तर्जयन्तः पुरतापिन इव शालिग्रामशिलाश्यामप्रभाप्रतिमल्ला विडालाक्षाः श्यामा घनाः घनीभूय पार्श्वाण्याश्लिष्य पुनराकाशं पर्याच्छादयन्। क्षणेन स्वार्थिनः क्रौर्य्यपूर्णः सङ्कल्प इव गाढोऽन्धकारः सर्वतः प्रासरत्। यस्यातङ्केन क्लीबराज्ये शान्ता जनतेव तारा निह्नोतुकामाः स्वं तिरोऽदधुः। क्वचन क्षीणभानि भानि नैराश्यराशावाशाकणायितानीव प्राकाशन्त। अलिनीलं लोकलोचनलोपि तमो हन्तुमसमर्थः स्वमेव प्राकाशयद् गेहेनर्द्दी दीपः। नेयं मधुयामिनी न च मधुमयश्चन्द्रः। निर्निद्राहाराहं भवनस्याट्टे विचाराणां विस्मृत्यै मेघमालां पश्यन्त्यासम्। धूताध्वनीनमनस्सु प्रावृड्दिनेषु शशिशोकश्यामे श्यामामुखे प्रेममकरन्दाप्लुतां स्रजमायोज्य शनैश्शनैरभिप्रियावासं प्रयान्तीनां माद्यन्तीनां मरालगतीनां रत्नवलयावलीभङ्कृतानि हुङ्कृतानीव मां व्यतुदन्। वियन्मेघमालाभिर्धरा पयोदधाराभिर्दिशो तडिद्विलसितैर्वातावरणं वारिशीकरैश्च व्याप्यते तदा सन्तापातिशयः परमो जीवनाधारवियुक्तानाम्। निःश्वासच्छलेन तासां पवनास्त्राणि निरगमन्। इतश्च मेघजुष्टं झिल्लीघुष्टमकष्टदं दिष्टमवाप्य परस्पराकृष्टं तुष्टं संयोगिनाञ्चेतो हृष्टम्। पक्षिणां

विराविणः कुलाया अशाम्यन्। भ्रमणश्रमस्तान् विश्रमाय परामृशत्। क्वचन क्वचन खर्परालि (खपरैल) च्छन्नानि गृहाणि धूमेन प्रकाशेन च रहितानि प्रैक्ष्यन्त। यस्मिन् गृहे सायं न धूमो न च दीपो न तत् सुखस्यायतनम्। तत् क्लेशस्योत्पीडनस्य च चिह्नम्। तानि गृहाणि किशोरकटुकलहनिनादितानि श्मशानानि सवर्गविहितानि। आपिषेषु [आसमन्तात् पिनष्टि सः= आफिस] यन्त्रेषु क्षेत्रेषु कर्मशालासु वाणिज्यारेष्वहोरात्रं कर्मदृषदि पिष्यमाणो विश्रमक्षणे स्वोटजमागत्य क्षुधया शुष्यतः शिशून् शीतार्दितां बुभुक्षाकुलं बालं साश्रूल्लापयमानां (लोरी) मातरम्, नग्नां तरुणीं भगिनीम्, साधनविरहेणाचिकित्सितां रुग्णां पत्नीञ्चेक्षते तदा तस्य पाषाणायिते अप्यक्षिणी विपुलजले।

विचाराः प्रादुर्भूय विलिल्युः। श्रीमतां सूत्रं क्वापि नाध्यगमम्। उद्वेगः खेदो निर्वेदो बहुशः प्रादुरभूत्। विक्लवि मनो न क्वाप्यरमत। पक्ष्मपर्यङ्के शयानान्यश्रूणि भुवि विलुठितुं व्यग्राण्यभूवन्। विरहदग्धवधूनां यामिन्यः कल्पसमाः। जीमूतमालिनि नवविकाशशालिनि वर्षर्त्तौ तु कथैव का? नयनयोः प्रिये वसति निद्राप्रवेशस्य तु प्रश्न एव नहि।

शनैश्शनैर्वर्द्धमानवेगो वायुरागमिष्यतो निशापतेः सत्काराय वियत्क्षेत्रान्मेघसमूहं परिमार्जयन्निव चचार। अथ निशाचरीव विभावरी दिवालोकं जग्ध्वा कपालदलाभं चन्द्रमादाय चरितुं प्रावर्त्तत। जगतः पापं प्रेक्ष्य प्रतिनिमेषं चक्षुरुन्मीलयन्ति निमीलयन्तीव, अन्तर्दधति पुनरागच्छन्ति नक्षत्राणि क्रीडितुमारेभिरे। चन्द्रिका कौशेयमवगुण्ठनमिव मेघमपसार्य स्ववीक्षणेन विश्वमाह्लादयत्।

विदूरे वृन्दवाद्यध्वनिरश्रूयत। कश्चिल्लोकानन्दभैरवो विभवी विवाहात् प्राक् स्वपुत्रस्य वनाहरणीं समपादयत्। [वनस्थगुरुकुलेषूषित्वाधीतविद्यानां प्राक् गृहस्थाश्रमं प्रविविक्षूणां समादरोत्सवो वनाहरणी (वनोरी) निगद्यते [प्रत्यैयत यन्नास्य कुले कश्चन सद्विवाहितः। ये केचन विवाहितास्ते च घनेन व्यत्यासेन बलेन च्छलेन वा। अधुनास्य धनं प्रवृद्धम्। येन

कुलीनता क्रीता महत्त्वमधिगतं बलं छलञ्च समिद्धम्। अधुनैष जानानो यन्मादृशो दग्धकुलोऽपि विभववैभवात् सत्कुलेन सम्बद्ध इत्यानन्दोद्गारं सवाद्योद्घोषं बोधयतीव लोकं विभववैभवम्।

शतशो मानवा विभिन्नरचनासु तडिदुल्मुकं महाज्वाल (मुशाल) ञ्चादाय मध्ये मध्येऽचलन्। विभिन्नप्रान्ता विविधवेषा वादकाः सङ्घीभूय स्वस्वचमत्कारं कर्म दर्शयन्तोऽसङ्गतस्वरं कस्मा अपि ध्वनये स्फोटाय वादनायावादयन्। मध्ये चासीद् द्विरदवध्वां वरस्तदनु च शृङ्गारेणाधमितस्वर्गसुन्दरीणां पुरन्ध्रीणां मङ्गलगानम्। आदौ मध्येऽन्ते च सकलकामकुलायाः वेश्याः परित आसीज्जनसम्मर्दः। तासु गायन्तीषु वाद्यध्वनिरशाम्यन्नीरवता प्रासरत्, विरतासु च पुनरश्रूयत कर्णकुहरस्फोटको वाद्यध्वनिः।

आनद्धमृदङ्गयोर्महान् समावेशो ढक्काभेर्यानकानामाकस्मिकमैक्यं प्रचण्डविक्रमेण शरीरान्दोलनेन समं छमच्छमाघातः सप्तरङ्ग्याः झणत्कारो वृन्दवाद्यस्य बाधिर्यकरो घोषश्च पुनर्वायुमण्डलममन्थत्। ग्राम्याः पशवो यद्यभविष्यन् मानवानाममुना व्यवहारेण नितरां व्यसत्स्यन् परं मानवानां मानवतया सह पशूनां पशुतापि तत्र मृतासीत्, अतस्ते पदपद्यासु रोमन्थायमाना एवातिष्ठन्।

विविधा आकृतीराकलय्य शतशः शिशवो निद्रानन्दं विहाय मुद्रानन्दाय हस्तवाह्यशकटेष्वजृम्भन्त। लोकनिद्रां श्रान्तस्य समाजस्य शान्तिं रजन्या क्रोडाक्रीडे क्रीडन्तीं स्तब्धताञ्च विनाश्य भेषजप्राप्तनिद्राणां रोगिणां निद्रां विद्राव्य शान्तनिशायामविवेकगदापनयनाय शास्त्रौषधं रसयतां मौनेन मधुधारामिव वमतां गम्भीराध्ययनप्रवृत्तानां चायं पायं पायं चक्षुषोः पक्ष्मसु सततमाक्राम्यन्तीं निद्रामवरुन्धानानां लेखकानामध्यापकानां छात्राणाञ्च मनोयोगं वियोज्य धूलिमलाकीर्णेषु निरम्बरेषु शुष्कास्थिस्नायुषु विकलाङ्गेषु परिस्थितिपीडितेष्वसत्कृतेष्वभोजितेष्वीर्ष्याद्वेषाग्निमुद्दीप्य हन्त ! कमानन्दमनुबुभूषते निमिषायुष्को मुग्धो लोकः ?

अहह ? गम्भीरोऽपि समुद्रो दृप्तकल्लोलैस्तटस्थान् व्यथयत्येव। क एनं ज्ञास्यति ? को वा विभ्रमवैभवं परिच्चेष्यति ? परं स्फुलिङ्गः क्षणमप्युड्डीय

स्वं प्रकाशयितुं प्रयतते। भ्रान्तो जनो जगज्जनस्य रक्तं निर्दयं विनैवावश्यकता-माचूष्य शोकाक्रोशरवमुपेक्ष्य पौरप्रतिष्ठानस्य कर्दमवाहिनीषु प्रणालीषु तस्य गण्डूषान् करोति। एको म्रियते परस्यापि लाभो न।

सत्यं विश्वं विचित्रम्। यत्र नरो नरहत्यापराधे कारायामाजन्म वास्यते स एव समरेषु नरसमूहं निघ्नन् साधुवादं पुरस्कारं पदोन्नतिञ्च लभते। सिंहः क्षुच्छान्त्यै कञ्चन निहत्य तर्पितोदरः परानक्लेशयन् शेते, परमयमहिंसकम्मन्योऽक्षुन्मानवो वनं नगरं प्रान्तं राष्ट्रञ्चापि हन्तुं निहत्य खगोलं प्रविविक्षति। श्वा श्वानं प्राणैर्वियोजयति न च खादति परमयं विज्ञानवेत्ता तरङ्गतरलायुः शरीरकुटीरे मुहूर्त्तपान्थान् प्राणान् विदन् विविधदार्शनिकाचारपथे प्रवृत्तो लोकवञ्चनाय धर्मधुरन्धरो मानवः किं न्यूनः शुनः? आनन्दस्य परमोऽभिलाषस्तस्मै श्रमश्च सर्वत्र परं तस्य कणोऽपि क्वापि नहि।

तेषामनतिदूर एवासीत् केषाञ्चिद् यूनां समूहः। पौरप्रतिष्ठानस्य मार्गा-श्रयिणो दीपा एव तान् प्राकाशयन्नतः प्रकाशाय ते न प्राबध्नन्। दात्रायोघना-(दांतीहथौडा) ङ्कितध्वजा इमेऽपूर्वेणोत्साहेनावदन् "अस्मद्दायो देय एव" "अत्याचारो हेय एव" "सति पथि लोको नेय एव" "दुःखं ध्वंसो जेय एव" "राष्ट्राचारो ज्ञेय एव"। क्रोशव्यापिनी पङ्क्तिर्गगनघोषी घोषश्च सर्वांश्चतुष्कर्णान् (चोकन्ना) श्चकार।

शनैर्दूरीभूते तस्मिन् पुनराकर्णि ढक्काढक्कारः पुनरेको वरो वडवा-मारूढो राजमार्गं विदलयन् व्यलोकि। अनल्पकल्पना अश्वमत्स्यहंसमयूर-रूपेण सज्जिता मरुत्तराः शनैश्शनैस्तदग्रेऽगच्छन्। दूरवीक्षणेनाद्राक्षं स्वय-मेव निर्दिशन्तं वरम्। गर्तगतौ कपोलावेकदन्तं दशनशून्यमास्यं कण्ड्वा-क्रान्तं बिल्वफलमिव पक्वं निष्केशं शिरः प्रकटस्नायु शरीरञ्च तस्य वय उपषष्टि स्पष्टमघोषयन्।

हन्त! हेमन्तेन पद्मिन्याः संयोगः काश्मीरवासितवाससः कर्दमे निक्षेपः। कस्याप्यर्थसमाधिर्भूतो भवेत्?

विचारमग्नाऽकस्मादुभयतो भवनमश्रौषम्—"वदत हरिम्, हरिं वदत, भजत हरिम्, हरिं भजत"। "रामनाम सत्यम्, उक्ते सत्ये साद्गत्यम्" मृतस्य दाहसंस्काराय व्रजतां सुहृदां घोष आसीत्।

शवः सुमनोमालाभिरावृतः पुष्पाणि कार्षापणानि धानास्तूलं रजतखण्डाँश्चावकिरद्भिः सभाजितः पथि प्रसार्यमाणप्रभावः परिजनैः परिवृतो नमस्कृतोऽनीयत।

कीदृशो व्यामोहो वञ्चना मिथ्याप्रदर्शनञ्च ? यो न कदापि वार्द्धके सत्कृतः स्नपितो भोजितः पूजितः शीतातपेभ्यो निवारितः सोऽधुना सत्क्रियते। खादिना रहितः शालेन भूष्यते। घृताक्तेन भोज्येन कदापि न भोजितो घृतेन, चन्दनेन कदापि नार्चितश्चन्दनेन च दाहिष्यते। ही मरणेऽपि हावः ?

शिव ! शिव ! केशकलाकुशलाः करशाखा अद्य दग्धाः स्पर्शेन कामं प्रकामं प्रकटयन्ती त्वक् काष्ठक्षता परिमलेनालं लालिताः केशाः शुष्कशष्पवद् भस्मिता भविष्यन्ति प्रियेण साह्लादमालिङ्गितं वक्षश्चाङ्गाराक्रान्तम्।

हन्त ! मृत्युः सर्वस्वमपहरति। महाशिलारचिता लोहद्वाराः प्रासादा अनुचराः सेना प्रियाः परिजना भूर्वृन्दवाद्यानि च न तं रोद्धुं समर्थानि। शिशिरादूर्ध्वं वसन्तस्तस्माच्च ग्रीष्मो यथापूर्वं समेष्यति परं मृतस्य पुनरागमनं नहि। अहह ? मानवो म्रियते यदा स जीवितुं जानाति। मानवोऽस्तमेति यदा स जगज्जेतुं जागर्त्ति।

परमस्मिन्मृते जगति कापि न्यूनता न भविष्यति क्षणं वा भवेत्। निशि नक्षत्राणि भ्राजमानानि स्थास्यन्ति पुनः प्रभातं पुनः सूर्योदयः पुनश्चन्द्रोदयः पुनः समुद्रतरङ्गेषूद्वेलनं पुनर्नदीषु कलकलः पुनरुपवनेषु विकसनं पुनश्चोल्लासः सर्वत्र भविष्यति। परमेनं न कोऽपि स्मरिष्यति। हन्त, विचित्रो विश्वस्य भावः।

तथापि बुद्धिमन्मानी मानवः प्रभुं वाचा वञ्चयितुं प्रवृत्तः। स्पष्टं स घोषयति रामनाम्नः सत्यतां सत्यव्यवहारे सद्गतेर्विश्वासञ्च, परं व्यवहर्त्तुं नापेक्षते। विस्मृतहरिर्लोकस्तस्य सत्यतां घोषयति तद्विपरीते च कर्मणि सर्वदा सन्नद्धस्तिष्ठति निष्कोशक्षुरकरः। मरणोत्तरं केवलं नामो-

च्चार्य सद्गतिं प्रापयितुमभिलषति पदचिह्नं विद्ध्वा लक्ष्यं संहर्त्तुं प्रयतते च। विकटा विडम्वना प्रकटो व्यामोहः।

अनतिदूरे प्रासादे क्षणोत्तरं पुनरुद्भ्रमविधमामश्रौषम्। दूरवीक्षणेनाद्राक्षं यत् कश्चन वृद्धासहायः काञ्चन वस्त्राबद्धमुखीं रज्जुबद्धां जलेनाभ्युक्षति, इति। व्यचारयं यत् काञ्चनोन्मत्तां पतनभीताः गृहिणो रज्जुनाऽऽबध्य जलेन सिञ्चन्ति, इति। परं क्षणेनाग्निज्वालां दीप्तां वीक्ष्य निरचैषं यत् काचन वराकी पृथ्वीतलीयं (पेट्रोलियम) प्रक्षिप्य दाहितेति। दैनिकाचारतां तस्य विचार्य प्रभञ्जनजवं गन्तुमबोधयं दूरालपेनापन्नपदं (Duty incharge) जनसेवास्थानाध्यक्षं (Police Station) चिन्तितचेता भज्यमानया निद्रया रात्रिं व्यत्ययापयञ्च।

पक्षिणः कुलायकुलेषु कलं रुवन्तोऽमाद्यन्। दृष्टचरस्य संसारस्य पुनर्निरीक्षणाय तेषु तादृशी विकलता कथमासीत्? नाज्ञासिषम्। काठिन्येनान्नकणानितस्ततो जग्ध्वाऽपि जीवनरक्षणस्य पराकाङ्क्षा तेषां कथं बलीयसी? तत्र प्रवेष्टुं कः प्रसादः?

लोकमुद्बोधयितुं महान्धकारं विदार्य्य लोकस्य द्वारमुपेतं तेजः। तेजोलहर्य्यस्तमस्तरलं विधायाज्ञातगुहासु प्रवेशयितुमबाधन्त, परं तथापि क्वचन क्वचन गृहकोणेषु लीनमासीदेव तत्।

अहं त्वरया नित्यकृत्यं समाप्य कार्यालयं गत्वा नैशवृत्तस्य विवरणमवालोकयम्—"यद् रात्रौ द्वादशनदनसमये शरन्मार्गस्य शून्यसङ्ख्याकगृहाद् गृहपती रैभद्रो धनपतिरसूचयत् यन्मम पत्नी चायपानकं कर्त्तुं मृत्तैलचुल्ल्यां (स्टोव) पृथ्वीतलीयं (पेट्रोलियम) निक्षिप्य दीपशलाकया प्राज्वालयत्तावदेव विरामदेवातप्राचुर्य्याद्दुत्थितोऽग्निस्तस्या वायुलोलां शाटीं गृहीत्वा चिन्त्यां स्थितिञ्चकार शीघ्रं समायात" इति।

वयमगमाम। धनपतेर्गृहचिकित्सको दुर्घटनाग्रस्तां प्राणैर्वियुक्तामसूचयत्। शवः शासनशवच्छेदस्थलं परीक्षितुं प्रहितः। विवरणेन पर्यवेक्षणेन यशसा प्रतिष्ठया चेदमेव सत्यं यत्सावश्यं चायनिर्माणकालेऽग्निमाससाद।

न कस्यापि दोषः। शवः परीक्षोत्तरं पत्ये दत्तः। विवरणमधिकारिणां प्रेक्षणायाऽऽवश्यककार्याय प्रेष्यते" इति।

यद् वृत्तं ज्ञातुं मयैकैकं क्षणमेकैकं युगमिव शनैश्शनैः सरन्महता धैर्येण यापितं तदेतदेवंविधं विलोक्य क्षुभिता क्रुद्धा स्विन्ना कम्पिता सर्वां स्थितिमध्यक्षाय न्यवेदयम्। भ्रष्टाचारः शिष्टाचारतां गत इति मन्वानः सोऽवोचत्। पुञ्जकोऽ (फाइल) त्रैवास्तामन्यथानुसन्धाने बाधा भवेत्। चतुरा चरवीरा चास्मै कर्मणे योज्येति।

सर्वां स्थितिं विशद्य तारामवोचम्—परान् सेवमानस्य जनसेवकस्य गुणोदयः कुमुदान् विकासयितुः कुमुदेश्वरस्येव। अतोऽस्मै कार्याय सेवाचारचतुरश्चरो योज्यो योग्यः।

कृष्णतारा—उत्सङ्गसङ्गिनि बालके तदन्वेषणं किमु? मयि स्थितायां का परस्यावश्यकता? हैमे भाजनेऽपि न व्यञ्जनसम्पत् स्वयमुपतिष्ठते।

अहम्—त्वां नोपयुक्तां मन्ये। बलबुद्धिसापेक्षं विपत्पूर्णञ्चादः कर्म।

कृष्णतारा—निर्भयमादिश्यताम्, अनुशासनप्रियः प्राणापेक्षया कर्त्तव्यमर्हत्तमं मनुते। पुनश्च पुरुषाणां समक्षं साहसेनातिमानुषं कर्म कर्त्तुं स्त्रियः सदैवाकुलाः। पुरोगमनाय तासां चेतः सचेतनम्।

अहम्—ह्रदे तरणपटुर्वटुः समुद्रं कथं तरेत्तारे! न रेणुकणः शाणघर्षणक्षमः। सा किल शक्तिर्मणेरेव।

कृष्णतारा—तत्तु तस्य साफल्यमेव साधयति, पूर्वमवकत्थनेन किम्? नाम्रभक्षणे पादपगणनं गुणावहम्।

अहम्—यादृशी तवेच्छा। परं नाश्मना तरितुं पार्य्यते पल्वलमपि।

कृष्णतारा—नलप्रयुक्तेनाश्मना समुद्रोऽप्युत्तीर्णः। अथ च जीवनस्य सत्य आनन्दः प्रसादो वा नवीने परिवर्त्तन एव न पाषाणायिते जीवने।

अहम्—शिवः सफलस्ते व्यापारोऽस्तु।

× × × ×

कृष्णताराऽधिकमधिकं जनैः सम्पृञ्चन्त्यासीत्। वीरविगाह्ये कर्मणि प्रेरितोदसहत। श्रीमन्तमन्वेष्टुं गरीयस्युत्सुकता तस्याश्च तस्यासीत्। क्वापि कदापि प्रेषिता सा नाविभेत्।

पाठशालीयमध्ययनं समाप्य विद्यालयप्रवेशयोग्यामध्यक्षस्य पुत्रीं सद्विद्यालये प्रवेशयितुं कृष्णतारां प्रैरयम्। सप्ताहानन्तरं निर्विण्णा विववार सा।

"सप्ताहेन वीक्षितेषु सप्ततिविद्यालयेषु नाभूत् कोऽपि प्रसादकः। प्रथमं निकटस्थामादर्शशिक्षणशालामगच्छम्। तस्याः प्रतिमासं शतमुद्राः शिक्षणशुल्कं पञ्चाशद्वेषशुल्कं यतः प्रतिदिनपरिवर्त्तनीयो धौतो लोहापीडितो वेषस्तयैव प्राबध्यत। शतमुद्राः प्रातर्मध्याह्नाशस्य दशमुद्रा यातायातव्ययस्य दशमुद्रा अभ्यासपुस्तिकामसीमसीशोषकलेखन्यादीनां पञ्च स्वास्थ्यनिरीक्षणस्य पञ्च क्रीडायाः पञ्च मनोरञ्जनस्य। पुस्तकशिक्षणमत्यल्पम्। विशेषतः शिक्ष्यते स्म सभ्याचारः। यथा "कथं हसितव्यम्, प्रिये समेते गते सख्याः मातुश्च समीपे एकस्मिन् प्रिये परित्यक्ते नवे चासादिते प्रियद्वयस्य समक्षं सहस्रशो यूनां मध्ये महाविद्यालये सर्वाभिलाषुकं कथं हसितव्यम्? अक्षिचिबुकौष्ठकपोलव्यापारैः कथं व्यवहर्त्तव्यम्? वलयितहसनम्, आकुञ्चितहसनम्, साभिप्रायं हसनम्, इत्येवं शतशो हसनगमनवलयनभेदाः। उद्देश्यञ्च कन्याविवाहसुगमीकरणं पुरुषपरिचालिते समाजे स्त्रीणामुच्चैः प्रापणञ्च। "चलनं कीदृक्? वलयितवीक्षणं कीदृक्? मत्त्तरतो मुखं निःसार्य हस्तनेत्रस्पन्दनं कीदृक्?" इत्यादिभिः प्रकारैः प्रचुरलाभदे सम्मानद आनन्ददेऽधिकारिप्रभावके चास्मिन् शिक्षोद्योगे पञ्चाशीत्युत्तरशतद्वयमुद्रा आदाय भुवनमोहनव्रताः समपाद्यन्त भारतीयाः पतिव्रताः कन्याः। कन्याः एव ताः कथनीयाः, यद्यपि नाभ्यधस्तादुदरे किक्किसाः श्वेताभ्रेतरेखाश्च तासां कौमारमुपाहसन्।

कांस्यघण्टिकां दण्ड आजघान। अध्यापिकानां छात्राणाञ्चावकाशहर्षः कर्णकुहरमपूरयत्। अहमहमिकया निःसृतास्ता अहमपि। विद्यालयाद् बहिः सहस्रशो युवानो द्विचक्रत्रिचक्रमरुत्तरवाहना नराश्ववाहना अवाहनाश्च धौतप्रसाधितवाससो द्वारदेशमुपातिष्ठन्त। एकतः पादयोर्नूपुरैर्वेषवैचित्र्यैर्घण्टाध्वनिना लोकस्य ध्यानमाकृष्य जम्बीरचूषिकामालुकपर्पटं स्विन्नं चणकमुद्गं विक्रीणानां यूथम्। मध्ये मध्ये च मिश्रिता आसन् मक्षिकाभिः सह भिक्षुकाः।

भिक्षुका जानन्तिस्म यत् काचन सुन्दरी साभस्य समीपमुपैति तदा साभः प्रसीदति याचनाय स एव राजयोगः ।

स्तिमितायताक्ष्यः स्मितविकसितानना अमितमोदाः प्रियालोकफलं वेषमायोज्योपेताः सुन्दर्य्यः साभानां नयनानि विकासयामासुः । एकैकां सत्कर्तुं स्वेन सह नेतुमुपदशा युवानस्तासां प्रसाधनमञ्जूषाः पुस्तकानि वादातुमाचक्रमुः । भिक्षुका भिक्षुक्योऽपि साभानानि ददृशुः । साभानां हस्तौ पक्षकोटरं प्रविष्टौ यत्किञ्चिन्निःसृतं तदेवोपेक्ष्यादुः प्रकृत्या दानशीलतां प्रदर्शयन्तः ।

अस्मिन् सङ्घर्षे साफल्यविवस्वान् विरलानामेव भाग्याकाशे चकाशे । केचन सन्धायोपेताः पदातयो यानेन वा सत्वरमेव जग्मुः, केचन विवादेन विनिश्चित्य विलम्बेन, केचन दुर्भाग्यदग्धा निःश्वसन्त एकाकिनोऽपि। केचन गलमाला इव लम्बमाना बाला विहाय पराः काश्चन लम्वबाला आमृश्य ययुः । काचनानिच्छया गृहं गन्तुं बाधिता—यतस्तां नेतुं दासी समेता—हस्तस्थितं प्रसर्पत्परिमलं पुष्पं विमर्दयन्ती परामवदन्मुखसम्मुखं साकूतम्, "याहि याहि रात्रिमहाविद्यालयस्य समय उपस्थितः, अहन्त्वद्य गृह एवाध्येष्ये ।

एवं ता अशोकजाः सङ्घमित्राः प्रज्ञापारमिताः वुद्धाबुद्धदैवैः सङ्गताः । चारित्र्यं संयमस्त्यागः प्रतिभाविकास उद्यमशीलता स्वावलम्बनमशान्तमनस्सु शान्तेरापादनं परोपकारः शक्तित्रयस्य चरमोत्कर्षताऽऽपादनं सुप्तशक्तीनां जागरणं विकासश्चेति शिक्षाया उद्देश्यानि । परं व्यापारवृत्तयो विकारग्रस्ता विद्यालया न चरित्रस्य तपोभूमयोऽपितु तमोभूमयः । तस्करलोको विद्यालयादिलोकोपयोगिसंस्थानां नाम्ना मृत्स्नां लोहमन्यान्युपकरणानि चाल्पमूल्येनानल्पान्यादातुम्, तेषां चतुर्थांशेन ता निर्माय शेषाणि द्वित्रगुणमूल्येन विक्रीय प्रचुरं धनं यशो विषयतुष्टिं सहानुभूतिं परिचयञ्चार्जयितुं मुग्धं लोकं प्रभावयति। उत्कोचभावितेभ्यो लोकरत्नेत्याद्युपाधिमधिगच्छति च ।

एतादृशा विद्यालयाः कोमलभावनानां बालानां मनस्सु विलासं वासनां वा वैषयिकीं स्थापयन्ति स्वोद्देश्यपूर्त्यै ।

अथापरं गता सर्वतः प्रथमं पृष्टा "अपि कन्या कमनीया ?" साभस्य पुत्री सुन्दर्यपि वर्णेन श्यामैव। सौन्दर्यञ्चात्र वर्णप्रधानम्। नासा दर्दुराभा भवेत्, औष्ठावुष्ट्रस्येव चक्षुषी उलूकाक्षिमुकुले इव केशाः शूकरस्येव, परं वर्णं गौरम्भवेत् सैव सुन्दरी। अतोऽध्यापिकया प्रवेशानर्हा घोषिता सचिवस्यादेशात्। परत्रापि सैव बाधा। परं शिक्षिका साभिप्रायमवोचत् "प्रवेश आवश्यकश्चेत्सचिवो विजन आलपितव्यः"। अभूमिरियं वचसामपीति मन्वाना बहिरेत्य वृद्धायै विद्यालयदास्यै मुद्रां ददत्यपृच्छम्, "कश्चनोपायो विद्यते सद्विद्यालये प्रवेशस्य" ? सोवाच "शोणितशोणितो मृदुलमृदुलो न सर्वः किलेन्द्रगोपः। भद्रे ! तवागमनमप्यत्र निन्दावहम्। सदाचारमूलको विद्यालयोऽत्र नास्ति। सम्पन्नाचारां बालां दिदृक्षसि चेद्वनस्थलीमेव प्रवेशय।"

एकस्मिन् बालाविद्यालयेऽध्यापिकया भृशमागृहीता सचिवमपश्यम्। कुटीत्रयमध्यगर्भे शान्त एकान्ते निर्झरनिगीर्यमाणपरिमलिशीकरे नियन्त्रितशीततापे प्रकोष्ठे पञ्चाशद्वया अपि तदर्द्धवया इव प्रतीयमानोऽजाशालायां रक्षकीभूतः सिंह इवातिष्ठत्सचिवः। श्मश्रुशून्यं मुखं प्रलम्बिनः कुटीत्रयं परिमलयन्तः स्कन्धसर्पिणः कुञ्चीकृताः केशाः, रम्यं सूक्ष्मं कञ्चुकम्, दन्तयोर्मृगमदगन्धि ताम्बूलम, औष्ठयोर्मधुरिमा, चक्षुषोः कज्जलस्य रेखा, पयःफेनसितं परमसुखं धौतं वासः पादयोः स्वर्णसूत्रस्यूतं चतुष्फलम् [वातस्पर्शः सौन्दर्यं पादस्वास्थ्यं अवमोचनोन्मोचने सौकर्यमिति चत्वारि फलानि यस्य तत्= चप्पल] तस्य शरीरं प्रासाधयन्।

एका कुन्तलस्खलत्कुसुमा श्लथबन्धना षोडशी तन्त्रीमादाय शनैश्शनै रणरणति स्म—"प्रियवर, एहि निवस मम मनसि"। तस्या आजानुलम्बिनो यन्त्रेण कलया वलयिताः शिखिपिच्छगुच्छच्छवयः केशाः दुग्धदिग्ध इव स्निग्धमुग्धोऽपाङ्गः पत्रोपमौ रक्तावौष्ठौ वर्त्तुलो हनुः बृहती चक्षुषी कीरनासा तेजोमयं रूपं तामनिन्द्यसौन्दर्यामघोषयन्। सचिवः पर्यङ्किकामधितिष्ठन् तस्याः स्कन्धे हस्तमाधायातनुरसध्यानालसिततनुरेकान्तवासस्य सरसेऽक्षयेऽनिर्वचनीयानन्दे निमग्नो निमीलितनयनोऽवर्त्तत।

प्राशायां मयि रुद्धे च रणरणके मामुन्मीलितनयनोऽपश्यत्। कक्षायाः शान्तनिर्जनोऽवकाशस्तस्य मानसं पुलकितं स्पन्दितमकार्षीत्। षोडशी च कदाचन स्रस्तां वेणीं कदाचनाशङ्कितविशृङ्खलं सीमन्तप्रान्तमाभुग्नां सीमन्तस्रजञ्च, कदाचन प्रसृतां कज्जलस्य रेखां कदाचन च्युतमधरशोणिमानं सज्जयन्ती कदाचन प्रसभमुद्गन्तुं वल्गन्तौ केशरिकिशोरकाविव कुचावाच्छादयन्ती कुचमुखनखोल्लेखरेखाः स्फुटं प्रत्याययन्तीं सूक्ष्मां पिच्चितां कञ्चुकिकां कदाचन कनकशाटीसीमां परिष्कुर्वती परवामाक्षीसमागमेन क्षुभितेवौष्ठं निःसार्योदतिष्ठद्वीरवाणिः वीणापाणिः। संयमिनां कचानां शैथिल्यं हठोत्कुण्ठितस्वरः कण्ठः सवेगश्वासा नासा क्षणाय स्तब्धं वपुश्च तस्याश्चरित्रं निरदिक्षन्।

अथ सा शृङ्गारादर्शमासाद्य करकोशादलक्तकं तूलिकाञ्च निःसार्यौष्ठच्युतामणीयसीं शोणरेखां कपोलात् स्खलितं रक्तावचूर्णनं कङ्कतिकया केशांश्च संस्कृत्य दर्पणे स्वसौन्दर्यं सूक्ष्मेक्षिकया विभाव्य विश्वस्य योद्धुं सज्जेव शृङ्गारसमरवीरा शिथिलं नीविबन्धं मुहुर्मुहुर्विमुच्य बध्नती स्वाधरं दशन्ती वीणादण्डं चुम्बन्ती उदीर्णतारुण्या सासूयमेकतः प्राचलत्।

विषादविच्छायवदनोऽपि सौन्दर्यं प्रत्याकृष्टोऽपि सचिवो गाम्भीर्यमाधाय स्वकीयं भावं तिरोदधन्निमिषेणोत्थाय बहुकालं कृततपस्यः साधकोऽभिलषितं वरं दातुमुपस्थितां देवीमिव मां निर्वर्ण्य झटिति मम हस्तं प्रेम्णाऽऽबध्य स्वपीठ उपावेशयत्।

पारिजातीयमिव परिमलं मद्यताम्बूलगन्धं प्रसारयन् सोऽवदत्—"भवत्यध्यापयितुं समेता किम्? स्वागतम्। सौभाग्यं नः परमं यदत्र भवादृशीनां पदारविन्दं विलसिष्यति"।

—"अहमेकां बालिकां प्रवेशयितुं समेता सचिव!"

—"बालिकां प्रवेशयितुम्, कुत्र सा?"

इति वदत्येव सचिवे मुख्याचार्या तामानिनाय। उपाभावस्वरूपात्तस्या वाससः कञ्चुकीवलयः प्रत्यक्षमैक्ष्यन्त। सचिव उत्तानिताभ्यां नेत्राभ्यां बालिकां निरीक्ष्यावदत्—

"राजहंसीषु वायसी अप्सरस्सु गर्दभी कथं स्थास्यति भद्रे ?"

अहम्—सर्वः कथयति सद्गुणोऽर्जनीयः परमः सुखसाधकः। न स्वर्णं न च सुवर्णम्। भूरिदुष्प्रभावा क्षुद्रा भावा हेयाः।

अधुनैव प्रविशन्तीं परां बालां वीक्ष्योद्भ्रूः सचिवोऽध्यापिकामवोचत्—"वेत्राघातद्वयेन करपल्लवी मण्डयास्याः। कीदृश्यसभ्यता ?" मां सोऽवदत्—"भ्रान्तो वक्ति। अत्र तु सद्गुणाः परिमार्जयन्ति सुवर्णञ्च विकसति। सद्गुणेनाध्ययनेन च जन्मजातो विकारो नापनेयो विश्वविभासिके (नूरे जहाँ) क्षारेणेङ्गालकस्य कालिमेव। स्यान्नाम त्वं विद्यालयं सेवितुमुत्सुका चेद्बाला प्रवेश्या। मासे सकृदपि भवत्याः स्वागतं यथेच्छञ्च श्रमफलम्"।

अधररसं जीवनमरौ निषेक्तुं विकल इव स उदतरत्।

अहम्—मासे सकृदागन्तुं शक्यते। बालिकां श्वः प्रातरानेष्यामि।

सचिवः—अपि भवती विवाहिता ?

अहम्—एतत्तु मम सीमन्तसिन्दूरमाख्याति।

सचिवः—अये ! असङ्ख्याता विधवाः कुमार्यश्च सीमन्ते सिन्दूरमायोज्य गर्भाशयक्षालनाय परिवारवियोजनकक्षं विशन्ति, परावर्त्तमानाश्च धौतशिरसः।

"तारे ! तदा सिन्दूरमायोजितमेव किमर्थम् ?" अहमपृच्छम्।

कृष्णतारा—सिन्दूरं विवाहितायाश्चिह्नं मत्वा परवस्तु विचार्य लोकोऽल्पं दुष्प्रेक्षते।

ततः सचिवं नमस्कृत्योदञ्चितरोमाञ्चनिचया वेपमाना प्रत्यागच्छन्ती महाचार्यमुखादश्रौषम्—"अनाघ्रातं पुष्पं वर्त्तते, अस्मै कार्याय पुरस्कारोऽपि योग्यो भवेत्"।

सचिवः—सन्ध्याया रागे इव स्त्रियाः सौन्दर्येऽपि विविधा किल मोहकता।

वस्तुतः स्त्रियो धात्रा मनसा निर्मिताः पुरुषाश्च हस्ताभ्याम्। रूपकूपोऽयं सावधानं रक्ष्यः पुरस्कारस्य का न्यूनता।

महाचार्या—परमियं परमा भामिनी प्रतीयते।

सचिवः—वयमपि हठकोपाचार्याः।

न स्त्री कलां न ज्ञानं न च प्रतिभामधिगच्छति परं प्रेरितापि, साधिगच्छति केवलं प्रेमाभिनयमप्रेरितापि जगदाक्रष्टुम् ।

अथाहं बहिरेत्य विद्यालयदासीं मुद्रया सम्भाव्यापृच्छम्—"केयं दशा" ? सोदतरत्—"सेयं तारिका नाम्नी दारिका सचिवकृपाप्राप्तपुरस्कारा कस्यापि धनिनः स्त्रियाः सुता । एतस्या विद्यालय एजते एजमानश्च तिष्ठति । शिक्षाशाला दुश्शीलैराक्रान्ताः लोकश्च चिन्तयितुं निरवकाशः । गणगौर्य्यो शीलविरामा रामाः सचिवेन सन्धायासमसौन्दर्य्याः शालासु प्रवेष्टुमर्हन्ति । ससम्मानं परीक्षासूत्तीर्णा अपि सावमानमर्द्धचन्द्रभाजो भवन्त्यसुन्दर्यः । इति

अहम्—एताः पितृभिः पुत्रैरुच्चचरित्रा अभीप्स्यमाना विदुष्यो द्विशतीं त्रिशतीं प्रतिमासं लभमानाः कथमदोऽनुचितं चरन्ति निशान्तचारिण्यः ?

दासी--क्व द्वित्रशतम् ? मासान्ते त्रिशती लब्धेति चिटिकायां हस्ताक्षराणि कारयित्वा पञ्चाशन्मुद्रा अर्पयति सचिवोऽद्यतनसंस्थासञ्चालनचतुरः, याः प्रसाधनेषु प्रयान्ति । कस्यैचन काञ्चनवर्णायै शतम्, यां स सर्वैः सदस्यैः परिचितां कारयति ।

प्रभे ! कथङ्कारमत्र कन्यानां सुवृत्तता ? विकटः कालो विलक्षणो व्यामोह आश्चर्यकारि चरित्रपतनम् ।

अहम्—खेदः परमः । हन्त ! अत्याहितम् ।

अस्तु, धनपतिपत्न्यै किं कृतम् ?

—तदपि श्रावयामि ।

तद्दिनोत्तरं प्रातर्धनपतेर्गृहं जिज्ञासमाना द्वाःस्थमपृच्छम् । परं स उदतरत् साभोऽधुना निद्राति पुनरायाहि । परं परः प्रतीक्षकः सत्वरमुपेत्य तस्य विच्युतिं शोधयन्नब्रवीत् "किमाचरसि जाल्म ! अपि न जानासि ? युवतिरस्ति कविकल्पिता नायिकेव सुरूपा च । एतादृशीमेव भद्रमहिलां वीक्ष्य साभो हृष्यति पदमुन्नयति च । अतः प्रविशन्तीमनुजानीहि' । ततस्तेनाज्ञप्ताऽविशम् । धनपतेश्चतुर्दशवर्षदेशीया भगिनी चन्द्रकला दृष्टिपथमुपेता न सुन्दर्य्यपि रूपगर्विता । यौवनस्पर्शमणिर्देहलोहं सुवर्णयति । वसन्तस्यागमनगन्धमाघ्राय नीरसास्तरवोऽपि परिमलपल्लवैर्लोकमाकर्षन्ति ।

अथ कुन्देन्दुतुषारहारधवलाम्बरां मामवलोक्य विस्मितायां जिज्ञासमानायां तस्यां न्यवेदिषं यदहं सङ्गीतमध्यापयामि। अश्रौषं यदत्र कश्चन गुणिगुणज्ञो निवसतीति समागच्छम्।

चपला चन्द्रकला त्वरया हरमनोयममादायावोचद् 'गीयतां किञ्चित् ?'

शान्तं प्रातः। मधुरः स्वरो वायुमण्डले शनैश्शनैः प्रासरत्। गानवाद्य-ध्वनिवीतनिद्रः शयनकक्षान्निःसृत एव धनपतिर्जपोद्विग्ना तन्माता मदिरामन्दवीतव्रीडा क्रीडन्ती स्वप्नराज्ये विश्वमोहिस्मितेन वेणीपुच्छं सहावं भ्रमयन्ती स्रस्तमवगुण्ठनमुपेक्षया सारयन्ती कुङ्कुमपङ्कपिञ्जरा कमनीयकान्तिश्चपलसुन्दरी च तत्रोपेयुः। चन्द्रकला परस्परं पर्यचाययत्। स मामध्यापिकां नियोक्तुमसज्जत। प्रतिदिनं घटीपञ्चकमध्यापनं मासे पञ्चशत्या स्थिरीभूतम्।

"—अन्यस्य वचोऽपि श्रवणीयं किञ्चित्, श्रीमानपि नितरां सरलः श्रुतिभेदकैः 'आ आ' इत्यालापैराकृष्ट एव। परमज्ञातकुलाचारावासा एतादृश्यो विधवाकृतयः कथं प्रवेश्याः ?" चपलसुन्दर्यवोचत् "प्रमाणोपेतानामध्यापिकानां किमु न्यूनतोपेता कलङ्कितायाम् ?"

चन्द्रकलायां कातरतरललोचनायां मातुर्भ्रातुश्च मुखं सतृष्णं पश्यन्त्यामहमवोचम्—

सत्यमेव गृहस्वामिनी वक्ति। यदि न रोचते गृहान्तरमाश्रयिष्ये। आवश्यकताग्रस्तेन क्वापि भृतिस्तु कार्यैव। देवस्य गृहं गुणिषु गणनीयमिति कृत्वाऽऽयाम्। मद्भाग्यमधुना हस्तगतमपि स्पर्शमणिमपनिनीषति चेदस्तु, भृतिस्तु भवदाशिषा लप्स्यते परं कञ्चन गुणज्ञं प्राप्स्यामि न वेति सन्देहः। अस्तु, कष्टाय क्षमां भिक्षमाणाया औदार्ययाभारं बिभ्रत्या गृह्यतां प्रणतिपूतः श्रद्धाप्रसूनाञ्जलिः।

गन्तुमुद्यतायां मयि पुलकितो धनपतिरुवाच—पूर्णेन्दुसुन्दरवदनाच्चन्द्रिकेव सुधास्यन्दिनी मानसोल्लासिनी परमस्मान् प्रीणाति ते रुचिरवचनार्चिता सरस्वती। इयं मम सचिवा न गृहस्वामिनी। भवती स्वकार्यं करोतु स्थान-

स्यासौकर्यं चेदत्रैव वसतु। अस्मिन् महति प्रासादे वयं द्वित्रा एव स्मः। असौकर्यान्तरेऽपि वयं सूचनीयाः।

"श्रीमतामकल्प्यां कृपां गुणज्ञतामपरिचितेऽप्यात्मीयतामधिगम्य प्रसीदामितमाम्। चन्द्रकलामहं परमप्रेम्णांऽध्यापयिष्यामि। आवासस्यासौकर्ये कं नाम भवद्व्यतिरिक्तं सूचयिष्यामि"—सादरमहमुदतरम्।

चन्द्रकला मनोयोगेनाध्यैष्ट। सङ्गीतं तन्मातरमप्याचकर्ष। एकदा प्रफुल्लमानसा चञ्चला चन्द्रकला मामवदत्—

भ्रातुभार्या न जीवन्ति। त्रिंशद्वर्षो भ्राता सप्तधा विवाहितवान्। सर्वाः कोकिलकलभाषिण्यः सद्गुणा रूपवत्य उत्तमकुलजलधीनां रत्नान्यासन्। भवत्यपि स्पृहणीयगुणार्हणीयरूपा भ्रातुर्भार्या स्याच्चेदावयोरावयः स्थायी स्यात् सम्मेलः।

"मन्दभाग्यो नापूर्वं सुखमश्नुते। एतत् किल मम मनोरथानामप्यभूमिः—" लज्जावनतमुख्यहमवदम्। एतद् युवतिरश्रौषीद् या मह्यमद्रुह्यत परम्।

स्वल्पेऽपि स्वार्थे आहन्यमाने मानवः क्रुद्धः सिंह इवाचरति।

एकदा सायं शिक्षयितुं गता, यतः समयस्य प्रतिबन्धो मयि नासीत्।

श्यामिमा निशाया आगमनं सूचयन्नभितोऽसरत्, तदनन्तरं पैशाचिकः प्रभाव इव तमोभावश्च। महातमसि निमग्नेव निखातेव कलङ्किताऽवर्त्तत। क्षणेन शोकाकुलं वियदवर्षदविरलधारम्। राजपथो जले विलुप्तः। उडुपाः प्राचलन्। महानगर्यां जलवाहिनीनां प्रणालीनां पौरप्रतिष्ठानस्य चायोग्यतां विचार्य मनो मे खिन्नम्। मरुत्तरा वसास्त्र्यायामा [त्रय आयामा यस्य स ट्रामः] श्च सर्वत्र पन्थानमवरुन्धानास्तस्थुः।

गृहनिपतनध्वनिः कदाचनाश्रूयत। वृष्टेरपि वैचित्र्यम्। यया शुष्का धरित्री विविधं लोकजीवनं शष्पं सस्यं पुष्पं फलञ्चोत्पादयति, सैव ग्रामानपि प्रवाहयति। प्रवर्षणकृपाणेन सहस्रशो गृहाण्यनामशेषाणि सम्पद्यन्ते। भगवतोऽतर्कितोऽनाशङ्कितोऽयं प्रहारः।

विभावरी प्रबुद्धा। तस्याः केशसंहतिर्मेघमालेव विश्वस्मिन् प्रसृता।

अखण्डतमश्चर्यां चरितुं प्रवृत्ता तमस्विन्युदवमद् घनान्धकारम्। विद्योतमाना तडित्तमसि चपला कृपाणिकेव ध्वानश्च दलमर्द्दकतोपानामिवाश्रूयत। चन्द्रो मध्ये मध्ये मेघान्तरितो मुग्धनववध्वभिनयमिव चकार।

सर्वैरागृहीता भोजनपीठ उपाविशम्। सग्धेरुपक्रमो भूतः। दक्षिणे चन्द्रकला वामे धनपतिः सम्मुखे तन्माता युवतिश्च। चन्द्रकला मां बहुशो भ्रातृभार्य्ये! इति समबोधयत्।

औष्ठव्यूहे दन्तान्नमयुध्यत। रसनासमीरणेन प्रेरितमन्नं कदाचन दक्षिणे कदाचन वामे गच्छदपि स्वं रक्षितुं न शशाक, अन्तत उदरान्धकूपे दलितमर्दितं न्यक्षिप्यत।

अहं लज्जावनतमुखी त्वरितमुदरमापूर्य जेमनं न्यवर्त्तयम्।

"—किमपि नास्वादितम्, भोजनं रोचकं नहि किम्? कथं नाज्ञप्त-मनुरुचि भोजनम्? वाणिज्यारत आनेष्यते, यथेष्टमाज्ञाप्यताम्। सौहित्यं हि परमं स्वास्थ्यमुपस्थापयति", ससम्भ्रमं धनपतिरवदत्।

—सर्वथा तृप्तास्मि, भोज्यन्तु जीवनेऽनास्वादितपूर्वम्। अहमुदतरम्।

—किञ्चित्स्वादेयमेव कुसुमसमं सौहार्दं न कदर्थनार्हम्। मदुक्तं स्वीकार्य-मेव। यथारुच्युच्यताम्—चन्द्रकलाऽवदत्।

—उदरे नास्ति ताम्बूलावकाशोऽपि—अहमवोचम्।

सर्वे पन्थानोऽधुनापि जलावृताः। बहिर्वीक्ष्य पुनरहमवोचम्।

पद्मिन्याः कक्षे विश्राम्यतु भवतीत्यादिष्टा कवाटयुगले इन्द्रकील-(चिटखनी) मायोज्याविशाव।

मेघाच्छन्नं वियत्। शनैश्शनैर्विपुलोदरोऽघन इव वियज्जलमवर्षद्। उपगवाक्षं तूष्णीमासीना युवतिर्विचारमग्नाऽतिष्ठत्। मुक्ताः केशा विगत-शृङ्खलं वायौ वहमाना उड्डीयमाना अवर्त्तन्त। सा मां विलोक्य स्नेहव्यवहारं प्रादर्शयत्। मशकानां सङ्गीतमारब्धम्। महान्तोऽनवहितमुत्थाप्य नेतुं क्षमाः मशकाः पर्यभ्रमन्। मशकहारि युवत्याः पर्यङ्क एवासीत्, फलतस्तस्याः पर्यङ्क एव निशा नेयाऽऽसीत्। आवां मूकमुपाविशाव। तस्या जलहीने सरसि कमले इव विशाले नेत्रे कामपि व्यथां कथां वा व्यञ्जयितुं व्याकुले

आस्ताम्। अहमपि वचनचातुर्य्येण तस्याः कार्यं जिज्ञासमानाऽवर्त्तिषि। क्षणेनैवावयोः प्रणयः प्रास्फुरत्।

अथ विसारिणा वाष्पवारिणा कपोलमार्द्रयन्ती नेत्राम्बुधौताधरं साऽबोधयत्—

एतत्त्वया प्रतिज्ञायतां यत् प्रमादाद् भ्रान्त्योदाहरणप्रसङ्गेन च नैतद्रहस्यं जातुचित् कस्याप्यग्रे प्रकाश्यं तिष्ठेत्। त्वया चिन्तितं भवेद् यदहं धनकुबेरस्य जीविकां लब्धवत्यस्मि स्नेहसौविध्येन निवसामि षष्टिसहस्रकं मरुत्तरमधिरोहामि वाराणसेयीः शाटीः परिदधे च। परं न पीतवर्णं सर्वं स्वर्णम्। न धवलवर्णं सर्वं दुग्धम्। सत्यमहमत्यन्तं दुःखिता। मदीयं दुःखमात्मकृतं दुष्कृतमिवावाच्यमश्राव्यञ्च। परमुद्वेगशान्त्यै त्वामहं वच्मि। रहस्यमिदमनाख्येयम्, परं तव तु मम न किमपि गोप्यम्।

त्रिभिर्वर्षैरेनमधमं धनिनं सेवमाना प्रतिमासमाददाना सहस्रमुद्रा असदङ्गनाचरणं चरामि। किमहं कुर्वीय? जातिवादो भ्रातृभ्रातृजवाद आवुत्तश्यालकवादः प्रेयसीप्रणयिवादश्च भृतिषु वर्त्तन्ते। एते वादा उपवादा वा परं वादादधिका बलिनः कुत्राप्यप्रचार्यमाणाः। एषु वादेषु सत्सु भृत्याः समागमो भगवत्याः समागम इव कठिनः। अनेन विवेकिनां हृदयं चालनीभूतम्। वराकाः श्राम्यन्तोऽपि वादेनापवादीभूतानां मूर्खाणां चरणरेणूनामृशन्ति दग्धहृदयाः सङ्ख्यातीतानामुपानहां जीवनलीलां समाप्यापि भृतिं न प्राप्नुवन्ति च। अतोऽत्र कुलकूलमिव शीलं श्यन्त्योऽनल्पा मादृश्यः स्त्रीसरितः सचिवपदे नियुक्ता निभृतामलोकनिन्दितां वृत्तिं कुर्वन्ति। शीलरक्षणसक्षणा अपि अप्रियमप्रमेयं कर्त्तुं बाधिताः, व्यपेतहर्षा अपि हर्षमुद्वमन्त्योऽधरकिशलयक्लेशमुच्छ्वसत्यः कुलीनाः कन्याः। अत्र पाणिप्रार्थिनो नहि प्राणप्रार्थिनो नराधमाः। वस्तुतो ग्रामा ईश्वरनिर्मिताः, नगराणि च मायानिर्मितानि। एषा तु महानगरी। कस्यात्रावकाशः किमपि ज्ञातुम्, यद्येतद् ग्रामेऽभविष्यत् पञ्चायतनेन जात्या बहिष्कारोऽभविष्यत्। परमत्र तु प्रमादनिर्झरिण्याः कुटिलरसं पिबन्नधिकमधिकं व्यभिचरँश्चरित्राचारविहीनो धनी वाक्कुशला वनिता वा सादरं प्रेक्ष्यन्ते। एतानि रमारङ्गरञ्जितानि रमारमणमन्दिराणि

परमाण्यपवित्राणि। तारे! एष सप्तधा विवाहितः। पञ्चलक्षमुद्रात्मकं सर्वासां जीवनाश्वासन (life insurence) मासीत्। दशलक्षं यौतुकञ्चालभतैकै कस्मिन् विवाहे। परमयं सगर्भां भूतामेव स्त्रियं देहबन्धनाद् व्यमोचयत्। शिशौ स्थिते न लभ्या धनिपुत्री। श्रद्धामिव साक्षात् प्रथमां दरद (दार्ज)लिङ्गं भ्रमणाय गतः पर्वतादपातयत्। मानसभावानां कल्पनामिव परां काश्मीरं गतो नद्यां प्रावाहयत्। सौन्दर्यपुरीमिव तृतीयां पुर्य्यां समुद्रसादकृत। चाम्पेयवर्णां चातुर्यमूर्तिं चतुर्थीं भेषजयोगेन शनैः शनैरशोषयत्। पञ्चेषु-परिषदमिव पावकोज्ज्वलां पञ्चमीं सूचीवेधेन, वरवर्णिनीं वरिष्ठां प्रेष्ठां परिजनस्य षष्ठीं शय्यायां सर्पप्रवेशेन सीमन्तिनीसीमां सप्तमीञ्च दाहेन। कुटिललोकव्यवहारानभिज्ञाः पिशाचममुं प्रियं मन्वाना असमये क्षयमुपेताः।

अहह? परस्य मौग्ध्येनापि लोको लाभान्वितः। निमीलितनेत्रा कपोती मार्जारिकया कदा मुच्यते?

द्वित्रेषु सप्ताहेष्वेव व्यतीतेषु दानवः परिभूतपुलोमजां प्रियां पृथ्वीतलीयं प्रक्षिप्यादाहयत्। हन्त! नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम्। वस्तुतो मूर्खेभ्यः सम्पद् ददद्भिधिस्तदतिरिक्तं किमपि न ददाति। एते परधनवर्द्धिताः परस्मात् परस्यां जाता बन्धुला इव निर्बान्धवा धनबान्धवा वा।

नरस्य त्रीणि रूपाणि। प्रथमं यत्स स्वयं जानाति द्वितीयं यल्लोका जानन्ति तृतीयं यद्वास्तविकम्।

आचरणाभावे ज्ञानमिव नरस्याद्यं रूपद्वयं पत्रकुसुमवन्निर्गुणम्। प्रवृद्ध-त्वमेव नोत्कर्षाय तारे! एकस्य वस्तुन उन्नतौ चेदुन्नतिस्तर्हि धूलितुषतृणा-नामपि चर्चा नातिदूरा। परमद्य नहि गुणो गौरवस्थानम्, ऐश्वर्यप्रणयी पुमान्। तृणतुच्छैर्निःसारविरसैरपि धनैर्जनो ह्रियते मतिमन्मन्योऽपि। अद्य लोकः स्तोकमपि नालोकयति परिजनमर्थविरहितम्। मातापितरौ गुरुश्च न तस्य श्रद्धास्पदानि। एष परुषोत्तमो धनपतिरेव रूक्षै रक्षरैर्मातरमधिक्षि-पति निरन्तरमरुणिताननो गरलमिव गिरां गणमुद्गिरति। कृत्याकृत्यविर-हितबुद्धीनां को भेदः पशुभ्यः। परं लक्ष्मीर्गुणानाकर्षति, क्षयी चन्द्रः पूर्णः सन् सुवृत्ततां धत्ते। परं विविधरागाणां गवां पय इवैतेषां चेष्टितं समानम्।

अनेनैकमधिकोशं (बैङ्क) सङ्घटितम्। अस्य मित्राणि मानवाकृती राजा संरक्षकीकृतः स्वयञ्च प्रवर्त्तकः। सदस्यानां प्रतिदेयता (liability) सावधिका, राष्ट्रव्यापिन्यः शाखाः। आकाशान्नक्षत्राण्यानीय भुवि विक्रेतुं कुशला घटका धनसङ्ग्रहाय नियोजिताः। कुसीदस्य सद्व्यवस्था यथेच्छं मुद्राप्रत्यावर्त्तनञ्च। अन्यद्विविधं सौकर्यम्। मुद्राभिर्मुद्रा ऐधन्त। आयकररहिते राज्येऽस्य प्रधानकार्यालयः कृतः। एवं कोटित्रयेऽर्जितेऽधिकोशं निर्धनं प्रतिदानाक्षमं घोषितवान्। प्रमापकलेखो (Record) दाहितः। वराका उत्तमर्णा आभ्यन्तरभावेन रुदन्तोऽवर्त्तन्त। सभ्यानां प्रसभकर्मणां कौशलं विचारय। तद्वदस्य भारवाहि प्रतिष्ठानं (ट्रान्सपोर्ट) वर्त्तते शतशाखम्। प्रतिमासं प्रतिशाखमेको भारवाहिमरुत्तरो वस्तुजातपूर्णीकृत आश्वासकैः परामृश्य दुर्घटनाग्रस्तः क्रियते येनास्य निश्शेषितव्यय आय एकलक्षम्। राष्ट्रस्य च महती हानिः। स्वार्थी गोरोचनाशया निर्दयं गां हन्त्येव। प्रकृत्या रूक्षा मृदुस्पर्शाः पूर्णविषा भोगिनोऽनुपयुञ्जाना अपि कोशप्रियाः। अहो वाताशी भोगी परगृहशाय्यपि परमो विषधरः, यो दृष्टे फूत्करोति स्पृष्टे च भक्षयति। अद्यतनं यन्त्रयुगम्, यन्त्रेषूत्पन्नानां तुल्यता भवत्येव, एवमद्यतननराणाम्। केवलं व्यापारचिह्नस्येव मुखस्यैव वैविध्यम्। विपरीतवृत्तिश्छिन्नमतिर्विदुरो वित्ताद् वृत्तं संरक्ष्यतरमुपादिशन्मूर्खः(वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च। अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः। विदुरनीतिः) परं स नाज्ञासीत्, यद् वृत्ते भ्राष्ट्रे भर्जिते भस्मतां याते समुद्रे निमग्ने कालुष्यकलङ्किते वा वित्तेनानायासं तत्क्षणं क्रेतुं शक्यम्। परं वृत्तस्य समुद्रेणापि न पुनः काणा वराटिका। अद्य चञ्चलधनाञ्चलाञ्चितो वृद्धोऽप्युदग्रयौवनः सम्पद्यते। जरायामपि यौवनं धनम्। जनजलदविद्योतनाय लक्ष्मीरेव तडित्। तदात्र वृत्तस्य महत्त्वमेव कियत्? नरस्योन्नतिः सम्पदा कदापि मेया नासीत्, मेयासीत्तस्य बुद्ध्या भावेनानुष्ठानेन च परमद्य विपरीतम्।

ज्ञानाञ्जनशलाकयाभ्यक्तदृशः पुंसो मुहूर्त्तनर्त्तक्य इव श्रियः वाताहता दीपशिखेव सुखश्रीः श्रीनिकायः कायो विविधापायः विभवोद्भवा प्रतिष्ठा च विकटाटवी, परमत्र क्व ज्ञानाञ्जनम्? धनाञ्जनमेव सर्वत्र।

तस्यां निशि वृद्धया परिवारचिकित्सकेन च सह धनपतिस्तां ददाह। जनसेवाविभागीयाः प्राग्व्यवस्थापिता दशसहस्रेण तोषिताश्चिकित्सको मरुत्तरेणाहञ्च हारेण। परमयमलभत पञ्चदशलक्षमुद्राः।

अहो! उच्छृङ्खलखलाभिलाषिणी श्रीः।

न कदाचनास्य पापोपनतस्तापः। विषं विषमेव सर्वकालम्। एभिर्व्यापारैरयं कोटिपतिः प्रततप्रतिष्ठश्च, यतः कुकर्मक्लिष्टोऽपि धनी भक्तप्रवरः। एवं त्वेष भक्तायापि रक्ताभिषिक्तां क्षितिं कर्तुं क्षमः, परं सुकन्याप्राप्त्यै मानप्राप्त्यै विगीतिनाशाय विद्यालये पञ्चाशत्सहस्रमुद्रया प्रियास्मृतौ शाला निर्माय रैभद्रतां सम्मानितां न्यायाधीशताञ्च प्राप। एवं पिपीलिकापूर इव निरर्थकं सञ्चयोद्देश्योऽर्थपतिपूरोऽजस्रमस्मिन् कर्मणि लग्नः। एतेषां हिरण्यकशिपूनां हिरण्याक्षाणां रावणानाञ्च लोकसेवादम्भः केवलं स्वार्थाय।

दशसहस्ररूप्यकेषु व्ययितेषु धर्मावतारस्य प्रमाणपत्रमनायासं लभ्यम्। ततश्चान्यायाचरणे स्वतन्त्रः समाजानुमोदितः। यतः सर्वः सम्मुखमेव पश्यति न पृष्ठतः। अहो साफल्यमुकुटं धनवाहिनीपतिरधिगच्छति, न वीरवाहिनीपतिः। सम्पद् बहूनि मित्राणि निर्मापयति, विपच्च परिजनानपि त्याजयति। पार्श्वप्रासादस्य पूर्वजा आसन् रजकाः साभानां वस्त्राणि प्रक्षालयन्तः सुन्दरीरूपानिन्युः। साङ्कर्येण सौन्दर्यं विकसितम्। व्यापारः प्रवृद्धः साभानां कृपया रैभद्रस्य पदवी सम्मानिता न्यायाधीशता समाजाञ्च कौलीन्यमुपलब्धानि। मधुरप्रियः स्वार्थी दुर्बलः क्लीबः समाजः। द्विस्त्रिर्मधुरं भोजितः कौलीन्यमनायासं प्रयच्छति। मृताङ्गो मृदङ्गोऽपि मुखलेपेन मधुरं ध्वनति। एतद्धनस्य माहात्म्यम्।

धनपतेर्वृत्तं सर्वो वेत्ति परं मूको धनस्यूतः। यतो हि 'हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्'। पापकर्मणां नाक्रोशभयम्। एवं निष्ठुरचरित्रा विभवलक्ष्या परतापेन पुरतापेन च स्वं शीतलयन्ति क्रूरशूराः धनजीवना हृदयहीना जघन्यकर्मव्यासक्ता निर्मोहा विलासोद्देश्याः। सद्गुणे भवेद्वैषम्यम्, परमवगुणे सर्वः क्षीबः क्लीबः कुमतिर्धनपतिः समः। एतेषाँ लक्ष्मीश्च वन्या व्रततिरिव निरुद्देश्या वर्द्धते।

अस्य विवाहव्यापारं घटयितुं कुबेरसमृद्धिमसमं शीलं गुणित्वं रसिकत्वं वैदुष्यं समाजसेवित्वञ्चोद्घोषयन्तः शतशो घटका भ्रमन्ति कामपि कुलकन्यां कालकनीनिकया वीक्षयितुम्। घटकः पञ्चसहस्रं लप्स्यते कन्या लोपं यायान्नरकं वा। (जहन्नुममें जाय, go to hell) सर्वोऽत्र स्वसुखान्वेषी परसुखविमुखश्च।

अमन्दामुदात्तां मुदमादधतीं भवतीमप्ययं परामर्शिकापदे नियोक्ष्यते। सौमनस्यसुधासम्प्लुतं सौहृदसम्भारसम्भृतं व्यवहारं कियन्तं कालमनुभविष्यति यतो मुग्धवधूविलोकनाकुलो लावण्यलुण्टाको यौवनोपवनमधुपटललम्पटः प्रोद्दामधनयौवनोन्मादोद्धतो गर्दभ इवैष प्रायश एवं करोति। सुरूपां स्त्रियं वलीविहीनौ कपोलावुन्नतौ कुचौ च साभिलाषं स्रवल्लाल ईक्षते। दूतिकया लोभं प्रदर्श्य प्रतारणं स्खलितशीलस्यारूपयौवनदर्पान्धस्य कामविप्लुतस्य नित्यकृत्यम्।

सर्वोऽन्धः प्रज्ञाचक्षुरभिधोयते, परमयं धनान्धः कामान्धो वा सचक्षुरप्यचक्षुरप्रज्ञाचक्षुश्च। कुत्सैषां संस्कारगता तारे!

सर्वत्र भिक्षुक्यस्त्वया दृष्टा भवेयुस्ता एतादृशैर्वासनापिशाचैर्वञ्चिता इमां गतिङ्गमिताः सन्ति गृहं प्रत्यावर्त्तितुमक्षमाः।

रूपस्य धनस्य च पुर उन्नतग्रीवः कणाहारोऽपि नमति, द्वयोः सङ्गस्तत्र किमु वक्तव्यम्?

लोकं तृणाय मन्वानो धनमत्तः खलः किं किं न कुर्वीत?

"मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु"—इति वाममार्गीयाः, परमधुनाऽधन्यतया लोकस्ततोऽप्युत्तरायी। पातिव्रत्ये भाषमाणेन विदेशविदुषोक्तं यदस्मद्देशे द्वे पतिव्रते, मम माता महाराज्ञी च, यतस्तयोर्विवेचनेन न नः कुशलम्। तद्वद्वयम्। वासनादुर्गुणोत्पन्ना वेश्या नाद्य यथा वैभवपिशाचोत्पादिताः। वेश्योन्मूलकेन तज्जनकोन्मूलनं प्राक्कार्य्यम्। एते वेश्यावेश्मवासवित्ताः सर्वत्रैवानुचितं चरन्ति। अथ वा कौशेयवाससां वेश्यासङ्गो नाशुद्धिकरः। सुपात्राणां पदार्पणेन वेश्यावेश्मनां प्राङ्गणं पवित्रतामेत्येव।

त्वमपि भावनाभवने क्षणमानन्दमनुभूयैकया सूच्या परलोकं प्राप्स्यसि। पञ्चविंशतिः पाचकाय प्रेष्याय दश धात्र्यै पञ्चदश शय्यासज्जिने दश मुद्राः प्रतिमासं ददामि, चिकित्सकाय चाङ्गनासमं स्नेहम्। येन मृत्युर्मया ज्ञातस्तिष्ठेत्। अलब्धजीविकः किं न कुर्वीत? चिन्तयामि सहस्रात् षष्टिर्मुद्रा न्यूना एव स्युः।

उपाधिपरीक्षामुत्तीर्य प्रतिदिन वृत्तपत्रेषु विज्ञपना अपटम्। "सुन्दरी कुमारी षोडशी व्यवहारे गाने वाद्ये निपुणाऽवमतकुबेरस्य व्यापारिणः सचिवपदायापेक्ष्यते। लेख्यम्, पुष्टपेटिकाङ्कः (Post Book No.) ००० कलङ्किता" इति।

लेखनानन्तरं तेषां वित्तव्याध्यविवेकसङ्कुलमनसां सत्यसङ्केते एकाकिनी मिलितुं परामृष्टा मिलन्त्यवर्त्तिषि। तद्दिनेषु मत्कार्यमासीत्—सज्जां विधाय मुकुरे मुखं वीक्ष्य प्रसाधनकोशेन सह सर्वं दिनं सङ्केतस्थलेषु भ्रमणम्। माता मामाग्नेयनेत्रैरैक्षत। सर्वे युवानः प्रौढाः वृद्धाश्च मयि व्यमुह्यन्। नरशोणितेन निर्भरमागलं पूर्णा इमेऽग्राम्या महिषा अनिमिषनयनं मामीक्षमाणा अदृप्यन्, परं वेतनमदित्सन् प्रतिमासं त्रिशतीं चतुःशतीं पञ्चशतीं वा। अयं सहस्रं दातुं सज्जः। न कोऽपि शिक्षां योग्यतां वापृच्छत्। अपृच्छत्केवलं रतिसौरस्यं गानवाद्यविलासविभ्रमनैपुण्यञ्च। भृतिं कामयमानाः सहचर्यो मां भाग्यभाजमाकलयन् सौन्दर्यञ्च सफलम्, परं कम्बलावृतः कुटीस्थो बहिःस्थं शीतं कथं वेत्तु नाम? परमपत्यवत्सला मे जरती जननी परं कष्टं प्राचकटत् "आः कथमत्र सभ्यो लभ्यः"। परं परिस्थितिपीडिता जीविकार्जनक्षमां नाभर्त्सयत्। यतः स्वस्य लघुभ्रातुश्च जीवनं शिक्षणमावश्यकमभूत्। एवमहं जनापवादमविगणय्यैनं सेवितुं प्रावर्त्तिषि। कमनीया लोककामनाः मां प्रालोभयन्। अस्य कलाजालं दुस्तरम्। अन्तत एकदाऽस्याङ्के शिरो न्यक्षिपम्।

मानवमशेषं बुभुक्षाद्वयी पीडयति, जाठरी हार्दी च। ययाऽऽक्रान्तः कदाचन मृगतृष्णाभे प्रेमणि स्वं निपातयति कर्त्तव्यान्धः। स्यादेतत्। अधुनाहं विंशतिवर्षा यदा पञ्चविंशतिं गता निस्सारणीया भविष्यामि मारणीया वा।

यौवनरम्याणि प्रेमाणि न सत्यानि न नित्यानि न च सुखानि। क्षणं विरम्य दन्तान्निष्पीड्य पुनः सावदत्—उपकर्त्तव्यप्यपकर्त्तुमिच्छत्यबुधः। निसर्ग-सरलाः पुरुषाः निसर्गकुटिलाश्च वनिता इति प्रवादः। परं धनपतौ विपरीतम्। अतिक्रान्तमर्य्यादोऽप्रतिहतप्रसरो धनपतिरुत्कृष्ट उत्सृष्टसौष्ठवेषु। धनं हि पैशाचिकतां प्रापयति। हास आलापो गमनञ्च निषिद्धानि स्वाच्छन्द्य-विच्छेदश्च भूतः। मासिकशुद्धयै च परमाऽवधानता। सेवाविक्रीतकायानां क्व यथेच्छव्यवहारः ? परं रसालवासी कोकिलः कपोतकुलाये वास्येत तदा...

स्वभावस्य मृत्युः—विघातो नरहत्याया अपि भयावहः। परं धनबल-स्तथाकरोति येन स्वभावो नश्यति, यन्त्रता चोपैति। हन्त ! ललाटोपल-पट्टे कर्म्माङ्का न पाणिपरिमार्जनया प्रमार्ष्टुं शक्यन्ते भगिनि ! अस्य तु कुलमेवेदृक्। धनपतेर्वृद्धा माता विलासजीर्णा घृणापूर्णा विवर्णा बालविधवा-धुना षष्टिवर्षदेशीया विद्यते तुलसीमालां भ्रमयति च। परं जीवने सा किमकृतेति चित्रगुप्त एव वेत्ति। कलङ्किता समृद्धा बालविधवानामामोदप्रमो-दाय। द्वाःस्थोऽस्याः कृपया भारवाहिमरुत्तरद्वयाधिपतिः। अधुनाप्येषा यूनो भृत्यान् पूजकांश्चिकित्सकानभिलषति। कथयति "एष निष्प्राणो भृत्यः कथम-स्मान् सेविष्यते तृणमल्लः (सींकिया पहलवान) वोकुवैद्यस्य सुखजीवि सुरसं पीत्वापि निर्बलः, कश्चन युवा योज्यः।"

वोकुवैद्यस्य वाजीकर आसवः प्रसिद्धो विधवासु।

भगवद्दर्शनमिषेण स्वैरविहारखिन्नाया अस्याश्चरणौ द्वाःस्थसंवाहनेन स्वस्थीभवतः। गतवर्षे स्वर्णसुन्दरो युवा पूजकोऽस्याः कृपातिशयमाप्य हृदयगतिं सर्वस्मै कालायावारुणत्। जनापवादादभीताऽधुनैषा युवतीः परि-भावयति। तस्याः पदमुद्रापरिपाटीमनुसरन्ती मृतमातापितृका तामेव मातरं मन्वानैषा देवरपुत्री चन्द्रकलाऽचिराक्षयौवना रक्षसोऽस्य गृहे प्रधानमा-कर्षणम्। प्रासादे केन मार्गेण कदा कथमवीक्षिताऽश्रुता चिकित्सिका धात्री च समितः पक्षद्वारेण, उषसि रात्रौ वा, तस्मादेव निभृतं गच्छतः। चन्द्रकला मासौ यावत् कुटीं प्रविष्टाऽतिष्टत्। तस्या मातरं विना न कश्चनाविशत् 'चिकित्सकेन निषिद्धमिति"। बहुशो गृहाद् बहिः कोणे प्रणाल्यां नवजन्मानो

ऽपूर्णाः शिशवः प्रेक्ष्यन्ते। क्षणं कोलाहलः, जनसेवकानां समागमः, उपशमो दानं दक्षिणा समाप्तिश्च।

बहुशः प्रातरेव वृद्धाया जपस्थली शून्या माला गोमुखी ·प्रसृते जवनिकायां भुजवेष्टनध्वनिः। तथाप्येषा स्ववैधव्यं परमं पावनं ज्ञातिबन्धुषु ज्ञपयति। कामपि स्वतुल्यां सुचरित्रां न मनुते कामपि न स्पृशति कस्या अप्यासने नोपविशति केनापि स्पृष्टं भोज्यं पेयं नास्वादयति।

एषु विशालेषु दूरस्थेषु प्रासादेषु किं भवति भवितुं शक्नोति वेति न कोऽपि वेदितुं शक्तो न च प्राप्तावसरः? येषु बहवः स्त्रीरूपधारिणो युवानो वसन्ति च्युतचरित्राभिर्धनिनीभिः पोषिताः।

सिन्धुमेखलायामखिलायामिलायां विवेकव्यपास्तदोषा एव योषा नादोषाः।

अहम्—परं प्रणाल्यां शिशवः कथम्?

युवतिः—त्वं न जानासि भद्रे! सम्पन्नगृहाणामेतन्नित्यकृत्यम्। पत्यै चरित्रं सन्तत्यै मोहं समाजाय सच्छीलं विश्वस्मै करुणां गृहस्थाश्रमं स्वर्ग्यसुमनोभिः सुरभितं गुम्फितं प्रफुल्लितं सम्पादयन्ती तितिक्षां शिक्षयन्ती नारी सम्प्रति सम्मोहनाय वासनाशान्त्यै वैषयिकज्वालाप्रशमाय विमृद्यते। विज्ञपनेऽपि नार्याः शीलं सतीत्वमुपहस्यते। तमालवीटिका भवेत् मरुत्तरं वा, वासो भवेदवकरो वा सर्वत्र चित्रं नार्या एव।

मुग्धा महिला च चमत्कुर्वन्ति भूषणानि विविधरागभाञ्जि वासांसि लब्धुं कस्मात् पदाच्च्युतेति न वेत्ति।

पापन्तु सृष्ट्या सहैव जातम्, परं तस्य पूजा पुञ्जवादयुगे प्रवृत्ता। परं धनात् सद्गुणः सूर्यात्तमः, पीयूषरश्मेस्तापः कदापि नोत्पादयितुं शक्यन्ते। उपयोगे ज्ञाते धनं सप्रयोजनम्, अन्यथा तस्य भावेऽभावे नान्तरम्। अधुना तु धनिभिर्लोकोपयोगि धनमादाय सरितां मुखान्नृपेयं पानीयमादाय समुद्रेण यथा क्षारं विधीयते वाडवाग्नौ दाह्यते पातालगर्त्ते चोपनिवेश्यते।

विवृद्धो धनोष्मा शरीरं तापयति। लवणाब्धेर्जलैरिव प्रवृद्धैर्धनैर्न कदाचन तृष्णानाशः। न च तदतिकालं रोद्धं शक्यते। को नाम मुष्टि-

निविष्टपारदकणाकारं धनं रोद्धमद्यावधि सफलः ? परमद्य महाधनोऽपि धनाय व्याकुलः। परं स्यान्नाम तापितसंसारो जीवशोषक उरुप्रतापोऽपि तपनः सायमनुभवत्येव एषामप्येकदा कालरात्रिः। तत्सुप्रभातं भविष्यति, नवं वियत्, नवः सूर्यः, नवश्चन्द्रः, नवो वायुः, नवा धरित्री यदा राष्ट्रं धनध्वान्तं विनाश्य सद्भावसौमनस्यं सुवर्णं सौहार्दञ्चोत्पादयिष्यति।

अस्तु, परमहमस्य सुहृदोऽस्मै लाभं सम्पादयतोऽधिकारिणश्च प्रसादयामि मृदङ्गनर्दिषु वेश्मसु मन्दभाग्या। शीतव्यथां व्यावर्त्तयितुं को नाम वेश्मनि वैश्वानरं क्षिपेत्। परमहं तथाकार्षम्। लोभप्रतिरोधो विजयः, परमहं पराजिता। चरित्राभावे नार्याः सौन्दर्यं हतश्रि चातुर्य्यञ्च घृणास्पदम्, परमहं चरामि। व्यभिचारोऽद्य धनजीवनानां क्रीडा ययाहं तान् हर्षयामि।

त्वां विलोक्य त्वत्प्रभाप्रभावधर्षितः स नावोचदद्यावधि परं स त्वां स्वप्नेऽपि सन्निधौ पश्यति विचारयति चैषा ममैव। एषोऽस्याभ्यासः।

भवत्यस्य प्रेमाभासमासाद्य लक्षकल्पं धनमर्जयितुं क्षमा, यदि पञ्च वर्षाणि जीवनं धारयेः, अन्यथा ता मुद्रा अप्यस्यैव। त्वं स्पर्धनीया सुन्दरी सङ्गीतदक्षा च। सङ्गीतेनैवातुलं धनमर्जयितुं क्षमा। विवाहिताऽऽजीवनं जीवनधनेन रन्तुं समर्थेति किमर्थमस्मद्विधाभिः पतिताभिस्तुल्यं पतितजीवनं जीवितुमुत्सहसे ?

अनुकूलो भगवान्सुयोगमदात्, येन भावोद्गारानुद्गीर्य स्वस्थीभूतास्मि। अधुना द्विनदनकालः स्वपिहि।" इति।

श्यामनदीप्रतिमायास्तमस्विन्यास्तटेऽभिसारप्रियः कलङ्की कृशोऽल्पप्रभो मेघान्तरितः स्वं तिरोदधदिव चरन्नग्निदग्धो लोहशल्य इव पूर्वस्या दिशो मम दृष्टिपथमुपैत्।

"अघटः किल सूर्यनिशीथयोर्योगः। काकबकशूकरसेविते कलुषिते सरसि मानसवासिनो राजहंसस्य वासोऽसुकरः किल। नैडकासु मोदते गजः। परमहं तव दुःखेन सहानुभवामि। सहानुभूतेर्नायमर्थो यन्मज्जता सह मज्जनम्, अपि तु तस्योद्धरणम्। परमहं न वेदितुं प्रभवामि यत्प्राधीतविद्या अपि स्त्रियः पुरुषेभ्यः कथं व्याकुलाः ?" अहमवोचम्।

रुदती सुदत्यवोचत्—एषा स्त्रीप्रकृतिस्तारे ! हिमालयोत्सङ्गलालितापि सुरनदी क्षारोदधिं सङ्गच्छति। सोल्लासमुड्डयनायाकाशमनन्तं स्यान्नाम? पर पक्षिणा कुलायस्तु वृक्ष एव कर्त्तव्यः। पुनश्च स्रष्टा सृष्टेरारम्भे भावद्वयं विशेषतो निर्ममे, कामं मोहञ्च। येन जगत उत्पत्तिः पालनञ्च निर्मातुरिच्छया प्रचलेत्। अतः सर्वः पुमान् स्त्री च भावद्वयाय व्याकुलौ। विशेषतः स्त्रियां मातृत्वकामना प्रबला, यतः सा प्रकृतिनियन्त्रिता पुरुषमभीप्सति।

अहम्—अस्तु, सुखस्य समयेऽनीप्सितं विषादं जहीहि। दुःखस्य दिनानि ते वीतानि। सर्वं सेत्स्यति, स्वपिहि। इति।

परिस्थितिपक्वमपि मे मानसं विदीर्यमाणमवर्त्तत। विचारव्याकुलाहमशेषां निशां निद्रां नालभे। फूत्कुर्वती कृष्णा सर्पीव भयानका निष्टब्धा निशीथिनी बहिरन्तश्च विचारभरा।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते कथमपि भावावेशे स्तिमिते तन्द्रामनुनिद्राऽऽजगाम। क्षणेन गृहेषु भाजनानि शोधयन्तीनां सद्गृहिणीनां भाजनठणत्कारः, पार्श्ववर्त्तिषु गृहेषु दुग्धं दातुं गोपालानां कवाटेऽनवरतं हस्ताघातेन सह शृङ्खलाखणत्कारो रथ्यासु वृत्तपत्रविक्रयाय सामान्यमपि वृत्तं रोमाञ्चोत्पादि घोषयतां ह्रोकराणामुच्चैश्चीत्कारो मार्जकानां मार्जन्याः सणत्कारः, अनतिदूरं व्यायच्छमानस्य द्वारपालस्य हुङ्कारो मन्दुरायामश्वं मर्द्दयतो नायकस्य सप्सपाकारो मरुत्तरं स्नेहयतो महेशस्य छप्छपाकारश्च निरचाययद् यत्प्रातर्जातम्।

वायुः श्वासं नियम्येव स्थित आसीत्। तरुशिखा निःस्पन्दा चलदलमचलम्। नीलं नीलं तमः क्वचन भग्नं क्वचन गाढम्, परं पूर्वस्यां दिशि विलीनीभवदिव।

प्राच्याः सीमन्ते सिन्दूरम्। एकशो द्विशो बहुशो भ्राजमानानि नक्षत्राणि सहसा लुप्तानि। कश्चनाज्ञातहस्तस्तान्यपाहरत्। क्षणेन घनध्वान्तध्वंसिनः प्राभातिका अरुणाः किरणा धरोत्सङ्गे समदमक्रीडन्। सत्वरं प्राच्या रक्ताक्तेऽलिन्दे कश्चन ज्योतिष्माञ्जहास। तस्य रश्मिबद्धो हासो बन्धनं विघटय्येव सर्वतो दुद्राव।

चन्द्रकला मामाजुहाव। अहं सपदि नित्यकृत्यं निर्वर्त्य यातुं सज्जैवासम्, प्रेष्यः परिमलि पय आदायोपतस्थौ। सङ्कोचेन दुग्धे पीते द्वारपालः करौ

योजयन्न्यवेदयद् यन्मरुत्तरं सज्जम्। क्षणं विचार्य मरुत्तरमारुह्य मनोरञ्जन-राजपथस्थितं रामभद्रमन्दिरमुपेत्य मरुत्तरं विसृज्य मन्दिरमविशम्।

मन्दिरमभितो भिक्षुकाणां यूथम्। युवानो बाला वृद्धाः कुमार्य्य उत्सङ्ग-बाला वनिताश्च। इयानभावो मया क्वापि नेक्षित आसीत्। सर्वत्राभाव आकाशसमः। नग्नाः क्षुद्भक्षिताः कङ्कालावशेषेण कङ्कालाः सम्बोध्यमाना मां पर्यावृण्वन्त। "एकः पणः" 'परमा क्षुत्' इत्येव तेषां ध्वनिरासीत्।

मया स्मृतम्—यदाहमेकदा वधूवाणिज्यारतः पदातिर्व्रजन्त्यासम्, मध्याह्नस्य शून्यक्षणेऽश्रौषम् 'शृणु भगिनि'। अहमभितोऽद्राक्षम्, कोऽपि नासीत्। भ्रममनुमाय पुनरचलम्, पुनरश्रौषम्, भगिनि! त्वं मां द्रष्टुमक्षमा, अहं कबाटच्छिद्राद्वदामि। अहं नग्नास्मि। नास्ति चेलस्य लेशोऽपि यत्परि-धाय बहिरागच्छेयम्। भद्रे क्षुधया परमुद्विग्नास्मि विवस्त्रा। पणद्वयस्य धाना आनीय देहि। एषु दिनेषु कश्चन ग्राहकः समेत्येव नहि। वयोऽतिक्रान्तम्, दयस्व। इति कथयित्वा कवाटच्छिद्रात् पणद्वयमपातयत्। अहं चतुराणक्या धाना एकरूप्यकस्य पणाँश्च ममोत्तरीये कृत्वा अर्द्धोद्धटितगवाक्षकवाटेना-पातयम्। परमत्र तु सर्वो ग्राम एव भिक्षुकीभूतः।

विचारयन्ती मन्दिरमविशम्। दुग्धधवलपाषाणचितं रम्यं मन्दिरम्। अङ्गनमङ्गनाभिर्नरैश्च व्याप्तम्। एकतोऽनवगुण्ठितास्तिलकेन कज्जलेन कपोलयोरोष्ठयोरीषच्छोणिम्नोपेता अपि सीमन्ते सिन्दूररहिताः हीरक-खचितैरलङ्कारैर्विद्युत इव भासमानाः, देहपण्यं विक्रेतुमिव सज्जयित्वोपेताः षोडश्यः। काश्चन विरूपा अपि साफल्याय लोकाकर्षणीं सज्जां विधायातिष्ठन् विनीता वनिताः। एकतश्चातिष्ठन् परीक्षासन्निधौ समेतं स्वेदजालं करवाससा मुहुर्मुहुः प्रोञ्छन्तः शिरस्युष्णीषिकां मणिबन्धे चञ्चन्तीं घटीं नैष्क-सहस्रिकमङ्गुलीयं, जनान् प्रभावयितुं कलावलयितदशं परमसुखं धौतं वासः कौशेयं कञ्चुकञ्च परिधाय सितावचूर्णनेन बाहीकं कृष्णत्वं यौवनेऽप्यनुद्गत-श्मश्रुतया स्फुटीभवत् क्लीबत्वं कज्जलरेखया मौनेन मूर्खतां गाम्भीर्येणायोग्य-तामवस्थानेनाकर्मण्यताञ्च तिरोधाय वस्त्रयोगाल्लघुतां विदेशभाषावृत्तपत्रेण विदेशभाषावैदुष्यञ्च द्योतयमाना युवानः। परं न क्वापि सुरभिसारवहनचण

चणको दृष्टः श्रुतश्च सा शक्तिस्तिलस्यैव। एकतः प्रौढा नार्यो नराश्च। मध्ये मध्ये च मुखरमुखाः प्रशंसनपरा वामदक्षिणविधानदक्षा लोकरहस्यज्ञाश्चञ्चलदशेन्द्रियाः स्वयंवरे पतिवरां विवृण्वन्तो दूता इव, समायामपि भुवि निम्नोन्नतस्थलीं प्रत्यायन्तश्चित्रकलाचतुरा इव घटकाः। देवालये वैचित्र्यमिदं वीक्ष्यैका वाणिनी पृष्टोदतरत्—

"पत्न्यर्थिनां पत्यर्थिनीनां चयनं विद्यते। त्वमपि चिनु, अहं बोधयिष्यामि, कदलीदण्डसमम्। त्वमपि किं स्मरिष्यसि? परं चक्ष्यो (चोखा) नियोगो (नेग) देयो भविष्यति।"

कश्चनाब्रवीत्—साहजित्! कन्यका सुशीला विद्यते परमा पट्वी च नृत्यनृत्तगानवाद्यप्रवीणा। विद्यालयेऽस्या बह्वचः सख्यः। एषैव लोहानुमतिपत्रमानीतवती भवनाय। भाग्येन तत्तु द्यूते गतम्। अन्यथाऽद्यतनं दिनं द्रष्टुं नाशक्ष्यम्। परं तदपि विंशतिसहस्रं यौतुकं दास्यामि, कृपया गृह्यतामियं गृहमार्जनाय"।

घटक उच्छलन्निष्ठ्यूतकणश्शनैश्शनैः कथनं नाटयन् जगाद "श्रीमतां सुतोऽष्टमीमनुत्तीर्ण एकेनाक्ष्णा काणश्च। मंसूरिकयाऽऽकृतिस्तु विकृतैव कौशलमपि नितरां न्यूनम्, कन्या उत्तमा विद्यते गृहं सम्भालयिष्यति परम्।"

"—एकमपि चक्षुः सूर्याकारं विद्यते। ऐषमो वर्षे घनञ्चापतितमाकाशात्। काञ्चनोर्वशी समेष्यति। मुद्रा न न्यूनाः पञ्चाशतो ग्रहीष्यामि। भण्यतामुन्मुक्तमुखम्। अस्माकं पठनस्यकौशलस्य सौन्दर्यस्यावश्यकता नास्ति तन्मम नीव्याम् न मम पुत्रः कस्यापि भृत्यो भविष्यति। चुल्ल्यां मुद्रा दाहयन् सानन्दं जीवनं यापयतु—इयत्यः सङ्गृहीताः। कर्मणे विद्वांस उपानहां परिष्काराय दशस्थाने विंशतिः स्युः। एष तु तृतीयस्यामेवासीत् कक्षायाम्। परमैषमोऽध्यापकाय रक्षाबन्धनावसरे पञ्च मुद्रा धौतं वासश्च दत्तानि, क्षणेनाष्टम्यामुपवेशितः। सर्वत्र रूप्यकस्य महिमा।"

एकतः श्वेतकेशा आभुग्नकाया यमेनाहूता अपि गन्तुमनीहया शिरोधराः कम्पयन्तः प्रपौत्रैर्भगवद्भजनाय प्रेरिता अपि विभिन्नांशानां (शेयर) शणतूलरजतस्य भावांश्च परस्परं प्रतिक्षणं जिज्ञासमाना मानसिहा अङ्गुलिमाला

वातवेगेन तां भ्रमयन्तो लालानिपातं व्यवदन्त। येषां मानसमभ्यस्तदास्यं तेभ्यः स्वतन्त्रताप्यसहा। बाह्यधर्माचरणं दुश्चरित्रावरणं छलिनाम्।

एकतः प्रौढाः पक्षकोटरेभ्यश्चलचित्राभिनेत्रीचित्राणि निःसार्य चर्चाम-कुर्वन्नेकतश्च घोटकद्रुतेः। सत्यम्, प्रासादशिखरमारूढो मानसे सरसि प्रक्षालितपक्षोपि काको न हंसतामुपैति।

पूजकद्वयमितस्ततोऽनवरतं लोकक्षिप्तान् पणान् समुह्य सम्मुखस्थापितायां दृढायामयोमञ्जूषायां न्यक्षिपत्। तयोर्निस्तुषरसोनगुलिकाधवलाभिर्ह्रस्वी-भूताभिरङ्गुलीभिरनुमातुमशक्यत यदेतदेव देवकार्यमाभिः सर्वं दिनमविश्रमं विधीयते पूजकसञ्ज्ञया।

देवमूर्त्तिर्भव्या कलोत्कीर्णाऽऽसीत्। कलायां कलङ्क इव कलाकारेण सीताया नासावेधोऽपि विहित आसीत्। यत्र नस्थ (नत्थ) वलयमासीद्धीरक-खचितम्। परं भगवतो रामस्य समये परत्र वा न स्त्रीणां नासावेधो वैधः। यवनीनां भूषणमिदमार्यैर्यवनशासनकाले गृहीतं पाश्चात्यानां ग्रीवाबन्धन-मिवाधुना।

व्यापारिणो विपणाविव देवालये विद्युद्दीपचमत्कारो विविधरागा जवनिकाश्च लोकमनांस्याक्रष्टुमधिकमर्ज्जयितुमिव सयत्ना आसन् परं मनोविरहितानां क्वाकर्षणावसरः? एको दम्भी कथयन्नासीत्, 'क्षम्यः पापः पापकर्मा पापात्मा पापसम्भवः, परमेवं स देवमन्दिरवातावरणेऽपूर्वं सत्यमे-वोद्गिरन् प्रत्यैयत।

क्षणमद्यतनं धर्माभिनयं विभाव्य मन्दिरान्निरगच्छम्। "भग्नं भाजनम्, पित्तलं ताम्रलोहम्, पुराणं पत्रं काचं वसनम्"—इत्युच्चारयताम्, एकतस्ता-लकोन्मोचनचतुराणां तालिकामालावतां खणत्कारः, पादत्राणपरिष्करण व्यग्रस्य मोचिनः खरत्कारः, याचमानानां भिक्षूणां पणकारः, अवकरदुर्गन्धश्च प्रसरन्नवर्त्तत। अहं शौल्किकीं प्रतीक्षमाणाऽतिष्ठम्।

फलैः शाकैर्भ्राजमानैर्वस्त्रैर्वेषैर्भूषणैः क्रीडनकैः स्वर्णमुद्राभिश्च पूरितानि पात्राणि शिरस्स्वाधाय शतशो मानवा अव्रजन्। अग्रेऽग्रे वादकानां वृन्दम्, लोकस्य चक्षूंष्याक्रष्टुम्, लोकस्य मानसे धनस्य महत्त्वं द्रढयितुम्, ध्वस्तं

चरित्रं भ्रष्टं कौलीन्यं 'दुष्टं व्यवहारं विवर्णं नाम धनं सुभगयतीति साधयितुं महता ध्वनिना लोकं बधिरयदगच्छत्। ततश्छत्ररहितेषु मरुत्तरेषु वस्त्रावृतानां रासभीनां कलकल आक्रोश इव कर्णकटुः प्राटत्। ज्ञातं यत्केनाप्यचिराप्तधनेन स्वसुता कस्मैचन महाकुलाय महाधनाय वाचा दत्ता, तदुपदाद्रव्यं प्रेष्यते। हन्त, दानेऽप्युपदा? सापीयती? औषधापेक्षया ऽनुपानमेव महामूल्यम्। विवाहव्ययाद् वाग्दानव्ययोऽधिकः। उपदाद्रव्यं वीक्षितुं मूषका इतस्ततो बिलेभ्यो मुखानि निःसारयामासुः, स्तब्धानि क्षुभितानि निराशानि सहासानि च। राजपथे मरुत्तराणां यूथं धराया वक्षो विदलद्धावमानमासीद् विपुलवेगम्, कस्यापि मूषकस्य मृत्युमाघातं वाऽविचारयत्।

सधनस्य दृष्टौ निर्धनतनोर्मूल्यमपि कियत्? ताम्बूलनिष्ठ्यूतम्।

आकाश एकेनाक्ष्णा वाग्द्यूताप्त (फाटका) धनो धनीव सक्रोधं जगदैक्षत। धनिनियोजितस्य क्रूरव्यवस्थापकस्य प्रभाव इव प्रचण्डस्तापः सर्वतो व्यापत्। राजपथे इङ्गालक (तारकोल) द्रवः सजातीयैः पीड्यमानान् दुःखिनो ऽवलोक्य निःशब्दं रुदन्निव स्यन्दमान आसीत्। इतश्चोद्धतस्तपनोऽपि यौवने तापयन्नूर्जितेन तपसा वसुमतीं प्रतिक्षणं चुम्बन्, प्रकटितस्वेदो निर्लज्जस्तां श्लिष्यन्नेवावर्त्तत। विलासिनस्तस्य प्रबलनिष्ठुरकराघातैः सर्वंसहाया वक्षो यत्र तत्र विदीर्णम्। दुःखोत्तप्ताया धराया उच्छ्वास इव पृथ्वीतलादुष्णः पवनोऽसरत्। अहं शौल्किकीमारुह्य त्वामुपागच्छम्।

अहम्—अहो, क्व नु जिगमिषति दुर्निवारवायुवशगो वारिवाह इव समाजः?

देवस्य शयनवेला।

तृतीयमाह्निकम्।

सूर्यप्रभा

किं वा

वैभवपिशाचः

चतुर्थमाह्निकम्

ते श्रेष्ठिनः क्व सम्प्रति ? शक्रध्वज ! यैः कृतस्तवोच्छ्रायः ।
ईषां वा मेढिं वाऽधुनातनास्त्वां विधित्सन्ति । —गोवर्द्धनाचार्यः

त्वामवलोक्य महान्तं तृष्णाक्लान्तान् प्रधावितान् दूरात् ।
पथिकानुपेक्षमाणः साधु यशस्तोयधेऽर्जयसि । —बदरीनाथ झा

रत्नैः परिपूर्णं त्वामाकर्ण्योपागता वयं दूरात् ।
तटभुवि वराटिकामपि तटिनीबन्धो न पश्यामः ।—बदरीनाथ झा

प्रणमति परिसान्त्वयति प्रणिपतति सदा परिभ्रमति ।
आविष्ट इव पिशाच्या पुरुषस्तृष्णावशं यातः । —अप्पयदीक्षितः

दुन्दुभिस्तु सुतरामचेतनस्तन्मुखादपि धनं धनं धनम्,
इत्थमेव निनदत्प्रवर्त्तते किम्पुनर्यदि नरः सचेतनः । "अज्ञातः"

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे मृषा चाटु न
नैषां गर्ववचः शृणोषि न च तान् प्रत्याशया धावसि ।
काले बालतृणानि खादसि परं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग ! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः ? ॥

दुरितभरितक्षीबक्ष्मापप्रसादनिरादराः
कमलनयनस्वैरक्रीडागृहायितहृद्गुहाः ।
निगमपदवीनिर्वाहाय क्षितावुदिताः स्वयं
कति न कृतिनः सन्दृश्यन्ते कलावपि निर्मलाः । —वेङ्कटाध्वरी ।

वक्त्रे वल्गा प्रगल्भा समरभुवि तव प्राणरक्षापि दैवात्
स्वेच्छाचारो न चास्ते भवसि च नितरां भारवाही नितान्तम् ।

इत्युक्तोऽश्वः खरेण प्रहसितवदनो मूकमेवावतस्थे
तस्माज्जात्या महान्तोऽधमजनविषये मौनमेवाश्रयन्ते।

या लोभात्सविधे खलस्य सुरसा वाणी बुधैर्नीयते
नो जानाति स तामचेतनतया सैव स्वयं लीयते।

भर्त्तुः स्नेहवशात्प्रविश्य दहने भस्मीभवत्यङ्गना
गाढालिङ्गनतत्परेण मनसा प्रेतो न वेत्ति प्रियाम्।

"तारे, जनसेवाविभागाध्यक्षस्य पुत्र्या विवाहो निश्चितः। विवाहे पण्डितो भवेन्न वा सामग्री स्यान्न वा भोजनं साधारणमेव परिवेष्येत, यौतुकमपि न स्यात्कौतुककरम्, परं राष्ट्रप्रसिद्धानां वेश्यानामागमनन्तु स्यादेवेति वरपक्षस्यादेशः। चिन्तय महन्मन्यानां चरित्रम्। तैर्वाराणसेय्यः पञ्च मञ्चालङ्करण्यो वेश्याः परामृष्टाः। रैभद्रस्य प्रिया विद्याधरी मणिश्रेष्ठस्य बहिःस्थं जीवनं यवनी जीव(जेबु)न्निशा, जगन्नेतुश्छायेव शरीरिणी शेफालिका, परमाऽऽश्रितिर्धनियूनां माद्री हरिकुमारी, जीर्णजरा निर्जरसामपि ज्वरदा गौर्जरी हंसपादी च।

एकैकस्यै प्रतिदिनं द्विसहस्रमुद्राः, प्रथमश्रेण्यां यातायातं भोजनावासं पारितोषिकश्चेत्येवं पञ्चाशत्सहस्रमुद्राव्ययः।

सभापतिपदमारोपिता धनिन उत्सवव्ययं वहन्तीतीदानीन्तनाचारः। अध्यक्ष एतदेवेच्छति।" अस्मै कार्याय त्वं कमप्यन्वेषयितुं क्षमा किमु?

'नवोऽयमनुभवो विधास्यते' इति सा कर्त्तुमसज्जत। अकृतचरेषु कर्मसु तस्या आसीत्परम उत्साहः। सप्ताहोत्तरं सा व्यवारीत्—

समाचारपत्रैरज्ञासिषं यदिदानीं सर्वाधिकः सभापतिपदप्रियो वर्त्तते धनिश्रेष्ठः सप्तकपर्दः। दूरालापेनाज्ञासिषं यत् सप्तकपर्दः प्रातरष्टनदनसमयेऽधस्तनं तलमायाति, तदा लोकस्तं साक्षात्कर्त्तुमागच्छति तदा वार्त्तावसरः, इति। "अहमवोचम्, अहमस्मि कृष्णतारा, श्रीमन्तं सप्तकपर्दं द्रष्टुं कामये, यदि स प्रसीदेत्, असौविध्याय क्षमां भिक्षमाणा।"

"अवश्यम्, अवश्यम्, तारास्तु तमाकाशस्याप्याह्लादयन्ति"। आसीदुत्तरम्।

भयाकुलमिव वियन्मीलिततारकमभूत्। मर्द्दितानामुच्छ्वासा इव शनै रक्तांशवो निरसरन्। क्षणेन तारामणितस्करोऽहस्कर उदैत्।

दुर्गगर्वभञ्जि कपर्दभवनं कलयाऽतुलम्। उच्चः परिवेषः। परिवेषस्योपरिभागेऽसङ्ख्येयानि च्छिद्राणि। येषु कदाचन कपोतगुञ्जारोऽभूत्, परमधुना जालावृतानि। द्वौ द्वारपालौ द्विनालीशालिनौ यमदूताविव स्थितावास्ताम्। ययोर्वक्षसि यज्ञोपवीतमिवासीद् गुटिकापट्टम्। एको द्वारपालोऽवसरान्मुक्त इव प्रतीयमानो हस्ततले तमालदलं सुधया बलान्मर्द्दयन् फट्कारेण लोकनासिकासु छिक्कां प्रचारयन् संसारकार्याणि विस्मृत्य तल्लीन इवासीत्। द्वौ च प्रतीक्षमाणौ परत्रैक उदस्तो भृत्यश्च।

तमालदलानि मर्द्दयन् दौवारिको नवीनाद् भृत्यादर्द्धं भृतिं कररूपेणापहरन् भर्त्सयन्नवर्त्तत। वराको भृत्यः क्रन्दन् गदन्नासीत् "कार्यन्त्वहोरात्रं मया कृतम्, भर्त्सनाऽवमानना मया सोढा, पुनरिदम्भवते किमर्थम्? लोकः कथयति यत्त्वं न किमपि दुष्कर्म करोषि तदाहं कमपराधमकृषि?

द्वाःस्थः—तूष्णीम्भव शूकरशावक! अपि ददासि न वा? अन्यथा सर्वमपहृत्य नितम्बे पादेन प्रहृत्य प्रक्षिपामि। एषाऽस्माकमनुसृतिः। सर्वेभ्य एव वयं गृह्णीमस्तदा त्वं किमु राज्ञो भ्राता? एतदपि किं दुष्कर्म? प्रथमे मासेऽर्द्धं ततश्च दशमांशम्, प्रासादारम्भादेतदहं गृह्णामि। एतानि प्राचीराणि भृत्याश्चास्य साक्षिणः" मुच्छमुच्चैः क्रीडन्सोऽवदत्।

दारिद्रचोदयदोषदूषितरुचः शुचिभूमयोऽपि सशुचो याच्ञाविषभक्षणकलुषिताः किम्भूतकिमाकाराय विवदमाना अर्थकदर्थिताः द्वारपालैर्वार्यमाणा भर्त्स्यमाणा वाचा प्रह्वियमाणा एकलक्ष्या उषस्येवोपेता आसन्नविंशा भ्रान्तचेतसो जना बहोः कालात् स्थित्या श्रान्ताः सम्मुखस्थपदपद्यायामुपाविशन्।

कश्चनाकुल ऊनाष्टनदने द्वाःस्थमपृच्छत्—"श्रेष्ठः कदाऽऽयास्यति भद्र!"

—"अवधेहि भद्र! नचैतद्विस्मर्त्तव्यं यत् यत्प्रभृति शासनेन रैभद्रोपाधिना भूषितः स "रैभद्रः श्रीमान् श्रेष्ठः सप्तकपर्दमहोदय इति सञ्ज्ञयोच्यते सम्बोध्यते लिख्यते लेख्यते च। अल्पीयस्यामपि त्रुटौ स क्रुध्यति चन्द्रहारेण सत्करोति च। अतोऽभ्यस सभ्यव्यवहारं बहिरेव" द्वारपालोऽवदत्।

ते तत्र विभिन्नाननैः कपर्दचरितमुदचारयन्। कश्चनावदत्—बक-विडालवृकव्याघ्रोपमः परमो वचोवञ्ची दम्भधर्मा एष धनीबुभूषुः सर्वस्मात् पूर्वं व्यापारमपारलाभदं पर्यालोच्य, अधिकोशाधिकारिणः प्रभाव्य, तेभ्योऽल्प-कुसीदेन प्रचुरं धनमासाद्य शौनिकेषु अष्टगुणकुसीदेन तद्विनियोज्य प्रतिमासं लक्षाधिकमाप। जनसमक्षञ्च रजते तूले समापतितमम्बरं विदार्य धनमिति सेहं हसन्, असह्यसाहसो नित्यमिथ्या वाचमगदच्च।

परं मांसमूलं वसु कथमुपयोक्तुं शक्यं धार्मिकैः।

परः प्राह 'पुरायं नितरां दरिद्र आसीत्। नयनविलासविजितरतिः केलिविलोला परमा सुन्दरी शिक्षिता व्यवहारदक्षा चास्य भगिनी विहारभूमा-(क्लब) वमरिकासेनाध्यक्षेण सायमक्रीडत्। परस्परं परिचयः प्रेमा चावर्द्धत, यस्मै सा प्रेरिताऽऽसीत्। समयरथस्य चक्रं तीव्रेण वेगेनाचलत्। तस्याः सम्पर्कादनेन बहूनि कार्याणि लब्धानि , कार्यव्यवहारेण कोटिपतिश्च भूतः। कन्या च सा दशलक्षयौतुकेन काञ्चनकुलीनस्य रैभद्रस्य पुत्रेण विवाहिता।

अपवादधूलिधूसरितमपि यशो धनघनः प्रक्षालयति इति।

परोऽवादीत्—'अननुमोदिता मद्यशालास्य वर्त्तते, यस्याः प्रतिमासं द्विलक्षमुद्रालाभः। तया लक्षशो गृहाणि विध्वस्य, दारिद्र्यमालस्यमज्ञानं रोगाँश्च तेषूत्पाद्योपवनेषु रमते। अधुनानेन गञ्जाभङ्गाहिफेनस्य राष्ट्र-व्यापी व्यापारोऽप्यारब्धः, यस्मिन् हिंसकलगुडिनां सहस्रं पोष्यते। ये पञ्चभिर्मुद्राभिर्नरं नेतारं महात्मानं घातयितुं सज्जा निर्विवादम्" इति।

परोऽवादीत्—'देवमन्दिरे पञ्च विदुषो नियोजयति, प्रतिमासं दशमुद्रा-स्तेभ्यो ददाति, एवं कदाचन कौल्माषीं पौर्णमासीं कदाचन गुडसंयाविकाममाञ्च निष्पाद्य दक्षिणायामाणकमेकं प्रदाय धार्मिकख्यात्यै फलप्रसूं क्रियां विधत्ते।

परं स्यान्नाम! सर्वत्र रूप्यकं मध्याह्ने गगनरत्नमिव सर्वोपरि द्योतते, तापयन्नप्यभिलष्यते च। जघन्यघटदासिकासूनुरपि येन पूज्यतेऽसौ मर्त्यभगव-तोऽक्रीतशुक्लाम्बरस्याव्यक्तचतुर्भुजस्य पुरुषार्थचतुष्टयदातुः सर्वदा प्रसन्नवदनस्य रूप्यकस्य प्रभावः। येन शौचाचारपराङ्मुखोऽपि कुचरितपिशाचोऽपि लोके तिलकायते चोपास्यते, येन च हत्वा भुक्त्वापि परमाश्रित्योत्तिष्ठन्

'राजवीरो' (रायबहादुर) पाधिना विभूष्यते, येन साधुरधमं कुशासनः कु-शासनं दूर्वाशिनो दुर्वासनं रुचिरचिररोचिरचिरारुचिररोचिषं कुलालङ्कारश्च कुला-ङ्गारं धावति, तद्रूप्यकं धैर्योदार्यशौर्यशीलगुणागारम्। इति।"

परोऽवादीत् 'मर्कटस्य सुरापानमिवास्य धनागमः। अतोऽस्य लीला जन-विलक्षणा"। परोवोचत् "शुनः सुमनोमालेवास्याकस्माल्लक्ष्मीरुपेता। अपेयपानीयाश्च तडागा विपुलजलाः। अधुना त्वमिनवैश्वर्यलवलब्धमदस्य कलिकलुषकृतिनोऽस्य मतिरेव विपरीता। अल्पीयसीं सम्पदमाप्य तुच्छो वैहायसीं गतिमभिलषति। इति। पराऽगदत् अहो! 'मातृमांसं विक्रीयापि प्राप्तधनो भगवानिव वन्द्यते कुलशीलविकलोऽपि करालकलिकल्मषे काले सुमनःसङ्गात् कीट इव सतां शिरः समारोहति, अभ्रङ्कषसितातपत्रः प्रकाशते च।" परः परामृशत् "समयस्यापव्यय एव भवद्भिर्विधीयते। कौतुकमिदं महत्, यत्र पङ्के पिपीलिकापादः क्लिश्यते, तस्माद्भाराक्रान्तो वृषो वोढुम-भिलष्यते। भवद्भ्यः काणां वराटीमपि नैष दास्यति। येभ्यो ददाति तेषां मूर्तिरेवापरा। असत्समृद्धिरसद्भिरेवोपभुज्यते, निम्बफलं काकैरिव। सिकतासमूहस्यापि निपीडनं न तैलाय। कुलानुरूपमेव वृत्तम्। दुःसूर्यस्य कृपाकिरणा एकान्तसेविनां सम्मतसत्यानां कुटीषु न प्रविशन्ति, ते केवलं धूर्त्तविटानां प्रशंसापराणां धनानुजीविनामेव। कः सुधीः निःसारनीरं सरः समाश्रयेत"। परोऽकथयत् "सर्वे जात्युत्सवा रक्षाबन्धनं विजयादशमी होलिका च शुक्लपक्षे भवन्ति, परं दीपावली दर्शरात्रौ। इदं सरहस्यम्। परोऽवोचत् 'परं किं कर्त्तुं शक्यम्, समन्तादधिकृता दरिद्रराष्ट्रस्य शवं चञ्चुभिर्लुञ्चन्तो विविधभोज्यमासाद्य विशिष्टोपायनानि समुपलभ्यैभ्य एव वरं प्रयच्छन्ति। ततश्च व्यर्थाभिमानो मानवो यत् किञ्चिदाच्छिद्य स्वं स्वल्पितेश्वरं मन्वानस्तथा व्यवहरति यद्द दृष्ट्वा मूर्खोऽपि विषीदेत्" इति। केचनामुं सेनायै मांसप्रदातारं परे च सद्वेश्योपहर्त्तारमवदन्। एवं दूषण-जन्यां समृद्धिं तस्यावदन्। परम्, मधु केनापि कारणेन भवेत्, सञ्चिते तस्मिन् सर्वस्तस्मै स्पृहयति। यतो विरूपोऽप्यर्थवान् सुरूपः, मृतबन्धुरपि सुबन्धुः, निर्गुणोऽपि गुणाढ्यः, अतोषितपरिजनोऽपि भर्तृहरिः, दुर्बलोऽपि जगद्धरः,

अविक्रमोऽपि त्रिविक्रमः, असेनोऽपि प्रवरसेनः, ध्वंसकोऽपि क्षेमेन्द्रः, निष्प्रभोऽपि भारविः, प्रचुराघोऽपि माऽघः, हर्षहार्यपि हर्षः, बदराक्षोऽपि पुण्डरीकाक्षः, परुषोत्तमोऽपि पुरुषोत्तमः ।

द्वारस्था घटी सस्वरमष्टधाऽऽहन्यत । बाहीकं परिवेषमुत्तीर्यान्तः प्राविशाम । मध्येपुष्पवाटिकं प्रासादः । पुष्पेषु विकासो मुकुलेषु प्रयासः फलेषु श्रीश्च । लोकस्य सत्काराय देहल्या इव शाखाया अग्रभागे स्थितानि मौनेन सङ्केतेन मन्दमधुरं सुखस्रोतः सारयितुमभिलषन्तीव स्वामिनो भयेनाकलितमौनानि हर्षेण घूर्णमानानि प्रसादमिव प्रकटयन्ति विविधान्यघमितस्वर्गसुषमानि कुसुमान्यराजन्त, सुरभिसमीरसम्प्लुते निष्तुषा कलाकर्त्तिता जलाप्यायिता दूर्वा मध्ये चैकगम्या प्रणयवीथिः । मध्ये मध्ये चक्रेषु प्रभातपवनप्रेरिताः क्षुपाः शिरः कम्पयन्तो लोकं प्रविशन्तमिव निषेधयन्तः परामृशन् क्रीतजीवना मूकवाचः, परं स्वार्थी कदा कस्य परामर्शमुपयुङ्क्ते हितैषिणः । सलिले सलीलमनिलोल्लसन्नलिनेष्वलीनामनलस उल्लास उदलासयदलसान् ।

प्रासादस्य पुरः स्फाटिकभुवि पुनरेको वृश्चिकपुच्छमुच्छो द्विनालीशाली दृष्टः । परं सोऽस्मान् वीक्ष्यैकतो भूतः । संवेशे (बैठक) भित्तिषु विदेशवनितानां चित्राण्यभ्राजन्त । तासां विभ्रमो हावो भावो वाससां स्खलनमुपेतेषु प्रियेषूपेक्षणं नसाऽधरेण कपोलाभ्यां नेत्राभ्यां भ्रकुट्या भावप्रकाशनं कारुचारुकर्मणः शृङ्गारस्य चोत्तममुदाहरणम् । एकं बृहच्चित्रम्, यस्मिन्नप्सरसः स्नान्त्य आसन् । वाप्या निर्मले जले तासां रोमकूपा अपि प्रैक्ष्यन्त स्पष्टम् । कोणेषु धवलपाषाणोत्कीर्णाः प्रायशो नग्ना उन्नतस्तन्यो विदेशवनिताप्रतिमाः कबन्धोच्चेषु स्तम्भेषु कलया स्थापिता आसन्, चतुर्षु दिक्षु पुरुषायामा मुकुराश्च । मध्ये लघीयश्चित्रमासीत्, यस्मिंस्त्रीणि शिरांस्यासन् महात्मनो नेतुः पितृव्यस्य च । सुरभिसारस्य परिमलः प्रासरत् । कदाचन कश्चनोत्तममद्यगन्धेन समः विलक्षणो गन्धोऽपि ।

संवेशे मृदुलमृदुलं स्थूलस्थूलं कलालीनमास्तरणम्, यस्य स्पर्शेन सुखमन्वभूयत । विशालोऽयं संवेशहालो महोच्चश्च । परितः प्रेक्षाभूश्च । (गैलरी)

उपत्रिंशा रम्याः स्थितिस्थापका भ्राजमाना आसन्द्यः, मध्ये च सुवर्णरजत-

मयी मोहमयी पृथुलनितम्बाऽऽसन्दी। तामेव कपर्दासन्दीं मन्वानाः स्वप्रयोजनं प्रथमं गदितुकामास्तस्या नैकट्यं भेजिरे क्रमशः। अहं महिलेत्यन्त्यामासन्दीं प्रापम्।

सम्मुखमुखपीठे पत्रभारा (पेपरवेट) क्रान्तं पत्रवृन्दं विद्युद्व्यजनेन फर्फ-रायमाणमासीत्, धनिभारेणाक्रान्तं भृत्यकुलं सङ्घटकेन प्रेर्य्यमाणमिव।

अथ क्लिन्नचक्षुरुत्थितमात्रो महामात्र इव भीषणारण्यचारिणा महिषेणेव सवर्णेन सहचरेण दुराचारोऽत्याचारेणेव स्वार्थो लोभेनेव सहितोऽहितः सताम्, पुरुषीभूतो यममहिष इव सर्वोर्वीपतिम्मन्य ऐश्वर्यमदनिश्चेतनो निकषग्रीवो घनोष्मणा स्विन्न इव, पवित्रामुदारां भारतीयां धारामपुनर्निर्गमाय कवलीकृत्य स्थूलीभूतो घनीभूतः कलिरिव कपर्द उपेतः, बद्धाञ्जलिभिर्नतग्रीवैर्मौनिभिर्नरैः सत्कृतो मध्यासन्द्यां स्थूलो मेष इव निपतितश्च।

अथ घनिवृषा महिषरुषा सरोषकलुषं परुषं क्षोभारुणया दारुणया दृशा विलोक्य रचितभङ्गुरभ्रुकुटिर्वर्तिन स्तब्ध इव वक्रतुण्डो विरूपाक्षः शतमन्युश्च युगपदेवाभवत्समदः।

तस्य शरीरात्सुरभिसारस्य सुरभिर्निःश्वासात्कश्चन गन्धश्च प्रासरत्। एतादृग्गन्धः कदाचन महाराजस्य मुखादप्यनुभूतो भवेदिति स्मरामि। महार्हो गन्धः सुरभिसारादपि बहुमूल्यः।

गर्त्तगते रक्ते अक्षिणी फुल्लौ कपोलौ यत्र तत्र सञ्चितं मांसं नवनीत-मर्दिता शालिग्रामशिलेव भ्राजमाना तनूस्तमास्यासुखमघोषयन्, नीवीं लम्बमानस्तालिकागुच्छश्चार्थरक्षणे सक्षणम्। शिरसोऽग्रभागः शनैश्शनैः केशैः, कलङ्किताया भूभागः सुजनैरिव शून्यो भवन् प्रत्यैयत। अधस्ताच्च दोषाविष्टतनोः शिरसि गाङ्गयामुनजलवन्मिश्रितेषु कलाकर्त्तितेषु केशेषु सर्तुं विकलः श्वेतिमाऽलक्ष्यत, आनुषङ्गिकरूपेण सङ्गतो गुण इव।

कहारो (कं=जलं हरतीति) जलमङ्गाच्छं पतद्ग्राहभाजनञ्चानीतवान्। असभ्यो भून्दुरुः [भुवि=भूमौ, उन्दुरुरिव लोकव्यवहारानभिज्ञः=भोन्दू] स तत्रैव गण्डूषान् कृत्वा नासामलमलमशोधयत्। सत्यम्, स्वर्णसानुनि

स्थितोऽपि काकः काक एव। ततो मुखं जलेनाभ्युक्ष्य, अङ्गाञ्छेन प्रोञ्छ्य भृत्यानीता आसन्नविंशा वातादवर्त्तीः प्रस्थं पयश्चैकश्वासेनापिबच्च।

कपर्द आस्यामधिविष्टे सर्वेषु यथास्थानमुपविष्टेषु क्षणं तूष्णीम्भावे भ्राजमाने स्थूलोपलोदर एक उत्थायावदत्—

"बुद्धिमतां देशानुरक्तानां श्रीयुजाञ्च चरणचारेण मर्त्यलोकोऽपि ब्रह्मलोकायते, कुस्थलमपि तीर्थायते, वयमद्य कृतार्था जन्म च सफलं यदद्य भवन्तं चर्मचक्षुर्भ्यां पश्यामः। वृत्तपत्राणि नेतारो धर्माचार्याः मठाधीशाः धनिनश्च यथा वदन्ति तथाभूत एव भवान्, विश्वस्योपकाराय भवादृशां जन्म........"

अस्मिन्नेव समये समायात आपातभव्यो भैषज्यविभूतिर्विविधभूती राजतदण्डोऽण्डधवलवासा आशाः सुगन्धयन् धयन्मुद्रामधु फुल्लगण्डः प्रचण्डो वैद्यमार्त्तण्डः।

—"पादौ स्पृशामि वैद्यराज, भक्षितेष्वपि कट्वम्लमधुरेषु भवद्भोज्य-भेषजेषु न मे शाम्यति मन्दाग्निदोषोऽनिद्रारोगश्च। स रोगश्च यथापूर्वं वर्त्तत एव। व्याधिः शत्रोरपि विशिष्यते भिषग्वर! उत्तमोत्तमं भेषजं व्यवस्थापय भगवन्! आरोग्यं खलु परमो लाभः" कपर्दोवदत्।

वैद्यः—भेषजन्तु स्वादीयोऽर्हत्तमञ्च प्रदीयते।

कपर्दः—परं भेषजभावापन्ने पीयूषेऽप्यरुचिः।

वैद्यः—किं किमद्यतेऽद्यतनेषु दिनेषु ?

कपर्दः—एषा महाराज! अहोरात्रचर्या। प्रातरुत्थाय किञ्चित् पयो निपीय समेतान् सम्भाव्य प्रजाकार्यं पर्यालोच्य कलाकाराणां हितं विचिन्त्य तैलं सम्मर्द्य जलमवगाह्य, भित्तिलग्नं भगवच्चित्रं धौतं वासो वसानो निरीक्ष्य मनसा नमस्कृत्य भुञ्जे। दशाब्दीभ्यो भवन्निर्दिष्ट एष एव क्रमश्चलति। मम भोज्यं साधयितुं केवलं त्रय आन्धसिकाः। एक उपदश मिष्टान्नानि, परश्चासन्नविंशानि शाकानि शाकप्रियाय, तृतीयश्च राजभोजनान् शालीन् कृशरामपूपान्, दालीं दाधित्थं काञ्जिकं राज्यक्तं तेमनं वटकान् पर्यटान्

विविधानवलेह्यान्पेयाँश्च निर्माति साधारणभोजनप्रियाय। अथ निशावशिष्टेन पर्युषितान्नेन कृताहारे परिजनेऽहं भुञ्जे। स्वजनं तर्पयित्वा शेषभोज्यमृतभोजी। पात्रत्रये सज्जं तदहं मध्याह्ने देवाय समर्प्य भुञ्जे। एतद्भोज्यं किञ्चित्स्वदते। ततः सुप्तोऽपराह्णात्प्रागेवोत्थाय पञ्चषा वातादवर्त्तीः (बादामवर्फी) उष्णं पयश्च न्यूनमेव प्रस्थात् काश्मीरमृगमदैलादियुक्तं पीत्वा शौचं निर्वर्त्य कार्यालयं गच्छामि। तत्रानिच्छन्नपि भवद्भयेन द्विस्त्रिः फलरसमास्वादयामि। कार्यालयाद् द्वित्रासु विहारभूमिषु (क्लब) गच्छामि, बन्धुवयस्यैराग्रहीतो यथाकथञ्चित् यत्किञ्चिन्निपीय निशीथात्पूर्वमेव निवृत्तो लघ्वास्वाद्य पयो निपीय शये। निर्दिष्टसमये सर्वं भुञ्जानोऽपि रसमास्वादं न जाने। शय्यानिपतितोऽपि निद्रानन्दं न लभे। सम्यक्स्वापो वपुषः परमारोग्याय। कदाचन कार्यशतकश्रान्तो घूर्णनमनुभवन् शैलबालायाः शालां यामि। नापितस्य पुत्री शैलबाला। ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रैः समानाधिकारेण शीतलेव सेव्यमाना शैलवाला, तस्यै भगवता करौ दत्तावकल्पनीयौ। स्पृष्टमात्र एव निद्रामनुभवामि।

अथ वैद्यो नाडीमामृश्य चक्षुषी विभाव्योदरमापीड्य जिह्वां निरीक्ष्य फुप्फुसे नाडीयन्त्रमाधाय, हृदयं परीक्ष्य समयव्ययेन रोगिणो हृदये विश्वासमापाद्य रात्रौ भोजनात्प्राक् स्नानं शयनात्प्रागङ्गमर्दञ्चादिश्य प्रातः सायं नवरत्नावलेहं व्यवास्थापयत।

कपर्दः—कियन्मूल्यमस्य कियच्च भक्षणीयम् ?

वैद्यः—प्रतितोलकं मुद्रासप्तशती। प्रातः सायं तोलकमितमास्वाद्य पयोनुपानम्। योगोयमस्मद्गुरुपादैर्मधोर्निदानाद्वर्षषट्कं यावन्निर्मथ्य विमृश्याविष्कृतः।

कपर्दः—तदावश्यं फलदो भविष्यति। अज्ञाननिधिर्मदर्थं सीताफलादिचूर्णं निर्ममौ मासेनैकेन। प्रतितोलकं द्विशतं तत्र व्ययितम्, परं विदग्धवनिताव्यामोहकं महालाभदमासीत्।

वैद्यः—परीक्षितव्यमेतदपि, कीदृग्विधा रङ्गभरा विभावर्यो व्यतियन्ति।

अथ चतुःषष्टिमुद्रा आदाय गते वैद्ये मुहुर्मुहुर्धार्मिकतामुत्कीर्त्तयत्सु सात्त्विकतां शंसत्सु, पुण्यप्रवृत्तिमावर्त्तयत्सु, शासनसामर्थ्यं कत्थमानेषु सद्गुणगणं गृणत्सु कुलीनतां कथयत्सु संस्थासञ्चालनतां वदत्सु, पूर्वजानां सद्वृत्तं वर्णयत्सु, सदाचारचर्चां चरत्सु मितकथमप्यमितकथं सम्पादयत्सु सौखशायनिकेषु सौखरात्रिकेषु, सौस्नातिकेषु च शंसां श्रयत्सु खरणाः स गलं शोधयन् श्वस्वरेणावोचत्—'मुनिम, क्व गतोऽसि !"......

"एष दासः"—श्मश्रुगुल्माच्छन्नैःशनैरवरुन्धाना वाङ् मुनिमस्य मुखान्निरसरत् ।

तस्य दृष्टिरधुनाऽस्मासु पपात । यदा तस्य निःस्पन्दे उत्सुकतां व्यञ्जाने क्षुधार्त्तस्य भिक्षामिव भिक्षमाणे अक्षिणी मयि व्यश्राम्यताम्, गौरवहर्षविस्मयैर्निःस्पन्दनेत्रो मय्येव चक्षुरक्षिपत्सर्वतः पूर्वमालापेच्छया, तदैवाहं तमघ्यैषि, परं व्यवहारज्ञः स क्रमशो व्यवहरन्नुच्चक्षुः सङ्केतेनैव स्वस्वव्यापारान् वक्तुं प्रैरयत् ।

प्रथमासन्दी—पातकपुञ्जपातिनीममङ्गलभङ्गमङ्गलां प्रयातः प्रातर्गङ्गां फलमूलशालि कूलं प्राप्य कदलीफलत्वचः संयोगात् स्खलितपादो जङ्घाभङ्गमवाप त्रिसन्ध्यं गङ्गाङ्कविहारी महर्षिकल्पो महामहोपाध्यायः। जितेन्द्रियग्रामोऽग्रिमो विपश्चिताम्, अस्तरजस्तमा आत्मतत्त्वनगराध्वगोऽप्यस्पृष्टरजा राष्ट्रश्लाघनीयचरितो विद्यातत्त्वज्ञचक्रवर्त्ती शीलसीमसमुद्रः स भारतीयसंस्कृतावासन्नविंशान् ग्रन्थान् निर्माय स्वार्जितं तत्रैवाव्ययत । भारतसंस्कृतेर्विज्ञानस्य च स्वरूपं निश्चेतुमेभिरेव महर्षिभिः शोणितं दत्तम् । वेदित्रृषु भूयोविद्यः प्रशस्यस्तेषु च सन्दर्भकः । अप्रजसामुना गृहमपि संस्कृतविद्यालयाय दत्तम् । सोऽधुनाऽऽतुरालये प्रवेशितः । तदर्थं गोदन्तपट्टबन्धन-[पेरिस प्लाष्टर] मत्यावश्यकम् । भवाँश्च तस्यार्हत्तमः शिष्योऽधुनाचार्यं सेवित्वाऽऽत्मानं धन्यं कर्त्तुमर्हसि । मङ्गलोदर्कं मनोज्ञं कर्म भवादृशां कुलजम् ।

कपर्दः—सत्यं वृद्धो भवान् । षष्ठ्यां बुद्धिविनष्टिरित्याभाणकमपि तथा । तत्त्वं सम्यङ् न बुध्यसे । वर्षीयान् महामहोपाध्यायो जन्मार्जितानामनन्तपुण्यानां फलं भोक्तुममुं लोकं त्यजति, भवाँश्च मूर्खमित्रं तस्य काय

बाधामापादयति। परमहं शिष्यधर्मान्नापगमिष्यामि। क्षम्योऽहम्। गौरीपतेर्गले गरीयो गरलमिव न प्रभावमातनुते सतां दुःखम्।

प्रथमासन्दी—श्रेष्ठ ! किमिदम्? साश्रुणा सार्त्तनादेन धर्धरता परमया ऽऽशया महामहोपाध्यायेनाहं भवत्सकाशं प्रेषितः। वाताभ्रविभ्रमायितं धनम्, शरज्जलदगतिमधुरा विषयाः, तडिच्चञ्चला सम्पत्। विचारो हि गुरुवचनेष्वनाचारो महान्। सतामादेशः श्रवणमुपगत एव पाल्यः। विदिताशेषतत्त्वानां महर्षीणां परोरजांसि श्रेयांसि वचांसि न क्वचिदाहन्यन्ते। अपरिमितवसू रत्नाकरः सतृष्णं सेवमानान् परुषोर्मिणा तिरस्कुर्वन् वाडवाग्निना दाह्यते किल?

निर्भरभृतककुप्कन्दरमुदारं यशः कस्मादकस्माद् विनाश्यते? धरायां साधु सुधीध्येयं तवैव नाम। कमलिनीकिशलयजललवचञ्चलं जीवनं धनं मनश्च गुर्वदिशेन सत्कर्मणि योज्यम्..............।

कपर्दः—मतिर्विपरीता वार्द्धके, परं नाहं वृद्धः।

प्रथमासन्दी—सरहस्यं गणितं धर्मस्य तत्त्वञ्च यदनुग्रहात्प्रापः, दुर्जातोऽपि व्यापारवैशारद्यं गमयित्वा विस्मरणशीलं मधुरप्रियं लोकं प्रभाव्य सवर्णैर्विरुध्यमानेनापि येन त्वं त्रैवर्णिकीकृतः, सोऽधुना प्रसादसुमुखो भूत्वा गुरुं सेवस्व कृतज्ञतां ज्ञापयस्व, कृपादृष्टिवृष्टिं लभस्व च।

कपर्दः—बहु भवतोपदिष्टमक्लिष्टया बुद्ध्या, परमिदमविवेकविलसितम्। आचार्यस्य गङ्गालाभो गरीयान्। अस्तु, अधुना परस्यावसरः, क्षन्तव्योऽहम्।

द्वितीयासन्दी—अहं गुरुकुलादुपेतः। वैदिकप्रणाल्या छात्रा अध्याप्यन्ते तत्र। ऐषमः परीक्षासु सर्वे सफलाः। विश्वविद्यालयाच्छिक्षाविभागाच्च साधुवादा अधिगताः। भवनन्तूटजप्रायमेवास्ते, तत्त्वास्ताम्, परं केषाञ्चिद् ग्रन्थानां तत्र महत्यावश्यकता वर्त्तते, यदर्थमहं कृपातिक्रान्तकल्पपादपं देवमुपेतः।

कपर्दः—प्रतीयते भवानेव जगत्त्रयत्राणविधौ धृतव्रतो निसर्गसुहृद्विश्वस्य। हुम्, आर्यसमाजे नास्ति मे विश्वासः। अथ चाहं विना मूल्यं परामृशामि, शृणु, कमपि भद्रमानुषं विना कार्यं मोपैहि। क्षन्तव्योऽहम्। परस्यावसरः।

तृतीयासन्दी—सर्वहितकारिणीसभायाः प्रतिनिधिरहम्। जानात्येव भवान् सभायाः विस्तृतं कार्यम्। मेलेषु जलपानं श्रान्तभ्रान्तक्लान्तानां स्थाने

प्रापणमकुटुम्बिनां दाहो दुर्भिक्षे जलौघे महामार्यां दीनरक्षणे च सक्षणा सा। अधुनैकाऽहोरात्रव्यापिनी प्रपाऽभिलष्यते समुद्घटयितुम्। यस्यां प्रतिवर्षं सहस्रमुद्राणां व्ययः केवलम्। तदर्थमुत्कृष्टप्रतिष्ठो धनिग्रामाग्रगामी भवान् प्रार्थ्यते। गुणरत्नगणाश्रयः प्रख्यातसुकृतो भवान्। भवद्गुणामोदो दिशां श्रवसामवतंसः।

कपर्दः—एतावत्येवेच्छा। तृषां मृषा कृशां मा कृथा भूसेविन्! सिद्धिर्भवेन्न वा। हुम्, कोऽस्या सभायाः सञ्चालकः?

तृतीयासन्दी—समाजसेवाव्रतो धर्मदासः।

बलवार्योऽनार्यश्छद्मवेषो धर्मदासः। तज्जाने, क्षन्तव्योऽहम्। मेघमुक्तं मुक्तासितं पयोऽपि धरासङ्गान्मालिन्यं भजते'—

ललाटतटघटितभङ्गुरभ्रूरुदग्रस्वनस्वरः स्मयमात्सर्यमूर्त्तिर्दृष्टिनिःश्वासोत्सृज्यमानविषो द्वेषोष्मतप्तः सरोषं पाषाणपरुषाक्षरमवोचत् कपर्दः।

'नहि निशीथवर्त्तिनं चन्द्रं सूर्यो द्वेष्टि, किन्तु समकालमेव' अहमचिन्तयम्।

तृतीयासन्दी—क्व खद्योतः क्व च प्रद्योतनः? क्व सुमेरुः क्व च सर्षपः? क्व काचः क्व च काञ्चनम्? क्व कनकः क्व च कल्पपादपः? भवतोरन्तरमपि तद्वत्। परमदृष्टसमुद्रः सरितामेव महत्त्वं मनुते। कार्यन्तु स करोति, परं पल्लीप्रमोदः कथं नाम नागरिकान् प्रमोदयेत्? बिलान्धहारिणा क्व तरणेः साम्यं दीपेन? चन्द्रग्रहभा तावदेव भास्वतो यावन्नोदयः।

कपर्दः—व्यापारे व्यग्रः पश्चात्सूचयिष्यामि। अस्तु, प्रघणं प्रति गन्तुं पादौ परीक्षस्व। नमस्करोमि। परस्यावसरः—

तृतीयासन्दी—परस्परं न्यूनता तु भगवन्! सर्वेषामेव। केचन भवादृशस्यापि दोषं वदन्ति। विमलमप्यम्बरं धूमो मलिनयति।

कपर्दः—भूरिच्छिद्रोऽपि तितउस्तुषदोषविवेचने वित्तः। दोषासक्तिस्त्वत्रिपुत्रस्य कलानिधेः सुधाकरस्यापि। आम्........

चतुर्थ्यासन्दी—धर्मसत्रस्य सचिवोऽहम्। महर्षिसमा विद्वांसः संन्यासिनो महात्मानश्छात्राश्च तत्र भुञ्जते। तस्य स्थायी दृढश्च प्रबन्धो विधेय इति भवन्तमर्थिसार्थकल्याणकल्पतरुमुपेतः। यशःकुसुमिता शंसासौरभा कल्याणा-

कीर्णा सुकृतिवाटिका सर्वानिवास्मानाकर्षति तर्पितश्रुति तिमिरकृत्तावकं यशश्च। ऐषमस्तत्र सनातनधर्मायुर्वेदमहाविद्यालयोऽपि स्थापितो दीनानाथानां कृते।

कपर्दः—मन्ये लोकस्य योगक्षेमाय भवानेवाधिकृतः। अये वैद्य, स्वकार्यं कुरु, व्यर्थाडम्बरे तीर्थकाक इव मा भ्रम। भवत्सत्रात् पूर्वमपि जनकार्यं ससुखमचलदेव। परं स्वार्थी स्वोदरपूर्त्यै किमप्याडम्बरताण्डवं करोति। भवानपण्डितोऽपि सर्वत्र समादृतः पत्नीबलः। अस्मिन्कार्ये गरीयो धनमर्जितं गृहं निर्मापितञ्च। सर्वं दिनं भिषक्पाशोऽपि पुष्परथारूढो भ्रमसि भ्रान्तजनाद्धनमर्जयसि च पाचकस्य पुत्रोऽपि। सम्प्रति शिरःसस्यं पक्वम्। सन्तुष्टिश्चिन्तामणिः प्रपञ्चापणे पण्डित ! नैतत्तवानुरूपम्। क्षम्यतां गम्यतामधुना परस्यावसरः। अधिकोऽभिलाषश्चेत् पिष्टं मरिचं पक्षकोटरे रक्ष, कस्याप्यक्षिगोलके प्रक्षिप्य तस्य पक्षकोटराणि परीक्षस्व। प्रार्थये, मामनुजानीहि वक्तुम्, यद्भवानिमामासन्दीं रिणक्तु, अन्यथा रामसुभावेनैतत् करणीयं भविष्यति।

चतुर्थ्यासन्दी—नष्टदृष्टिर्मा भूः, ईश्वराद् बिभीहि विभविन् !

कपर्दः—स मम नीव्यां वर्त्तते। कः संसारे मत्तोऽन्य ईश्वरो धूर्त्त ! स काश्चनेश्वरः कल्पितः क्वाप्यस्ति न वा किमपि कर्त्तुं क्षमो न वा, परं मम मञ्जूषायां कोटिश ईश्वरा रुद्धाः सन्ति, ये उन्मोचिता नवां सृष्टिं क्षणेन रचयन्ति। अहं तेषामनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादकानामधिपतिर्हिरण्यकशिपुर्देवदानवमानवसिंहः। अथ चाहं दिव्यदृष्टिः, लौकिकं पारलौकिकं भूतं भविष्यच्च पश्यामि करामलकवद्।

पञ्चम्यासन्दी—ग्रीष्मोष्मतप्तः सत्फलच्छायं पादपमिव त्वामुपैति लोकः। यदहं ग्रहीतुं समेतस्तद्भवान् निर्भयं सानन्दं दातुमाकुलः।

"सुपात्राय सर्वस्वं दातुं सदा विकलः कपर्दः। पृषतैकतोषी किमहं कुर्यां धनस्य। अथ च सर्वं भवतामेव। अहं तु न्यासधरो लोकाज्ञया व्यये।" कथयाभिलषितम्। किं देयम् ? भवने नात्रास्माकं किमपि।" प्रेमप्रसरैः प्रसारितास्यो हसन्नहन्त्वमहत्त्वभ्रष्टबुद्धिर्वाक्कृपणोऽपि कपर्दोऽवदत्।

नरभक्षिणः केशरिण इव रक्ताः पीतास्तीक्ष्णास्तस्य दन्ताः दृक्पथमुपेताः। हास्यशिथिलात्तस्यास्यादेकः पृथुलो लालाबिन्दुर्धारयानुगतः पपात।

पञ्चम्यासन्दी—एतादृश एव श्रुतो भवान्। अहमनुभवाय परामर्शायोपदेशायायातः। मद्यं व्यापारिणो मस्तिष्कञ्च पुरातनमेवोत्तमम्।

"लोको विगायेच्छंसेद्वा परं मया तु लोकहितमेष्टव्यमेव। मम तु प्रधानं कर्म पीडितानां पतितानां दलितानां गलितानां शीर्णानां जीर्णानां दीनानां हीनानां विधवानां वनितानामुद्धरणम्। भगवता दत्तं कर्म तु करणीयमेव।"—लोकाय शर्करया समं विषं पाययन्नवोचत् कपर्दः।

पञ्चम्यासन्दी—आयकरीया मां त्रासयन्ति, किमनुष्ठेयम्? आदिश।

कपर्दः—व्यर्थानि खातपात्राणि पृथ्वीतलीयं (पेट्रोलियम) निक्षिप्य विपणेरवकरेण सह दाह्यानि। अग्निसेनायां (Firebrigade) जनपदसेवाविभागाच्च प्रमाणपत्रमासाद्यं सर्वं दग्धमिति। पुनः परसञ्ज्ञया व्यापारो विधेयः। आश्वासप्रतिष्ठानादप्येवं लाभो भविष्यति।

पञ्चम्यासन्दी—भवान् वस्तुतः परमोऽनुभवी। अत एव लोको दरवारं (दरं=भयं वारयति) समैति। त्वमनल्पश्रुतो विश्रुतयशाः।

षष्ठ्यासन्दी—एष साहित्ये संस्कृते विदेशभाषायामाचार्यो विश्वविद्यालयस्य भास्वद्रत्नम्, साहित्यक्षेत्रे सुख्यातश्छात्रप्रियो मोहकमूर्त्तिरस्माकं ग्रामेऽध्यापको नितरां सेवाव्रतः.........

कपर्दः—अलं जिह्वाश्रमेण। शतं सार्द्धशतं वार्जयतः शंसा वाचो मिथ्यायोगः। एतद्वेतनं द्वारपालानाम्। मुधैव तिलस्तालो विधीयते समयस्यापव्ययश्च।

षष्ठ्यासन्दी—एष महामहोपाध्यायस्य............पुत्रोऽपि.........

कपर्दः—अलमलम्। न सिंहस्य शकृत् सिंहः। क्षमस्व महात्मन्! परः कः?

सप्तम्यासन्दी—अहमग्रगामिदलस्य कर्मकरः धनस्योपयोगं परामष्टुं भ्रमामि। राष्ट्रस्य न्यासधरान् परीक्षितुमनुत्तीर्णांश्चापरविधिना।

कपर्दः—[आतङ्कित इव] रात्रौ......भवता समेतव्यम्।........भवद्भिर्विचार्यम्.........मुनिम क्व गतोऽसि

मुनिमः—[परिवेशितपात्रे लोकसमक्षं मुखं ददत् स्वामिना भर्त्सितः पालितः श्वा यथा पुच्छमेजयति तथैवैजमानः] आम्, एषोऽस्मि स्वामिन् !

कपर्दः—एनं महाशयं मरुत्तरेणेप्सितस्थानं प्रापय।

लोकविकारोद्विग्नाः सन्तः सदा सुरसरित्तटमाश्रयन्ते। अतोऽहमप्यत्र सुरसरिति गृहं निर्माय निर्मायान् भवादृशान् लोकोपकारिणः सेवमानो निर्मायमानसो निवसामि। परः कश्चन....?

अष्टम्यासन्दी—सनातनधर्मसंस्कृतमहाविद्यालयादुपेतोऽस्मि। तत्र कूपस्य दुरवस्था। लघवश्छात्राः कष्टेन भीत्या च जलं निःसारयन्ति। श्रीमतां पित्रा परिष्कारितो जीर्णः कूपोऽधुना पुनरुद्धारमपेक्षते। शतमुद्राणां व्ययस्तत्र सम्भावितः। भवाँश्च तस्य यशःप्रसूतिः सुतः प्रसूत इति परमो नः प्रमोदः। संस्कृतस्य संस्कृतज्ञानाञ्च भवानेवाश्रयः। आपन्नार्त्तिपरित्राण-चरित्राणां समागमे पुण्यपण्यमेव कारणम्। पुण्यफलं परं यद्भवानद्य दृष्ट-श्चारुचरितो नरमणिः। वस्तुतो भवान् धन्वदेशीयोऽमृतनिर्झर इव।

कपर्दः—कस्यचित् कोशस्योत्सेधो (सेंधमारना) विधेयः। भवान् बुद्धि-मानपि प्रतिगामी। अस्मिन् युगे वर्त्तमानोऽपि षोडशशताब्द्यां व्यवहरति। क इच्छति संस्कृतम्। भग्नवराटाय पदपद्या धर्षयन्तो मिथ्यैव रथ्या मृद्नन्ति संस्कृतज्ञाः। संस्कृताय दानं भस्मनि हुतम्। श्रीश्वरो गोविन्दको विदेश-भाषाविद्यालयाय दत्त्वा रैभद्रताम्, वाजः कापटिकः सम्मानितां न्यायाधीशताम्, रूढमलः साचिव्यम्, उत्सवेषु प्रचुरं दातुं विज्ञपको दुर्गरो जनमानसे स्थानम्, चौर्यबलः पूर्णमलो लौहस्यानुमतिपत्रम्, सिकतानां शर्करया मेलनपटुधर्मप्रति-प्रतिष्ठानां मन्त्रित्वञ्चापदापद्विग्रहो विग्रही तस्करोऽपि साधुः सान्तप्रसादो-प्यनन्तप्रसादो जीनोऽपि तरुणः। परदुग्धोपजीविनां विडालानां मसृणगुणनेन लोकनिबन्धनशालिवागुराणाञ्च कथैव का ? कर्म भगवन्, सामयिकमेव कार्यं भिक्षूत्पादनञ्च निरोध्यम्। एतच्च भवतैव सर्वप्रथममनुकरणीयं करणीयम्। मानवो यदा जागर्त्ति तदैव प्रातः।

हुम्, असत्सुखान्वेषणसम्भ्रमेणानुचितमर्जयितुं जगद् भ्रमति।

अथ च शतं किमल्पम् ? अनेन तु कश्चनायुक्तः प्रसादयितुं शक्यः। अस्तु, मूर्त्तिं स्थानादस्मादपाकुरु कृपां कुरु।

अष्टम्यासन्दी—अतिद्रुतवाहिनी वैभवनदी। प्रवहन्त्यामेव स्नातव्यं श्रेष्ठ ?

कपर्दः—श्रुतम्। अलं कष्टाय।

नवम्यासन्दी—विधवाश्रमे शतशो विधवाः शिक्ष्यन्ते, प्राप्ते च पत्यौ गृहस्थाश्रमे प्रवेश्यन्ते। भवानपि तस्याध्यक्ष आसीदतः किं बहुना ?

कपर्दः—आम्, मदालसानाम्न्येकाऽध्यापिका तत्रासीत्। तत्प्रेरणया तदानीमहं सभापतिरासम्। परं मम मते विधवानां पुनर्विवाहोऽहितकरः। अथ च नाहं लोकं पराश्रयिणं द्रष्टुं पारये। एतादृशेष्ववसरेष्वनौदार्यं मे व्रतम्।

नवम्यासन्दी—मदालसाया उपस्थितावाश्रमस्यार्थव्यवस्था सुष्ठ्वासीत्। प्रायशः सर्व एव धनिन आश्रमस्य भक्ताः पोषकास्त्रिकालदर्शिनो जीवनार्पणप्रणयिनस्तस्याः पादपाणिस्पर्शव्यग्रपाणिपल्लवाः संरक्षकाश्चासन्.........

कपर्दः—[मध्य एव] प्रेयस्याः सकृद्धासस्य मूल्यं शतायुतं जनसेविन् ! विश्वस्य सारो हासः। मस्तिष्कं तव विकृतम्, कस्मादपि मानसरोगज्ञात् परीक्षां कारय। अरे पक्षपातस्तु कलानिधेरपि यः कुमुदेष्वनुरज्यति कमलेभ्यश्च विरज्यति।

नवम्यासन्दी—सम्प्रति सा चलचित्रे विपुलं धनं यशो मित्राणि चार्जयति। परमाश्रमस्य दशा चिन्त्या। भवाँल्लोकालोको लोकशोकविमोकश्च........एतत् परिवर्त्तनं न शोभास्पदम्।

कपर्दः—केशववासववशकरी मस्करीशमोहिनी सौन्दर्यविश्रमभूर्भवतीव्रतापनिर्वापणसुधासरित् कलिमलच्छेत्री चिन्मयी निश्शेषपेशलयोषिद्रत्नं प्रभुतेव जनस्य दृष्टिमाकर्षन्ती सुरेव मादिनी मदालसा। तस्याः सुधामधुमानमोचिन्यो वाचः, क्षीरक्षपाकरहासावदातमुदात्तं यशः विश्वोत्तममङ्गपरिष्वङ्गञ्च काजास्तनी लब्धुं शक्नुयात् ? तमःप्रहतये तारकासु प्रयतमानासु दिवसं कर्त्तुं भानुमानेव प्रभुः। एकयाऽलक्ष्यया सर्वोपरिशाश्वतशक्त्या

विश्वं व्यवस्थाप्यते नरस्तु निमित्तम्। अतो नात्र कार्या विचारणा। अन्य आयमार्गो मृग्यः। काप्यन्या कौशेयमयी वागुरा प्रसारणीया। अपरिवर्त्तनं गर्दभस्यैव गुणो नापरस्य। नान्धसहस्रं सहस्रांशुं क्षममीक्षितुम्, सचक्षुस्त्वेकोऽपि। परः पन्थाः प्रेक्ष्यः। परस्यावसरः—

नवम्यासन्दी—परमधुना मद्रदासीया(मद्रास) स्रजीयसी चन्द्रलेखा स्वास्थ्यं संवर्द्धयितुं वर्षमेकं स्थास्यति सञ्चालिकापदे केवलं सहस्रं प्रतिमासमाददाना। तदर्थं देवं सूचयितुमागतः।

कपर्दः—अहमस्मिन् कार्ये दानेच्छुको नासं परं भवान् साग्रहश्चेत् 'मुनिम ! धर्मार्थखाते अस्मै सहस्रद्वयं देयम्'। पश्चात् कदाचन मां पश्य। अपरञ्च शृणु, चन्द्रलेखाऽस्मद्बकधवले नैशभोजायाऽऽदेश्या। अस्माकं मरुत्तरं यास्यति दशनदनोत्तरम्। परः परा वा तया सह न भवेत्।

नवम्यासन्दी—यथाज्ञं भविष्यति।

दशम्यासन्दी—प्रातःकालच्छायेव क्षणस्थायिनी लक्ष्मीः, निमिषतो नश्यज्जगद्विलसितं शारदजलदलीलालोलं जीवनं तृणतुषलघ्वी च सम्पत्प्रतिष्ठा।

अस्यां स्थितौ स्थाय्यनपायि किमपि विधेयम्। धनं किल दानोपकरणम्।

सस्नेहं सप्रेम सस्मितं सोदाहरणमालपन् केनापि विशेषोद्देश्येन समायातीतीव चिन्तयन्, तदभिमुखं पश्यंस्तद्विचारानधीयानोवर्त्तत कपर्दः।

दशम्यासन्दी—अस्मद्ग्रामात् त्रिंशद्ग्रामाणां पन्था विद्यते। पिपासवः पथिकास्तत्र क्षारं जलं निपीय जलविषेण प्राणविरहिता भवन्ति। अतोऽस्माभिः सरस्तटे पान्थक्लान्तिविनाशकः कूपो निर्मातुमभिलषितः। ग्रामीणैः परमश्रमेणैकलक्षसङ्ख्या इष्टकाः पाचिताः सुधा च सङ्ग्रहीता। अधुना कूपकार्यनिपुणाय कारवे कर्मकरेभ्यश्च पारिश्रमिकं दातुं धनं सङ्ग्रहीतुमेतन्मण्डलं कर्णकीर्त्तीनां समक्षमुपेतम्। तृट्तप्तपान्थपटलोपेक्षापातकमस्मान् दहति। सप्तकपर्द! वस्तुतस्त्वं मरौ कल्पपादपो गाङ्गप्रवाहश्च। देशशोभाकरो वाञ्छापूर्त्तिवर्षर्त्तुस्त्वमेव। कपर्द! अन्ये धनिनो ह्योजाः, त्वञ्च पोतपटे (पोतडिया) एव महाघनः।

कपर्दः—कतिवर्षाणि विद्यते भवतां ग्रामस्तदन्तर्गतः पन्थाश्च ?

दशम्यासन्दी—अस्माकं ग्रामः प्राचीनतमोऽस्मिन्मण्डले पन्थाश्चैतिहासिकः।

कपर्दः—अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते। प्राचीनतमे ग्रामेऽस्मिन् यदद्यावधि जातैर्यातृभिश्च नानुभूतं तत्कथमधुनानुभूयते ? पुनश्चैतिहासिके ग्रामे परिवर्त्तनं भयावहम्। पुनश्च शुभेच्छोर्निर्दोषः परामर्शो यद् येन श्रमेणेष्टकादि साधनं सङ्गृहीतम्, तेनैवोत्साहेन कार्वादिश्रमस्तेभ्यो देयञ्च सङ्ग्राह्यम्। क्षुद्रसेवायै परार्थनमैतिहासिकग्रामस्यायशस्करम्। पुनरिदं परमं खेदस्य दुःखस्य चास्पदम्, यन्मनुष्यः कथमीश्वरशासनं भङ्क्तुमुद्यतः ? तेन यत्र जलं क्षारं कृतम्, गुणायैव तत्। परं मुग्धो मानवो मधुरेऽपि पयसि शर्करां योजयति। अस्तु दश दिशो मुक्ताः, यथेच्छं विहरत। परमहं विपरीतरतिं नेच्छामि। परस्यावसरः—

एकादश्यासन्दी—अहं वामाचरणो न्याये ज्योतिषि चाचार्य्यः सशिष्यः कर्म्मोर्मिविप्लवेनेत आयातः। पथ्युपेतेयं कलङ्किता। इदञ्च निष्पत्रं निश्शाखं दण्डकारण्यम्। त्रीणि दिनानि बुभुक्षितः क्षुच्छान्त्यै त्वामुपेतः। नात्र क्वापि दुर्भिक्षम्, परं सुभिक्षं नास्ति।

कपर्दः-आ एवम्, वामाचारिणां कृते कपर्दगृहमनावृतद्वारम्, यल्लोकः सानन्दं सहसा सङ्गाहते। परं शृणु, गणिकागणकौ समानधर्माणौ निजपञ्चाङ्गनिदर्शनोत्सुकौ नाहं सन्मन्ये। विद्वांसः पुरा शतसहस्रवर्षं यावदब्भक्षा वायुभक्षा अभूवन्, परमद्य तु बीजनाशो भूतः। वेषेण विज्ञाः....... । क्षमस्व भूदेव, अहं किल साधारणो व्यापारी, त्वम्पुनराकाशं नारिकेलखर्पराकारं पश्यसि।

—भवन्मित्रं पण्डितराजो देवराजो मां भवत्सकाशं प्रैषयत्.......कुशाग्रविक्षतपाणिः विपादिकाविपन्नपादो वामाचरणोऽवोचत्।

—"देवलः, अस्माकं मित्रम्, हुम्, क्वचन पञ्चानननामपि शशाः सुहृदः ? सपक्षापि पिपीलिका किमिन्दुं शक्नोति चुम्बितुम् ?" स्वगन्धेनान्धो मृगमदमृग इव कपर्दोऽवदत्। द्वाःस्थं रामललितं नामग्राहमाहूय "एनं बाहीकं पन्थानं दर्शय"—इत्यादिशच्च।

मौनमवलम्ब्य तस्मिन् गते पर आगत्यावदत् अहं गोरक्षासभासचिवः। गवां स्थितिरद्यत्वे चिन्त्या। लक्षशो गावो हन्यन्ते प्रतिदिनम्....... ।

कपर्दः—मतौ वैपरीत्यम्। व्यापारी व्यापारदृष्ट्या सर्वं पश्यति, धर्मचर्चा धर्मस्थाने। विचारय भद्रमानुष! गोर्मूल्यं शतम्, मारितायां पुनर्द्विशतम्, तदा को मूर्खो न व्याप्रियेत? धर्मस्य तत्त्वं गुहायां निहितमगम्यमृषिभिरपि। व्यर्थाडम्बरं मा रचय व्रजाधुना।

तस्मिन् गते परोऽविशद्दुग्धधवलवासा द्विधारां क्षुरिकामिव चञ्चदुष्णीषिकां दधानोऽवदच्च—निर्वचनसङ्घर्षायोद्यतोऽस्मि, साफल्ये भवन्तोऽपि लाभान्विताः। साफल्यञ्च ध्रुवम्। परं सङ्घर्षे लक्षमुद्राणामावश्यकता।

कपर्दः—धनं मे व्यापारासक्तम्। षण्मासोत्तरं भवते द्विलक्षं दातुं सज्जः, लज्जेऽधुना सेवायै न समर्थः। पूर्वस्मिन्परस्मिंश्च भवतः को भेदः। कासुचिद्रात्रिषु तमः पूर्वमुपैति, कासुचिच्च पश्चात्, परं प्रकाशे साम्यम्। अधुनाहं विपन्नः कथमपि सम्मानं रक्षितवानस्मि द्यूते क्षीणार्थः। सफले श्रीमति कल्प्यां स्थितिं कल्पयिष्यामि। अस्तु, वन्दे मातरम्।

तस्मिन् गते परस्तदासनमलञ्चकार—

कपर्दः—शणपटस्य भावः कीदृक्?

"भाव उष्णः"

कपर्दः—रजतम्?

"दुर्गरोऽक्षिणी निमील्य क्रीणाति"

कपर्दः—मरिष्यति विनैव मृत्युमबुद्धिः। विदीर्णवेणुदण्डस्य ध्वनिरिवाभूत्। भारतीयलौहम्? (Indian iron?)

"मुद्राराक्षसो विक्रीणीतेऽनवधि"।

कपर्दः—कारायै प्रसर्पति मूर्खः। किमन्यत्?

"श्रीमतः किं तिरोहितम्, वामाक्षिस्फोरणेन वाणिज्यारमघ उर्ध्वञ्च प्रापयितुः.........

कपर्दः—तूलम्? [कपर्दः प्रलम्बमुज्जगार, वृष्ट्युत्तरं रौद्रातपे कश्चन मृत्कोष्ठो भूमिमधिशयित इव प्रत्यैयत]

(ह्रासमवरुन्धानः) "मोहमय्यां वाणिज्यार उष्णः।"

कपर्दः—रजतस्य शिलाशतं शणपटस्य पञ्चसहस्रं तूलस्य दशसहस्रं बन्धा अधुना क्रेयाः, भावो दूरालापेन सूच्यो लोकस्य वृत्ति(रुख)श्च ।

तस्मिन् गते तादृश एव सद्वेशः पुनस्तदासनमाससाद द्विलालः [द्वौ लालयति, दलाल] गोपालस्य जयं व्याहृत्य वक्तुमारभत च—

"जैनस्य पुत्री विद्यते षोडशी मेनकेव विश्वमित्रा। पञ्चलक्षं तिलके पञ्च च विवाहे दास्यति, यदि श्रीमतां सुतेन सह सम्बन्धाभिलाषः।

कपर्दः—मुद्राणां तु प्रश्नो नहि। बालिका सुभगा भवेत्। अस्माकं कुलस्य परम्परा मानश्च रक्ष्येत तत्तु सर्वं देयं कार्यमेव। मुद्रास्तु चण्डको विंशतिलक्षं दित्सति यौतुके वस्त्रयन्त्रञ्च ।

द्विलालः—परं सा मैश्री विद्यते, तया सह सम्बन्धः कथम् ?

कपर्दः—उन्मत्तोऽसि, माघे ज्येष्ठं पश्यसि। अये पुँल्लिङ्गतिलक ! सम्बन्धोऽद्यत्वे रूपधनाधीनः केवलम्। परं तस्य कन्या स्थूलेवास्ति। अन्यः कश्चनैककन्यः सम्बन्धी मृग्यः, दश सहस्रं दास्यामि तुभ्यम्। कन्यायाः सौन्दर्ये नाहं दृढाग्रहः। सौन्दर्यं मम नीव्यां वर्त्तते। अप्यज्ञासीः ?

तस्मिन् गते पुनरेक आयातः साधुवेशः।

कपर्दः—ज्योतिर्विदे नमः।

ज्योतिर्विदः शिखायां पुष्पं गले रुद्राक्षमालोत्तरीयञ्च, कपाले रक्तचन्दनविन्दुर्धौतं वासश्च। स निरुपानद् उपकपर्दमासन्द्यामुपाविशत्।

ज्योतिर्विद्—स्वस्त्याविःस्तात्। अस्मिन्वर्षे राहोश्शनैश्चरेण युतिर्वर्त्तते। एषा कष्टदा। गुरुबुधौ स्त्रीसौख्यदौ। कयापि नवीनः सम्बन्धः। राहोश्शान्तिरवश्यम्भवेत्।

कपर्दः—किं करणीयं भविष्यति ?

कपर्दस्य वराटिकाभं चक्षुर्विचकास। स ताम्बूलान्यास्वादयामास चत्वारि चतुर्वारम्। निष्ठ्यूतभाजनन्त्वासीदेव मध्ये मध्ये पूर्णमुखं पिच्चकार च।

ज्योतिर्विद्—महामृत्युञ्जयजपः शनैश्चरस्तोत्रपाठश्च।

कपर्दः—कियान् व्ययः ?

ज्योतिर्विद्—पञ्चाशन्मुद्राः प्रतिमासं यथेच्छं भोज्यञ्च ।

कपर्दः—विद्यासागरस्तु सार्द्धाः सप्तमुद्रा अग्रहीदेकां वेलां भोजनञ्च । सर्वं दिनमस्मत्कर्मण्येव लग्नोऽवर्त्तत । कस्य ताम्बूलमपि तस्मै नास्वदत । परमः सन्तोषी । तादृशा विज्ञास्तु भवन्त्येव नहि······

ज्योतिर्विद्—महर्घे समये कथमेतत्कर्त्तुं पार्य्यते ?

—तर्हि त्रिशन्मुद्रा दास्यामि प्रतिमासम् । सर्वमस्मिन् समायातम् । परं कार्यं सिद्धं भवेत् । सिद्धे कार्ये पायसं भोजयिष्याम्युदरपूरम् ।

मां वीक्षमाणः काल्पनिकवस्तूनां व्यवसायी कपर्दोऽवदत् ।

ज्योतिर्विद्—स्वादीय आदीयते पायसं भवत्प्रासादे एव । यस्मै जन्मान्तरेभ्यस्तृष्णाकुलः । शनैश्चरः सर्वं साधयिष्यति । इति गदन् उत्थितः । तामेवासन्दीं परः प्रतीक्षमाणोऽध्यतिष्ठत् ।

"अहं गणिताध्यापकोऽस्मि । अध्यापकः फणी मामसूचयद्यद् भवन्तः स्वसुतं पाठयितुं गणिताध्यापकं वाञ्छन्ति" ।

कदर्पः—का योग्यता ?

गणिताध्यापकः—आचार्योऽस्मि गणिते विहारविश्वविद्यालयात्·······

कपर्दः—परमहं विहाराचार्यं न नियोजयामि । कश्चन बङ्गाचार्यो भवेत् ।

गणिताध्यापकः—अहं बङ्गस्यापि ।

कपर्दः—कस्यां श्रेण्याम् ?

गणिताध्यापकः—उत्तमद्वितीयश्रेण्याम् ।

कपर्दः—कः पृच्छति द्वितीयश्रेणीन् ?

गणिताध्यापकः—श्रीमतां सुपुत्रः कस्यां कक्षायामधीते ?

कपर्दः—स तु तृतीयस्यामेव । परं शिक्षाशास्त्रिणः कथयन्ति यन्निम्नकक्षास्वेव योग्यतमोऽध्यापको नियोज्यः ।

गणिताध्यापकः—तत्तु तथा । यथो देवस्याज्ञा । परं मासायावसरमदास्यश्चेद् योग्यतां दर्शयितुं क्षमोऽभविष्यम् ।

कपर्दः—परं मासि मासिकमस्माभिः प्रतिघण्टं दशमुद्रा दीयन्ते । पूर्वपुरुषाणामेषैव परम्परा । अन्यत्सर्वं रोचते, परं परम्पराभङ्गस्तु सर्वथा

रोचत एव नहि। वयं परम्पराप्रियाः। वराका भ्रमन्त्याचार्या मशका इव यूथशः। असहायानां सेवायै मामकं मनस्तु द्रवते। अतः प्रतिदिनं द्वित्रान्नि-योजयाम्येव। परं वेतनमेतदेव।

अध्यापकस्याधस्तनः श्वासोऽधस्तात्, उपरितनश्चोपरिष्टाद् विलम्बितः।

अधुनैवोपेतो मसूरिकादुर्व्रणदूषितमुखो युवा रामस्य जयमुच्चार्यो-पाविशच्च—

कपर्दः—का जातिः ?

—गुप्तोऽस्मि श्रीमन्, चर्माणः, क्षेमकस्य भागिनेयः।

कपर्दः—किमधीतम् ?

—अष्टमीमुत्तीर्य धनाभावग्रस्तो मातुलेन प्रेरितो भृत्यै चेष्टमानोऽत्र समेतोऽस्मि।

कपर्दः—किं किं कर्त्तुं समर्थः ?

—खातपत्रस्य कार्याणि करिष्यामि। ....चार्वक्षरः।

कपर्दः—शतद्वयं प्राप्स्यसि मासिकं वसतये च सविद्युदावासम्।

तस्मिन् गते चापरो विवर्णवदनो वृद्ध उपेत्य 'जय श्रीकृष्ण' इत्युच्चार्य दारिद्र्यदग्धं मुखं हास्येन सुभगयन्नवोचत्—

—व्यापारभवने सोपानस्याधस्ताद् बिलं वर्त्तते, तदादाय पण्यवस्तूनि विक्रेतुमभिलषामि यद्युचितं भाटकं गृह्येत।

कपर्दः—पञ्चदश सहस्रं नमस्कारशुल्कं मासि देयञ्च शतम्, प्रतिवर्षं प्रतिशतं पञ्चमुद्रा वृद्धिश्च।

—अहं तव मातुलेयो भ्राता, एतद्भवनं मन्निरीक्षणे निर्मितम्, स्मरामि तस्य निर्माणे व्ययो द्विशतं भवेत्।

कपर्दः—तत्तु तथा परमाधुनिको भाव एष एव। त्वमस्माकं सम्बन्धी अतस्तुभ्यं ददामि, परस्मै अदत्त्वा। अस्तु, समयोऽमूल्यः पुनरागन्तव्यम्।

अधुनैवोपेतः कश्चन सुभगो युवा कपर्दस्य हस्ते पत्रं दददाह पण्डितेन प्रेषितम्।"

—"किम्पठितम् ?" पत्रं पठन् कपर्दोऽपृच्छत्।

—"आचार्योऽस्मि वाणिज्ये"।

—"क्वापि कर्म कृतम् ?"

—"विडालस्य कार्यालये कर्माकार्षं तुष्टिदं त्रिजनकरणीयं पूर्णश्रमेण त्रिवर्षम्"।

—"तदा च्यावितः कथम् ?"

—"वेतनवृद्धिर्नाभूत्। मया शिक्षितास्तस्मिन्नेव वर्षे सहस्रमापुरहञ्च द्विशतीमेव। सप्रश्रयं निवेदितो निर्देशको मां स्पष्टमवोचद्, यदस्मच्चिन्तनीये मा मस्तिष्कं व्याप्रियस्व। चिकीर्षा चेत्कुरु, अन्यथा पन्थानमाश्रयस्वेति ततोऽहं त्यक्त्वा श्रीमन्तमुपेतः।"

—"परमत्र तु सार्द्धशतं लब्धव्यम्, प्रतिवर्षमेकमुद्राऽवृद्धिः कार्यकालश्च केवलं द्वादशहोरा" विज्ञेन तु तोषधनेन भवितव्यमेव कर्मप्रवणेन"। चेद्विवाहितः पत्नी चाप्रजास्तदा प्रासादे आवासो निश्शुल्कं दातुं शक्येत सविद्युत्, यत्कर्त्तुं पार्य्यते तत्तु करिष्यत एव, पण्डितानामादेशेन। विचार्य्यम्। अथचास्माकं भृत्यच्युतिर्नहि, आचार्याः कृत्वा न निवर्त्तन्ते।"

तदैवोपेतः कषायवेशो वृद्धस्तमालवीटिकयाजस्रं धूममुद्वमन्, आगम्यतामास्यतां पूयतां दासस्य गृहमिति कपर्देनाभ्यर्थ्यमानः, 'जयतु स्वामी चटपटानन्दः, रक्षत्वनिशं स्वामी चटपटानन्दः' इति कथ्यमानश्च।

अहमनेनाकस्मिकेन कलकलेनोद्विग्नाऽवहिताऽपश्यम्। स्वामिनः सर्वाणि वस्त्राणि कोमलकौशेयनिर्मितानि भगवद्रागेण रक्तान्यासन्, परं तेषां सीवनं विदेशरीत्याऽऽसीत्। पूर्णःपदपटः (फुलपैन्ट) अर्द्धः कोटः, गले ग्रीवाबन्धनम्, स्कन्धयोरुत्तरीयम्, पादयोः नवसावितवत्सचर्मणः (CalfLeather)पादत्राणौ एतादृग्वेषसाङ्कर्यं कदापि नाद्राक्षम्। तस्य केशेभ्यः सुरभितैलं च्यवदासीत् मुखात्ताम्बूलं धूमश्च।

स आगत एव दूरालापस्य च्छिद्राणि भ्रमयाञ्चकार। मुख्यामात्येन वाष्पयन्त्राणां व्यवस्थापकमुख्येनालापो भूतः। अहं स्वविचारमग्नेवासं यद् रसवती मम कर्णयोश्चचार वाक्। कविकुलकामनाकमनीया काचन

सुषमा तनीयसी लतेव चारुकुसुमा करे चषकमादाय स्वामिनमाजग्राह स्वामी च तया त्रिश आपूर्यार्पितं तदाननलग्नदृष्टिरपिबत् ।

ततः कपर्दीभिमुखो भूत्वाऽवदत्—'कथय श्रेष्ठ ! कथं चलसि ?'

'चलनं दुष्करं भद्र, गोधूमानि क्रीतानि अत्रानयनाय वाष्पशकटानामप्राप्तिः । व्यापारव्यवहारो विशीर्णः' ।

—कति शकटानामावश्यकता ?

—केवलं शतस्य ।

—अहं दास्यामि । दशसहस्रमुद्राभिः सह कश्चन प्रेष्यः ।

—मुनिम, धर्मार्थखाते लिखित्वा दशसहस्रमुद्राभिः समं स्वामिपादैः सह गच्छ ।

—एष वनमानुषः, नहि नहि । गर्दभः कार्यसिद्ध्यै प्रेष्यते किमु ?

—तदा यथा देवादेशः ।

—अस्मिन् कार्ये सुषमा चतुरा । एषा प्रेष्या ।

—एषा तु श्रीमतां चरणरेणुषु सदैव स्पृहावती ।

—तर्हि यामः ।

वात्यावेग इव स्वामी समुद्रां सुषमामादायापसृतः ।

द्वादश्यासन्दी—मौक्तिकज्वराक्रान्ता पुत्री मे चतुष्षष्टिमुद्राशुल्केन चिकित्सकेन चिकित्स्यमानाऽपि शीताङ्गा । भैषज्यविद्याप्राणो भवानधुना शरणम् । षोडश वत्सरान् पालिता पुत्री विपद्यते ।

कपर्दः—(परितः पश्यन्) नाहं वैद्यः, परं किमर्थं दुर्मेधसा वेधसा मदीये हस्ते पीयूषं प्रवेशितम् ? यतः शतशो नरा मां प्रत्यहं खेदयन्ति ।

द्वादश्यासन्दी—तव योगे व्यवहृते चितां गतो मृत आलपति, तदा लोकस्त्वां स्मरति ।

कपर्दः—पश्यत शृणुत, अपरिचितोऽप्ययं सत्यं वदति । अस्तु, पुराणवरण्डिका (वाड़) क्वाथः सितया देयः । मुनिम, सितायै चतुराणक्यस्मै देया ।

द्वादश्यासन्दी—यस्य पर्दनमुत्पलगन्धि, उद्गारो न्यक्कृतकाश्मीरः, छिक्का चावमतवीणा, कथं न स्युस्तस्य गुणा अनिर्वचनीयाः । विलक्षण-

फलदोऽयंजलदो येन मुक्ता आपो मुक्ता भवन्ति। कपर्द ! त्वमस्यद्भुत-गुणामृताकीर्णकर्णो दृष्टिश्च ते शमिताशेषतापा।

कपर्दः—मुनिम, अस्मै शतं रूप्यकाणि देयानि। दीनो दुःखी चायम्। परमं शृणु, आरोग्यानन्तरं सास्मद्बकधवले निवास्या स्वास्थ्यलाभाय।

त्रयोदश्यासन्दी—आदर्शबालाविद्यालयस्य सफला बाला उत्साहयितुं पुरस्कारवितरणोत्सवे वन्द्यवैभवः श्लाघ्यश्रीर्भवान्निर्विवादमध्यक्षः स्वीकृतः। शुभ्रमभ्रंशि चरितं सर्वानिवाकर्षति।

"अहो अबोधधुरन्धरोऽपि धनपुरन्दरो धिषणवरः"—अहमचिन्तयम्।

कपर्दः—[आकृतौ व्यस्ततां महत्तां दधत्, संसारे स्वं विशिष्टमतुलमावश्यकं तत्त्वमिव ख्यापयन् भवनोद्भेदि हसन्नवोचत्खलव्यालकरालः] एषा योजना राष्ट्रस्योत्कर्षाय। स्वागतं लोकसेवकानाम्। परमहमुत्सवेषु पूर्वत एव सम्मतः सभापतिः प्रधानातिथिः समुद्घटकः प्रधानवक्ता वा। अतो मत्सचिवेन परामृश्य तिथिर्निश्चेतव्या। अन्यथाहमुपस्थातुमसमर्थः। अथ च मद्भाषणं मुद्रितं स्यात्, यतस्तस्मै सस्पृहो लोको मां न खेदयेत्। विश्वविद्यालयाः पत्रैस्तारैर्दूरालापैर्जिज्ञासाकुलाः शिरोर्त्तिमुत्पादयन्ति। अतो वृत्तं सप्ताहात्पूर्वं वृत्तपत्रेषु सर्वासु भाषासु प्रतिदिनमुद्घोषयितव्यं सोपाधिना मच्चित्रेण सह, येन श्रोतारो द्रष्टारस्तत्रैवागच्छेयुः, न मां कश्चन खेदयेत्। उद्घोषणीयं वृत्तं मत्सचिवाद् ग्राह्यम्, सोऽस्मिन् कर्मणि परमश्चतुरः। पदव्य उपाधयश्च त्वयाधुनैव लेख्याः। यतः सोऽपि विस्मरणशीलः सम्यङ् न स्मरति। लिख, रैभद्रो दानवीरो जीवदयाप्रत्यग्रगौतमः, समाजसेवाव्रतः, सतीत्वसंरक्षणसक्षणः, राजनयनिपुणः गोपालनेऽभिनवगोविन्दः, धर्मावतारो लोकोपकारः संस्कृतिप्रचारशङ्करः, संस्कृतसंरक्षकः, उद्योगशालासञ्चालको लक्षशः परिवाराणां पोषकः, शिक्षाप्रचारको विद्वत्सेवको गोशालानां प्रतिष्ठाता, धर्मसत्राणामधिष्ठाता, नित्यनैमित्तिककर्मणामनुष्ठाता, सङ्गीतकलाव्यवस्थाता वर्णाश्रमव्यवस्थापकः सत्कर्मसु निर्बाधं उपस्थाता।

अथ च तद्दिनाय सर्वे वृत्तपत्रसम्पादकाः ससम्मानं निमन्त्रणीया उपवेश-

नीयाश्च रम्यासनेषु। येन मद्भाषणमन्यूनानतिरिक्तं प्रकाश्येत। तेभ्यो जलपानादि प्रबन्द्धव्यम्। अद्यतने जगति गणपतय एते ऋद्धिसिद्धिप्रदातारश्च। अन्तरायशमनाय साफल्याय चावश्यमादौ पूज्याः। एतेषामाशिषैव मिथ्या सत्यम्, सत्यञ्च मिथ्या, सर्वाविगुणखनिर्भक्तप्रवरः ; भक्तश्चासक्तो विषयेषु, निर्धनो धनी, मूर्खः पण्डितः, राष्ट्रद्रोही च राष्ट्रसेवी सम्पद्यते।

समस्तावस्थानानां (पोज) चित्रं गृहीतं पत्रेषु प्रकाश्येत, आयतीकृत्य Enlarged विद्यालयहाले पूर्णपरिचयेन सह योज्येत च। भवान्नवीन इति कृत्वा मया सर्वं सूच्यते। अहन्तु मूर्खः किमपि जाने नहि, परं भवादृशा विद्वांसो मां शिक्षयन्ति। अथ चैतद्वृत्तं मदुक्तं न कस्मैचन प्रकाश्यम्।

त्रयोदश्यासन्दी—भवदुपदेशामृतं निपीय प्रीतोस्मि, यथानिदेशं विधास्ये।

कपर्दः—मुनिम, आपातनीये (उचन्त) लिखित्वाऽस्मै सहस्रं देयम्। बालिकाभ्यो देयस्य पुरस्कारस्य कियान् व्यय इत्यहं सूच्यः। अथ च पञ्चदशाधिकवयसो बाला द्विशस्त्रिशोऽस्मद्बकधवले नैशभोजायादेष्टव्याः।

पठितानां सत्कारस्त्वस्मादृशैर्विधेय एव। परस्यावसरः—

चतुर्दश्यासन्दी—अहं राष्ट्रियमहासभाया मण्डलेश्वरः। सूत्रयज्ञाय स्वावलम्बनाय गृहोद्योगाय चक्राणि देयानि। कलावपि कुलीनः सङ्कल्पकल्पतरुर्विपन्नत्रस्तनिर्धनेभ्यो गृहीतव्रतो भवानेव।

कपर्दः—स्पृश्यास्पृश्यविचारे महासभयाऽस्माकं चिरन्तनं वैमत्यम्। क्षन्तव्योऽहम्। नैतादृशे कार्ये पुनराग्रह्यः।

हन्त, वितस्तिमात्रपिठरपूरणाय कियान् प्रयत्नः ?

चतुर्दश्यासन्दी—राष्ट्रनावः कर्णधारा असह्याभिर्यातनाभिः पाषाणक्षोभकेणापमानेन समं स्वाशाः श्वासैः सममजुहवुः, तदा शासकैः सह सम्मिल्य भोगं भुञ्जानानां नृशंसानां स्यान्नामैतादृश्यवहेला, परं भवादृशे नैतत्सम्भाव्यते।

कपर्दः—सूर्यस्यौष्ण्यम्, चन्द्रस्य शैत्यम्, विश्वस्य वर्त्तुलत्वम्, ब्रह्मण आनन्दः, ध्वनौ सप्तस्वरमौर्वशं सङ्गीतम्, रूप्यके वर्त्तन्ते राष्ट्रसेविन्! एतद्विश्वरथस्यैकमात्रं चक्रं जरतां यौवनं यूनामुल्लासः, पतिर्विधवानां

पत्नी विधुराणां शिशूनां क्रीडनकोत्तमं वीराणाममोघा शक्तिर्जगदेक-देवश्च, यत्प्राप्य नरः पुत्रशोकं विस्मरेदन्धश्च लक्ष्यं भिन्देत्, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते जातानि जीवन्ति यस्मिँश्च लयं यान्ति, तद्रूप्यकम्। एते गुणा क्वाप्येकत्र दृष्टा जनसेविन् ? भुजविक्रमलब्धधनेन तानि पथि न प्रक्षेप्तुं शक्यन्ते , क्षम्यताम् , परस्यावसरः—ज्योतिर्विदोऽपि प्रबलं मारकं धनस्थानमेव कथयन्ति।

अधुनैव मुनिमोऽसूचयद्यन्मन्त्रिणः सचिवः समैति, इति। कपर्दः समानं नेतुमाज्ञप्तवान्। कपर्दोऽभ्युत्थाय कृत्रिमहासनिर्झरेणाऽऽप्लावयत्सचिवमुखं पाणिं पाणिनाऽऽमृश्य पार्श्व उपावेशयत्।

नीचो दुष्टोऽयोग्यो दुःशीलोऽपि प्राप्ताधिकारश्चेत्परं मानभाजनम्।

अथ चिरं चिन्तयित्वेव रचितो धात्रा विश्वार्त्तित्राणधर्मेव प्रत्याययन् पापाविलो दाम्भिकाचार्योऽवदत्कपर्दः—

"आर्येन्द्र, पूतमद्य दासस्य गृहम्, आज्ञाप्यतां का चन सेवा ?"

सचिवः—मन्त्रिणं परं प्रभावितवानसि श्रेष्ठ, सर्वदैव प्रशंसा गुणगानञ्च तवैव।

सचिवः पक्षकोटरात् स्वर्णकोशं तस्माच्च श्वेताम्बरां तमालवीटिकां निःसार्य कपर्दायैकां दत्त्वा स्वौष्ठयोश्च, ज्वलकात् (lighter) प्राज्वलयत्। क्षुभितस्य दरिद्रस्य चक्षुषी इवाल्पशिखे दीपिके क्षणं प्रजज्वलतुः।

कपर्दः—[धूममुद्वमन्] एतत्तु महतां महत्त्वम्। अहन्तु तेषां चरणरेणुकणः। यत् किञ्चिन्महत्त्वाभं तदपि श्रीमतामाशिषा लब्धम्। वयन्तु सेवका आज्ञाप्यतां कापि सेवा।

सचिवः—अस्मिन्मासे महाशयो ग्रामान्पर्यवेक्षितुं कामयते। निकटञ्च निर्व-चनम्। तत्र विद्यालयेभ्यः पुस्तकालयेभ्य उत्तमकृषकेभ्यः पशुपालनदक्षेभ्यो-ऽन्येभ्यश्च किञ्चिद्देयम्। तदर्थं भवानेव क्लेश्यते। लोकोपयोगि धनञ्च तवैव।

"क्लेशोऽत्र कः ? अयोमञ्जूषाभारायितानां मुद्राणां सत्कर्मणि व्ययः किमु क्लेशः ? एष तु कपर्दे महाननुग्रहो यद्भवान् तद्धनं सत्कर्मणि योजयितुं प्रेरयति। राष्ट्रस्य सेवायै कपर्दो व्याकुलः।"

स्वार्थापूरितचक्षुः कपर्दोऽवदत् ।

कपर्दवदनोद्गता दुष्कर्मकर्दमदिग्धा धूर्त्तभारती लोहितरदनभ्राजमान क्रोष्टुविरुतिरिव निशि व्यद्योतत ।

"कतिमुद्राणामावश्यकता" ?

सचिवः—पञ्चाशत्सहस्रमुद्राणान्त्वस्त्येव ।

कपर्दः—विदुषामादेशः श्रवणमुपगत एव परिपाल्यः, एषोऽस्माकं राष्ट्राचारः । परं किम्भविष्यत्येताभिर्मुद्राभिः ? भवान् सरलो मुग्धश्च । मुनिम ! धर्मार्थखाते लिखित्वा लक्षमुद्रा देहि । [सचिवस्य कर्णे]........

सचिवः—निश्चितम् । तत्तु भविष्यत्येव । तत्र कः सन्देहः ?

कपर्दः—महाशयस्य यात्रारम्भात् पूर्वमेव तद्विधेयम् ।

सचिवः—प्रातरेव मुनिमः प्रेष्यः । सर्वं साधयिष्ये । आम्, एकस्मिन् ग्रामे संस्कृतविद्यालयो निर्मीयते, एकत्र च गोशाला.......

कपर्दः—तदा भवतैकोऽनुग्रहः कार्यस्तत्र प्रतिशालमेकं कोष्ठमस्मत्पक्षान्निर्माप्यम् । तस्योद्घाटनञ्चापि भवता करणीयं भविष्यति । परमस्माकं सौभाग्यं यद्विश्वभाषाजननी संस्कृतगीरस्माकं भाषा । यां विना नास्माकं किमपि कार्यं प्रचलति गर्भाधानादन्त्येष्टिपर्यन्तम् । गावश्च राष्ट्रस्याधारभूताः । द्रव्यस्योत्तम उपयोगः ।

सचिवः—तथैव करिष्ये ।

कपर्दः—तदास्मै कार्याय विंशतिसहस्रमुद्राः पृथङ् नेयाः । मुनिमो मुद्रा आदायोपेतः प्रातर्गमनायाज्ञप्तश्च । सचिवः पाणिमामृश्यान्तर्हितः ।

पञ्चदश्यासन्दी—अहं राष्ट्रियस्वयंसेवकसङ्घस्य कार्यकर्त्ता..........

कपर्दः—नाहं साम्प्रदायिकविचारान् प्रोत्साहयितुमुत्सहे । आम्, परः कः ?

षोडश्यासन्दी—अहं हिन्दुमहासभायाः........

कपर्दः—दुर्दैवदुश्चेष्टितम् । मयोक्तं नाहं सम्प्रदायविश्वासी । परः कः ?

सप्तदश्यासन्दी—वासन्तीलता परिमितक्षेत्रे एवामोदं प्रसारयति, परं तव कीर्त्तिलता सर्वत्र सर्वकाले मदयति सुखयत्यतिवाहयति च दुर्भरानलम् । ग्रामीणा बहोः कालान्मां प्रेरयन्त आसन् यज्जीर्णमन्दिरोद्धाराय कश्चन श्रेष्ठ

पासितव्यः। अहञ्च तानकथयम्, अस्ति स्वस्तिकरोऽर्कतेजाः प्रपन्नपरितोषी श्रीपतिः पतिर्ध्वंस्तविपन्नानाम्। यदा गमिष्याम ईप्सितमाप्स्यामः, अधि-शि एव। आहरणाय विलम्बः। वस्तुतो वरेण्यं शरण्यं त्वां श्रयते लोको लोकदारिद्र्यमर्दिनं कपर्दम्। तदधुना देवमन्दिरस्य शोच्यां दशामवेक्ष्य समायातः.......

"बहूक्तम्। नाद्य कोप्यविकलविवेको मन्दिराणि मानयति। अस्तु तत्तु स्वयं निपतति।" —सुधामधुरा लोकगिर आस्वाद्य चेतनोन्मेषमुषं वच उदगिरत्कपर्दः सर्पो गरलमिव।

अष्टादश्यासन्दी—अस्माकं ग्रामे पशूनां तु कथैव का? जना अपि दुर्भिक्षेण म्रियन्ते। चयनाय (चन्दा) समेतः। श्रीमतो लेखादुत्तरं सर्वे लिखि-ष्यन्ति। मेघः प्रावृषि वर्षति भवाँश्च सदावर्षी मेघोत्तमः।

कपर्दः—स्वपापपुण्यानुसारं जना जायन्ते जीवन्ति म्रियन्ते च। पञ्च महाभूतानि पृथग्भूतानि स्वस्वनिलये लीयन्ते। आत्मा चामरः केवलं वासः-परिवर्तनमिव शरीरपरिवर्त्तनम्। तत्र कोऽयं व्यापारः? मन्ये भगवता विष्णुना कार्यान्तरव्यग्रतयाऽवतरणासमर्थेन भवन्तः प्रेषिताः। कार्यान्तराणि बहूनि सन्ति जनसेविन्! त्यज्यतामियं वृत्तिः। अथ च चतुरो मालाकारो जीर्णोपवनमिव भगवानपि विविधमिषेण जगत्कृन्तति। तत्र को विचारः? कर्त्तनमुपवनस्य रक्षायै केवलम्। अस्तु, कोऽपरः—

अधुनैव समेतो भवनं परिमलेनाशावयन् काश्मीरोष्णीषिकश्चीनांशुक-चोलकः प्रत्यङ्गुलिखचिताङ्गुरीयः प्रौढोऽपि विलासवेषः कपर्देनास्यता-मागम्यतामितिसत्कृतः समीपमुपवेशितश्च।

कपर्दः—कथमद्य पन्थानं विस्मृतवानसि। मेघो विद्युच्चैकीभूय विनैवा-वसरं कथं प्राप्तौ। दासस्य पुण्यं महत् यत्स्वर्णसूर्योऽसमये समुदितः।

—"सङ्गीतसमितेरद्य वार्षिकोत्सवः। नगरमुख्या एव तत्र निम-न्त्रिताः। प्रधानातिथिपदे सर्वसम्मत्या श्रीमन्तं निमन्त्रयितुमागतोऽस्मि।

कपर्दः—सौभाग्यम्। किमद्य भविष्यति?

"सङ्गीतं नृत्यञ्च। परमद्य विशेषाकर्षकं स्वाभाविकं नृत्यम्।

कपर्दः—को नर्त्स्यति ?

"मिष पल्यूल् । [मिषति=स्पर्धतेऽन्याभिः कुमारीभिर्वरवृतौ सा। पल्यूल लवनपवनयोः, विच्]"

कपर्दः—स्वाभाविकं किम् ?

"अस्मद्राष्ट्रे वासःसज्जालङ्कारैर्नृत्यन्नृत्यस्यात्मानं हन्ति नर्तकः । एतत्र नृत्यं निर्वासो निर्भूषणम्"

कपर्दः—[नृत्यन्निव] एवम् । चतुश्चन्द्रता यदि मद्वयेन गानं श्यामा च । एतन्नृत्यमस्माकं बकधवलेऽपि करणीयम् । कियच्छुल्कमस्य ?

"केवलं सहस्रद्वयं प्रतिदिनम्, परं समयं सा दास्यति न वेति प्रष्टव्यैव। अद्यैवाऽऽस्याशुल्कं शतमासीत्, परं कैश्चित् काश्चित् पञ्चशत्या क्रीताः । एकेन यामेन सहस्रं प्रवेशपत्राणि विक्रीतानि ।

कपर्दः—तदा सप्ताहायास्मदर्थं विनियोगो (Booking) विधेयः । अग्रिम-देया मुद्रा नेयाः ।

"परम्, पौररामानुजाचार्यस्य महाभागवतस्य दिव्यदेशाधिष्ठायिनश्च्युताच्युतस्य रैभद्रस्य पूर्वं विनियोगो भूतो भवेत्" ।

कपर्दः—अस्माकं पूर्वं कार्यः । पूर्वस्यैव महत्त्वम्, पश्चात्तूच्छिष्टता । सितासितयोः पक्षयोश्चन्द्रिका तु समैव, परं पूर्वत्वादेकः शुक्लः परश्च कृष्णः । मुद्रार्थं न चिन्तनीयम्, द्विगुणा देयाश्चतुर्गुणा वा । यथाव्ययं वा नेया देयाश्च निःसङ्कोचम् । अथ शृणु, संसारमहापथे धनं महच्चक्रम्, यत्संयुज्य सर्वत्र सुखं गन्तुं शक्यम् । एष तव चातुर्य्यस्य परीक्षासमयः । न च तव प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः ।

"एकाकिनी सा, अभिलाषिणश्चासङ्ख्याः । परम्, कोऽन्यश्चन्दनाद् वदान्यस्तापापहारचतुरः । श्रीमन्तं सा सेविष्यते ध्रुवम् । शोभना श्रीमतो धर्मे रुचिः । धर्मात्मनाञ्च चरणचारिण्यः कल्याणसम्पदः । अस्तु, अधुना मां यान्तमनुजानीहि"

कपर्दः—अस्तु, गम्यताम्, परं तत्कार्यं मतौ तिष्ठेत् ।

—मुनिम, संस्कृतिसमुन्नयनन्यासात् त्रिशत्सहस्रमुद्रा देहि। अस्तु,परः कः ?

अथ तस्मिन् गते परः सद्घोषो यदुनन्दनस्य जयमुच्चार्य कपर्दचक्षुराकृष्यावदत्—"स्वामिपादानामाज्ञयातिरुद्रयागेन भगवान् रुद्र इज्यते। पञ्चाशल्लक्षमुद्राणां विनियोगः। अक्षिस्फारं सर्वतो वीक्षमाणैरपि न कश्चन वंशपरम्परया सच्चरित्रः कुलीनोऽवालोकि यजमानपदाय। विधेर्विधानमेव बहुधा विभाव्यमानं विचित्रं यद्भवानपि न स्मृतिपथमुपेतः। तदोत्तमयजमानप्राप्त्यै शतचण्डीयागोनुष्ठितः। भगवती भवन्नाम स्वप्ने निर्दिदेश। अतो यजमानपदं स्वीकर्त्तुं प्रसीद।

कपर्दः—अस्मिन् कार्ये किमपि देयं भविष्यति किमु ?

"तत्तु निश्चितमेव। अल्पधना अप्येकैकलक्षमदुस्तदा भवता तु लक्षद्वयं देयं स्यात्।"

कपर्दः—शृणु, त्वं जानास्येव यदहमेतादृशेषु कार्येषु न श्रद्धावान्, परं त्वदागमनेन पञ्चनियुतं दातुमुद्घोषयिष्यामि देशविदेशवृत्तपत्रेषु। एवं कृते लोकादनल्पं दानं प्राप्स्यसे। अर्थव्ययविवरणञ्चास्माकं मुनिमश्रेष्ठो व्यवस्थापयिष्यति। अमुना प्रसङ्गेन जाते लाभे आवां समानभागिनौ। त्वञ्च सम्पादितबहुयज्ञः परमश्चतुर एवैतादृशेषु कार्येषु। आम्रश्चूष्यो निश्शेषम्, तदस्थि च विक्रेयम्, अपि ज्ञातम् ?

—सर्वं जाने, तथैव साधयिष्ये। भवति यजमाने भूते कोटिकल्पं धनं निपतिष्यत्येडकावृत्तेर्विवेकविकलाल्लोकात्।

तदा भवता सपत्नीकेन काश्यां गन्तव्यं भविष्यति।

कपर्दः—स्त्रियस्त्वस्माकमसङ्ख्यातास्तत्रैव। तदर्थं का चिन्ता ? अस्तु, गतेऽब्दे विष्णुयज्ञे कियल्लब्धम् ?

—समयो भयावहो जनता निर्लज्जा सहयोगिनश्चेर्ष्यापराः। अस्यां स्थितौ किं लभ्यम् ? परं पञ्चनियुतकल्पं लब्धमेव। भवतः किं तिरोधेयम्।

कपर्दः—स्वामिने किं दत्तम् ?

—उपालम्भः, यन्नाहमीदृशे महाऽर्थहानिप्रदे कार्ये विनियोज्यः। अस्तु, अधुनाहं यामि।

कपर्दश्च मुक्तहासो गदन्नवर्त्तत—

"अहं तु कामये एव यल्लोकः स्वस्य पादत्राणे स्वयं निःसार्य स्वकीयं शिरस्ताडयन् स्वयमेव गणयेन् मां तु सङ्ख्यां बोधयेत् केवलम् ।" जहास च ।

अधुनैवाविशन्म्लानमुख ऋणग्रस्तो निर्धन इव मनुजः । कारुण्यपूर्णमसहायं विलोकनं निमज्जन्ती वाक् श्रान्तान्यङ्गानि तमनन्तया चिन्तयाकुलं प्रत्याययन् । विपन्नविषण्णो विषादोदधौ वृन्तच्युतो म्लानो मुकुल इव प्रवहन् स उद्वेगेन भीत्याऽऽशङ्कया चिन्तयाऽऽक्रान्त इव भ्रान्त इव श्रान्त इव कपर्दस्य चरणान्तिकं झञ्झाहतो जर्ज्जरो वृक्ष इव भूमिं पस्पर्श । तस्य श्रान्ते भाराक्रान्ते पक्ष्मणी उत्थिते । परं कपर्देन काणेनाक्ष्णा, उरणो वृकेणेव सकृद्वीक्षितः स वक्तुं साहसं व्यनाशयत् । परं मानसोन्माथिनी जीवनस्याऽऽनन्दं चूषयन्ती कापि वेदना तस्य जिह्वां वक्तुमुदसाहयत् । बहुशः स वक्तुमियेष, परं शब्दा ओष्ठावस्पृष्ट्वैव निवर्त्तमाना अवर्त्तन्त । इतः कपर्दोऽपि वृक इव नासाक्षिभ्रुवं सङ्कोच्याक्रमितुमवहितोऽतिष्ठत् ।

अथ साहसं सञ्चित्य वक्तुं चेष्टमाने तस्मिन् सर्पस्तोमश्यामो गर्वाविष्टकुदृष्टिदुष्टोऽमन्दमन्युमलीमसमानसोऽवदत् पुण्यकारुण्यारण्यमर्द्दी कपर्दद्विरदः ।

"वार्त्तायां जायमानायां मध्ये एव विवक्षसि । सभ्येष्वद्य यावत्तवावस्थानमेव न भूतं मन्ये । त्वं कोऽसि ?"

—"दिने द्विर्व्यापारवृत्तं वेदयन् दशभिर्वर्षैः श्रीमन्तमाराधयामि" । हन्त ! धनी न कमपि परिचिनोति, नैष कपर्दस्यैव दोषः—इति तेन चिन्तितं भवेत् ।

कपर्दः—रात्रौ समेतव्यम् ।

भृत्यः—एका प्रार्थना.........

—"प्रतिनिशं प्रतिदिनं प्रतिक्षणं प्रार्थना प्रार्थना," मलवाहिन्या मलमिव कपर्दमुखनाल्या वचो निरसरत् । "सर्वेषामावश्यकतां पूरयितुं विष्णुना नाहं प्रेरितः । म्रियमाणैर्विपन्नैः कारणाय स एव प्रष्टव्यः" ।

भृत्यः—आत्मजस्य श्वसनको ज्वरः । चिकित्सकेनोक्तम्, भेषजं प्राणवायुश्च शीघ्रं न चेद् व्यवस्थाप्येत जीवनं दूरक्ष्यम् । अतो वेतनात् पञ्चाशन्मुद्रा दातुं दयस्व, मासः श्वः पूर्त्तिमेष्यत्येव । महति विपत्पयोधौ मग्नः स्वामिनः

सकाशमनुकम्पायै समेतः । श्रीमत्सन्निधानेन सभ्यरीतिमवगत्यापि परिस्थिति-पीडितो वक्तुं व्याकुलः ।

कपर्दः—[मानवताविमर्द्दकेनाक्ष्णा निरीक्षमाणः] विक्षतचक्षुर्मुखं व्यादाय नेक्षते । कार्यं तु कार्यस्य रीत्या भवति । जीवनं मरणञ्च भगवदधीनम् । सहस्रं जनाः कार्यं कुर्वन्ति, कस्मै कस्मै दातुं शक्येत ? अनियमे व्यापारव्यवस्था-भङ्गः । पुनश्च तव भार्या परं गर्विता । त्वञ्च तस्या अनुगामी । तामेव कथय मुद्राभ्यः । सुन्दरीभ्यः का न्यूनता पञ्चाशन्मुद्राणाम् ? एकस्मिन्स्मिते पञ्चशती वल्यने पञ्चसहस्री मरुत्तराणां पङ्क्तिश्च । अपि स्मरसि तद्दिनम् ? यस्मिँस्तव मानवती वनिता प्रासादमाहूता दासीं सम्भर्त्स्य स्पष्टं प्रत्याचष्ट । सैव पञ्चा-शन्मुद्रायै किं मामर्थयते ? क्षम्यताम्, कार्यं क्रियते वेतनञ्च गृह्यते, नात्र कश्चना-नुग्रहः । करणेच्छा चेत् कार्यं कर्त्तव्यम्, नियमेन वेतनञ्चापि ग्रहीतव्यम्, अधुना गन्तव्यम्, अस्माकमपि कार्यम् ।

अहमचिन्तयम्, "परेषां कष्टेनानन्दानुभवो दुष्टानामाध्यात्मिकं भोजनम्" । वराकः कर्मकरः कपर्दस्य शब्दान् बद्धमुष्टिप्रतिमाननुभवन् निःस्पन्दायत-नेत्रोऽविरलगलदश्रुजलः परिस्थित्या निरुद्धवाक् स्वगतभाषणं कृत्वोच्छ्वस्य निःश्वस्योत्तिष्ठासन्, प्रबलेन भारेणाक्रान्त इव स्खलन् कथमपि शरीरभारं वहन् शनैरुदतिष्ठदेजमानः । हन्त ? भृतिरर्जुनमपि षण्ढतां प्रापयति ।

तस्मिन्गत उपेतो वृद्धः सविनयमवोचत्—

"भ्रातः, कन्या विंशी जाता अधुनैको वरः सौभाग्यादुपलब्धः सुशीलो दक्षः साक्षरः संविद्य आपन्नभृतिश्च । अहं तव ज्येष्ठो भ्राता कर्मकरश्च । अन्यं कं नु याचे । प्रतिमासं शतं मुद्रा लभे तद् गृह्ये कर्मणि व्ययते । कन्यायाः करावधुना पीतीकरणीयौ । विवाहे केवलं पञ्चशतमुद्राणामावश्यकता । सुमुहूर्त्तं परश्वः ।"

—"लोकस्य मतिर्विगलिता । खादन्तः पिबन्तोऽपि भिक्षायै न लज्जन्ते । परं मितधनो नरः कथं विश्वस्य दुःखं हर्त्तुं प्रभुः । विदीर्णमम्बरं कथं नाम सीव्येत ? एकस्य मुखन्तु क्षीरेण खण्डेन पूरयितुं शक्यम्, परं कर्म-कराणां बाहुल्ये नेदृग्विधं सौविध्यं सुकरम् । अथ च मया तु परामृष्टम्, यद्वि-वाहस्यावश्यकतैव का ? आमरणमस्मत्प्रासादे तिष्ठन्ती भोज्यं वासः सानन्दं

प्राप्नोतु। परं भवन्तः स्वेच्छाचाराः। अस्तु, गम्यताम्, विलम्बो जायते।" सुजनम्मन्यो धन्यम्मन्यो ज्ञानशून्योऽधमकथो नराधमाग्रणीः कर्पदोऽवदत्।

"घोरोऽयं लोकसेवाजवनिकाच्छन्नः मनुजकलङ्को लोकं वञ्चयति। इन्द्रनीलखण्डखचितादपि कोशान्निसर्गनिष्कृपः कृपाण एव निःसरति। सत्यम्, अभ्यासः शनैश्शनैः प्रकृतिमुपैति"। अहमचिन्तयम्।

अधुनैवैको बालेन बालया च सहाविशत्। बालस्य शिरसि लघीयसी मञ्जूषा चारुवेशा चार्वी बाला च वेणीपुच्छं भ्रमयन्ती। प्रसर्पन् परिमलस्तं गान्धिकमघोषयत्। सोऽलिके शालीनं नत्वा मञ्जूषामुद्घाट्य पिचून्निर्माय बालायै ददौ। सा चाभ्यस्ता शिक्षितहावा कर्पदाय तस्य नर्मसचिवेभ्यश्च सविभ्रममदात्। कपर्दस्य सखायस्तमन्वमोदयन्। द्विसहस्रमुद्राणां सुरभिसारः क्रीतः। प्रतिमासं त्रिसहस्रमुद्राणां क्रीयतेऽस्मिन्मासे न्यूनता कथमिति गान्धिकेन पृष्टे पक्षोत्तरमन्यत्र गन्तव्यमिति कपर्दोऽवदत्। तस्मिन् गते एकः पिचिण्डिलश्च्यवत्स्वेद उच्छ्वसन् विकलवाक् प्रजवमवोचत्-

महती विनष्टिः। बृहती विपद्। अत्याहितम्। सर्वनाश उपस्थितः। सर्वत्र धनिनां गृहेभ्योऽधिकारिण आयकरविभागात्तिरोहितं धनं चौर्याद्विदेशेभ्य आहृतं सुगोपितं स्वर्णञ्चापहरन्ति। अहो तेषां कीदृक्कौशलम्? यत्ते भूमौ प्राचीरे छत्रे शय्यासु घृते तैले तिरोधापितमपि सुवर्णमन्वेषयन्ति।

दारुणो विनाश उपस्थितः। भवांस्तु जानात्येव यद् व्यापारिणां प्रत्यक्षं धनं लक्षं परोक्षञ्च कोटिमितम्। प्रत्यक्षधनव्यापारेण तु ताम्बूलमेवास्वादयितुं शक्यं नान्यन् महाकरनिपातात्।

अधिकारिभ्योऽर्द्धं धनं दातुं प्रतिजानीमहे चेत्ते मोक्तुं क्षमाः, अन्यथा तु धनं प्रतिष्ठां जनाँश्चापहरन्ति। कीलिताधिकृत! अधुना दयस्व नो चेज्जातिसमुच्छेदो भविष्यति।

हन्त? कियान् प्रतिकूलः समयः? शतायो याष्टिको निशया लक्षेश्वरो भवति, परस्मिन् दिने भवनं क्रीणाति च।

कपर्दः—शान्तिमाधत्स्व। अस्मत्पक्षीया दुर्जाता एव तान् बोधयन्ति यद् द्रव्यं क्व निहितमास्ते, अन्यथा तेषां पिशाचोऽपि न ज्ञातुं क्षमः।

परमस्मिन् प्रसङ्गे नाहं किमपि कर्त्तुं क्षमः। अहमपि तेभ्यो बिभेमि। अत्रत्यास्तु वशंवदाः, परं केन्द्रगैः सह परिचयो नास्ति।

एतेषामायस्य कः प्रश्नः? विनैवोद्योगं विपुलधना एते। प्रान्तसीमा-मार्गे नियोजितो भृत्योऽपि यदि मासेन लक्षेश्वरो भवति तदैते तु कर्मकरा अधिकृताश्च। परं शृणु, अर्द्धं दत्त्वा कार्यं निष्पाद्यम्। जीविताश्चेदयनेन परि-पूर्त्तिं विधास्यामः। न कापि चिन्ता। अथवा शैलबालां याहि, सा सर्वं साध-यिष्यति कीलिताशेषाधिकृता, तद्गुरुं स्वामिनमतुल्यविक्रमं चटपटानन्दं वा।

ऊर्नविंश्यासन्दी—राष्ट्रान्तरीयकुमारीशिक्षणप्रतिष्ठानस्याहं सचिवः। देवः पूर्वं बहुशस्तत्रागमत्। देवस्य रसिकतां गानवाद्ययोः प्रावीण्यं शंसन्ति कुमार्योऽध्यापिकाश्च। देवस्य यशःशीतांशुः सर्वानेव शीतयति।

कपर्द :—आम्, तिलोत्तमा तत्राचार्याऽऽसीत्। असमा सुन्दरी दक्षा सुशीलापि गर्वरहिता नेक्षिता नारी सेवापरा। सा सचिवपदे तदानीमस्माक-मासीत्। तदा मासे पञ्चविंशतिदिनानि तत्र गानवाद्याद्यानन्दोऽस्माभिरन्वभूय-ताऽऽसुप्रभातम्। परमधुना सा संस्था विद्यते न वा.........

ऊर्नविंश्यासन्दी—तिलोत्तमायां मसूरिकया विषूचिकया स्मृत्यवशेषायां भवति च खिन्ने नाशक्यत देवो द्रष्टुम्। स्पृशन्त्येव शरीरधर्माणमुपतापाः। सत्यश्चायं लोकप्रवादो यत्सम्पत्सम्पदं विपद्विपदमनुबध्नाति। तदन्वन्या अपि बाधा आविर्भूताः।.........

मुनिमः—[मध्ये एव] परम्, ह्यस्तिलोत्तमामद्राक्षम्।

कपर्दः—गर्दभोऽसि। अरे मूर्ख! मरणं बहुविधम्। स्त्रीणां मरणं वैवर्ण्यं स्तनशैथिल्यञ्च।

ऊर्नविंश्यासन्दी—परमधुना मद्रास्यचलचित्रे ख्याता चन्द्रहासा नियोजिता अवस्थाननिर्देशिकापदे (Pose director) श्रीमन्तं हर्षयिष्यति।

कपर्दः—सहस्रमुद्राः प्रबन्धाय ग्राह्याः। रात्रौ समेष्यामि। परः कः?

ऊर्नविंश्यासन्दी—देवस्य दर्शनं वसुवर्षि वाञ्छितं यच्छन्ती च वाणी।

विंश्यामासन्द्यामहमासम्। एवं प्रत्यैयत यत् पारदारिकः रमारामाका-मोन्मत्तो दस्रः कपर्दो मया सहालपितुं विकलः सर्वान् शीघ्रं विससर्ज। व्यवहारपटु-

धैर्यमाधाय आलपितुं लब्धावसरः स्वासने सुखं समश्वसत् । प्रसन्नतायाः स्रोतो हासमिषेण तस्यास्यान्निरसरत् । लोकस्य ज्ञानं तपो राष्ट्रसेवा सौन्दर्यञ्च तदग्रे विलुठदवर्त्तत । प्रसादमदिरामत्त इव स्खलन् वास इव वृत्तं परावर्त्याभिनवरूपः पापपल्वलपङ्कशूकरोऽवदद्—

—मुनिम, विजनम् । (तखलिया, एकान्तम्)

दूरे कश्चनान्धो हृदयस्पर्शिना मधुरस्वरेण गायन् भिक्षां भिक्षमाणोऽगच्छत् तदनु, एकीभूतोदरपृष्ठो बुभुक्षाशुष्कावोष्ठौ चालयन् श्वसन्मृत इव शिशुश्च ।

मनुज ! चिन्तय यामिनी वीताधुना,
चेत रे ! मुग्धाक्ष ! चिन्तय जीवनम् ।
अन्यथा तव यातना यामी ध्रुवा
पश्य नरकद्वारमुन्मुक्तम् ।

तदुत्तरमेव बालोऽगायत्—

प्रेक्षिता पूः सम्प्रतीयं प्रेक्ष्यतां यममन्दिरम् ।
आवृतोऽज्ञानेन कुरुषे हन्त ! दुष्टविचेष्टितम् ।

कपर्दस्य शोणितवहा धमन्य उद्विग्नाः हृदुत्तेजितम् । स स्वस्य महत्त्वमाह्वयमानमिवामन्यत । कपर्दस्यौष्ठसङ्घटनाद्विस्फोट इव स्फोटः प्रास्फुटत् । गर्दभाभिमानमर्द्दकेन श्रवणशूलिना खरेण स्वरेण, अस्वस्तिभावेन (झुंझलाहट) चुक्रोश साक्रोशं परुषाक्रोशी शोणनयनकोणः, अङ्गारावरके भस्मनि वायुना पनीतेऽङ्गार इव प्रसभं चकाशे च—रामभद्दर, भद्दऽऽर, द्वाःस्थ ! कथं पाषाणमूर्त्तिरिव तिष्ठसि, पार्श्वे गर्दभा रेकन्ति त्वञ्च कर्णयोस्तैलमापूर्य तिष्ठसि भुवि समारोपितः शङ्कुरिव, हलवाही । आस्वादय तं चतुरो मुष्टिमोदकान् ।" इति तथा जहास यथा पार्श्वस्थाश्वत्थात् काकाः 'काँकाँ' कुर्वन्त उड्डीनाः । शिरो-व्याधूय साधूचितं भिक्षौ परां दिशं याते द्वाःस्थस्तमालवल्लीदलमर्द्दने लीनो विलम्बेन कपर्दरुशतीमाकर्ण्य भग्नध्यानस्तमालपीतां ताम्बूलचर्चितां स्वर्णदशनावलीं विकाशयन्नवदत्—

—का हो स्वामिन् !

—तव शिरः । मूर्खः क्षेत्रं विक्रीयाभियोगे सम्पत्ति विनाश्येहायातः ।

स्त्री मृता। अस्माकं शिरसि पतितः !

मेघनादस्येव काली लोला रसना कपर्दस्य चमच्चकार।

कपर्दः—रात्रौ किं करोषि द्वाःस्थ !

—तदेव यत्कौशिकं विना सर्वे प्राणिनः कुर्वन्ति स्वामिन् !

कपर्दः—अस्तु, कुरु कार्यम्।

कपर्दः—(ममाभिमुखो भूत्वा) एते व्यवहारानभिज्ञा अनुप्ता उद्गता अयत्नवर्द्धिताः क्षुपा इव (अड़क) अनिमन्त्रिता आगता दुर्धियः पिण्डमेव न परित्यजन्ति। दिक्षु भिक्षवो मशका इव प्रतिदिनं वर्द्धन्ते। भवती प्रतीक्षमाणैवातिष्ठदेतावत्कालम्। कर्मविहीना एनां वृत्तिमाश्रित्य विचरन्ति लोकस्यामूल्यं समयं व्यर्थयन्तो गर्दभबुद्धयो वात्यायामप्रेरितानीतस्तत उड्डीयमानानि जीर्णपर्णानीव। अस्तु, आदिश्यतां दासाय कश्चनादेशः सनाथ्या चैषा समीपस्थाऽऽसन्दी।

"मुनिम, भवत्यै समानीयतां जलपानं ताम्बूलवीटिकापेटिका च"।

तस्मिन् गते क्षणोत्तरमेव स्वप्रभुत्वमिव ख्यापयन् मां सत्कर्त्तुमतिशायिनीं त्वरामिव बोधयन्नवदत् कपर्दः—

"मुनिम, केन विलम्बायितः (विलमा लिया)" इति।

भवतीं पूर्वदृष्टां न स्मरामि। परं सौम्याऽऽकृतिः कर्पूराञ्जनवर्त्तिरिव नयनयोः शैत्यं रूपञ्च ममतामिवाविष्करोति। सौशील्यं स्पृहणीयम्। महाकुलोत्पन्नानामाकार एव परिचयः। अहं भवतीं नाधिकं विलम्बयितुमुत्सहे। अधुनोन्मोच्यतामोष्ठकारानिबद्धा सरस्वती सिच्यतां वाङ्मधु सार्यतां दिव्या वागमृतसरिद् विकास्यतामाशयः। चञ्चलाञ्चलमिव लोचनयोरचिरं रुचिरमुदञ्चय किञ्चित् पक्ष्म ? मनोमोदकराणि कानि नामाक्षराणि क्षरन्ति श्रोत्रयोः सुधाम्? कस्माच्च सुकृतवल्लरीणां प्रथमः पुष्पोद्गम इवोद्गमः ? कस्मिन्नशेषदोषमुक्ते मुक्तेव शुक्तौ वंशे जाता ? कश्च सेव्यसन्निवेशः प्रदेशः ? इति।

कपर्दो मया सह वदन्नवर्त्तत। तस्य गलसाधनाविनिःसृतः शब्दो मधुरो वाद्यध्वनिरिव सर्वं वायुमण्डलं मधुरयन् प्रससार। चकिताहमासम्। सत्यम्, बाह्यीकरूपपरिवर्त्तने इव, आन्तरिकरूपपरिवर्त्तनेऽपि परमश्चतु-

रोयं प्राचीनभारतस्य राक्षसानुवादः। तस्य शब्दाः क्रूरा अपि कलयाऽऽ-लिङ्गिताः स्वाभाविका इव प्रत्यैयन्त। मध्ये मध्ये विविधभावबोधनाय क्षुराग्रसमा अङ्गुलीरितस्ततोऽभ्रमयदवदच्च, "एतेऽप्रार्थिता बलेन वारिता अपि शत्रोः कुन्ता इवान्तर्विशन्ति कलया बलेन च निष्कासिता व्रणं तन्वन्ति।"

मुनिमः सौवर्णे पात्रे कवोष्णं सकाश्मीरं पयः, राजते पात्रे द्वित्रा वातादवर्त्तीः समाशान् (समोशा) रसगुल्मानि चादायोपेतो द्विपदशनाधाने राजतीं ताम्बूलवीटिकापेटिकामादाय भृत्यश्च।

अभितः प्रसृतानामासन्दीनां मध्यात् पन्थानमासाद्य व्यापारिवीरमाप्यावदम्—"जलं निपीय समेतास्मि, अलं कष्टेन"।

"सुधाकल्पा न कल्पाऽल्पा तोषाय सरस्वती, वितीर्य्यतां निर्मर्य्यादः प्रसादः। सुधासिक्तवल्लकीक्वणनमिव परं मादकं मनसस्ते वचः। कपर्दकुटीरदेहलीमुल्लङ्घ्याप्राप्तसत्कारोऽनाहारोऽकृतातिथेयः न कश्चन पशुः पक्षी वापि गन्तुमर्हति। गच्छदागच्छतां भाग्येनैवायं विभवो दासस्य तु केवलं निवेदनम्"—अवोचन्महानीलशिलासमशरीरमानसो दम्भहासभासी वाग्वेषे मधुरोऽपि घृतमधुसंयोग इव परिणामविषः क्षपाटः किरातकर्मा कपर्दः।

अहं वक्तुमचिन्तयम्—"समाजव्रता महात्मानोऽपृष्टजला एव सार्द्धचन्द्रं निष्कासिताः, माश्चान्तर्बाह्यदुष्टोऽपादमूलमनावृतमुखमसत्यं गदन् सच्चिकीर्षति निर्लज्जः। यः परश्रियो मुष्णाति स कृष्णस्तृष्णाकुलान् पुष्णातीति तु शशशृङ्गायितम्" इति।

परं जिह्वायाः स्वातन्त्र्यं कदासीत्? तां तस्याः सहयोगिनो दन्ता एव कृन्तन्ति सुहृदावोष्ठौ रुन्धश्च। अतो भावं निगृह्य कार्यफलेच्छयाऽभक्षयम्।

अहम्—भवान्न केवले राष्ट्रेऽपि तु विश्वस्मिन्मतो विदग्धवरः। यथा श्रुतश्चक्षुषोः साफल्यं तथा दृष्टश्च।

—"निर्व्याजवैदग्ध्यजुषः सिद्धमाधुर्या रससारगर्भवाचो रमण्यः स्वभावतः किम्पुनर्विदुष्यः। अवैमि, विद्वद्वृन्दोपास्या तवास्याम्बुजे नूनमास्ते हंसवाहना, वाक्चातुर्यञ्च वपुषा सहाविर्भूतम्। अमन्दं नन्दिभिरुदन्वानैन्दवैरिव वचोभिरेधितोऽहम्।" शंसया भज्यमानवासा इव स उवाच।

अहम्—नवोऽश्रुतपूर्वोयं मय्यारोपः। परं प्रभुत्वे निरहङ्कारो वैदुष्ये विनयी वैभवे प्रियवादी दानी च सामर्थ्ये क्षमी यौवने जितेन्द्रियो मानव एव मानवः। तादृशो भवानेव दृष्टः। अन्ये त्वाकृतिजुषः।

कपर्दः—अहन्तु साधारणो व्यापारी, परं लोकः प्रेम्णैवं भणति। एतच्च सत्यमपि यच्छैशवादेव मम कलायामाकर्षणम्। बहवः सङ्गीताचार्य्याश्चलचित्र-निर्देशकाः सन्देहविधौ व्याकुलाः मन्त्रणाया आयान्ति, शारदाया दया परमा [रमाया वा शनैरहमवोचम्] यत्सर्वे तुष्यन्ति। प्राक्तनसंस्कारं सरस्वत्यनु-कम्पां वा लोको ज्ञपयति। गर्भे यदाऽऽसं महाधनस्य मे पितुः कृपां कामय-मानाः सङ्गीताचार्य्याः समेत्य गर्भोत्क्लिष्टां मातरं मेऽसान्त्वयन्। एतदपि कारणं कथयन्ति सङ्गीतनैपुण्ये। इदं परं सत्यम्, मम मुखाद्यन्निःसरति तच्छास्त्रसम्मतमेव। उपस्थितविषयं विहायाध्याहृतविषयं स्वस्योत्कर्षाया-चकर्ष कपर्दः।

अहम्—मतिमतां मतिदर्पणे विश्वं प्रतिफलति। ईदृग्ज्ञानं संस्कारं विना नोपपद्यते। अहमेकस्मै कर्मणे श्रीमन्तं क्लेशयितुमुपेता। जनपदसेवाविभा-गाध्यक्षस्य पुत्र्या विवाहे किं किं मनोरञ्जनमनुष्ठेयम्, अहं मन्त्रयितुमुपेता। अहं तस्यान्यतमा सेवका।

कपर्दः—एतत्खलु प्रदीपेनाग्नेः प्रकाशनम्। परं कपर्दस्तु यादृशोऽस्ति सर्वस्य सेवायै सर्वदा सज्जः। अत्रत्या नर्त्तक्योऽस्माकमेव। अन्याश्च सभ्य-वेश्या अस्मान् सेवितुमुत्सुकाः। सरोजिनी पद्मा पद्मजा लक्ष्मीरिन्दिराऽरुणा वारुणी तारकेश्वरी यूथिका लतिका कल्पना वृन्दा ज्योत्स्ना व्रजसुन्दरी व्रजेन्द्रनन्दिनी दिनेशनन्दिनी रमा रामा श्यामा वामा मीनाक्षी कामाक्षी सिताक्षी सर्वा एव तु दासस्य दास्यः सुभगा मां गुरुवत् पश्यन्ति।

अहम्—परं वरपक्षेण वाराणसेय्यो वेश्याः परामृष्टा अतिव्ययसाध्याः।

कपर्दः—व्ययस्य कः प्रश्नः? ग्रामस्तु देयो नहि। पङ्क्तिर्विंशतिस्त्रिंश-च्चत्वारिंशत्सहस्रमुद्राणां कापि विचारणा नहि। काः काः परामृष्टास्तैः?

अहम्—विद्याधरी शेफालिका जोवन्निशा हरिकुमारी हंसपादी च।

कपर्दः—अहं सर्वा जाने। दिनत्रयाय षट्सहस्रमुद्रा ग्रहीष्यन्ति, आवासयातायातव्ययश्च।

अहम्—भवतां किं तिरोहितम्, सत्यमेतदेव। यदि न काचन क्षतिस्तर्हि भवानेव उत्सवसञ्चालनं कर्त्तुं दयताम्।

कपर्दः—को नामेन्दौ मन्दादरः पीयूषे संद्वेषश्चन्दने चारुचिकः ? आप्यायितोऽस्मि सम्भाषणसुधया, नेति वक्तुं नोत्सहे। सर्वं भविष्यति न किमपि चिन्तनीयम्। एताः सर्वा मयैव शिक्षिता गुरुवत् पश्यन्ति।

अहम्—ताभ्योऽग्रिमं सत्याकरणं द्रव्यम्.........कियत् प्रेष्यम् ?

कपर्दः—विंशतिसहस्रमुद्रा नय। बकधवले च ता आवास्याः। एकदा विवाहोत्तरमस्मान् हर्षयिष्यन्त्येव।

अहम्—अकल्प्यमौदार्यम्। जीवनेऽननुभूतचरम्। प्रथमपरिचये श्रीमते महत् कष्टमदाम्।

कपर्दः—किञ्चन्द्रादातपः ? अपि भवत्याः कष्टम् ? नहि नहि। अहन्तु भवत्याः श्रवणमधुरां वाणीं सततं श्रोतुकामः। अमृते कस्यारुचिः ? यदा समयो लभ्येत दूरालापेन सूच्यं मरुत्तराय। योग्यानां गुणिनां सत्काराय सर्वदा सक्षणः कपर्दः। अथ च साभो निवेदनीयो यत् सक्षकपर्दस्य धनं भावत्कमेव। विवाहे नाणीयानपि सङ्कोचो विधेयः। अस्मन्नगरे विवाहे न्यूनताऽस्माकमवरत्वमापादयेत्।

विंशतिसहस्रमूल्याः शतपत्रमुद्रा एकस्यां चर्मपेटिकायां सज्जयित्वा मुनिम उपेतः कपर्दः सपुलकं मह्यमार्पयच्च।

कपर्दस्य कर्म ध्यानेन पश्यन्ती शृण्वती सुभगशृङ्गारा धनमदमोहितेवाधिक्षेपदक्षा काचन षोडशी सत्वरमेत्य सविभ्रममुपकपर्दमुपविशन्त्यवोचत्—"किमर्थमस्यै नवीनायै अयुतद्वयं दीयते पा पा ?"

केशवेषनखमुखशिखासंयोजनैः सा सुन्दर्येव निगदितुं शक्या। शाखासंयोजितः (पेमचढाया) आम्र इव पूर्वरूपं परित्यज्य शोभनं वर्णं परिमलं विकासं यथाऽऽसादयति, तथैवेयं प्रतीयमानाऽऽसीत्। यतः सा कपर्दस्य साक्षात्प्रतिमूर्त्तिर्नासीत्। प्रलम्बपार्ष्णी पादत्राणे मुखे रक्तावचूर्णनम्, ओष्ठयोः कपोलयोर्मध्ये मध्ये च्युतो रागः सीमन्ते स्रक् च तस्याः कन्यात्वमुपाहसन्।

कपर्दः—साम्भस्य पुत्र्या विवाहः। तस्यैव कृपयाऽस्मद्धनम्। तस्मात्कणं प्रत्यर्पणम्, सूर्याय दीपदर्शनमिव। एषोऽस्माकं धर्मः।

षोडशी—कथमेष धर्मः ?

कपर्दः—अये धर्म एव, कथमिदं धर्मेतरत् ?

षोडशी—सुश्लिष्टम् (खूब रहा) छिन्नबन्धे मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यति। हारेऽपहृते भ्रातृजाया विचारयति ननान्द्रे दत्तमिति।

कपर्दः—बालिका त्वं जगद्रहस्यं न वेत्सि।

षोडशी—एतत्सत्यम्, परं भवद्रहस्यमवश्यं वेद्मि। सचिवाय किमर्थं दत्ताः।

कपर्दः—जननेतृत्वमधिगन्तुं कियान् श्रमः, कीदृगसत्योद्गिरणम्, कियद्भ्रमनम्, कियद् द्विर्भाषणम्, कतिविधाश्चापूर्व्याः प्रतिज्ञा मनो विक्लिश्य करणीयानि भवन्ति। किमियं साधना न ? कृच्छ्राचारो हि तपः। तपस्विनां सेवाऽस्माकं धर्मः।

षोडशी—परिष्कृतबुद्धयो लोकक्षेमैकव्रता भवता वाचा जर्ज्जरिता इतो धूर्त्ताश्च सत्कृताः। किमेष एव लोकक्षेमाय लोकविश्वस्तन्यासानां (ट्रस्टी) लोकेच्छया लोकधनस्य व्ययः ?

कपर्दः—सङ्गीताध्यापकस्यागमनवेला त्वञ्चात्र मुधैव मस्तिष्कं क्लिश्नासि। गच्छ प्रासादम्।

मम श्वासावरोध इव भवन्नासीत्। एतादृग्दरवारो मयाऽद्यैव प्रेक्षित आसीत्। अहं शैघ्र्येण रुद्धद्वाराद् भूगर्भगृहादिव कपर्दकुटीरान्निःसर्त्तुमिच्छन्ती स्निग्धहासेन तं विमोह्यावदम्—“अद्य श्रीमतो गरीयान् कालो मया व्ययितः। अधुना गन्तव्यम्।” मरुत्तरं सज्जमासीत्। मरुत्तरे प्रविष्टायां मयि कूटकर्मा दारुणधर्माऽधर्मवर्मा हृतद्विजदेवशर्मा कृष्णचर्मा परमप्रियपरदारः परपोतदारः परकेदारदारः परस्वहरणदक्षो रक्षोराडिव सर्वभक्षः श्रेष्ठम्मन्यः शठो मम हस्तेन हस्तमाश्लिष्य समनुभूतपरमानन्द इव प्राप्तप्राप्तव्य इव प्रीतः पुलकितः “सुराङ्गनाङ्गसङ्गभङ्गी सुधास्यन्दसुन्दरः स्पर्शो भवतु मनोरथशताकाङ्क्षिताय पुनर्दर्शनाय सौभाग्यसूर्यस्योदयाय”—इति शनैर्गदन् पाणिस्पर्शहर्षतरलः प्रतिनिवृत्तः।

बहव आवश्यकताग्रस्ता देहं वा पातयेम कपर्दं वा तोषयेम इति कृतनिश्चया भ्रान्तधियस्तेन सहालपितुमादानबद्धबुद्धयो द्वारपालेभ्यो वाचार्द्धचन्द्रमालिङ्गन्तोऽतिष्ठन्। उद्बाष्पा मयाऽऽहूताः पृष्टाश्च। तेषामावश्यकता पञ्चसहस्रमुद्राणामासीत्, यास्तेभ्योऽदाम्। मुद्राः प्राप्य ते परं प्रासीदन्।

कर्करं स्वनन्त्यः कठिना अभुग्नरम्याः पत्रमुद्रा यस्य हस्तमुपयन्ति तदा क्लिन्ने अप्यक्षिणी इन्दीवरविधर्षणे, स्नायुमण्डलं सञ्चरितविद्युज्जीवनं नवालोकं मनश्चोल्लसितम्। ते कर्पदमाशीभिर्योक्तुं प्रार्थिताः प्रत्यूचुः—

दुर्मतेर्दुर्गतेः शत्रोर्भियो व्याधे ऋणैनसाम्।
सपुत्रपौत्रमित्रस्य भूयासुः सप्त वृद्धयः॥

—"भगवन्, कस्य पद्यमिदम् ?" अहमपृच्छम्।

—"सद्योजातसंहितायाः" कश्चनोदतरत्।

द्वाःस्था वृत्तं कपर्दायासूचयन्।

—"अतिमानुषसत्त्वा भवती विलक्षणा दयाशीलता तारुण्येऽपि ते करुणश्चेतः। प्रसीदामितमाम्। एता दशसहस्रमुद्रा भवत्या ददामि स्वीकर्त्तुं दयस्व भद्रे।" एधमानमदः प्रसन्नहासोल्लसन्मुखः कपर्दोऽवदत्।

सूर्यप्रभे ! गृहाणाधुना पञ्चविंशतिसहस्रमुद्राः, कर्रकर्रध्वनिना नवीनतां घोषयन्त्यः।

प्रभे ! यक्षसृष्टौ धनान्धस्य चक्षुर्व्याख्यानेन नोन्मीलति। यद्यपि विद्वांसस्तं निपुणं परामृशन्। परं पत्रकुसुमे कुतः परिमलः।

×   ×   ×

पार्थिवानि पुष्पाणि खपुष्पैः सह सङ्केतैरालपन्त्यवर्त्तन्त, परमाकाशमहासरसः सरसिजानि सहसाऽज्ञातकरोऽवाचिनोत्। अभूत् क्षणेन शोकाकुला श्वेतकेशा यामिनी। इतः काञ्चनं वर्षन्तः किरणा आकाशादवातरन्।

ईडनोद्याने युवान आलपन्तोऽभ्रमन्। देवीपूजायां मुद्राचयने कः केन योक्ष्यते तस्य विभाजनञ्च कथं करणीयमित्येव प्रधानं विषय आसीत्। यूनां यूथमद्यतनेषु दिनेषु सर्वत्रैव मुद्रितां सम्प्राप्ति (रसीद) पुस्तिकामादाय भ्रमदवर्त्तत। द्वित्राणां पञ्चषाणां वर्गोऽद्योद्यानेऽपि समागच्छत्।

तेष्वन्यतमः परमवदत्। अनेनैव वर्षव्ययो व्यपैति, चलचित्राणि प्रेक्ष्यन्ते, विश्रमगृहेषु वैभवविलासेषु क्षणाय पञ्चभिर्मुद्राभिर्घटथ्यै कुटीरमासाद्यैकान्त आनन्द उपभुज्यते देव्य आराध्यन्ते, जीविता देव्यः क्वचन सतीर्थ्याः क्वचनेतराः, द्रव्यस्य सदुपयोगं मत्त्वा। परमीदृशी पूजा भवद्भिरेव कार्या। इति।

एकस्यां पाषाणास्यायां कश्चन प्रौढोऽपि संयमेन युवेव प्रतीयमानोऽनुद्धतवेषः कमपि प्रतीक्षमाण इव इतस्ततो वीक्षमाणोऽतिष्ठत्। स मां वीक्ष्य निश्शङ्कमुपेत्य बालसरलेन निर्दोषेण हासेन सत्कृत्य निर्मायमवोचत्—

'सप्ताहं नोपेता भवती'

सत्यमहं सप्ताहं यावत्तत्र नागमम्। परं ममोपस्थितिमनुपस्थितिमियता सौक्ष्म्येण विभावयन्नयं कः ?—इत्यहं विचारयन्त्यासम्, सोऽवदत्—

'भवत्याः करकोशोऽयं निपतितो मया लब्धः। तद्दिने भवती सत्वरमेव उद्यानाद् बहिर्भूता। अहं यदा करकोशं दातुमायाम्, भवती मरुत्तरमारुह्य गताऽऽसीत्। तदनन्तरं प्रतिदिनमिहागच्छामि भवतीं प्रतीक्षमाणः। यतोऽहं भवत्या आवासं न जानन्नासम्, बहुशश्चात्रैवाद्राक्षम्। अस्तु, गृह्णात्वेनं भवती।'

आलापाय धन्यवादाय निरभिलाषो युवा गतोऽभूत्।

वस्तुतो मम करकोशः पतितोऽभूत्। यस्मिन् पञ्चशतमुद्रा आवश्यकपत्राणि कार्यालयस्यावासस्य च सङ्केत आसीत् ? परं तेन भद्रयूना कोश उद्घाटित एव नहि। कोशमहं व्यस्मरं यत्क न्यपातयम् ? कार्ये व्यापृता तत्र गन्तुमपि नाशकम्। अहं सर्वथा निराशैवासं यत् कलङ्कितायां विनष्टं वस्तु क्षणादूर्ध्वमपि न लभ्यम्। चौरैकवसतिः कलङ्किता। अहमचिन्तयम्, क एषः ? किमभिलाषः ? क्व वसति? किं करोति ? मत्तः किं वाञ्छति ? परं तस्य दृष्टौ तादृशं किमपि नासीत्। सर्वथा निरपेक्ष इव स प्रत्यैयत। अहं किमपि नावदम्। केवलं वीक्षमाणा प्रत्यावर्त्तिषि। उद्याने पुनरपि वहुशस्तमहमद्राक्षम्, क्रीडास्वनासक्तं सुभगसौन्दर्येऽनाकृष्टं शुद्धवायौ ध्यानमग्नं चिन्तयन्तम्।

मम मानसं विकलमासीत् तेनालपितुम्, तं ज्ञातुम्।

कविः प्रातर्लिखन्नासीत् तन्मनाः। अहं शनैश्शनैस्तमुपेत्योपाविशम्। परं सोऽविदितागमनः कल्पनालोके लिखन्नेवावर्त्तत। निराकारस्य साका-

रतापादने तन्मयता तस्य परा। यस्मात्स ममोपस्थितिं नाज्ञासीत्। अन्ततस्तस्य विचारधारा समाप्ता। उन्मुखः स मामपश्यत्—चौर्यं कुर्वन् गृहीतश्चौर इव, अकस्माद् विहतदीर्घनिद्र इव। स स्वपत्राणि निह्नोतुं प्रवृत्तः। सर्वतः फाल्गुने प्रसृतेऽपि तस्य पौष आसीदिव।

"किमिदम् ?"—अहमपृच्छम्।

"विचाराः कदाचनाऽऽयान्ति ताँल्लिखामि"—स उदतरत्।

—"अहमपि भवद्विचारान् द्रष्टुमिच्छामि"। बह्वोः कालात्परिचितेव धाष्ट्र्येनाहमवदम्।

—'नहि, नहि, तानि सुस्पष्टं लिखितानि न सन्ति भवती पठितुं न शक्ता। स्मृत्यै केवलं सङ्केतेनैव लिखामि। परं किमपि नास्त्येषु"।

—तर्हि भवान् कविर्लेखको वा किम् ?

—कोऽपि नास्मि भद्रे ! कथमद्यत्वे कश्चन लेखकः कविर्वा भवितुं शक्नोति भद्रे ! न राजसाहाय्यं न समाजसाहाय्यं न धनिसाहाय्यं न च सहयोगिसाहाय्यं सत्याधिकारिभ्यो लभ्यम्।

किमु जानासि भद्रे ! यद् दैनिकव्यवहरणीयवस्तूनां महर्घता कीदृशी ? दुग्धप्रस्थस्य मुद्रे द्वे, दध्नस्तिस्रो मुद्रा, घृतस्य विंशतिः, पश्वन्नप्रस्थस्यापि द्वे मुद्रे, फलन्तु क्रेतुमशक्यमेव सामान्यजनेन। गृहन्तु लभ्येतैव कथं विदुषा पुँल्लिङ्गेन। तेषामायत्तीकरणे तु सर्वाधिकारः सुरक्षीकृतो धनिभिः। प्रस्थमशीतितोलकम्, तोलकं षण्णवति गुञ्जा।

अर्थसाम्राज्ये सारस्वताभिनिवेशानामार्थिकी दशा दुर्बला नहि सर्वथा निर्बला। सारस्वतनदीष्णा अद्यापि बहवः प्रत्यब्दं कादम्बरीं रचयितुं क्षमाः। परं तेषां शक्तिश्शाकसङ्ग्रहे एव व्ययते परिस्थित्या कौस्तुभेन काचं विनिमयमानानाम्। तदा कः कथं काव्याय प्रयतेत ?

—परमहं तव स्पष्टं लेखं पठितुं व्यग्रास्मि, कथय कदा दर्शयिष्यसि ?

—परं तेषु किमपि द्रष्टव्यं पठितव्यं वा नास्ति, भवत्या औत्सुक्यं चापलाश्रयम्।

—भवेन्न वा, परमहं वीक्षितुं विकला। आदिश, अहं भवद्गृहं गच्छेयम्।

—अलं कष्टेन। अहमत्रैव प्रातर्दर्शयिष्यामि। इति

कर्त्तव्यव्रतः स्वर्णरथमारुरोह। सृष्टेर्बृहत्पुस्तके परमेकं पत्रं परिवर्त्तितम्।

परमोत्कण्ठाऽऽसीत् कवेः काव्यं वीक्षितुम्। परं स नायातः। अहमस्वस्तिभावेन (झुंझलाहट) खिन्ना प्रत्यावृत्ता। पुनरपरस्मिन् प्रातर्गता। स लिखन्नवर्त्तत। अहं तस्य सम्मुखमुपेता। स मां वीक्ष्य नीरस आकाशे सुखस्रोतः सारयन् जहास। तस्य हासो गङ्गायास्तरङ्गः सौरप्रकाशेन संयुक्त इव प्रत्यैयत। मम क्षोभस्तिरोहितः। ब्रह्मचर्येण तपसा विद्यया काशमानमुन्नतं भालं विमलकोमले तन्वधरे स्थायि स्मितं दीर्घायतं व्यायामि गौरमूर्जस्वलं वपुः सुधयेवाप्लुता मन्द्रमधुरा वाणी च सर्वकालं सर्वेषामाकर्षकाण्यासन्।

"ह्यः कथं नागमः ?" अहमपृच्छम्।

"किमर्थम् ?"

"भवान् काव्यं दर्शयितुं प्रत्यज्ञासीत्"।

"ओः ? तदा त्वं किं सत्यमेव काव्यं द्रष्टुं विकला ?"

"परं भवतः सन्देहः कथम् ?"

"सन्देहस्तु नहि, परं साधारणजनवत् क्षणिकमौत्सुक्यं तव मयानुमितम्"।

"तत्कथम् ?"

"अस्तु मिथ्यैव तदासीदिति। कदाचनाहं भवतीं दर्शयिष्याम्येव।" इति

इतः कपर्देन सह शनैश्शनैः परिचयो वर्द्धते, अन्तरान्तरा दूरालपेनाऽऽलापोऽपि भवति। परह्यो जन्मदिनसमारोहेऽष्टप्रहराय साग्रहमाहूतोपस्येवागच्छमपि। प्रातस्तस्य मङ्गलकृत्यम्। पूजासम्भारो राजतेषु पात्रेषु सज्जः। कुङ्कुमं ताम्बूलमच्छेद्यमभेद्यमक्लेद्यमशोष्यं पूगीफलं सघुणा समलैला भूर्लिमलिनं लवङ्गमवकरमिश्रो धूपः पात्राश्लेषी तमालगन्धिर्गुडो भग्नफलं नारिकेलं क्षता अक्षताः रात्रौ प्रियाभिर्व्यवहृताः पुष्पस्रजः पुष्पाणि च महिषगोष्ठादानीता दूर्वा वाणिज्याराद् बहिष्कृता अनङ्का नवनीतमसृणा-

स्ताम्रिकाः पणाः कृष्णं कदलीफलं गलितमाम्रं मूषिकैर्दष्टं दाडिमं मलकृष्णस्ताम्रकलशश्च ।

वेदविद्वांसः समस्तां निशां विविधार्चनानि कुर्वन्तः प्रातस्तमभिषेक्तुं प्रत्यैक्षन्त । परं विहरणभूमिषु व्यतियापितनिशो निर्निद्रो निशाचरोऽहङ्कारकलहेर्ष्यामर्षाशिक्षाऽविवेकानामेकनिधिर्दूषिकाकुलाक्ष उचिताचारविच्युतः सोष्ठवादनसमये समानीतः काष्ठपीठ उपवेश्य काकस्नानं कारितश्च । मारवः पादप इव स बहुजलं नापैक्षत । ततो भृत्यानीतेन प्रातराशेन भोजितः ।

हन्त, सदाचारो व्यसननिमग्नः । निशि मद्यं यथेष्टं सोऽसेविष्ट, अशेषां निशां जागरितो ब्राह्मे मुहूर्त्ते मद्यमलमास्वाद्य स्वपितीति तस्याभ्यासः ।

जपतपोहोमेषु भवत्सु प्राप्तैर्घटकैर्दूरालापैश्चालपन् फलरसं पयो मार्द्वीकं पुनः पुनः प्रस्थोपमं पिबन्नवर्त्तत । अर्चकेभ्योऽपि मध्याह्ने शर्करासङ्गतं पयःप्रेक्षितं चायधूल्या (Teadust) विरक्तं सम्भावितनिर्धनोदरसङ्गमेनेव क्षुभितं सामर्षमुष्णं जलं पातुं प्रदत्तम् । जागरिता उपोषिता उच्चारणश्रान्ता विद्वांसस्तदर्द्धप्रस्थं फूत्कृत्य फूत्कृत्य पिबन्तः कपर्देन साक्षिभ्रुवं सतिरस्कारमभ्युक्ताः—"उदरम्भरयः पशवः" । ततो वात्यावेग इव पूजास्थानात्सोऽपासरत् । मध्याह्नोत्तरं यामषट्कं कृतश्रमा विद्वांसो भोजयितुमाज्ञप्ताः । पुरीषदूषितां मन्दुरां परिष्कृत्य क्लिन्नमलिनो भग्नत्रुटितः शणपट आसितुं प्रसारितः । कीटभक्षितेषु शतच्छिद्रेषु पत्रलेषु (पत्तल) नखम्पचो गुडसंयावः परिवेशितः स्विन्ना लवणाम्लाक्ताः कृष्णाश्चणकाश्च । संयावस्य खरपाकस्तैलमिश्रो जीर्णगुडगन्धोऽभितः प्रसरणशीलता च पाचकस्य योग्यतां याजकस्य श्रद्धाश्च तुमुलं व्याजहार । विद्वद्भक्ष्ये कस्य नामादरः ? एकः काणः सम्भाव्यते बधिरोऽपि परिवेशको द्विस्त्रिराहूतो रिक्तामर्द्धार्द्धां वा दर्विकां द्विस्त्रिः प्रदर्शयँश्च्युतलाल उद्भ्रूः पुरः पुरो धावन् स्खलितं धौतं वासो निबध्नन्नेवावर्त्तत ।

अथ परिवेशितं तद्विलोक्यान्नब्रह्मणः सन्निकीर्षया, अंशतोऽपि क्षुदुपशमाशया विपाक्तमिव परं भगवदर्पितमनादरणीयमिति भोक्तुमुद्यतेष्वेव तेष्वेकः किरातवर्णो लम्बकर्ण एकत उपेत्य तानगदत्—"सर्वं दिनमत्रैव स्थास्यथ

किमु ? अथ वा कार्यान्तरमपि विद्यते पण्डिताः ? भोजनस्य कापीयत्ता वर्त्तते ? "यावान् स्वापस्तावती निद्रा यावद्भोज्यं तावती क्षुधा"। अस्माकं तु बहु कार्यान्तरं विद्यते। इति।

मर्मकृत् काकः कथं नाम वृषव्रणवेदनां वेत्तु ?

अहमचिन्तयम्—"अहो ! सिकताशय्यामधिशयानानां तर्जनीलेखन्या सैकतपट्टेऽभ्यस्ताक्षराणां कौपीनवाससां महाविदुषां साम्राज्यं वैराज्यं प्रति निः-स्पृहाणामिमाः प्रजाः परस्परं दीनाननानि म्लेच्छानां वीक्षमाणा वक्तुमक्षमाः शुष्कापूपायापवित्रसंयावाय सवेपितचकितं दन्तान्निष्कासयन्त्योऽप्यफलाः कथमन्त्यजान् सेवन्ते श्रान्ताः ? अहो सामान्यस्खलनेन गमिता गतिमिमाम्। विड्भुग्वराहशिशुसङ्गेन गोवत्सोऽपि पुरीषं जिघत्सति।

विशीर्णपत्रपुष्पफलः स्थाणुरधुना धर्मवृक्षः।

सतृणं जग्ध्वोत्थिता बुधा दक्षिणया (वेतनेन) योजिताः। मिथ्यानाह-परीणाहं [यस्मिन्नानाहः=लम्बाई परीणाहः=पनहा मिथ्यैवाङ्कितः] चणकोन्सोचिच्छिद्रं युग्मच्छिन्नमधौतमपि धौताख्यं वासो राजती मुद्रा चैका दत्तानि। आशिषा योजयितुं ते कपर्दममार्गयन्। परं स शुभाशंसायै समेतां चलचित्रनटीं प्रसादयन् कल्पनाविलासमध्यास्त। स उष्णीषिकां प्रेषयन्न-सूचयदस्यै वदन्त्वाशिषः। ते तथाऽकुर्वंश्च।

बुधोच्छिष्टेन श्रान्ताः कान्ता अभोजयत्, एतत् पावनं युष्माभिः सेव्यम्।

इत एकस्मिन्कक्षे नगर्य्या मोहमय्याश्चोपविशाः पाकशास्त्राचार्या विविध-मिष्टान्नव्यञ्जनोपस्काराय सप्ताहेन व्यग्रा आसन्।

नैशभोजसज्जा प्रारब्धा। चकासद्दारु चारु हिमधौतधवलोपलमवधूतसुदती-हासं मञ्जुलमञ्जरीमन्दमारुताह्लादितं भवनं विद्युद्दण्डदीपप्रभाभिरभ्रा-जत। सुमनसां सौवर्णैरालवालैः प्रसाधिते सोपाने रम्यमृदुलमौर्णं परिस्तरण-मास्तृतम्। सोपानप्राचीरे उत्कीर्णचित्राणि दर्पणानि खचितान्यासन् कला-तुलानि। सुरभिसारसुरभिते सत्कारागारे रम्याण्यौर्णान्यासनान्यास्तृतानि। तेषु चन्द्रिकावदातं वासः, तेषु महार्हाणि वर्त्तुलपीठानि स्थापितानि। तान्य-

भितश्च प्रतिबिम्बितानननाश्चतस्र आसन्दः। एवं पञ्चविंशति पीठानि स्थापितानि प्रतिवर्त्तुलपीठं चत्वारि राजतभाजनानि, प्रतिराजतभाजनं मिष्टान्नेन लावणिकेन फलैश्शाकैश्च पूर्णाः परिमलिताश्चतस्रो राजत्यः पात्रिका (प्लेट)—श्चतुर्षु कोणेषु चत्वारि करपटानि च। मध्ये विदेशोद्भवपुराणमद्यस्य द्वे कूप्यौ स्वर्जिकाक्षारनीर (सोडावाटर) स्याष्टौ कूप्यश्चत्वारि च चषकाणि।

चञ्चद्रुचिः पश्चिमाचलचूलं चुचुम्ब। अरुणवसना कुलायप्रत्याशिनी सन्ध्या दीपिकामिव तारिकां कर आदाय सौभाग्यसज्जायै प्रावर्त्तत।

गगनाट्टालिकायां सन्ध्यासुन्दर्या नक्षत्रनूपुराण्यभ्राजन्त। विलीनतापे तपनतेजसि व्यपगतायामुष्णतायां शोणितवसना यामिनीकामिनी नववधूरिव प्राच्या गवाक्षेण कस्याप्यागमनं प्रत्यैक्षत। क्षणेन साशङ्कः शशाङ्कः शनकैश्च-कितश्चकम्पे पूर्वस्या दिशः। लीलावत्या ललाटे बिन्दुरिवेन्दुरिन्दाश्चक्रे। नक्षत्रपूर्णा विभावरी वर्येवाभ्राजत।

षण्णदनात् पूर्वमेव षोडश्यो वरारोहा आययुः। प्रायशोऽधस्ताच्चण्डा-तकचतुर्थांशम्, उपरिष्टाच्च चोलीमकिञ्चनां वसाना अद्यतनवेषा अवेषा अर्द्ध-वेषा अर्द्धार्द्धवेषाः पुरुषवेषा एकजटा द्विजटास्त्रिजटा अजटा मुक्तकेश्यश्छिन्नकेश्यो वलयितकेश्यो दीर्घकेश्यः कृष्णकेश्यः पिशङ्गकेश्यः काञ्चनालिकालमलीकमलकं दधानाः, भल्लफालायितकुचाः स्तनपट्टिकाबद्धचूचुकाः पदपटोपेता अर्द्ध-पदपटो (हाफ्‌पैन्ट) पेताः नभोलीन (नाइलोन) शाट्यश्च, लिप्तौष्ठ्यो लिप्त-कपोला लिप्तनख्यो लिप्तमुख्यश्च परमप्रयुक्तसीमन्तसिन्दूराः। वेषकेशकोश-हासविन्यासविलासानां वल्यानामुपनेत्राणाञ्च प्रदर्शिनीव कलापूर्णाऽभवत्। तासां बहिरङ्गं यथा तीव्रमाकर्षकं जीवदासीत् तथैव तासामन्तरङ्गं निष्प्राणमिव प्रत्यैयत व्याकुलता च कृत्रिमा।

स्तव्वहनुरपि कपर्द उत्साहातिरेकेण पूर्णिमायामुद्वेलितः सिन्धुरिव चन्द्राननैर्घितोऽञ्चचूर्णनेन श्मश्रुच्छेदनिर्घृष्टमाननं विभास्य कृष्णाप (खिजाब) कृष्णीकृतमूर्धा ताः सत्कर्त्तुं स्वयमुपातिष्ठत्।

स मामप्याह्वातुमकाङ्क्षत्, परं तस्य जिह्वा नास्फुरत्। अमर्षहर्षोन्मि-

श्रभावैर्वीक्षिता दूरत एव पश्यन्त्यवर्त्तिषि ।

षण्णदनाव्यत्रहितोत्तरकालेऽर्द्धभारतीया पद्मश्रीर्युवतिर्नीविनिवेशनिवि-डीकृतमध्या नीलान्महतो मरुत्तरादुपेत्य प्रावृषेण्यान्मेघात् प्रावृषेण्या विद्यु-दिव निर्गता ।

अथ स्वर्णविमानिनः कर्त्तितान् केशान्, नीले प्रकाशभाजी चक्षुषी, भ्रुवं विस्फार्य मोहकं रूपं दधतीं विलोक्य "केयं केयमिति" सङ्केतेनैव परस्परं पृच्छन्तीषु सर्वास्वन्तर्वेदिता कपर्दः सस्मितमुदतरत्—"सौन्दर्यसमुद्र-मन्थनोद्भूतसुषमासारनिर्मितेयमस्माकं प्रेमपरिषदो नवीना सदस्याऽकृत ब्रह्म-चर्यव्रतपारणाम् । अस्या एव सूक्ष्माः स्वर्णसूत्रोपमाः शिरोरुहा लोकस्य विदीर्णं मनो विनैव सूचीं सेवितुं शक्नुवन्ति । अद्यतनोत्सवस्य प्रधानमतिथिः ।"

पश्चाज्ज्ञातं यदेतन्मरुत्तरं त्रिंशत्सहस्रमूल्यं दीयतां दण्ड (दे शोटो) इत्या-ख्यं कपर्देनोपहृतं पारणापुरस्कारः ।

युवतिरियं वर्णसाङ्कर्यप्रभावेण विकसितरूपविभवाऽशिशिरस्मरसम-रोचितरचितवेषा लुलितकेशा नग्नकल्पैवासीत् । सुन्दरं चपलं प्रसन्नं यौवनोन्मादपूर्णं मुनिमानसमानोन्मूलि मादकं तारुण्यं तस्याः प्रतिरोम्णः प्रासरत् । लघीय एकसूत्रं त्वक्सवर्णं चतुष्फलं वराङ्गेऽवण्यं सवर्णं वासश्शकलं चूचुके रूप्यकवर्त्तुलं कृपे [कृपदौर्बल्ये कः=क्लिप] नासज्जितं त्वक्सवर्णं वासो दधत्यपि सा दृष्टेः सकृन्निपातेन विदूराच्च नग्नेव प्रत्यैयत ।

अथ सा तीव्रामुद्विग्नतामिव दर्शयन्तीन्त्यश्वकिशोरीवोत्प्लुत्य सपदि सदो-मध्यमुपासदत् सादितदैवसम्पदः, निर्लज्जा निर्भरं सदष्टौष्ठ कपर्दं चुचुम्ब च ।

वासनैकमानसो ग्राम्यरसहासकौतुकाकीर्णो ललितयालिङ्गितां निर्भरं परिरभ्य पशुप्रतिमः पशुभावेनापीड्य सोऽप्यन्यूनमुदतरत्, आपादमस्तकं निर्वर्ण्यवदच्च—"अहो स्वाभाविकं सौन्दर्यम् । न वासांसि न भूषणानि न च प्रसाधनम् । सत्यम्, मुक्तामणिर्न पुनः शाणोल्लेहनमपेक्षते । कदा नाम स्याज्ज्योत्स्नाविरहितश्चन्द्रः ? सत्यम्, मिथ्यैव नेपथ्यं प्रियेषु ।

निर्लज्जतापि तयोर्निर्लज्जतां विभाव्यालज्जत । सर्वासां देहविपणिग्राहिका-

नाक्रष्टुमिव सज्जाऽऽसीत्। ललितोल्लापलब्धवैदग्ध्यास्ता न न्यूनाः पञ्चाशत आसन्दीषूपाविशन्। मध्यासन्द्यां मरालमालिनीमर्द्धभारतीयां युवतिमुपवेशयन्नवदत्, "आस्यामधितिष्ठ सुन्दरि ! प्रसीद पूजां गृहाण च"।

तासां जिह्वा कर्त्तरीणां फलकवद्विरामविरहिता अचलन्। श्वेताम्बरास्तमालवीटिका ओष्ठसम्पुटे प्रेम्णा प्रतिष्ठाप्य ता आनन्दोच्छ्वासानुदगिरन्।

चतुर्णखानां दर्वीणां चषकाणां ठणत्कारो भोजनमारब्धमसूचयत्। कामागमवामागमकदाचार्यचक्रवर्त्ती कपर्दः पञ्चषैराप्तैर्नर्मसचिवैर्गणनावर्णनारचनातीतानि पक्वान्नानि परिवेशयितुं प्रवृत्तः। सरति सुभगे सुरभिसमीरे, जवनिकान्तर्वाद्येषु रणत्सु गाने गीयमाने, विद्युदालोके प्रियोपनीतं मद्यपूर्वं मद्यमध्यं मद्योत्तरं स्वादु, स्वादीयोऽभूच्चतुर्गुणमभुज्यत च भोज्यम्। अदयं ताम्बूलदलाष्टकं चर्वयन् विडम्बरसिकः कपर्दो भग्नबन्धनो वन्यो महिष इव भूमिं जिघ्रन् इतस्ततोऽभ्रमत्। बहुश्रेयसी सोऽचेष्टताधिकं भोज्यन्तासामुदरदर्यां समावेशयितुम्। काञ्चन सोऽवदत्—"कथमुन्मुक्तवत्यसि तवाधरमधुरमुन्मत्तिके ! (पगली) रसगुल्मम् ? काञ्चन "तव कपोलस्वादु काश्मीरपीतं सुरभि राजभोगं कथं न भुक्तवत्यसि सुभगे ? "तव नासोन्नतां कथं नास्वादितवत्यसि पटोलकन्दलीम् ? ओष्ठकृशां वातादवर्त्तीं वा ?। परिहासमहोत्सवराज्ञि ! आज्ञापय कामपि सपर्याम् ?। अपक्षीणमध्ये क्षणमास्वाद्यतां किञ्चित् ?। प्रेमरसस्य कूलप्लाविनी तटिनीयं कथमद्य विरता मध्ये ?। अलिनीलकेशि ! नारोचत् किं मोहन-भोगः ?। शारदसरित्स्वच्छप्रवाहहासे ! कथं न स्पृशसि तवाङ्गुलिलम्बं चमचमम् ?। छबिली ! ऋलाकन्दोऽपि त्वत्कलाग्रे मन्दः ?। पुण्डरीकस्मिते ! को नाम परः स्पर्धापरः स्मितेन ऋते क्षीरानन्दात् ?। नवीनवल्लि ! (नईनवेली) कथं लज्जितासि स्वगृहे ?! भृत्यान्न आज्ञापय गृहस्वामिनि ! कनकमोहिनि ! कथं विरतासि माधुरीतः ?। लोहस्तनि ! कथं वटकमेवास्वादयसि ?। मृत्स्नामृदुले ! कथमद्य शिथिला ?। कुलसुम ! कथं न स्पृशस्यारव्यकुक्कुटम् ?।
एवं वृषस्यन्तीः गाः साण्ड इव सर्वास्ता जिघ्रन् व्यावृत्तनासः स परममोदत।

एषु कानिचिन्नामानि कर्णयोर्नवीनान्यासन्। ममाभिप्रायं जानाना दासी मामसूचयत्, यदेतासां नामानि न सन्ति, एते साभिप्राया उपाधयः। कनक-

मोहिंन्यायातव्यापारसौकर्यमधिजगे, येन सुवर्णस्य गृहाणि पूर्णानि लौहस्तनी च लौहयन्त्रायर्णम्। एता बहूद्देश्यका जनमनोरञ्जनाय जनवाटिकासमा भाग्येन विडम्बिताः। कालकुचक्रेण यदा राकासाम्राज्यमर्द्यते सैव वेला प्रातः। परं रात्र्यै..........। अश्रमप्राप्तधनस्य तस्करस्य कृते भवेन्नाम काप्यमावस्या दीपावली परं रहस्यं पृथगेव।

रसनानन्दो निवृत्तः। कपर्दः प्रतिपीठं फेनिलेन शोणमद्येन चषकमापूर्य स्वहस्तेन सानुरोधं बिम्बोष्ठेभ्यः समर्प्यास्वादमास्वादं शनैः शनैरोष्ठाभ्यां चूषयन्, मध्ये मध्ये बिम्बोष्ठैः स्पर्शयन् स्वप्रसृष्टाववर्त्तत। भोज्यादधिकं पानम्, रिक्तकाचकूपीनां पिठराणि पूर्णानि। स्वर्णपर्णावृतानि नागवल्लीदलानि यज्ञस्य पूर्णतामघोषयन्। निखिलमानसेभ्यो गाननिर्झरिणी प्रासरद् द्वन्द्वनृत्यञ्च। आमोदप्रमोदस्य प्रवाह उत्कूलः। अर्द्धभारतीया वसन्तमञ्जरीत्युपाधिमलभत।

उत्सवस्यान्ते प्रास्थानिकः परिरम्भः प्रारब्धः। सङ्गाभिलाषा अपि ताः स्पर्शाभावमिवेहमाना नीरन्ध्रं परिषस्वजे पृथक् पृथक् कुचोपपीडं कपर्दः। एका न खराकृतिर्दूरत एव शरीरकणानान्दोलयन्ती सस्मितमभाषत—"अहमत्र स्थितैव भवन्तं वचसाऽऽलिङ्गयामि"। कपर्दोऽवदत् "आलिङ्गनन्तु वार्णादाङ्गं बलीयो वलिभासिनि! योगविभागात्सिद्धिः पाणिनेरेव, अस्माकं तु योगेन। श्लेष एव सुखार्णवः कामिन्याः कविताया इव। प्रकृतिप्रत्ययसंयोग एव व्युत्पत्तिः पल्लवाधरे!

अस्मिन् परिरम्भे का का कीदृशमुद्रेकमन्वभवन्नाहं वेदितुं क्षमा, परं कपर्दस्योद्रेकोऽसाधारण आसीत्।

ताः साधुवादभाषया कपर्दं समभावयन् "अनास्वादितचरमाधुर्यं मद्यमभुक्तपूर्वं भोज्यमपीतपूर्वं पानीयमतुलितं ताम्बूलं नित्यनवीनो भवदङ्गस्पर्शश्चेति' कान्ताकमनीयवचनश्रुतिलुप्तविवेकोऽपि त्रुट्यत्कञ्चुकबन्धनो नृत्यन्प्रत्याह कपर्दः—

प्रणयिविपदन्तोऽन्तःपुरप्रसादी प्रेमारुणः प्रियाकरुणो भ्रूविलासः क्रान्तिकरालः कटाक्षोऽनिर्देश्यसुखास्वादः क्षौद्रद्रवद्रोही वाचां परिस्पन्दः

कामानललुप्तविवेकानां सुधाम्बुधिः स्पर्शो ध्वान्तान्ती शुचिरुचिर्हाराभो हासस्तापापनोदिनी वदनचन्द्रिकाऽन्तर्बाह्यतमोऽपहं स्मितज्योतिः श्रियां सञ्जननञ्च चरणक्षेपणम्। यामायामः कालो निमेषशतांश इव गतो भवतीनां सन्निधौ। मुदियमुदारा यदद्य विकसितमुकुलितानामालोकितानामेष भाजनम्। परमानन्दमयी सैषाऽवसानभूमिरुत्सवस्य।"

—"शुभगेयं रात्रिः, दुःखास्पदं परं यद् गन्तव्यम्। परं वियोगः संयोगहेतुः"—वसन्तमञ्जरी जगाद।

जिगमिषन्तीभ्यः पाञ्चशतिकीं वाराणसेयीं शाटीं सुरभिसारकूपीशत-कोपेतां राजतीं मञ्जूषाञ्चैकैकस्यै प्रादात्। "हा हा ही ही" कलकलेन कपर्दं सम्भाव्य प्रतिनिवृत्तासु तासु रिक्तास्वासन्दीषु क्षिप्तनेत्रः कपर्दः कथमपि वाष्पाणि रोद्धुं नाशकद्।

तदुत्तरं नगर्य्या विशिष्टा अधिकृताः सगुणाः सधर्माणः सवर्णा बन्धवो नर्मसचिवाश्चोपेताः रमणीरत्नपवित्रितास्वास्यासूपवेशिताश्च।

रम्यं भोज्यं प्रसादकः समयोऽनुकूलं वातावरणं मद्यं गानं सहयोगि तदा वराकस्योदरस्य भगवानेव रक्षकः। अन्ततस्तेनार्गला दत्ता। अध्यशनेन मद्यातिपानेन बहुशोऽवमन्। भोजनं स्थगितम्। गौराङ्गी षोडशी स्वाभा-विकं ननर्त्त। क्रमशः सर्वेऽपि द्वन्द्वनृत्ये तदङ्गस्पर्शमवाप्य जीवनमुक्तिमवापुः। कपर्दोऽपि स्वाभाविकरूपेणाभ्यलषत्, परं ब्रह्माण्ड [बृहदण्ड] ता तं न्यवारयत्।

धिग्धिक्कुर्वती भित्तिघटी द्वादशघानदत्। पाञ्चशतिकेन राङ्कवेन दुकू-लेन राजत्या मञ्जूषया च सत्कृता अतिथयः परस्परमालेपुः—"कृपणो दुष्ट इयन्तं महान्तं समयमतिवाह्य 'एतत्प्रदाय' स्वं को जानीते किं मनुते चौरः।"

अहमचिन्तयम्, कीदृग्वैपरीत्यम्? साधवोऽहोरात्रं व्यापृताः श्रमफलमप्राप्य दग्धभोज्यमप्यास्वाद्याशिषां शतं वदन्तोऽगच्छन्, एभ्यश्च धनस्याकृशो राशि-रमेयो मानश्च प्रदत्त इयती वेला व्ययिता महार्हं भोज्यञ्च तथापि न प्रासीदन्।

तद्दिने यथावसरं कपर्दस्य सर्वाभिर्भार्याभिः सङ्गता मधुरालापेनावशयञ्च। आगन्तुमालपितुं प्रार्थिता प्रत्यजानाम्।

अथाहं निशीथोत्तरं गन्तुमनाः कपर्दाज्ञां प्राप्तुं व्यवसिता। तस्य विश्लेपभयकलुषं मानसं रात्रौ तत्रैव मे स्वापमभ्यलषत्। सोऽवदत्—तारे! अस्माभिस्तु रात्रावद्यानवद्यं मद्यं पेयं गेयं मकरध्वजस्तोत्रं हेयञ्च संसारविचारणम्, त्वयापि किं नेयो नापररात्रोऽत्र? यद् गत्वा न निवर्त्तते तद् यौवनम्, यदुपेत्य नापगच्छति तद्वार्धकम्, बुध्यस्व तारे!

"साभस्य पुरो विपुलं वर्त्तते कर्म"—अहमुदतरम्।

अन्तत उन्मनाः स मां गन्तुमादिशत्। राङ्कवं दुकूलं वाराणसेयी शाटी राजती मञ्जूषा सहस्रमुद्राश्च दशगानवभोज्येनाहारेण सह मरुत्तरे स्थापितानि। कपर्दान्निस्य न स्यादत्र प्रवेशोपि—इति विचार्य भोज्यं पथि पदपद्यासु सुप्तेभ्यो दत्तम्। वाराणसेयीं शाटीं चन्द्रकलायै राजतीं मञ्जूषां पद्मिन्यै दुकूलं साभस्य जामात्रे च दास्यामि। परं मुद्राः क्व व्ययितव्या इत्येव चिन्तयन्त्यासं परं त्वत्परामर्शात् कपर्दादप्राप्तश्रमफलेभ्यः पण्डितेभ्योऽदाम्।

अहम्—सर्वथोचितमकार्षीः, अथ च धनपतेः का दशा?

कृष्णतारा—एषु दिनेषु सप्ताहे सकृद्रवौ धनपतेर्गृहं गच्छामि होराचतुष्टयं पाठयामि च। मध्ये मध्ये धनपतिः पत्युः स्वास्थ्याय पृच्छति, शनैश्शनैर्लाभमहं सूचयामि। युवतिरधुना खिद्यति। तामबोधयम्, यत्तव दास्यदुःखं दाहयितुं घनारम्भे क्षणप्रभां चञ्चलां स्थायिनीं कर्त्तुमुपायमचिन्तयम्—"चेतनाय धनपतिं सूचय यद्वर्षान्ते भ्रातुर्विवाहकाले युगपद् ग्रहीष्यामि। अष्टाविंशे दिने रागाङ्कितवस्त्रात्मानं रजस्वलां घोषय। अस्मिन्नन्तरे प्राप्तगर्भा चेत्तव दास्यदुःखनिवृत्तिर्निर्बाधा।" इति।

सा त्वैच्छदेव। सम्पत्सम्पदमनुबध्नाति। सा मामवोचद् यद् गतमासे नासं पुष्पवती।

—भगवतो महती दया, अहमवोचम्। अधुना तस्यास्तृतीयो मासः। उत्क्लेशः क्षुन्नाशः शरीरे पीतता शिथिलता च। सम्प्रति रहस्योद्भेदनाद् बिभेमि। अद्याहं सर्वां स्थितिं साभाय न्यवेदयम्। युवतिरावेदयिष्यति यदहं धनपतिं सचिवरूपेण सेवमाना गान्धर्वविवाहेनोढाऽऽहितगर्भा च। सम्प्रति मम जीवनसंशयः, इति।

साभस्तु सर्वाः स्थितीर्जानात्येव ।

अहम्—कृष्णे ! अवधेहि। कुटिलो धनपतिः । बहवोऽनेन नीताः कथावशेषताम् । धनिना विरुध्य नाद्य कश्चन जीवितुं शक्नोति । समयं वीक्षस्व । अयमर्थयुगः । अस्मिन्युगेऽर्थस्यैव प्राधान्यम् ! कालवेगो जलप्रवाह इव यष्ट्या नावरोध्यः । बुद्धिमाँस्तेन सहायते मूर्खो विरुन्धन् कष्टायते। धनमधुना ब्रह्मणो विष्णोः शिवस्य राज्ञो न्यायस्य च सिंहासने प्रतिष्ठितम् । तेन विरोधो मृत्योराह्वानम् ।

कृष्णतारा—साधु साधु । शतपदी यदि गोष्पदं पारयितुमक्षमा तदा किं द्विपदो हनूमतः समुद्रोत्तरणे विवदितव्यम् ? तमहं तृणाय मन्ये । विपणेः स्वरूपं संज्ञानपटेन [साइनबोर्ड] ज्ञातुं शक्यम्। तमहं पर्यैक्षिषि । तस्य विकत्थनाशैलीमहं जाने । परं गोधा सर्पणात् सर्पो न भवति सटाजटिलः श्वा च मृगपतिः । अतिप्रकाशोऽपि खद्योतो न पावकायते ।

वस्तुतो दोषजुषां धैर्यं शक्तिश्च न भवति ।

अहम्—प्रसन्नस्ते तर्कः । शिवस्ते साफल्यं दिशतु ।

× × ×

साभस्य सुताया विवाहे प्रबन्धो मदधीन आसीत् । कानि मिष्टान्नानि शाकानि व्यञ्जनानि कस्मिन् समये प्रस्तोतव्यानि, कोऽतिथिः कुत्रावास्यः, कस्मै कीदृशी सज्जेति वस्तूनां क्रयस्य यानस्य प्रसाधनस्य च व्यवस्था, यौतुकञ्च सर्वाणि मयैव निरीक्षणीयान्यासन् । मम च प्रधानं कृष्णतारा । सा मामेकदाऽबोधयत्—

शाकगोलकेषु प्रतिदिनं लक्षाधिकमणाख्यमितं शाकं क्रीयते यथेच्छमानेष्ये । प्रान्तान्तरे ऋत्वन्तरे जातानां शाकानां फलानामिहोपलब्धिः शीतालयसङ्ग्रहाच्च (Cold Storage) । जीर्णानां शाकानां सद्यस्कतां ख्यापयितुं हरिद्वर्णं विद्युद्दीपं प्रयुञ्जानाः, परिणामवर्द्धनाय जलेन तानि क्लेदयन्ति । शाकानां गलितानंशानेकतः कूटीकृतान् वीक्ष्यापृच्छम् "किमर्थमिदम् ?" "क्षणादूर्ध्वं नेदं स्थास्यति, औदनिका (होटलवाले) यत्किञ्चित्प्रदाय नेष्यन्ति,

अस्माकमवकरपिठरपातनश्रमो न लाभोऽपि। ते च तीव्रान् वेशवारान् दत्त्वा शाकमिष्टस्वादं विधाय व्यवहरन्ति" ते इत्युदतरन्।

प्रभे, प्रतिवेलं पञ्चमुद्रा आददाना औदनिकास्तादृशं भोज्यं परिवेशयन्तो रोगानप्यशेषान् प्रवेशयन्ति। विश्वं वञ्चनामयम्। सत्यस्याशं नांशेनापि। "क्षुद्रवस्त्रेष्वपि 'श्रेष्ठं' मुद्रितम्। न परिणाहः (पनहा) न चानाहः सत्यः। भूषणे सदोषता। भोज्यं पयस्तक्रं नोपलभ्यं शुद्धम्। घृतस्य तु चर्चैव व्यर्था। नात्र कश्चन पयसि जलं मेलयति, अपि तु जले पयः। आदेशसमकालमेव शतमणमितं दुग्धं दधि वा सुखेन दुग्धे विलक्षणा तेषां कामधेनुः ?। लोको यमं पुनर्वसुमग्निवेशमाह्वयमानो जीवति। मासिकदेयाद्भाटकाच्छतगुणं धनं स्वामिने गुप्तं दत्त्वा विपणिं लब्ध्वा व्यापारी बिभर्त्युभयतोधारं क्षुरम्। प्राकृता एवं वञ्च्यन्ते पीड्यन्ते च।

स्वर्णाभरणानि क्रेतुं वसुभुवं बृहद् वाणिज्यारमगच्छम्। क्षेत्रमिदं सर्पगतिकुटिलाभिर्मतिभिरमानिशाघनतमोमलिनैर्मार्गैर्जीर्णैश्च व्याप्तं कुम्भीपाकादिषु स्थानमलभमानानां पापिनामुपनिवेश इव प्रत्यैयत, यत्रेष्टिकाकोष्ठेषु पुरुषकीटा न्यवसन्। तत्र मानवम्मन्यमध्यवर्त्ति कुष्ठकेन्द्रमिव मलिनमपि मलिनयत् 'हंसपुष्करम्' नाम क्षेत्रम्, मशकमत्कुणमक्षिकाभी रक्षितम्, अन्वस्य व्यङ्ग्येन प्रचारितं पुण्डरीकनयननामानुकारि। यस्मात् प्राणायामाभ्यासं विना न कश्चन नवीनो निःसर्तुं प्रभुः। हेमन्तेऽपि यत्र दौर्गन्ध्यौष्ण्यं निदाघभ्रममुत्पादयति।

पिशितमशितुकामाः गृध्रा इव गृध्नवः कपटकूटानृतदम्भशालिन एकाग्रा व्यापारिणो मूर्खग्राहकोपलब्धौ हर्षम्, ग्राहकापसर्पणे दुःखमनुभवन्त उपाविशन्। कर्दमस्यावकरकूटस्य, आर्द्रवातोपस्निग्धानां (सीलवाले) दुर्वर्णानां नरपूर्णकोणानां गृहाणां काष्ठानां चर्मणां तमालमरिचमलमूत्रमिश्रो गन्धो मानुषस्य मानसं नासाञ्चोद्वेजयितुं क्षम आसीत्।

शीर्णत्वचः कीर्णकेशाश्चीर्णोपवासाः क्षरच्छोणिताः श्वसितुमुत्थातुमसमर्थाः जीवने द्विशस्त्रिशः स्पृष्टदुग्धाः, गोदैरहर्निशं हरिं कीर्त्तयद्भिः पीतदुग्धा

गोवत्सा निवासिनां दयालुतामुपाहसन्। हन्त! जननीदुग्धपरितृप्ता अपक्षा अपि सपक्षा इव प्रतीयमानाः क्वात्र गोवत्साः? क्व च तेषां स्निग्धा मातरः? उभयमेव वीतम्, पीतं वा मानवाभेन।

गोपाल! क्व स्वपिषि? छिन्धि निद्रां भिन्धि तन्द्राम्। पश्य क्षुत्क्षामा इमे तव सहचरास्त्वत्पीतपयस इमा पयस्विन्यस्त्वदुक्तगीतापाठकैः स्थित-प्रज्ञैः कथं वीतरागं सेव्यन्ते। किमु त्वं सुप्तो मृतो वा? सत्यं मृत एव त्वम्। यद्यजीविष्यः स्ववत्सानां स्तन्यरससुधां लोकाय पाययन्तीनां गवां विश्वमर्म-भेदिभिरात्तनादैर्नादैः स्थलमागमिष्यः किमु?

इतस्ततो द्वितलत्रितलाद्यावासाभिः प्रक्षिप्यमाणैर्मलमूत्रावकरैर्दूषित-वाससः सर्वदैव सन्निहितस्मृतयः सर्वर्त्तुषु छत्रं दधतो मानवाः वृकीमिवाविकां स्नुषां पीडयन्तीं श्वश्रूं शृण्वन्तो गतागतमकुर्वन्।

इतो भ्राजमानासु विपणिषु गले सर्पवल्लम्बमानं फुप्फुसपरीक्षि नाडीयन्त्रं पक्षकोटरेऽनेका निर्झरलेखनोर्हस्ते बृहदुपनेत्रम्, परस्मिंश्च तापमापकं दधताम्, ताम्बूलदलनिष्ठीवनमिषेण मुहुर्मुहुर्बहिरेत्य व्रजतः पथिकान् रोगिणो मत्वा प्रसीदताम्, अप्रवेशे च विषीदताम्, पैङ्गलं वेषं यातायातं नैराश्यञ्च चरतामपि सुखं नाधिगच्छतां जनसमक्षं स्वस्योत्तमर्णानिव रोगिणो घोषयतां भिषजां विविधावस्थानानि प्रेक्षमाणा, परितो निवासिनां चारुचरित्रघोषिणस्तेषां संज्ञानपटानीक्षमाणा—येषु बृहदक्षरैर्लिखितमा-सीत्—"उष्णवातोपदंशयोरव्यर्था चिकित्सा" "गुप्तरोगाणामनुभवी चिकि-त्सकः" "पुंस्त्ववर्द्धकशक्तिवर्द्धकरसायनानामेकमात्रं निकेतनम्" 'पुत्रदाता योगः' 'देवदत्तमौषधम्,' 'परामर्शो निःशुल्कः' 'ध्रुवमारोग्यम्', 'मूल्यं व्ययमात्रम्'।

इतरत्र "श्रेष्ठवाससामेकमात्रमाश्रयः", 'सर्वसम्भारशुद्धचै विक्रयः' (Clearence sail) "शुद्धोत्तमखाद्यस्य ख्याततमं स्थानम्" विश्वभोजना-गारम्, इन्द्रनगरम्, चन्द्रनगरम्", इति वितस्तिमेयासु स्थलीषु लग्नानि संज्ञानपटानि पठन्ती दृढं व्यश्वसं यदसत्यं छलश्चात्र शुद्धमनपायि निवसति।

रजकानामौपानह्किकानामौदनिकानां भेषजविक्रयिणाञ्च विपणिषु प्रियास्यानां राजनीतिसूत्रधाराणां चित्रेण हस्ताक्षरेण प्रशंसया चाङ्कितानि काचावृतानि पत्राणि प्रमुखस्थानेषु लम्बमानान्यासन्, लोकमाक्रष्टुम्, कृष्णां मृदं मृगमदं घोषयितुम्, मुग्धलोकस्य जीवनेन निर्दयं क्रीडितुम्, स्वपक्षकोटरपूरणाय परेषां पक्षकोटराणि कर्त्तयितुम्, लोकस्य श्रमेणानन्दमुपभोक्तुम्।

विभविनां वराकाणाम्, अजीर्णिनां बुभुक्षितानाम्, वासोनिमग्नानां नग्नानाम्, विलासिनां म्रियमाणानाञ्च विलक्षणे समवाये दैन्यं दारिद्र्यं दुःखमेव प्रदर्श्यमानमभूत्।

स्वर्णाभरणापणाः केवलं भ्राजमाना आसन् केषाञ्चन प्रमोदाय।

वैयावृत्यकराः (फुटकर व्यापारी) शीर्षभारिकाः (झाबा) पदपद्यासु विपणिं प्रसार्योपाविशन् गच्छतां गमनागमनेऽसौकर्यमजनयँश्च। स्यान्नाम, विभागीयानान्तु लाभ एव। औदनिकेषु समुदायः सर्वत्रानवरोधं भ्रमन्त्यो मक्षिकाः भिक्षुकाणां प्रलम्बा पङ्क्तिश्च। अभितो दिशमवकरस्य कूटानि। नारीणां गलेभ्यः स्वर्णसूत्रत्रोटनादि प्रसभकर्म, तदनु क्षणिकः प्रद्रावः (भगदड) कोलाहलश्च। अभितो विना वाचं विना हासं विना लक्ष्यं विना हेतुं धावतां पुरः पश्चाच्चानवलोकयतां जनानां धावनम्।

एवमहं कदर्यकृत्यं पश्यन्ती सुवर्णवणिज आपणमविशम्। विपणेराभ्यन्तरो भागः मुकुरकलयाऽजनोऽप्यतिजनः पर्यलक्ष्यत।

मां वीक्ष्यैव ध्यानमग्नः स इष्टदेवतायै शतमुद्राणामर्चनं प्रतिज्ञातवानिव प्रत्यैयत। यतो भाग्येन सुतीर्थकृतपुण्यैर्धनिसुन्दर्य्यो विपणिमारोहन्ति, आरूढाश्च व्यापारिणं सम्पादयन्ति।

सर्पः सदैव नतशरीरो धरां स्पृशन्नेव व्रजति, परं परमो विषधरः, तद्वदेवैते नमनशीलाः।

विपणेरुपदश जिह्वा मामभितश्चेलुः।

—भूषणेषु क्षयः (खोट) कीदृग्? —अहमपृच्छम्।

—"तत्त यथारुचि लब्धुं शक्यते। प्रतिशतं नवनवत्याचारेण भूषणान्यत्र

निर्मीयन्ते सेवनेन (टांका) समम्। नास्मिन् व्यापारे लाभः। कलासंरक्षणार्थ तदनुष्ठीयते। अन्यथा निष्क्राम्यशुल्कप्रवेश्यशुल्कायशुल्कविक्रयशुल्कविशेष शुल्कव्ययशुल्कसम्पच्छुल्कजीवनशुल्कमरणशुल्कैस्त्रस्ता व्यापारिणः।

पुरा सामन्तानां भूगमन (भूङ्गा) करविरोधिनो वयमधुना निष्कराः करमयाश्च जाताः। कार्मिकाणां व्यवहारेण त्रस्तानि पण्यपत्तनानि (मण्डी) विपत्स्यन्ते"। आपणिक उदतरत्।

आपणिकस्य व्यवहारः कव्याभाससम्मेलने कवित्वं ख्यापयतः कवेर्व्यवहार इव नितरां निम्नस्तरीयोऽभूत्।

आभरणानि सम्मुखमानीतानि, अवचितानि च। गाणनिको मूल्यमसूचयत्, मत्प्रेरितः क्षयस्यांशमलिखच्च। मूल्यमभूत् सार्द्धाणकद्वयत्रिशत्युत्तरं त्रिंशत्सहस्रम्। (३०२००=)॥) परीक्षायै धर्मतुलायां तोलितं सार्द्धतोलकमल्पितम्। शुल्कं दत्त्वा पत्रं तस्माद् गृहीतम्। साशङ्का नैकषिकं नैष्किकं गताऽज्ञासिषं यत्सप्तममांशः क्षयः। तस्मादपि पत्रं गृहीतं शुल्केन। अस्तु, अधुनाहं विवाहकर्मव्यापृता, परत एतान् परीक्षिष्ये।

वर्यावासःसम्भाराय वाराणसीं गन्तुमाज्ञप्ता वाष्पयान्या जिगमिषन्ती शौल्किकीमाह्वयम्। परं शौल्किक्यो गन्तुमनीहा आसन्। अन्ततो द्विगुणे शुल्के दत्ते ताः प्रासीदन्। स्थाननियमनाय (सीट रिजर्वेशन) चतुराणक्या ग्राह्यता नियामकैः कृताऽऽसीत्, परं सप्ताहात् पूर्वमाभारप्रदर्शनेन समं मुद्राद्वये दत्ते तदधिगतम्। नियमाय पृष्टः स उदतरत्—

पणद्वयस्य मधु क्रीत्वा नियमो लेह्यः। मयापि द्वितलं गृहं निर्मातव्यम्, पुत्रो विदेशे पाठयितव्यः, कन्या महता यौतुकेन सह कुलीनम्मन्यायान्यायाचारिणे महाधनाय प्रदेया। स्वकीये मरुत्तरे विनोदशालासु प्रेयस्या सह विहर्त्तव्यम्। पदोन्नत्यै अधिकारिभ्य उपायनं दातव्यम्, तेषां पत्नीः प्रसादनीयाः। पैशुन्योपशमाय व्ययितव्यम्। एतत्पदप्राप्त्यै दत्ताया उपदाया ऋणमपि शोध्यम्। गृह्यमाणं सर्वमेव तु नास्मदुदरे जीर्यति तस्यानेके भागभाजः। सर्वेषां सहयोगेनैवैतदनुष्ठीयतेऽनुष्ठातुं शक्यते च।

तादात्विकाना [यद् यल्लभ्यते तत्तदा भक्षयति सः] [Hand to mouth] मस्मादृशान्तु लोक एव शरणम्" इति।

आणकद्वयं जिज्ञासाधिकृताय दत्त्वा किञ्चित् पृष्ट्वाऽन्तः प्राविशम्। स्थानीयभारवाहिभ्यः (कुली) प्रतिपोट्टलि देयताऽऽणकत्रयस्य तेषां पित्तल-पत्रेऽङ्किताऽऽसीत् परं सङ्घर्षेणाष्टावाणकाः प्रदत्ताः।

एष नाधुनोत्कोचः। अस्या नाम नियतदेयता। [दस्तूरी]

देवस्य शयनसमयः।

चतुर्थमाह्निकम्।



सूर्यप्रभा

किं वा

वैभवपिशाचः

पञ्चममाह्निकम्

भालनयनेऽग्निरिन्दुर्मौलौ गात्रे भुजङ्गमणिदीपाः।
तदपि तमोमय एव त्वमीश कः प्रकृतिमतिशेते ॥ गोवर्द्धनाचार्यः

विद्वानेकं दश कविर्लभते च नटः शतम्।
दम्भी सहस्रं हर्षेण लक्षं वेश्या न वैदिकः ॥

धर्मारम्भेऽप्यसतां परहिंसैव प्रयोजिका भवति।
काकानामभिषेकेऽभावत्वं वृष्टिरनुभवति ॥ गोवर्द्धनाचार्यः

वसन्तश्शनैः शनैः शीतमधुरं श्वसन् कुसुमितनिकुञ्जेष्वभ्रमत्। मत्तं मधुराभरणं कोकिलकामिनीगलबिलं विलासहासी शीर्णशोको नवाशोकश्च तस्मै स्वागतं व्याजह्रुः। शिशिरशीर्णपर्णास्तूर्णं वातापनीतजीर्णपर्णा उदीर्णशोका इव काण्डैः स्थितास्तरवः प्रसाधकसम्राजमृतुराजं वीक्ष्यास्मयन्त। यदागमनसूचनां प्रकृत्या प्राप्य मत्ताः शिशवः पशवश्चोत्प्लवमानमानसा माद्यन्तोऽक्रीडन्। मकरन्दमदिरां निपीय यूथबद्धा भ्रमरा अभ्रमन्। प्रेमपीयूषपूर्णाः पक्षिणः परस्परं "चूँ चूँ" कुर्वन्तोऽहृष्यन्। विशद आकाशे प्रशान्तगम्भीरे मधुरधीरेऽतुलामोदे समीरे सरति स्पर्धयेव विजिगीषयेव कौशलं प्रकटयन्ति पुष्पाणि रसमयमश्वसन्। लताः क्षुपाः पादपा अहमहमिकया ऋतुराजाय विभिन्नवर्णां पुष्पशय्यां रचयितुं व्याकुला व्यलोक्यन्त। पिचुमन्दोऽप्यमन्दगन्धः शम्यप्यसमा। क्वचन प्रत्यूषपीयूषपिपासवः सौहार्देन परस्परावद्धाङ्गुल्यः परमपरितोषाः स्वस्थवपुषः पुरुषाः, क्वचन सागरस्य कल्लोलैः प्रवाह्यमाणकाष्ठकन्दुकवत् प्रतीयमानः पादकन्दुक्रीडाकुशलानां समुदायः, क्वचन तरुणस्य क्वचन तरुण्या हास उल्लासश्च, क्वचन द्विचक्रीमारुह्य धावन्तीनां गायन्तीनां मुक्तकेशीनां समवयोवाससां श्रेणिः।

सप्तकपर्दस्य कैलाशधवलं बकधवलाख्यं भवनम्। प्रभाप्रसाधिता भूः व्यपगतशिलाशकलशर्करकण्टकनिर्मला मार्गाः परिमलो विकसिताः कुसुमोत्कराः हस्तप्राप्या मदाकुलालिकुलाकुलाः पादपाः सुरधुनीशीकरशीतो वातः कुञ्जपुञ्जेषु मञ्जु गुञ्जन्तः पद्मसद्मसु खेलन्तो मत्ता भ्रमरा विकाशमानानि वकुलमुकुलकुलानि चञ्चच्चञ्चुच्यावितरसा अरसा रसाला मधुस्वरा मधुररूपा विविधदेशानीताः पक्षिणः विलासि कूजितमूर्जितं प्रख्यातोदकेष्वमलतरङ्गेषु नवयौवनेन निर्भरं सेवितेषु सरस्स्वाकीर्णकेशराणि शोणितोत्पलानि, अगणितातपक्लेशा यूथिकावीथिकाः स्वैरं सझङ्कारं कीर्णशीकरो निर्झरश्च मां परमाह्लादयन्।

अथ क्षणेन क्षीणायां क्षणदायां राजते कटके इव विभावर्या मणिबन्धान्निपतति चन्द्रे निशितनिरङ्कुनिस्त्रिंशनिर्मले नभसि मन्देन्दुस्पन्दे मार्त्तण्डागमनसूचकेऽरुणप्रभोद्भेदे विषेदुः कुमुदानि प्रसेदुश्च पद्मानि। क्षणेनैव पूर्वस्या दिशो द्वारं विचकास। तस्मादुदसरत्कीर्णसटः सिंह इव प्रसरद्रश्मी रश्मिमाली। क्षणेनोज्जहारान्धकारपङ्कपाथोधौ निमग्नं भुवनमभिरश्मिमाली। च्युततमोघनवसनं विहितावहासं वियज्जहास। लोकतमस्तोमतिरस्कारिकिरणाभरणो विवस्वाँस्तरुणतरुणावृतानि हृद्योद्यानानि शिखिगलश्यामलां शस्यशालिनीं वनमालाञ्च विभासयामास। वाप्यां निमज्ज्य स्नान्तीं जलमरुणयन्तीमग्निवर्णां तस्य किरणावलीं प्रसादयितुमिव परिपीतप्राणपवनपीयूषा आनन्देन घूर्णमाना विलुलितपल्लवाः कम्पमानशाखाः शाखिनोऽनृत्यन्, अलयः पिकाश्चास्फुटमगायन्।

दूर्वालाने चारुकारुकरै रचितं मञ्चं विभाव्य निर्देशानुसारमादिश्य नैशजागरणसज्जायै प्रत्यागमम्।

पातकपुञ्जप्रेक्षणपातकं प्रक्षालयितुमिव पाथोधिमवातरत् पतङ्गः। सर्वं दिनमुत्क्लेशमनुभवदिवोद्विग्नं गगनं तमोऽवमत्। आकाशे नक्षत्राणि खचितानि रत्नानीव सुस्थिराण्यभ्राजन्त समागंस्यमानं चन्द्रं सभाजयिष्यन्त्या रजन्या पथि प्रसारितानि पुष्पाणीव। विद्युद्दीपैर्मुक्ताजालोज्ज्वलं रूपस्तूपायितं बकधवलं दूरादेव व्यलोक्यत प्रकाशस्तम्भ इव। त्रियामायाः

प्रथमे यामेऽहमुपायम्। द्वारे नालीकास्त्रमादायातिष्ठतां राष्ट्रोहो (राठौड) वंशजौ युवानौ, यौ मामवधाय प्रणेमतुः।

बकधवलस्य सौन्दर्यमद्य सहस्रनेत्रविभाव्यमासीत्। द्वारे ध्वनियन्त्रेण मरुत्तराणि व्यवास्थाप्यन्त। राजमार्गमुभयतोऽर्द्धकोशं यावल्लोकोत्पीडियमस्य महिषकुलमिव मरुत्तरकुलं श्वासोच्छ्वासरहितमिव श्रान्त्या व्यश्राम्यत्। द्वारस्य सम्प्रत्युत्सवाय निर्मितस्य काष्ठद्वारस्य शोभापि निरीक्ष्या। उद्याने प्रतिवृक्षं प्रतिक्षुपं प्रतिलतं विविधरागा लघुलघवो विद्युद्दीपाश्रमदकुर्वन्। निर्झरोऽपि विविधरागैश्चक्षूंष्याचकर्ष। यस्मादविरतं क्षरन्तो बिन्दवोऽभ्यस्तनृत्यायाः पादा इव क्रमशो नियमान्न्यपतन्। नगरकाराणां निराकारा कल्पनाऽऽकारमासाद्याहसत्।

बकधवलस्य विशाले हाले समेतान् सत्कर्त्तुमानन्दयितुं तेषां श्रममपनेतुं भोज्यलेह्यचूष्यचर्व्यपेयानां धवलवाससाऽऽच्छन्नाः पात्रिकाः, विविधपेयपूर्णाः काचकूप्यश्चायचषका उष्णश्चायश्च रम्यासन्दीसंयुक्तेषु मुखपीठेषु लोकमादिनीनां कुमारीणां सज्यैर्नेत्रचापैः समं सज्जान्यासन्। पार्श्वे च वैद्युतिकानामतुलं कौशलं परिचाययन् विद्युत्पुञ्जेन ज्योत्स्नापुञ्ज इव प्रतीयमानः पण्डालः। अहमनन्तविद्युद्दीपखचितं नभोनिभं वितानमविशम्।

पद्यायां मसृणमौर्णं कला (का) लीनमासनमास्तृतमासीत्। आस्याविज्ञापको मदास्यां निरदिशत्। अभिपीठं प्रयान्त्यां मयि सर्वेषां साभिलाषा दृष्टिर्न्यपतत्। सुरूपमभिशाप एव प्रभे! यत्र सर्वेषां दुर्भावा दृष्टिर्निपतति। सर्वतः कलाकलिता आसन्द्योऽरिक्ता आसन्, तिलाप्रवेश्ये क्षणे क्षणोऽवशिष्टश्च।

मञ्चप्राचीरे नरहरेरमरुकवेश्च पद्यानि स्वच्छप्रच्छदेषु चित्ररूपेण लिखितान्यासन्।

तालवृन्तनलिनीदलानिलशीतले चन्दनोशीरकर्पूरपरिमलेऽनल्पकल्पने मध्यममञ्चे समुपाविशन् भ्रमविभ्रममोहमायामय्यो वाराणसेय्यो वयोव्याजृम्भमाणयौवना यौवनासवमत्ता अनभ्रमुदिता मुदितास्तडित इव निर्व्याधिनीलोत्पलफुल्लनेत्रा अनङ्गतरङ्गभङ्गालिङ्गिताङ्ग्यः पीनकुचोरुश्रोणिशालिन्यो

दुर्गिका इव पञ्च पञ्चसायकस्य वेश्याः। मध्ये कार्याकार्यविवेकविधुरोऽप्युत्सवाध्यक्षः, दुर्गन्धलालास्योपि कटाक्षच्छटाभिराच्छाद्यमानो विषयस्यापावनपङ्के निमग्नः करालकोलकृष्णो मलीमसच्छायो वैधवे मण्डले कलङ्क इव चित्रमायश्चौराचार्यः परिस्थित्या रुचिरपुण्यपुष्पोपवनवर्त्ती सप्तकपर्दः। सत्यम्, अनिष्टक्लिष्टविग्रहोऽपि मान्द्यनिन्द्याकारोऽपि धनी रतिपतिर्गुरुश्च।

एकतः शिक्षादक्षा मार्दङ्गिका वैणिका वैणविकाः वीणाक्वणनप्रवीणाः परिवादिनीपण्डिता मौरजिका करकर्मतां (करामात) गलकर्मताञ्च प्रदर्शयामासुः। वाद्येषु तेषामङ्गुलयः सर्पस्य जिह्वा इव, आयकरचौरस्य विचारा इव विद्युच्चाञ्चल्येन चेलुः। लोकस्य मुखानि तलठक्कारैः सह वाः भेजुः। सर्वेषां पुरो ध्वनिविस्तारकयन्त्राणि पङ्क्तिशः सज्जान्यासन्।

सर्वतो दिशमूर्ध्वपुण्ड्रत्रिपुण्ड्रबिन्दुश्रीभाजः प्रवयसोऽनवधिबाधिर्याः कर्णे यन्त्रं विषयस्वादार्दितमनसो यौवनादन्यद्वय एव न मन्वाना जरा रूपं हिनस्तीत्यसङ्गतं साधयन्तः कृष्णीकृतान् केशान् विविधन्यासैः सज्जयित्वा कर्णयोः सुरभिसारपिचुं गले स्रजञ्चायोज्य मेदोवृद्ध्याऽमुदितमनसो मायाप्रपञ्चवञ्चितलोका अङ्कशोपनतविभवाः पितृमुक्तप्रचुरचौर्यवित्ता मोदमानचित्ता निष्क्लेशे मुखे तैलं विमर्द्याभामुद्दीप्य कङ्कतिकया पुनः पुनः केशान् प्रसाधयन्तोऽनङ्गरतयः छलच्छबिलाः (छलेन छबिं लान्ति ते) उपदाप्यायिता अधिकारिणश्च जीवन्त एव ब्रह्मानन्दमनुभवितुं विधुवदनं वीक्षितुं श्रवणसर्वस्वं शिञ्जितं श्रोतुं स्थितिस्थापिका (स्प्रिङ्गवाली) स्वासन्दीषु विराजमाना आसन् सुरभिताम्बूलं चर्वन्तो रूपनगरस्य नागरिकाः। खलितं पलितं तेषां यौवनमुपाहसन् न्यवेदयत् यज्जरा समेता यौवनं वीतम्, परमुन्मत्तः कदा बुध्यते। उन्मादापरपर्यायं यौवनं तेष्वद्य समेतमिव प्रत्यैयत। नगर्याः सारः समूहित आसीत्। नरव्याघ्रैरापूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं रङ्गस्थलं वनमिवाभ्राजत नवमांसमास्वादयितुम्। विविधव्यवसायिनां विचित्रेऽस्मिन्समुदाये केचनानुदारा अदाराः परे च सुभगदारा उदाराः सदारास्त्रपां क्षपां विस्मृत्यान्वर्थम्बिराभिर्नारीभिः सहायन्। केचन कुरूपदाराश्च समवाये स्वगौरवं ख्यापयितुं कामपि वामे बालमनोरमां वेशयामासुः। प्रौढमनोरमाभि-

रप्यद्य लोकविस्मयकारिभिर्वस्त्रैर्वेषैरलङ्कारैः परिमलैर्हावैर्भावैरमितैः स्मितै-र्नेत्रवक्त्रविकारैश्च वेश्याभिः सह प्रतिस्पर्धेवाक्रियत। वस्तुतस्ताः प्रतिशतं नवनवत्याचारेण ताभिरन्यूना एवासन्। अप्सु पयसां पयस्सु वाऽपां माया-ब्रह्मणोरिव वा तासां त्वगम्बरयोः पार्थक्यं दुर्वेद्यमासीत्।

एका दिक् वरपक्षाय नियुक्ताऽवर्त्तत।

नीहारकणानिव सूक्ष्मान् केतकीजलबिन्दून् स्रावयन् यन्त्रनिर्झरः सौरभं प्रासारयत्। सुरभिसारसारी समीरः सर्वान् सप्रेमालिङ्गन्नपि विरक्त इव नानुसज्जमान आमोदेन मेदस्वीव शनैश्शनैरसरत्।

शतशो भृत्या हालां मार्द्वीकं मैरेयमवदंशं शार्करं जम्बीरार्द्रकनीरं चायचषकान्नागवल्लीदलं श्वेताम्बरां तमालवीटिकां सुरभिसारपिचून् पुष्पमालाः कुसुमस्तवकानेलां लवङ्गं पूगं शतपुष्पां गञ्जां विविधकल्पनां भङ्गामहिफेनञ्च कल्पितकल्पनेषु पात्रेष्वादाय समेतान्सत्कर्त्तुमभ्रमन्।

अधुनैव कश्चन कपर्दसधर्मा समुत्थायावदत्—

मान्याः सभ्याः! अद्यतनोत्सवस्य सञ्चालको नवनागरीकुचकूलकेलि-कलाकुशलो मन्मथतन्त्रविचक्षणः पुरवल्लभाचार्यः पौररामानुजाचार्यो मीनध्वज-मठाध्यक्षः पौरप्रियापट्टपुरोधाः कामाह्वयोधी बोधी प्रमदाप्रकाराणाम्, सप्त-कपर्द उत्सवं प्रारम्भयतु। यस्य नयननगरनिलया नार्यस्तत्रैवानपायि निलयं स्वीकुर्वन्ति, विमदा यं प्राप्य प्रमदाः, सोऽयं भाग्येनास्मच्चक्षु-षोर्भूमिः पौरवधूनां सिद्धप्राणेश्वरः।

क्षणं नीरवता व्यापत्।

अथ पञ्चाब्दोऽश्वकिशोर इव चपलः सत्पक्षक्षपणदक्षः कपर्दो धुतधिषण-धीरिवोत्थायावोचत्—

जयतु रतिपरिमलितनभस्वान् कामिनीकेलिकमलिनीभास्वान् स्मरहरा-तङ्कनिश्शङ्को विलासवतीवदनसदनो मदनः। अयि अनन्तकल्पकोट्यर्जित-पुण्यैराप्तमानवजन्मानो विलासवैभवेषु विमुक्तवित्ताः! शश्वन्नश्वरमैश्वर्यं सदुपयुञ्जानाः सौधविहारसाराः परमरससुधामाधुरीधयधुरीणाः! अगण्यपुण्य-

पण्यानामापणा वारवनितालतालिङ्गनसौभाग्यभव्या मधुपाः ! विनैव स्वर्ग-गमनं लोककोकशोकविमोकं सुधापानं सम्प्रति समास्वादयन्तु ।

शब्दो मानवप्रयुक्तः सर्वोत्तमं रसायनम्, किमुत पुना रसवत्या वाचा विलसितः। प्रकाशः परिमलः प्रेयसी रणभूमेरारङ्गभूमि समानप्रभावं सङ्गीतञ्चैकैकमपि मादकं किमुत सङ्गतम् ? नवरसनिर्मितगात्रा सर्वे-न्द्रियानन्ददात्री धनिप्रेमपात्री रात्रीयं भवेत् त्रात्री सर्वान्तरायेभ्यः। प्रणय-पीयूषवर्षिणी वदननयनचन्द्रिकाऽन्तः, बहिश्च यामिनीकामुकस्य चेतःप्रसादिनी चन्द्रिका शमयतु भवज्वालां देवदेवः कामदेवश्चाव्यादभव्यात् ।

मन्मथायुधसन्पातमथ्यमानव्यथ्यमानमानसाः श्रेष्ठाः ! सुतीव्रमारव्याधि-घातिन्यो वैद्या इमा उपेता मञ्जूषोपेताः, दुरवगाह्यसंसारार्णवसलिलं सलीलं तरितुं सन्दिशन्त्यः समक्षमक्षणाम् । पुरप्रणयिनीपादावादावभिनन्द्य पूर्णपुण्यः पुमान् कर्मारभते । वञ्चितोऽसौ मूढोऽपुण्यकर्मा यः संसारमाप्यापि न विशति महतः पुण्यस्य फलमेतादृशं सुखदं महोत्सवम् ।

अधुना विलासिबालदीक्षादक्षा मनसिजमहाविद्यालयमहाचार्या विभवि-मनोनर्त्तनवर्या, स्मरभिल्लशल्यविशल्यभेषजवल्ली, अनङ्गज्वलदङ्गलीला-लहरी मन्मथमकरालयमग्नतरिः, दुग्धोदधिधवललोचना सौन्दर्यवनी यवनी जीवन्निशा नयनातिथ्यं स्वीकुर्वती विदग्धसमुदायस्य मानसमुल्ला-सयिष्यति । यामनुगच्छति मङ्गलं पुण्यमानन्दो यशः श्रीर्जीवने साफल्यञ्च ।

अहो धन्या इमा आकुलं जनजीवनं मधुरमुदिरमाप्याययन्त्योऽनुप्राणन्त्य आभरन्त्यः स्वजीवनं सफलयन्ति । वसन्तस्य प्रभातमिव विकसितमासां यौवनं सर्वनिवोल्लासयति । यासां वदनानि वीक्षितुं विधुरपि दिवोमध्यमध्यास्ते । यासां बालकलिकाकुलकान्तेन केशकलापेनोद्वेजितास्तानेवाश्रयन्ते विषस्य विषमौषधमितिमत्वा कामिनः, स्मरसम्परायविवशाश्च कुचवारणम् । यासां द्वाराणि प्रत्यूषे परिमलमालाभिर्विभासयन्ति राष्ट्रस्य श्रेष्ठाः। अहह इमा मद-नातपविपन्निर्वापिका वापिकाः स्मररसस्य, सृष्टेरादिव्यवस्थास्मारिका इतिहासीभूताश्च। विवाहस्तु कृत्रिमोऽद्यतनेन जाबालिना बालेनारब्धः, तत्र कः प्राचीनसंस्कृत्यनुरागी श्रद्दधीत ? अत एव विशिष्टाः शिष्टा इमाः सेवन्ते ।

अहं भगवन्तं रतिपतिं प्रार्थये गानमाकर्णयतां न भवेद्भवतां रसभङ्गकः कार्यान्तरान्तरायः। इति।

भाववैचित्र्यं दर्शयितुं विविधरागाः शतशो विद्युद्दीपा लोककर्णकुहरं सम्यगाप्याययितुं ध्वनिप्रसारकयन्त्रैः सह विशालं रङ्गमञ्चमभ्राजयन्। शबलं ज्योतिः समुद्यच्चारुशिल्पिनां कारुशिल्पिनां शिल्पं शरीरमासाद्येव स्वमाख्यत्।

अथ वेगोच्छलिता जलधारेव ज्वलदनलप्रभाप्रकाशलहरीव मञ्चान्निरगात् परमकोमलस्पर्शं स्वर्णरजतखचितं कौसुम्भं दुकूलं वसाना मदमुदितमधुरहासा खेलद्वसना गलच्चलद्रसना कामसारवर्षिभिः प्रमोदपीयूषपूर्णैः प्रेक्षणैरभिषेचयन्ती हास्यस्फुटदन्तमुक्तासुधया धवलयन्ती विलासिनां कलुषितां मानसस्थलीम्, ऊर्मिमत्केशकाशिनी तारुण्यप्रवेशविलसन्माधुर्य्या माधुर्यधुर्यमूर्त्तिर्यवनी त्रपामिषाद्धोंन्मिषन्नयनं मन्थरमन्थरं ललितकलं नर्त्तितनूपुरमगासीत्।

गजला गीतिः—

प्रियतमाः! सुहृदः! क्षमध्वम्, तीव्रमदमत्तास्म्यहम्।
सर्वमभितो घूर्णते तीव्रमदमत्तास्म्यहम्।　　　(स्थायी)
कौतुकम्, किल पीतमद्याहम्, परे माद्यन्ति नु।
अनुभवाम्ययि! निर्व्यथं स्वं हन्त! परितः सव्यथाः ॥१॥
सुखमहं श्वसिमि क्षणाय न्युच्छ्वसन्ति परं परे।
मम मनो यदि शाम्यति स्पन्दते भवतां परम् ॥२॥
यौवने पूर्णेऽपि शिथिलाहं युवानो वार्द्धके।
जिगमिषामि क्वाप्यहं न हि न स्थिरं भवतां मनः ॥३॥
विह्वले मदचक्षुषी मे विश्रमाज्ज्ञामिच्छतः।
विह्वला न्वहमस्मि मूर्च्छा बाधते भवतः परम् ॥४॥
चन्द्रकान्तिमुखं सुशीतं वीक्ष्य सञ्ज्वलदिन्द्रियाः।
भ्रान्तमनसो नैशिके तमसीव सर्वे विह्वलाः ॥५॥
सङ्गमं काङ्क्षे प्रगाढम्, विश्वविस्मृतिसाधकम्।
सर्वदा स्मर्याथ मर्ष्या तीव्रमदमत्तास्म्यहम् ॥६॥

अङ्गोपाङ्गानामाकर्षकं सूक्ष्ममाह्लादकमभिनयं कुर्वाणां श्रावकाणां वासनाहुताशं प्रदीपयन्तीं स्पन्दमानां विभाव्य स्वरतरङ्गविमानमारुह्यासीम-सुषमं कल्पनालोकं गत इव क्षणमभूल्लोकः। तदनु गीतस्वराऽऽकृष्टमनोभिरभि-वर्षितसितसुमसमुच्चया हर्षोल्लसितेव महफलभूमिर्जहास कलितकालिमा प्रमदसलिलक्षालिताक्षः पञ्चतन्त्रः कपर्दश्च। वासनैधितायां कामज्वालायां पूता वृत्तिः कथं तिष्ठेत् ?

कपर्दस्य भावः सम्प्रति नग्नः। ग्रीष्मे हि रासभो हृष्यति। हृदयाग्नि-शामकं सौन्दर्यानुभूतिपरकं सङ्गीतमद्योत्तेजनाग्निज्वालोद्दीपकमेव।

अथ च सुषमायाः शक्तिरप्यनुपमेया। मरुस्थल्यामप्युपवनं रचयति सा, यतो नीरसोऽपि कपर्दो वाग्वैचित्र्यमसृजत्। "अयि प्लुतगतिमयि ! मुक्तलोलकुन्तलं संवृणु प्रणयातुरं विधुधिक्कारि नश्वरं जगन्नवस्वरे परि-वर्त्तयन्मुखम्।

आस्यसरोजसरद्वाक्सुधाप्लुताः कामाकुलाः कामैककामनाः साधुवाद-वन्दनानन्दमत्ताः कल्पवल्लीमिव यां मन्वाना अखण्डैकरसानन्दे, सर्वद्वन्द्व-क्षयकरे ब्रह्मणीव यस्या गाने लीनाः दुग्धोदधिलहरीसन्निभेन हिमरश्मेर्धरां धवलयतां धाम्नां दर्पद्रावकेण मुग्धस्मितेन दिग्धाः सुहृदः ! भूरिभूपाल-भालचुम्बितचरणाम्भोजाम्भोजिनीव चला सञ्चरन्ती धनवरैश्चिरमाकाङ्क्षिता नयनसरोजाभ्यां शिशिरयन्ती काममहाग्निपीडितान्, अपज्वरयन्ती स्मरबाणविद्धान्, चलाञ्चलं चञ्चलचरणं नृत्यन्ती सुरासुरनराराध्या शरणा-गतकामार्त्तपरित्राणपरायणा, सलिलं कर्त्तयन्ती तरङ्गावलिरिव सरन्ती, कामिनां क्लेशमुपशमयितुं मनोगुहामिव विशन्ती, ज्वलद्विवस्वद्भास्वत्प्रभापि सुधांशुशीतला चारुसर्वाङ्गी भासयन्ती हर्षयन्ती भुजाभ्यामालिङ्गयमानेवायुत-बाहुभिर्मुकुरवशाद् भाषामभिनन्दयितुमिव भाषमाणा, जगतोऽसारतां नाश-यन्ती विभविमानससम्राज्ञी सर्वेषां मनः शङ्काकुलं विकलञ्च कलयन्ती कमल-किसलयकोमलकरचरणा सुवर्णसवर्णा सम्पर्किणां विधुतविद्याविज्ञानविवेका खरस्मरज्वरजुषां चन्दनवनी, दग्धकन्दर्पशरमूर्च्छितसञ्जीवनी यवनी जीव-न्निशा विभाविता कोटिकुमुदकलाकमनीयस्मिता सुधाकरकरन्यक्कारि-

विलोकना मायेव मैनध्वजी विषयविषदग्धानां सिद्धौषधवल्लरी कामेश्वरी। यस्या मुखचन्द्रे समीक्षिते लोकस्य मानसकमलानि विकसन्तीति महदाश्चर्यम्। मधुमत्तमधुव्रतैर्मधुरं गुञ्जति चन्दनबकुलसेवतीसौरभे समीरे सरत्यस्याः कोकिलकलकूजितमिव गीतं काँस्कान्न मोहयेत्, कामानलं शमयन् तमःस्तौमैकभास्वान् शोणविभावैभवभासुरो हासश्च काँस्कान्न विचेतयेत्?

अहह, अस्माकं दृशोर्द्विता, एषा च सहस्रनेत्रविभाव्या।"

पुनः क्षणं नीरवता प्रासरत्। अथ शौल्किकीचालक इव दुर्भावः पूजारीवाधार्मिकः कुज्योतिर्विदिव धूर्त्तो वैदान्तिक इव कल्पनाप्रसूतं लोकं मन्वानो भूतभाषाकविरिव लम्पटो देवल इवाधमो घटक इवासत्यव्रतो भावद्यूतीव (फाटकिया) दुर्मदो वाक्कील इव द्विर्भाषी परं धनप्रभावान्मञ्चनटीचित्रवत्सर्वाकर्षकः सप्तकपर्दः पुनरुत्थायावदत्—

अयि वेश्यावेश्मवित्तीर्णवित्ताः भूरिवैभवदूरीकृतपौराङ्गनादारिद्र्याः! सकलकलिकलागमनिलया अलयः! विधुविधौतवदनायाः पीयूषकिराः गिरः सम्प्रति शृणुत। सैषा गौर्जरी हंसपादी काञ्चनकेतकी कामग्रीष्मोष्महरस्पर्शा, स्पर्शमणिः कामिलौहस्य, विद्युत्पुञ्जपिञ्जरा लोकमोहिमुखमुद्रा मुद्रामर्दितानङ्गाप्यनङ्गमुत्पादयन्ती सद्योवशीकरणनिपुणेन वीक्षणेन सर्वोन्मादिनी शक्तिरिव सायुधा धैर्यध्वंसिनी बुद्धिभ्रंशिनी पुष्पावतंसिनी प्रभापरिभूतबिम्बे ललिताधरे सर्वद्रावि सर्वरञ्जि सर्वमादि सर्वदुःखमोचि स्वर्मानिनीमानसमोहि परमानन्दि सुधारसौघस्यन्दि विमतसितसरोजवर्षं स्मितं रचयन्ती भावोन्मादं जनयन्ती श्रमक्लममपनयन्ती चञ्चलनयनमीनापूर्यमाणकुचकुम्भा लावण्यसरसी ललितलीलामोहिनी, कामक्रीडासरःकनककमलकुड्मलायितौ चञ्चलाञ्चलौ शैशवसाम्राज्यं ध्वंसयितुं शिरः समुन्नयन्तौ विद्रोहिणाविव जनार्दनौ श्रिया सेवितौ नवस्तनकौ वाससाच्छादनमनीहमानावपि पुनः पुनराच्छादयन्ती, कपोले काश्मीरकस्तूर्याः पत्रावलीं हस्तयोः पादयोः मद्रयन्तोश्च कलया विलिख्य लोकमनांस्युल्लेखयन्ती नवयौवनोदितश्रीर्भ्रूनर्तनचातुरीधुरीणा, अखिलसुखचमत्कारसारैकसीमा श्वासं नियम्य सतर्षं प्रेक्ष्यमाणा प्रेक्ष्यैः ललितकलाशतोद्भाविनी मानसोल्लासिनी सुरूपा सुस्वरा

सुवर्णा सुवेषा सुकेशा सुभूषणैषा सर्वेषां चित्तभित्तौ मन्मथातिवर्द्धनं स्वमङ्कयन्ती दिशो वितिमिरा विदधती कुलकीर्त्तिकर्त्री कुलाचारपरम्परापाटिनी घ्राणमनोमोहिनीं स्वशरीरजन्यां प्रसादिनीं गन्धमादकतां प्रसारयन्ती रम्भाभा श्रीमत उल्लासयिष्यति।

अथ पुलकितकपोलपालिर्हंसपादी मुखामोदविकलितेन्द्रियं सप्तकपर्दं प्रणम्य रङ्गं गताऽनवद्याङ्गी सर्वस्य नेत्राण्याकृष्य जगौ।

रागः (दरवारी कान्हरा)

रज्यतां वासः शरीरं मानसं मे रज्यताम्।
प्रतिधमनि रागच्छविः स्याज्जीवनं मे रज्यताम्। स्थायी
प्रावृषो मेघध्वनिः केकिनां किल कूजितम्।
विद्युतो विस्फूर्जितं व्याखेदयन्तां मां परम् ॥१॥
एधते श्वासः सवेगं स्पन्दते देहं मनः।
सस्पृहे नयने मनोऽधर अस्यतामागम्यताम् ॥२॥
सन्ततं धारानिपातश्चातकस्यारट्टनम्।
मानसं मे भस्मसान्मुग्ध! कुरुते चिन्त्यताम् ॥३॥
यौवनेनापूर्णवयसा त्वां प्रपश्यन्ती स्थिता
बहुविधां सज्जां विधाय भावभृतहृदया परम् ॥४॥

पृथुलवपुषां कुयशसां विशीर्णभ्रष्टचरित्राणां वार्त्ता इतस्ततः प्रादुरभवन्-अहो रूपदर्शि नयनम्, गुणवर्णि वदनम्, कथं नाम स्यात्तदा गुणवर्णनम्? पश्यत विधेर्मौग्ध्यम्, 'नयनयोरेव जिह्वा तेन रचनीया स्यात्'। 'कदलीदलकल्पनेऽतल्पे नृत्यन्तीं वीक्ष्य महान्, क्रमोदयो नस्त्वक्च्युतिभीतेः'। 'या वासोऽपि रक्तं भारायितं मत्वा धवलं परिदधाति'। 'धन्योऽयमनङ्गाङ्गनकुचोत्सङ्गसङ्गी कामनिकषकुचोपलघर्षणमसृणो भ्राजमानो हारः'। "चन्द्रेण जाड्यनिधिना कलानिधेर्मुखस्य का तुलना?" 'कन्दर्पपादपाङ्कुरं तिलकम्', शृङ्गारद्रुममञ्जरी भ्रूः, सौन्दर्यसुधासरसी कृत्रिमत्रपाकुञ्चिते, द्युतिद्यूतावमतनीलोत्पले दृशौ, अहो वात्तर्कयोरभूमि सौन्दर्यम्। "अहो अनया ससारः स्मरः" इति।

अथ कल्मषच्छायां तिरोधातुमवचूर्णितमुखमण्डलो द्वन्द्वद्वेषमयो मय इवापरो मानवताया अभिशापः पापः कपर्द उत्थाय गन्धान्धीकृतालिरवदत्-

अधुना कामकेलिक्लान्तिहारिणी हरिणाक्षी कृत्रिमतारा तरलतारा दिशायां निशायां दिवसे देशे गीयमानगुणा पीयूषरश्मिसरसि विकसत्कमल-कटाक्षा प्रदीप्तिदीप्तदेहा कन्दर्पसर्पपरिदष्टविदग्धसुधा कामोन्मादसङ्क-ध्वंसनपटीयसी जगदानन्दताण्डवपण्डिता, आसक्तचित्तापि चञ्चला मञ्जुल-वाग्विलासा निरवद्याङ्गी कोमलाङ्गी स्मितमधुमदमुदितमानसा मन्मथ-माथिनी, उन्मर्यादमाधुर्य्योज्जृम्भितानङ्गा सुधाकरमुधाकरमुखी, असूक्ष्मस्तनी सूक्ष्मजघना, उल्लासोपहसितसुरसुन्दरी पात्रमकृत्रिमसौन्दर्यस्य निस्तरङ्गाक्षी ग्रीष्मं हेमन्तयन्ती स्मरमिवाह्वयन्ती पाणिपल्लवेन काव्यमीमांसेव समासव्यास-विन्यासा श्रीमत उल्लासयिष्यति शेफालिका। यस्या निखिलरसायनराज-मधरमाचूष्य कल्पप्रयोगफलमल्पेनैव कालेन कलयन्ति कलाजुषः कलिजीवाः।

अथाश्चर्यतरुमञ्जरीव शेफालिका शशिपेशला प्रभेव मेघमण्डलाज्जवनिका-स्थलान्निःसृत्य सर्पनिर्मोकनिर्मलं मणिगणखचनरुचिरं लघु क्षौमं वसाना झङ्कारिनूपुरवती केलिकादम्बिनी मारमारुतकम्पायमानकरपल्लवा शीर्ण-शीलकुसुमा वल्लरीव तनीयसी, कुटिलकुन्तलाकीर्णेन वदनविधुना मध्ये मध्ये विकासयन्ती लोकमनःकुमुदानि, नववधूरिव मोहिकया त्रपया भुवमिव विश-न्ती तर्जन्याः पृष्ठं दन्तैर्दंशन्ती कदाचन नवीनकुशसूचीस्पर्द्धिकञ्चुकं कुचयुगं दर्शयन्त्यगासीन् नृत्यत्तडिन्निभा।

देशो रागः

दुःखमनिशं बुध्यते निर्व्यथो लोकः कथम्?
सुखपयोधौ पालितो ह्यनुभवेन्नु तृषां कथम्?   स्थायी।
कश्चनाश्रूण्यानिपीय जीवति स्यूत्वा मनः।
ज्वलति कश्चन हसति कश्चन क्षयति कश्चन नन्दति ॥१॥
मौनमेव कथा त्वदीया मौनिनी जिह्वा परम्।
कौतुकम्, सर्वाधिकेयम्, हन्त वाचाला कथम्? ॥२॥

वाति वाते मन्दमधुरे शीतले रसिके मधौ
ते हि नो दिवसाः प्रयाता मुग्ध ! माद्यसि हा कथम् ? ॥३॥
व्यस्मरो विश्वं विभाव्यानन्दपीयूषं क्षणम् ।
पञ्चसायकसौख्यसरसी - यं त्वया दृष्टा कथम् ? ॥४॥
मत्त एव तिरोदधासि माञ्च वञ्चयसि प्रिय !
यत्तवाख्यानं ममापि गूहसे तत् त्वं कथम् ॥५॥

लोकस्य करतलध्वानेन समं परितः प्रणत्योत्तरयन्ती, उदञ्जलिना मुहुर्मुहुरुत्तिष्ठता करेण भालं स्पृशन्ती शेफालिका स्थानमग्रहीत् ।

कपर्दश्चोत्थाय हर्षाप्लुतोऽवदत्—

प्रणयकेलिलुलितललनाकेशकुसुमगन्धवाही गन्धवाहोऽन्धयति यथा रसिकानाह्लादयँस्तथा नान्यत् । एषा दृष्टा भवद्भिः शेफालिका चन्द्रहासकटाक्षान् कदाचनावगुण्ठनकोशे कदाचन बहिश्च सारयन्ती, विलोचने मुद्रयन्ती उन्मुद्रयन्ती, श्यामेषु चिकुरेषु प्रावृषेण्यां घटाम्, मुखमण्डले पौर्णिमचन्द्रचन्द्रिकाम्, कटाक्षेषु तीक्ष्णामसिधारां शरीरे सुवर्णस्य रागञ्चादधती । अवैमि विधिना निधिना सद्वस्तूनां योगेन रचितैषा, विरचय्य चाश्चर्यचकितः स्वनैपुण्ये पाषाणप्रतिमो बभूव । चन्द्रिकया धौता तडिच्छृङ्खला मन्दमध्या मृदुस्तनूः कान्न प्रमोदयेत् ? अस्तु, प्रमोदैकनिकेतनाः प्रेष्ठाः श्रेष्ठाः ! अधुना विल्वस्तनी, मदनदाहोपशामिका माद्री हरिकुमारी चम्पकलतेव ललितविकासा, नेत्रपक्ष्मपरिचालनेन विलासवशगं विश्वमेजयन्ती, एजमानञ्च नियमयन्ती, अश्रुधाराविलेषु निष्करुणं हसन्ती श्रीमत उल्लासयिष्यति ।

यस्याः सुधांशुहिमांशोः सहस्रगुणितां शीतलतां सुधास्वाद्वीं सरस्वतीं सञ्जीवनं मुखमाधुर्यविलसितं मदनोन्मादं यौवनञ्चासेव्यामर्त्यभावं भजन्ते निःसीमवियोगाग्निदग्धा मनुजाः ।

यस्याः श्रमवारिकणान् परिमार्ष्टि स्वकरांशुकेन रैभद्रो रूद्धमलः । यया सुरतसमाधिमासेव्य ब्रह्मानन्दं परिभवति भावद्यूती पूर्णमलानुजः । तिक्तममृतमस्याः सम्मुखं वेदो निर्वेदः पुराणश्च तृणकल्पः । बहवः काञ्चनकिरीटिनोऽस्याः कैलासकमनीयां कलुषहारिणां रजतावासचिन्तिचेतसः

सारभूतामिव धवलां दन्तसुधां वीक्षितुं विकलाः, कुमाराश्च तेषामनया सक्त्सेविते पथ्यपि कुसुमान्यायोजयितुं विवदन्ते च। इति

अथ नितम्बभारालसेव मन्दं मन्दं चलन्ती चलकाञ्चीशिञ्जिता पदे पदे सुखयन्ती कुसुमाकीर्णकेशा, भ्राजमानशृङ्गारा वासनेव साक्षाद् श्रावकाणां मनो भ्रमयन्ती, स्तिमितगतिर्यतिभ्रमितमतिरर्धोन्मीलितचक्षुषा क्षयन्ती क्षीबान्, लीलया लीलांशुकमुल्लासयन्ती, उच्छलदनङ्गतरङ्गमालं कामकलानिधिं शरीरं तडित्तरङ्गमिवोद्भावयन्ती, उत्तरङ्गभ्रूभङ्गक्षुभितसमाजा ललितहसितस्मिता सितसरोजाक्षी प्रतिक्षणं क्षिप्तेक्षणा सप्तकपर्दे, अलक्षितैरक्षिविक्षेपैर्मध्ये मध्ये सभाजयन्ती रूपवारुणीमत्तान् मुद्रानगरनागरिकान्, आन्दोललोलकेशी ललाटालकानुत्क्षिपन्ती प्रणयस्मेरवदनविकसद्दशनैर्विभासयन्ती भवनं पाणिक्षेपकङ्कणझङ्कृतैश्चेतयन्ती विचेतसः, परित्यक्तनिखिलनागराचाराऽगासीत्— गजला गीतिः।

गतालं कामजैर्दोषैर्विगीतिं वच्म्यहं कस्मै।
स्मितस्यादानदानाभ्यां ददेऽहं दूषणं कस्मै। (स्थायी)
प्रतीक्षानिर्निमेषाक्षी सशोथे लोचने भूते।
इदं दुर्यौवनं किं किं विधातुं चेष्टते कस्मै ॥१॥
न दोषं रूपरागं वा प्रवृत्तिं नेक्षते जातु।
प्रयाति ज्ञानमुत्सृज्य मनोऽहो चेष्टते यस्मै ॥२॥
अहं निम्नां गतिं गमिता गृहीता बाहुभिर्बलिभिः।
च्युताः केशाः क्षतं वक्षोऽधरो वै शोणितः कस्मै ॥३॥
निशान्ते ज्ञानमापन्ना विवासो देहमन्वीक्ष्य
स्वयं हा हन्त चिन्तामि परस्मै चिन्तये कस्मै ॥४॥

वसन्तोत्सवं नाटयन्ती यौवनोद्धता मत्ता मदिरेक्षणा नृत्यन्ती हसन्ती गायन्ती धावन्ती अङ्गुलीनामङ्गानां नृत्तञ्चाचरन्त्यवर्णनीयं सौन्दर्यं प्रासारयत्।

अथोत्कर्षहर्षभूगर्वो भवाभूतिरकालीदासः साघः पटुर्नटवटुरिवोत्थायावोचत् कपर्दः—

अयि पौरवधूवदनचन्द्रिकायां प्रतिदिनं कामानलतापमतिवाहयन्तः पुण्यात्मानः ! तनुजुषां दृशां परमं सौभाग्यम्, यदधुना नन्दिनी नन्दनस्य तिलकं त्रिलोक्याः आयुधशाला पुष्पायुधस्य रतिवाटिका रतेः, वसतिर्वसन्तस्य, भवदवतापप्रशमनी भवाटवीकष्टपटलोत्पाटनपटीयसी प्रणतकोटिपतिकामिकुमारलालितललितपदा, उपनेत्रदर्पणेषु प्रतिबिम्बिता नेत्रान्तरिव विशन्ती, अमेया माया मायापतेः, अस्मदनुग्रहाय गृहीतमर्त्यविग्रहा मोहिनी क्षणक्षणविलक्षणा ललितलक्षणा सरोजेक्षणा पुण्येन मञ्चाभरणं भूता ।

अधुना लोला कलालीलाशाला वेणीपुच्छतुच्छीकृतफणाली भववेदनाक्षाली सङ्गीतसरोमराली वाङ्मनसातीता मधुरयन्ती निम्बार्कानपि, पृथुलनितम्बा, लोलाक्षी भास्वद्विग्रहा तनुमध्या व्यापकप्रभावा पञ्चमहाभूतमूर्त्तिरिव भान्ती लोकचक्षुषामेकाश्रया यौवनगुरोर्दर्शनादेवाधीताशेषकौशला तापोत्तीर्णसुवर्णसवर्णा केलिललनाललामीभूता सायं सन्ध्येव धन्यालोकप्रवर्त्तिनी दुर्ग्रहमानसनिग्रहिणी भवभयभञ्जनी शरीरिणी कन्दर्पाज्ञेव धनिधैर्यध्वंसदक्षा विकसितमल्लिकोत्तंसा रत्नप्रभाभासिताशा नगरशोभिनी जनपदकल्याणी विश्वमोहिरूपस्य राशिर्विद्याधरी श्रीमत उल्लासयिष्यति ।

अस्या माताप्येतादृश्येवासीत् । रूपन्तु केवलेन यौवनेन सम्बद्धं स्यान्नाम, परं तस्या वाण्या माधुर्य्यं मृत्युना सह व्यपगतम् । तस्या मुखान्निर्गच्छन्ती साधारणी सरस्वती छन्दस्वत्यासीत् । तस्याः करतलस्पर्शो मधुरा सूक्ष्मा वाग् भ्राजमानं मुखञ्च शवानप्युज्जीवयेत् कथं न स्यात्तत्पुत्री तत्समा ? तस्याश्चर्वितताम्बूलनिष्ठ्यूतलेपनान्निद्रामनुभवन् निमेषविरहासहो जहौ देहमुद्योगपती रौरवमल्लस्तस्यां प्रकोष्ठं गतायामेव ।

दैनिकवृत्तपत्राण्यस्या मुखचित्रं मुद्राप्य लोकमान्यतां विश्वमित्रतां सन्मार्गञ्चोपलभ्य ख्यातिमुन्नतिं धनञ्च लभन्तेऽपूर्वम् ।

मर्त्यावतारस्य साफल्यमद्य यन्नरहरिवितर्कसमाधानभूता [नरहरिकृतशृङ्गारशतके वितर्कबाहुल्यं द्रष्टव्यम्] शरन्निशेव शीतला मदनमन्दिरवैजयन्ती सैषा चर्मचक्षुषां समक्षम् ।

यस्या दुग्धाब्धिफेनद्युति सम्पन्नमानसमोहि सौन्दर्यगर्वारक्तं जगन्नाटकस्यामुखमिव मुखम्। सदोदितस्य भानुस्वर्भानुप्रभावविरहितस्य मोहमहान्धकारविद्राविणोऽस्या मुखस्य किं नाम साम्यं सोमेन ? यमाश्रयतो नोपैति मोहमल्लः। यस्याः मुखप्रतिस्पर्धायां जितमिन्दुमनु सदैव पादाग्रलग्ना रक्ततिलका इन्दुदारास्तारा नखरूपतामिव गताः। इतश्च वदनसाम्यमाप्तुं सुधासिन्धुश्चन्द्रो गुल्मलतावृक्षशाखावलम्बी, अधोमुखः कर्णपुष्पस्तवकमिषेण निस्तपति।

कुञ्चनावञ्चकैः कान्त्याऽलिकुलं कलुषयद्भिः कृष्णकचैर्युवमारणीं कृपाणी-मिव वेणीं विरचय्य तयोरन्तः कुण्डलिकायां भास्वन्ति रत्नान्यायोज्यामेव नक्षत्राण्यायोज्येयमुपेता पूर्णिमया सह। घनतमोनीकाशः केशपाशः फणिमणि-श्रेणिभिर्ज्वलन्नपि स्मरवैश्वानरदह्यमानानां परं प्रशमाय।

लीलाशीला विश्ववशकरी भ्रूवल्लरी, श्यामले प्रलम्बे पक्ष्मणी श्रीसम्प-न्ने अपि जनमानसहारिणी आतङ्कितयुवजने यौवनधनगर्वपूर्णे, अञ्जना-सञ्जनेन खञ्जनादप्यधिकां मञ्जुतां व्यञ्जयन्ती कञ्जायमाने विलोचने, सम्मोहनं सञ्जीवनं जिताब्जं ध्वान्तानामेकान्तमन्ति क्रीडाक्रियाकार्मुकं तापभञ्जकं सुधामधुरोदारं विलोकनम्, लोलोऽपि लोकस्तम्भी वक्रोऽपि सारल्यकारोऽ-पाङ्गः, मीनध्वजमातङ्गोल्लासी शोणोऽक्षिकोणः, अञ्चितव्रीडौ क्रीडन्ता-वसमं समौ मांसलोन्नतावनङ्कितौ कपोलौ, क्रीडत् कुण्डलि लम्बवर्त्तुलं कर्ण-युगलम्, भङ्गुरे आकर्षिके नासिके, आमोदभ्रमद्भ्रमरो वसद्वसन्तो दाडिम-कुसुमसमो निरूपणमार्गातिक्रान्तो विश्वमाधुर्यधुर्यो विस्मितसुधः सस्मितसभः शोभाधरोऽधरः, यस्मिन् पद्मरागे कुङ्कुमराग इव स्वरागविनाशहेतू रागः, यौवनेन स्वागतसमये रतिपतयेऽर्पितः कुन्दकुसुमाञ्जलिरिव प्रवालशिलोपरि परिस्फुटच्छुक्तौ भ्राजमाना मुक्तापङ्क्तिरिव दन्तपङ्क्तिः, स्फुटस्फटिकप्रभो मुक्तावदातदशनावलीलालितः कौमुदीकल्लोल इव भासमानो हासः, कम्बु-ग्रीवायां कञ्चुकवारितमपि कुचोत्सेधमाच्छादयन्महार्हो हसन्निव गर्वितो हारः, अङ्गदघटीवलयभूषितौ कदलीकाण्डानुकारिणौ करौ, स्कन्धे व्यवहारायान्वर्थं नभोलीन (नाईलोन) मम्बरम्, नवहृदयगेहे स्मरस्य प्रवेशसमये राज्याभिषेके वा

द्वारे मङ्गलकाञ्चनकुम्भाविव, कामाहतानामीषदुष्णसेकाय निबद्धौ पोट्टलाविव, स्मरसम्राजो विलासोपवनासनस्य पादाविव, रसिकक्रीडनाय कन्दुकाविव, जलसेचनं विना वर्द्धितौ, अनवरुद्धप्रसारौ, हस्ततलयन्त्रनिष्पीडितावपि पीनौ दुर्ग्राह्यौ, नववयसा सूत्रीकृतावपि स्मराचार्येण विहितभाष्याविव व्यायतौ प्रयत्नकृतोन्नती जयायोन्नतग्रीवौ कञ्चुकेन वार्यमाणावपि वल्गन्तौ कुचौ, यौवनसखस्य स्मरसम्राजः स्नानायाखातगभीरा सरसीव नाभिः, लोकदृशां युगपदजस्रपातभारेणेव तनूकृतं मध्यम्, मनोजमहीशस्य सिंहासनपीठमिवाम्बरचुम्बि नितम्बम्, मदनरतिस्मृतिस्तम्भयोरिवोर्वोर्भास्वरताराकाकुलं चण्डातकम्, कान्तरत्ना कामयमानेव कामुकखला मेखला, कामवेदनया क्वणत् कम्पमानं करकङ्कणम्, विभविभावावेशामृष्ट्योस्ताम्रयोःपादयोर्मदयन्ती, 'सौभाग्यभागि कपोलपालिचुम्बि कर्णाभरणं स्तनाश्लेषको हारश्च, परमहं गुल्मायिते गुल्फ एव योजित' इति वेदनया जिज्ञासमानं किं किमिति क्वणत्किङ्किणीकं सौवर्णं गुल्फालङ्करणम्, भ्राजमानः खमणिरिव नखमणिः।

सैषा कस्तूरीतिलकाङ्का कलाकाननकोकिला, कम्बुकोशकण्ठी, कामकामधेनुः, कनककमनीयाऽपि कामार्त्तकराला, कामकलाकीर्त्तिकल्पलतिका काव्यक्रीडाकुशला काम्यकान्तारकेलिः, क्वणत्काञ्चनकाञ्ची, काकुकोविदा कामदा कुमारीकामिनी, कुलीनकुलकाम्या, कुलकन्याकलकलहकम्पितापि कुञ्जरीक्रमा कुलिशकन्दुकुचा कुमुदाक्षी कुन्तकटाक्षा कृष्णकुन्तला कृशमध्या कङ्कणरम्या कनककदली कमलकुड्मलकबरी, कर्णेजपकर्णपूरकल्लोलकम्पितापि कामकान्तेव ककुप्कीर्त्तिः कितवकिल्विषकुटीकौमुदी।

प्रियभोगाः! दृश्यतां दर्शनीयम्, अवगाह्यतां कान्तिकल्लोलिनी, क्रियतां करणनिर्वृतिः, वितीर्य्यतां हृदयमूर्धन्यवादो धनेन सह, विधीयतां लोचनसमुल्लासः, श्रूयतां श्रोतव्यम्, व्रियतां वर्णितव्यम्, शाम्यताममृतशीकरासारैस्तापः, विस्मर्यतां संसारवैरस्यम्, नियम्यतामुद्बुद्धेन्दीवरदलदीर्घा दृष्टिः।

बन्धवः! यां रम्यां रामां वीक्ष्यात्मारामा अपि मुनयो निर्ग्रन्था भवन्ति चेष्टन्ते चोरुक्रमाय, साऽस्माकं समक्षम्।

कर्णावतीर्णखलितानामनवरतगुणनिकाभ्रामणघृष्टाङ्गुलीनां प्रौढवयसां

वयसामत्रोपस्थितिं वीक्ष्याहं निध्यातुं क्षमो यज्जीर्णे चन्दनतरावामोद इव कामप्रसरोऽपि विशेषतः प्रौढे वयस्येव ।

ओङ्कारः स्मरश्रुतेः, टङ्कारः कुसुमेषोः, ढक्कारो यौवनसम्राजो विजययात्रायाः, फट्कारो यमनियमानाम् धिक्कारस्त्यक्तगृहाणाम्, जयकारो मनोजमहीपतेराकर्ण्यतां वरोरूवितीर्णश्चलल्काञ्चीकिङ्किणीक्वणितसहितोऽशेषसङ्क्लेशशमो नूपुरझङ्कारः ।

अहह, परमं किलाकर्षणं विलासिनीनां भूषणरवः । कुसुमितपादपात् कुसुमनिपात इव हरदग्धकामजीवातुर्जगदुरुमरौ देवतरुस्तरुण्या विपदां मोक्षशिक्षादक्षः कटाक्षव्याक्षेपः शरनिशातोऽपि पुष्पस्पर्श इव प्रतीयते, यत्र विनोदी मोदमत्तो मदनो रत्या सह स्वैरं मृगयां विहरत्यमन्दम् । अहह "भिद्यते कञ्चुकग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । लीयन्ते सर्वतापाश्च यदैषा दृक्पथं गता" । यस्याः कपोललावण्यं विभाव्य चम्पकैः, विलासगतिं विमृश्य हंसैः, ललितलोचनरुचमालोच्य हरिणैर्वने वासो वरीयान् मतः । यस्याः पीयूषमिव वर्षत्सु श्रूयमाणेषु नामाक्षरेषु तूर्णमुदीर्णदारुणकामज्वरा भवन्ति भविनः । यस्याः नूपुरक्वणनं शीतज्योत्स्नामिवामन्त्रयति जीवने ।

रतिरङ्गस्थलविजेत्री सकलेन्द्रियाधिष्ठात्री मञ्जीरशिञ्जितव्यञ्जितानुरागेयमुदञ्चद्रोमाञ्चं लज्जावखण्डितं चञ्चलाञ्चलं चलन्नयनं कम्पमानकुचं स्पन्दमानमानसं स्वं सत्त्वण्डातकमनियन्त्रितजिह्ममजिह्मैरेव भाग्यैः सौभाग्यवसतेर्महति पुण्योदये रहसि रहस्यभावसूचकं वेषमायोज्य स्वर्गङ्गाफेनोत्करायितयौवनविलासहासेन महामोहतमो हरन्ती नितम्बस्थलगलद्वसना मदनपेशला लीलालालसं लीलालसमुत्कञ्चुकि वक्षः संवृण्वती सोष्मलज्जं सरोषविषमपि समुखप्रसादं विषमाक्षरमपि समाक्षरं वदन्ती नवकुसुमशयने मानसमुल्लासयति प्रणयलोलविलोचना, यदा यज्ञोपवीतबाधापि गुरून् सम्भ्रमत्स्यै सत्वरं निवार्य्यते । सत्तीर्थविहितसुक्रियो विरल एव स्मरशरनिर्घोषानुकारिक्वणन्मेखलाध्वनिमाकर्णयति । नितम्बभारमसृणं नवकुसुमशयनं खेदालसजृम्भितमस्या मुखञ्च सुकर्मपरिणतावेव पश्यति धम्मिल्लवल्लीबन्धनं प्रोद्धतोरोजनिष्पेषितमुज्जृम्भमाणस्मरवारिनिषेचितं स्वकीयं वक्षश्च । प्रणयिप्रार्थना-

भङ्गप्रगल्भायाः पर्यङ्कपार्श्वलग्नायाः, लम्बालकाकुलकपोलायाः सुकृतिन एव प्रणतविभविनो ललाटचन्दनेन चर्चिता यस्याश्चरणनखा मणिप्रभतां प्रयान्ति,तदनु च जनुषः फलम्, तिर्यक्चललोचनं प्रेमस्मितस्निग्धाननं मञ्जुशिञ्जिमञ्जीरञ्चलच्चरणाघातम्। यस्याश्चरणयोर्जीवनाञ्जलिमर्पयितुं विभविना महमहमिका। कृतविविधवेषा यतय इवाशेषा एकध्याना धन्या धनिजाः परिचयमाकाङ्क्षन्तः महनीयं महिमानमानमन्तः, अपाङ्गपीयूषं पिपासन्तः, सद्योवशीकरणनिपुणं चरणरेणुचूर्णं शिरसा विवक्षन्तः श्रेयःसरणिं कृपाकिरणमवाप्तुकामाः कठोरकुचनिष्ठुराया यस्या विलासोपवनरथ्यां गतागतव्यथां विदधति अलकावलीविकलं वातायनदर्शनमप्याप्य जन्म सफलं मन्वते च। ब्रह्मचर्यपारणाप्रणव इव 'ओम्' शब्दस्तु विरलैरेवाप्तपुण्यैः। यस्या अनुरागसुधासिन्धुशीकरमप्यवाप्य तीक्ष्णविषोपमे जगति ज्वालामालाकुलिता अपि विषयवासनावासितमनसो धैर्यावरणं दूरतो विमुच्य परमां शान्तिं भजन्तेऽपाङ्गकरुणाशरणा विलासिनः। अहो विलक्षणं सज्जितास्या देहविपणिर्मनोजवणिजा। तस्या रूपवैभवं वीक्ष्य स्वनेत्रेष्वविश्वासमाधायैनां स्वप्नसृष्टिमिव मनुते लोकः।

यस्याः प्रेमापगापयसि निमज्ज्य संसारबन्धनविरहिता भवन्ति भविनः। धन्यैरेवेदङ् मोहकं वातावरणम्, सुखसुधावर्षी सङ्गश्चानुभूयते। यस्या मन्मथमानसोन्माथीनि कुसुमितानीव सुषमितानि लोकशोकविमोचान्यङ्गानि स्प्रष्टुं त्वक् , द्रष्टुं चक्षुः, ललितलीलं मोहनशीलं स्वभावसुगन्धं वपुर्घ्रातुं नासा, प्रसादनीं रसवर्द्धनीं मदनोन्मादिमाधुर्य्यां सरस्वतीं निरन्तरं निरन्तरायं श्रोतुं श्रवणं दुस्त्यजं समाजबन्धनं विहातुं मनश्च विकलानि, यां दर्शं दर्शं तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायः समं स्युः, या परमः पुमर्थः पुण्यं मङ्गलञ्च, यां लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः, यस्या मोहककान्तिमहासरस्यां मनोमीनो निमग्न एव स्थातुमिच्छति। यां विलोक्य न दिव्यं सुखं न पार्थिवान् भोगान् नचापवर्गं कामयते, कामयते केवलं सुधामधुरमधरं विद्याधर्याः कलकेलिझङ्कारञ्च नूपुराणाम्।

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
विद्याधरीदेहयोगो निर्बाधं यत्र सम्भवेत्॥

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो विद्याधरीदेहगुणानुवर्णनम् ॥
यच्चिन्तनं यन्नमनं यदीक्षणं यत्स्पर्शनं यद्वचनं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति मानसं तस्यै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥
वंशीविनिन्दिमधुरस्वरपूजितास्याद्रक्ताम्बरादरुणबिम्बफलाधरौष्ठात् ।
पूर्णेन्दुनिन्दिवदनादरविन्दनेत्राद् गौरात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटायां श्रेष्ठा विभान्ति सकला धनिनोऽर्हणीयाः।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्त्तिर्विद्याधरी मयि सदैव दयां तनोतु ॥

अधरीकृतविद्ये, विद्याधरि ! अद्य यावद् दृष्टैः सौन्दर्यैरेकीभूतै राशीभूतैरपि तवाधिकं सौन्दर्यम् । इदं तवेक्षुस्मितं सुधास्मितमस्मान् विस्मितान् करोति । कथय त्वां किमु पिबामि, निगिरामि विशामि वा ?

अहो ! दृष्टमपि यौवनमद्यं चेतनां विलुम्पति । यतो लोचनाकाशे मुग्धो मानवविहगोऽज्ञातदिग् भ्रमति ।

अहो नन्दनचन्दनदेहा चन्द्रवदना सरोजाक्षी शोणाधरा पूर्णकुचकुम्भा कदलीजघना स्फटिकप्रभा कमलकोमलकमनीयसमुद्रकरा सुधासिन्धुसमसौन्दर्याऽपीयं परमा दाहिका ।

मुष्टिमेयमध्यां त्वामेव शक्तिं समाश्रित्य स्मरो विश्वं जेतुं सज्जः । तवैव तनुतनुच्छायायां स्वच्छन्दं विश्रम्य बहवो विलासिनः स्मरासुरनिदाघविपत्तापमपनीय शान्तिं लेभिरे । कटाक्षविषविशिखविद्धाः शीर्णशीलकवचास्तवैवास्यसुधांशुमाश्रयन्ते । द्वेधा त्रेधा बहुधा विचिन्त्य वेधा मेधामवचित्य विचित्यामलवस्तूनि तूष्णीमेणाक्षीं व्यधित । सृष्टिरन्त्यैव धातुः, काकतालीयं वा विधौ विधेः कौशलम् । कविकल्पित इव सरसे परिधाने मञ्जुमनोज्ञलतायाः सुयौवनाया अरुणोदय इव बिम्बाधरे सूर्योदय इव हासे मुखसरसि विकसिते च पङ्कजद्वयेऽन्धोऽपि दृष्टिमुपेयात् सुलोचनश्चान्धतामियाद् वा । यामवलोक्य—त्वग्दाहश्चक्षुषोः शान्तिः शाटिका स्रंसते कटेः ।

वेपथुर्नः शरीरेऽलं रोमहर्षश्च जायते, समस्तमस्तमयते च स्मरसन्तपनम् । अहह सैषा कपिलस्यापि दशां निरुन्धीत ।

बन्धवः ! यस्या स्मरमेघेन सिक्ता उर्वरतां भजन्ते ऊषरहृदयाः । यस्याः स्पर्शो मोक्षायते, आलापो नाकायते भर्त्सनञ्च सङ्गीतायते । सा रमणी लोकस्य मनोरमं सङ्गीतं शक्तिः सृष्टिः नियामिका रहस्यवेदिनी रहस्यबोधिनी च ।

श्रेष्ठाः ! सफलः केषाञ्चनेन्द्रियाणां सद्भावः । प्रियाः ! कुशलकुसुमोपवस-मुन्मत्तेन्द्रियद्विपदमनं भवामयमोचिनं सेवध्वं कन्दर्पविलासैकमन्दिरमधुना जीवितदेवम् , मङ्गलकृत्यानामाद्यः प्रणवो विद्याधर्या गानम्, मन्मथ-मथ्यमानानां कामकञ्चुककुलं कवलीकुर्वत् क्लेशकल्मषहरं शीतमपि तापकं चपलं स्मितज्योतिश्च, यन्मुक्तिक्षेत्रं संसारिणाम् ।

वयस्याः ! प्रकृतये विधयेऽस्मद्भाग्याय च साधुवादो येनैषा भुवनमोहिनी मूर्त्तिः श्रान्तेरनन्तरं निद्रेव मधुरा रत्युपवनस्वर्णकेतकी माधुर्यमेघविद्युद्वल्लरी विद्याधरी पुरस्कृताऽस्माकम् । अद्य विगलितगर्वः सर्वः सुषमाकरः कुसु-माकरः कुसुमायुधश्च, निन्दितञ्च नन्दनम् । विश्वविमोहिनि ! एष गृह्यतां रुचिरवचनार्चनकुसुमाञ्जलिः प्राञ्जलेः । प्रसादमधुरे ! कथं मादृशोऽल्पदृक् सर्वमङ्गलां त्रिपुर (त्रिषु पुरेषु=कलङ्कितामोहमयीमद्रदासीषु) सुन्दरीं पुरतापन (धनि) पत्नीमभिनन्दितुं क्षमः ? भूयो भूय ईशं प्रार्थये, यत्त्वदु-पासनव्यसनं न मे शाम्यतु । मुक्तसमस्तसङ्गो मुक्तसर्वपरिक्लेशोनन्यभावेन त्वामाश्रये च ।

अद्यायं बुधोऽपि मङ्गलो वासरश्चतुर्दशी पूर्णमासी, आवृतेऽपि च कौमुदी-महोत्सवो यत्रायमपूर्व आनन्द उपभुज्यते ।

कौतुकालोकसारं लावण्याभरणं निराभरणमपि वपुः प्रकामं कामिलो-चनचषकनिपेयम्, किमुत साभरणम् ? प्रलीयमानशैशवं रसिकमनोमधुप-समाकर्षि विकसितमरुणं तरुणं वयः, रतिविलासोपवनं धीरधृतिविद्रावि योगिमुनिमनोव्यामोहि लावण्यम्, शशिशीतलो विभ्रमः, आह्लादकोऽपि भर्जकस्तरुणिमोन्मेषः, नेत्रशतपत्रोल्लासिनी सौरी प्रभेव रम्या कान्तिः, तडिच्चाञ्चल्यविलोपि सस्मितं चलाञ्चलं वलयितग्रीवं सरलतरललोचनं, लाघवलेखकस्य (शोर्टहैण्ड राइटर) अङ्कनमिव स्फुटं वदद्भ्रे दितृभ्यो वल-यनम् । अहह स्फुटमेवानुपमेयान्यमूनि ।

विपुलमगदम्, परम्, स्यान्नाम, अनया सहातिप्रसङ्गोऽपि न रसभङ्गहेतुः।

भगवँस्त्वया विधेयम्, प्राणा यदा सरेयुः।
याचे न किञ्चिदन्यत् प्राणा यदा सरेयुः॥

मदिरा भवेद् गले मे सितवीटिका च वदने।
जडतां गतेप्यजस्रं नेत्रे विलोकयेताम्॥

स्मितमुग्धमिन्दुवदनं सदनं श्रियः सुखस्य।
विद्याधरीसुवदनं प्राणा यदा सरेयुः॥

सव्ये सुयौवना स्याज्जीवन्निशाऽलसा।
शेफालिका च वामे गलता नु वाससा॥

व्याध्याधिमूर्च्छितोपि लुप्तेन्द्रियो विसंज्ञः।
कुचकौ तयोः स्पृशेयं प्राणा यदा सरेयुः॥

स्मरत स्मरतप्ताः काञ्चन काञ्चनकाञ्चीं भगवतीं भवदुःखं विद्रावयन्तीं स्मितमुद्रां भजत च भद्राय।

अद्भुतरूपराशे ! कृतार्थान् कुरु ते कृपार्थान्। प्रचुरप्रपञ्चचुञ्चौ चन्द्रानने रुचम्, कलाञ्चितां वञ्चितामृतां वाचञ्च रचय प्राप्तेष्वर्चकेषु। पूरयन्ती मानससरोवरं लावण्यस्रोतसा, नेत्रविक्षेपैः कमलानीव सृजन्ती प्रक्षिपन्ती च लोकमुखस्थलेषु प्रसीद। परं कौतुकं महद् यत् सर्वान् धनिनो मानसे श्रयन्त्येषा कथं नर्त्स्यति? उत एतांस्तडिच्चञ्चलान् हावान् भास्वन्मुखं चन्द्रहासायिते भ्रुकुट्यौ चेतनां विलुम्पन्मादकं विलोकनं विभाव्य लोकः कथं प्राणान्धास्यति ?

श्रेष्ठाः ! अधुना सौन्दर्यविद्युद्विद्योतते, को जानीते कियतां पातश्च-क्षुर्घातो वा भवेत्? परं स्यान्नाम? विद्याधर्या तु सर्वाण्यस्त्राणि व्यवहर्त्तव्यान्येव। पुनरेतद्विचार्य चारुचरित्रैः सभ्यैर्यद्विद्याधरी तु भवतां मनो रञ्जयितुं निःसरिष्यति, परं वराकस्य क्षयग्रस्तस्य चन्द्रस्य किन्नु भविता ?

अथ तस्याः साक्षात्काराय व्याकुलेषु सर्वेषु कण्टकनिपातध्वनि-साक्षिण्यां (Pindrop silence) नीरवतायां प्रसृतायां निःस्पन्देन्द्रिय-

ग्रामे आनन्दपयोधौ निमज्ज्यमाने श्रोतृजने यौवनोपवनमञ्जरी कौशेयीं जवनिका-मपसार्य अङ्गीकृतान्तरङ्गानङ्गशृङ्गारा रङ्गमविशत्। विताने निष्प्राणतोपेता। सर्वाणि नेत्राणि सर्वाणि वदनानि सर्वे कर्णास्तामपश्यन्नवदन्नशृण्वंश्च। येन साऽपूर्वं गर्वमनुभवन्तीव प्रत्यैयत। तस्याः स्मितज्योतिश्चन्द्रिकेव सर्वतः ससार। चन्द्रिकया तारा इव पूर्वाः सर्वा अभिभाविताः। रतिरूपोपमर्द्दिकां विद्या-धरीं तस्या भास्वत्सौन्दर्यञ्च वीक्ष्य शरीरस्त्रंसद्वासा बुद्धिं वासनाग्निकुण्डे हुत्वा कामेन कम्पमानो लोकः शनैश्शनैरस्फुटं वदन्नवर्त्तत-"पञ्चमहा-भूतानां यैरणुभिरेष नयनमानसाकर्षी योगो जातस्तेऽपि विलक्षणा एव।"

तस्या अधरे चुम्बनकामनया, तनौ परिरम्भणेच्छया स्मितप्रस्फुरिता-धराणां सर्वेषां शीलदुकूलविमोचनसज्जं निर्लज्जं भ्रमद्भृङ्गस्वनेन निवार्य-माणमपि वाताञ्चितप्रतानिनीभिः सन्तर्ज्यमाणमपि चक्षुः पपात।

अथाभरणमणिरणितरङ्गमञ्चा पटतटविघटितघटितमानसा जगज्जेतुं कन्दर्पमुद्रां विरच्य्य क्षणानुरागचतुरा प्रकृतिप्रशंसिताकृतिर्मञ्जुश्रीः, निःश्वसि-तहसितमारुतेन मानवमानसान्युत्क्षिपन्ती सुरसुन्दरीसमा प्रवृद्धमदनमदा मदय-न्त्यङ्कितहस्तपादतला, धवलहासस्रोतसा कामाङ्कुरालीं कामिनां सिञ्चन्ती कालक्रमकमनीयकुसुमायुधोल्लासेन श्रमश्वासेन वोच्चौ कुसुमेषुकोशकलशाविव कञ्चुकिकापञ्जरं विदार्य बहिर्गन्तुं वल्गन्तौ कुचकेशरिकिशोरकौ काठोर्य्या-न्नर्त्तनाक्षमावपि कलयोल्लसितांशुकं कम्पयन्ती, तरलयन्ती भ्रमयन्ती हरन्ती क्षिपन्ती मनांसि, सहजां माधुरीं तन्वाना वातविताने, शब्देन, मुद्रया, पद-सञ्चालनेन नृत्येन च चान्दनैर्निःस्यन्दैरिव सिञ्चन्ती तमोमयीं त्रियामां भ्राजयन्ती विलोलवलयालकमपाकुर्वती चेतनाम्, सीत्कुर्वती, विलासकुशला बहुलचपलेन विगतनिद्रनीलोत्पलायितेन नेत्रेण, भ्रुवां विभ्रमेण स्मितास्त्रेण मधुरेणाधरेण चञ्चच्चन्द्रचरणविमलेन कपोलेन कमलायितेन करेण, भ्रमितमति-नोन्नतेन पयोधरेण, कलापटिम्ना शनैश्चरता चरणेन छायामिव विषमिव माद-कतामिव प्रसारयन्ती, वशयन्ती, आशयन्ती स्मितसितकुसुमानि प्रक्षिपन्ती बोधं चोरयन्ती चेतनां हरन्ती कल्पितभावसरसि रसिनां प्लवमाना, दिक्षु निःक्षिप्ततरलचक्षुर्मङ्क्षु रङ्गमञ्चमुपेत्य विश्वं भासयन्ती तिरोहिता चान्ध-

तमसयन्ती सौरी प्रभेव स्वर्गसर्गं रचयन्ती मालिन्यदैन्यं हरन्ती मालतीमारुतापाकृतखेदलवा, अवधूतचन्दनानिलं श्वसती, रतिभावसन्धुक्षणविचक्षणा लोलल्लोचना रतिरणक्षेत्रमहारथा, वल्गु मनोज्ञस्वरमनुगतवाद्यं नृत्यानुगं दीपशिखासञ्चारचारु विलसद्वयोभावं कन्दर्पदर्पवर्द्धनं पीयूषवर्षशिशिरं रूपैकपक्षपातिपतितपुरुषपरुषनेत्रनिपातेनेव मन्दं मन्दं विलासिमानसवितापि नेत्रश्रुतिसुखं कोकिलकलकोमलं प्रास्तेक्षुदीक्षं मन्दाक्षमन्दमगासीत् ।

सौन्दर्यं वाते तरदिव, आङ्गिकाभिनय आलपन्निव प्रत्यैयत । भुवनमोहि तस्याः सौन्दर्यं वीक्ष्य ललनालावण्यलोला सौन्दर्योदयघूर्णिता परिषद् उभाभ्यां हस्ताभ्यां स्मरपरवशानि समिद्धवेगानि हृदयान्यावद्धय तिष्ठन्ती पुलकिता ।

कश्चन रसिकः स्ववटनान्युन्मोच्य वक्षो दर्शयामास, कश्चनाङ्गुलीरावर्जं, कश्चन नेत्रं साकूतं सञ्चुकोच, कश्चन सधर्मणः कर्णे फुस्फुसमकृत । कश्चन मणिबन्धघटीं पुनःपुनश्चुचुम्ब, कश्चनाधरमङ्गुलीभ्यामापीड्य चीच्चकार, कश्चनोपनेत्रमवतार्य्य नेत्रे प्रमार्ज्य निर्बाधमपश्यत्, सर्वे च दोर्मण्डलैर्वल्गन्तोऽह्नाय पुरो भवितुं ववल्गुः । तरुणशलभा रूपदीपमभितो द्रुतसाधनाः स्मितकणमाप्य ब्रह्मानन्दार्णवनिमग्नान् भर्त्सयन्तोऽभ्रमन् ।

मन्दमपि सरति रमणीसमीरणे तृणवद् भ्रमन्ति भ्रान्तधियः ।

सर्वेषां चक्षूंषि निमीलितानि । महामन्दिरसभाभवने मूर्त्तिसमूह इव महफलमन्दिरे चित्रन्यस्तोऽभवन्नीरवो निःस्वनः स्तब्धो कामाकुलः कामुककाकलोकः ।

तस्या गीतसुधां धातुं मदनमाद्यन्मतयस्तन्द्रायमाणा जीवनं संशयमारोप्यमाणा अनाप्तप्रवेशाः कामिनो ध्वनिकणाकर्णनाशया भित्तिषु पादपेष्वारोहन् । विषयभुजङ्गदष्टस्य बाह्यवस्त्वास्वादो मधुरायते निम्बपत्रमिव ।

'धिग्धिक्करलान् धिक्' इत्युच्चैर्नदन्मृदङ्गोऽपि ताञ्जहास । आकर्णयतां क्व शिरोवासः ? क्व करवासः ? क्वोपनेत्रम् ? क्वोत्तरीयम् ? क्व स्रक् ? क्व स्वर्णभरणम् ? क्व ताम्बूलम् ?

भ्रमराः ! रसभरिसुकुसुमभरसुभगा प्रमदालतिकेयमुपेता । (स्थायी)
मदविभावविकटाक्षशराग्रैर्मुहुरवलोकनवलयनकलनैः ।
अधरमधुरमधुविधुरितयुवका सेयं मुग्ध ! समेता ॥१॥
मम चिकुरे यन्त्रित आवर्जित आशु सरेदवनौ कः ?
पदविघातभर्त्सनधिक्कारैर्धन्यः को नु न भविता ॥२॥
भुक्ति मुक्ति वसुमतीसुमती कथयत को नहि जह्यात् ?
स्मितममितं लब्ध्वा मनुजन्मा विजितधराहमुपेता ॥३॥
पाणि स्पृष्ट्वा वदनं दृष्ट्वा को न भवेत् पदलग्नः ।
मूर्च्छनमाप न को नु सुवीरः ? कामिविदग्ध ! विचेताः ॥४॥

गाने गीयमाने मञ्चो घूर्णमान इव प्रत्यैयत, प्रत्यैयत च विश्वस्य सर्वः कोकिलो युगपदकासीत् ।

साभं प्रसादयितुं कामज्वालां शमयितुं समेतानां वकधवलवासःकेशानामप्यसितमनसां निरन्तरं गुणनिकागुणनतत्पराणामपि निशाभिसारिणां प्रमोदविस्फारितेन चक्षुषा विद्याधरीमात्मसात्कुर्वतां वनितावनतानां प्राप्तनिर्वाणमपि मानसमुल्ललास । सर्वे क्षुधायास्तृषायापि आकर्षणस्य सङ्घर्षणस्य, जीवनस्य मृत्योश्च क्षेत्रादुपरि—यत्रैषामणुरपि नास्ति—गताः प्रत्यैयन्त । सर्वेषां मानसकुसुमानि सत्वरमवसन्तेन, अमरुता, असूर्येण गानेन नृत्येन च विचकसुः ।

सौन्दर्यं वस्तुतो मद्यादधिकं मादकम्, यतस्तद् द्रष्टारमपि मदयति । यतः सर्व एव कामज्वालया दग्धजलांशा इव लावण्यनदीं नयनाञ्जलिना पिबन्तो मादिनीं मदिराधारां धयन्तोऽपि शुष्ककण्ठौष्ठाः, रससरितं गाहमाना अपि तृष्णातुराः पुनः पुनः किमप्यपिबन्, शीतां निर्मलां स्निग्धामुज्ज्वलां खड्गधारामिव चेतश्छेदं छेदं चरन्तीं विभाव्य, तस्याः स्वप्नसुखसमं मुखं पश्यन्तः पाषाणमूर्त्तय इवाभवँश्च । तेषां तन्मयता प्रेक्षणीयाऽऽसीन्न निर्वचनीया । विद्याधरीं नृत्यन्तीमनु सर्वा नर्त्तितुं प्रवृत्ताः । तासां वदनानि वीक्ष्य रक्तोत्पलवनं नृत्यदिव प्रत्यैयत । तासां नयनमनोभिरामः सञ्चारश्चित्रेषु चाञ्चल्यं चारयामास ।

भिन्नाङ्गेषु निपतता ज्योतिषा, 'था था थैया' नृत्यन्त्यस्तरुण्योऽपूर्वां छविं दधत्यो विहायसीन्द्रधनुषि मोदमाना अप्सरस इवाराजन्त।

वायुःस्थिरः, वृक्षाःस्तब्धाः, निर्वाति सागरस्य तल इव निःस्पन्दो जनः।

अन्ततः सुराङ्गनामानभङ्गिनः सुकुमाराः पादाःस्थिरा अभवन्। आनन्दकल्लोलमय्याःसुखसरितः प्रकम्पनमवरुद्धम्, सर्वान् व्यथयदोष्ठस्पन्दनञ्च, परं वज्रजटिता मणिनूपुरा अनन्तचक्षुर्भ्यः प्रेम्णः सत्यं रूपं वीक्षितुमिव निरलसा आसन्।

पीयूषवर्षिद्युतिमुषि मुखे लग्नान् स्वेदकणान् परिमार्ष्टुं कपर्दः स्वकीयं करवासः कर आदायोपासरत्। परं वेश्याऽपि विद्याधरीयती निर्लज्जा नासीद् वाक्केलिकुशला सावोचच्च, "साधु, क्षम्यताम्, अहमपि करवासो धारयामि"।

नृत्यरतासु गायन्तीषु सुन्दरीषु क्षिप्ताः पञ्चमूल्याः पत्रमुद्राः समूहितुं तासां चेट्यः प्रवृत्ताः, परं हिरण्याक्षः कपर्दो मां सङ्केतितवान्, अतो जनसेवाविभागीयाः सुन्दरीस्तत्र न्ययोजयम्। सर्वा मुद्रा गोण्यां भृतास्तोलितास्त्रयोदशतोलकोत्तराष्टादशप्रस्थमिता (।ऽ८८३) आसन्, गणिताश्च द्वादशायुतमूल्याः।

अथ पर्दपटुः कपर्दोऽवदत्—

अयि वारवधूवदनासववासितश्वासाः सर्वायासजुषामतिक्तमव्यर्थमौषधं मधुमञ्जर्या गानमकरन्दं पिबन्तः षट्पदा अपि पदात्पदं प्रयातुमक्षमा विलोक्यन्ते बद्धास्पदाः, निर्निमेषं पश्यन्तो मर्त्या अप्यमर्त्यभावं भजमानाश्च। अहो अनाख्येय एष आनन्दः। शृण्वतां ताम्बूलचर्वणं तमालनिष्ठीवनं विरतं वियति विलम्बित इन्दुः स्निग्धस्पर्शेन पुलकितश्च पांसुरप्युपांशु। विषवैश्वानराभे विषादभुवि विषीदन्नरोऽस्यै स्वं निवेद्याविषादो भवति।

दासेऽयं परमोऽनुग्रहो यद्भवन्तो दत्तचित्ता निर्निमेषनयनाः सोल्लासमचिन्त्यं मधुरिमाणमन्वभूवन्। कल्याणालङ्काराणां चरणरजसा पूतं बकधवलाङ्गनम्। अद्यावलोकितोत्फुल्लपङ्कजवनश्रीः, जाता चोत्कण्ठाकुलितानां श्रुतिपारणा। दासः पुनरनुग्राह्योऽल्पाहाराय। सदानुकम्पाशीलाः श्रीमन्तः स्वीकरिष्यन्तीत्याशासे—सविनयमवदत्प्रपदादाशिरो मलाविलः कपर्दः।

स्फाटिकः प्रासादो दीपालोकमासाद्योच्चैर्जहास। स्फाटिकास्तरसतर्यो-(तुस्तरियां) ऽभ्राजन्त, तरुणीभिः सह निशातरुण्यपि। जीरकजलेन सह मद्यं पिबतामाकाकलकादुदरं पूरयतामुदरमन्ततः सीमितावकाशमासीत्।

समूहे निरामिषभोजित्वेन ख्यातानां गणना गरीयस्यासीत्, परमद्य मद्य-प्रियान् प्रभून् प्रभावयितुं पृथुलमांसला गृष्टयोऽजा वत्साः कुक्कुटा हंसाश्च कार्पण्यदोषोपहतस्वभावमभावं गमयित्वा दक्षयवनकरैरसाध्यन्त यानुपयुञ्जाना निरामिषाः सामिषानत्यवर्त्तन्ताभ्यासदार्ढ्यं प्रत्याययन्तः।

पात्राणि पक्वान्नेन पूर्णान्यधस्तान्निपात्यन्तेस्म। नीचैः शुनां यूथेन सहासीत् युगैर्बुभुक्षितानां समाजोपेक्षितानां कङ्कालानां यूथम्। यदसूचित-मागतं परस्परमाक्रोशत् खाद्यान्नमपाहरदुच्छिष्टपत्र(त्त)लानां पर्वतात्।

भोजनान्ते वेश्याश्चषकानि, चेटचो मद्यपात्रं ताम्बूलञ्चादायोपतस्थिरे। अभ्यासानुसारमेकं द्वे त्रीणि च चषकानि लोचनचषकैः सह भेजुः। सर्व एव महारथाः।

कपर्दोऽवदत्—पेयन्त्वहं प्रियं गाङ्गमेवानुदिनं पिबामि, परमाभिः प्रदत्तं नावरं गाङ्गात्।

नागवल्लीदलचर्वणान्ते पात्रे किमपि देयमासीत्। कपर्दः शतपत्रमुद्रामेकां न्यधात्। अस्यां प्रतिस्पर्द्धायां को न्यूनस्तिष्ठेत्? कठिनकठिनाः पत्रमुद्रा निरसरन् धनस्य परमोपयोग इति मत्वा।

आभिर्मुद्राभिर्वेश्यानां पुरस्कारः शुल्कं यातायातव्ययश्च सम्पन्नम्। गोणी-मुद्राभिश्च यौतुकम्। अस्मिन् विवाहे निश्शेषितव्यय आयः पञ्चाशत्सहस्रमुद्राः।

कीदृक् सौन्दर्यम्? कथं सङ्गीतम्? कीदृक् प्रशस्योऽभिनयः? की-दृश्योप्सरसः? कथं भ्राजमानान्यङ्गानि? कीदृशः सफलः प्रसङ्गः? कीदृगाकर्षकं वातावरणम्? कीदृग्राजभोज्यं भोज्यम्? कथं मनोमाथी व्यव-हारः? मन्मथमोदी परिमलश्चेति कथयन्तो न्यवर्त्तन्त।

नृत्यमयी सङ्गीतमयी हावमयी भावमयी उल्लासमयी उत्साहमयी प्रमोदमयी विनोदमयी हासमयी रासमयी सुधामयी विभावरी प्राभातिकपरुष-वाताहतेव श्रान्तेव विश्रममभजत्। अक्षीणाकाङ्क्षाणां खला क्षणदा क्षणमिवा-

क्षयत्। ऐन्द्रजालिको हिमांशुः स्वकिरणजालानवचित्याव्रजत्। मुखमयूखानां लज्जयेवान्तरधाज्ज्योत्स्ना, हासदशनैर्मन्दीभूतं धावल्यम्। द्विजराजकृतं कदाचरणमहर्पतये कथयितुकामाः कमलिन्य आस्यानि विकासयामासुः। तरुणारुणेन जनसमक्षमालिङ्गिता लज्जितेव शोणिताऽभवत् प्राची।

शनैश्शनैरुदयाचलबालहंसः स्वर्णारुणैः पक्षैरम्बरमवततार। प्रसिद्धिमभिलषन् स्वार्थैकलक्ष्यो लोकनेतेव विश्वं प्रभावयितुं सहयोगिनो घनानेव कणशश्चकार च।

अहम्—तारे, वृत्तान्तरं विश्रमान्ते कथयिष्यसि।

कृष्णतारा—यथादेशः।

† † † †

"कपर्दस्य कार्यालये मनोरञ्जनाय कमप्यधिकृतं प्रभावयितुं प्रसादयितुं वा चतुराया लाघवलेखिकाया आवश्यकताऽऽसीत्। वृत्तपत्रेषु विज्ञापना प्रकाशिता। "एका सुभगाकृतिर्नृत्यनृत्तगानवाद्यप्रवीणा भाववेषविन्यासव्यवहारचतुरा चित्रतारिकेव सुन्दरी शिरीषकुसुमस्रगिव कोमला सन्ध्यायां नदीधारायां निपतन्त्या सौरप्रभया समानरागा नित्यप्रमुदिता कुसुमाकुला वायुलोला लतेव चञ्चला बाला महाधनेन सह लाघवलेखनायापेक्ष्यते। प्राथमिकताऽविवाहितायै दास्यते। समागम (इन्टरव्यू) समयो रात्रौ नववादने। स्थानं मन्मथविनोदशाला। दिनाङ्क ६।११।६० रवौ।"

समाचारो लोकचक्षूंष्याक्रष्टुं विशिष्टपरिवेषेण प्रकाशितः।

कपर्दो मामपि नेतुं दूरालापेणाजग्राह। कपर्दाग्रहो नहि, अदृष्टपूर्वासां विनोदभूमीनां दिदृक्षा मामपि गन्तुं प्रैरयत्।

अहमवोचम्, ओ के, सर, [कि ज्ञाने, चिकेति=जानाति अद्यतनरहस्यम्, स केः। सरति=अविदित एवाग्रं गच्छति स 'ऋदोरप्'] अहं समये तत्रैव समेष्यामि।' इति। एवं प्रत्यैयत यत्कपर्दो मां पार्श्वे उपवेश्य निर्भरं गर्वमन्वभूत्, अत एव लोकसमक्षं स मामेवमैच्छत्।

अथाहं सूक्ष्मां सज्जामायोज्य कोशं स्कन्धेऽवलम्ब्य मरुत्तरं स्वयं चालयन्ती वधूवाणिज्यारतश्चतुरङ्गीमुपेता। क्वापि केनापि जगत्येतादृशं नाम न श्रुतं भवेत् 'वधूवाणिज्यारः' इति। सोऽत्र वर्त्तते। यत इयं

कलङ्किता, कलङ्कागारः, कलङ्कप्रदर्शिनी। सर्वेभ्यः कलङ्केभ्योऽत्रावासः सुरक्षितः। कलङ्का अत्र परिगणिताः। प्रतिसायं प्रतिगवाक्षं सौन्दर्यमत्र निषीदति पथिकान्सङ्केतेनाह्वयत्। सभ्योऽत्र गमनाय पृष्टो दृष्टः प्रेरितः स्वावमानं मनुते।

धर्मतलस्य विशालं क्षेत्रमभिनवैरभिनवाचारैश्चरैर्नरैरभिनवधर्मप्रतिष्ठायै चेष्टमानम्। न जाने केन किं विचार्यास्य नाम धर्मतलं कृतम्? प्रतिसायमत्र वसन्तः समेति। तदा जीवने सन्देह इवात्र पदे पदे सुखं नैश्चिन्त्यमुल्लास आमोदश्च नृत्यति। तदा कलङ्किताया हृदयं स्पन्दते नववध्वा इव। मेलनं संयोगो वियोगः प्रतीक्षोपेक्षा हानिर्लाभश्चेति सर्वे विचारास्तस्या मानसं मदयन्ति सादयन्ति च।

अस्मिन्समये व्याघ्रानुगतमिव धावनम्, अग्निना दह्यमानेभ्यो गृहेभ्यो निःसरणेन समा च व्याकुलता नश्यति। अपि तु विजयोत्तरं परीक्षासाफल्योत्तरं वोल्लासेन समा धृतिर्गतिर्मतिरुपैति। होकराणां सज्जा हस्तविपणिरधुना प्रसीदति। उपानत्परिष्कारिणां पुष्पस्रजो विक्रीणानां प्रसाधनसामग्रीं दर्शयतां घोषः स्फुरति। क्रीडनकमिष्टान्नविक्रयिणां सप्रेम मधुरमाह्वानमधुनाऽधरयति मधु। शिशवो मुद्गचणकमुद्गफलीविक्रये चातुर्य्यं प्रकटयन्ति। दारिद्र्यं समयात्पूर्वमेव शिशून् पटूकरोति। पक्षकोटरकर्त्तने नैपुण्यमभीप्सूनां शिक्षणकेन्द्रमतन्द्रममन्दं प्रचलति। नवप्रणालीनां शिक्षणमभ्यासश्च दृढीभवति। क्वचन कश्चनाभिनयव्यवहारचतुरः स्वमभितो लोकं विधाय तेषां ध्यानं स्वस्मिन्नाकृष्य स्वसहयोगिनः पक्षकोटरधनमाहर्त्तुं मणिबन्धघटीमुन्मोचयितुं वा साहाय्यमाचरति परश्चापरविधिना। एवमद्यतनजगत आदर्शः सत्यं स्वरूपञ्चात्र विभ्राजते।

निशायाः शैशवम्। परितः प्रसर्पंस्तमालधूमः, मेघसृष्ट्यै साम्प्रतिकयाजकैरारब्धः। प्रौढशिरसि सितासितकेशानां सङ्गम इव तेजस्तमःसङ्गमः। जनसमूहमुत्पादयन्ती भूर्विविधानि च यानानि। पदपद्यासु मार्गकोणेषु पुष्परथेषु प्रवयस उदरपतितस्तन्योऽपि षोडशीभूता वस्त्रालङ्कारसज्जा वराङ्गना मुक्तकञ्चुका उत्कञ्चुकाश्च जवनिकान्तः प्रतिक्षणं प्रतीक्षन्ते।

आतिथेयवरीभूतानां चरित्रभ्रंशनव्यापारोऽपारः। मनसा (मंसा) समेता मुग्धाः स्वास्थ्येनास्वास्थ्यं क्रेतुं कणेन क्षणरमणं क्षणरमणीं वाधिगन्तुं विकलाः कर्णेषु प्रतिफूत्कुर्वन्ति। शनैः पुष्परथानां जवनिका अपसरन्ति, कश्चन क्षणं परः क्षणद्वयं तिष्ठति, निःसरति, पुष्परथः प्रचलति। क्वचन जात्यादेर्जिज्ञासायां 'घृतापूपभक्षणे सुषिरगणनमकिञ्चित्कर' मिति कथनेन सहाट्टहासः। क्वचन धनायातिनिर्बन्धः (हुज्जतवाजी) क्वचनान्ध्री पुरन्ध्रीः क्वचनाङ्गिनीव रतिः सुरतिप्रीतिर्बाङ्गी, क्वचन विकलोत्कली। अस्मद्विभागीयानां महोत्सवः। वायसविद्यिकास्ते पक्षकोटरमापूर्य गृहं प्रवेक्ष्यन्ति। अस्मिन्ननैतिकाचारे तेषां भागः सर्वाधिकः। तेषामद्य दीपोत्सवः। बहुभिरुपायनैरध्यक्षपत्नीं प्रसाद्यैषोऽवसरस्तैर्लब्धः। विविधजनपदानि विविधराष्ट्राणि युगलानि वर्णभाषावेषव्यवहारवैचित्र्यैर्भुवं मदयन्तो भ्रमन्ति। केचन दुःखिनो दुःखमपनेतुमुल्लासाय लोकपथानामृशन्ति। अहं व्यचारयम्, अहो सत्यं कदाचनैव सुन्दरम्। परमयं कस्य दोषः? अन्धो यदि बधिरमाहन्यात्तदा को नामाभियोज्यः? लोकस्य चरित्रादर्शो लुप्तः। निर्वाणतां गमिते च दीपे न तमस आह्वानम्।"

× × × ×

विशाला मन्मथविनोदशाला। विलासिनां मनोरञ्जनमहागारः। कपर्दस्यान्तरङ्गमित्रं चिकित्सकः प्रार्थिनीनां शतद्वयी च तत्रासन्। प्रार्थिन्यः सौभाग्यरात्रावाकलितकल्मपरिहितपूर्वं रहोधार्यं वासः परिधाय रूपोन्नयनसिद्धाः पत्ये समुपेता वध्व इव, अक्ष्णान्ध्यं पूर्णकोशं मृतपितृकं विभविवालकं वञ्चयितुमभिरामीभूयोपेता वारवध्व इव मधुरवाग्विन्यासा मधुरमोहकमुद्रा आत्मसमर्पणकामा मधुरमोहकाभिनया तृष्णाविपूचिकयाक्रान्ताः प्रबलतारुण्यधारायां प्रवहन्त्यः कुटिलाशयाः कुलटाः शरदि हिमालयाद् यूथशो वरटा इव सौन्दर्येण मुद्रा विनिमातुमुपेयुः। संवाद्यस्य (आरकेष्ट्रा) झङ्कार इव मुक्तहासोऽभितः प्रासरत्। सुरभिताः विकसिताः सुमनसः शाखास्विव मन्मथविलासशालावीथिकासु यूथिका इव रसभराः कामिन्यो घूर्णमाना विवदमाना अभ्रमन् स्वस्ववैशिष्ट्यमनापृष्टा

एव घोषयन्त्यो विवादे परमा वाचालाः परस्परं क्षुभिताः स्वस्ववस्तूनि विक्रेतुं प्रशंसन्तो वणिज इव। तासां परस्परं विव्वोको ललितं हेला किलकिञ्चितं मोट्टायितं कुट्टमितं मस्तिष्कस्य ज्ञानवाहिनीषु विचित्रं स्पन्दनमकाषुः। ताः प्रियसङ्गमाय विकला इव प्रतीयमाना अविवाहिता अपि श्वशुरालयमुपेता सौभाग्यरात्र्यै प्रतीक्षमाणा इवैक्ष्यन्त। चिरप्रतीक्षितः क्षणः प्राप्तः प्रत्यैयत च। तासां हीरकखचितं लोलल्लोलकं कर्णाभरणं घृष्टपिष्टमपि कपोलमभ्राजयत्।

काचनावदत्—"कः प्रवर्त्तको मया सहालप्य मां निर्वर्ण्य भृत्यै न नियुञ्जीत?"

परावदत्—"भृतिर्मम चरणरेणुं स्प्रष्टुं भ्रमति, अहन्तूपेता द्रष्टुम्।"

"त्वया सह कश्चन समेतः किमु?" इति कयाचन स्पृष्टा काचन "युवत्या विशाले भ्राजमाने चञ्चले चक्षुषी विश्वमनुचारिणं कुरुतः, कस्य सह योगिन आवश्यकता?" उदतरत्।

कपर्दागमने विलम्ब आसीत्, अतोहं विनोदशालाया वैशिष्ट्यमिदंयुगीनमाचारमवलोकयितुञ्च प्रवृत्ता।

नियन्त्रितशीततापो विशालो हालः। हसन्ति प्राचीराणि भ्राजमानं कुट्टिमम्। परिमलालिङ्गितस्य शीतवायोर्धीरः प्रसारः। सर्वत्र मादकता। भित्तिषु तिरोहिता विविधरागा विद्युद्दीपाः। कुट्टिमे कलालीनमास्तरणम्। भृष्टानां कुक्कुटशावकानां गन्धः। प्रबलमुद्वेलिता मानिनीमदिरा-मुद्रायास्त्रिवेणी। शरीरं प्रसाध्य प्रदर्शनीमुत्तमां विधातुम्, वेषेण रूपस्य चरममुत्कर्षमभिव्यञ्जयितुं धनस्य सदुपयोगाय समेता जीवनस्यामृतं स्वर्जिक्षारजलमिश्रं फेनिलं मद्यमवमतसुधमम्लमिश्रं यवयूषञ्च परमया निष्ठयाऽऽस्वादमास्वादं पिबन्तो ब्रह्मानन्दसहोदरमानन्दमनुभवन्त इव तमालधूमवलयनेन मेघानिव रचयन्तो भावनावर्त्ते विना श्रमं तरन्तो मानसविहीना मानुषा मानुष्यश्च। हाले क्षणेन सहस्रशो विद्युद्दीपा विविधचक्रेपूदिता स्थिरा विद्युद्रेखा इव दण्डदीपाश्च। झटिति तमस्विनीं धवलयन् चक्षुश्चमत्कुर्वन् प्रकाशो हालमभ्राजयत्। शृङ्गारचित्राणां भङ्गः स्फुटः प्रतीयमानश्चित्रेष्वपि कामं जजागार।

विद्युद्दीपविभासिता उत्कीर्णा दर्पणाश्चक्षूंषि चमदकुर्वन्। उत्कीर्णकले छत्रे पत्ररचितानि पुष्पाणि विविधरागैर्विद्युद्दीपैरवर्ण्यां शोभां प्राकाशयन्। मुकुरनिर्मितेषु सङ्क्रान्तप्राणिप्रतिविम्बेषु नरा नार्य्यश्चासङ्ख्येयाः प्रत्यैयन्त। क्षुराणां चतुर्नखानां दर्वीणां खणत्कारोऽट्टहासः किमपि पिबतां चषत्कारश्च श्रुतिमपूरयत्। काचन विदेशगीतिमगायद् गर्दभस्वरा। दुर्वासनाः सुवासस्सु पूर्णं प्रासरन्।

हालस्य वर्त्तुलपीठानभितो रम्या आसन्द्यः, तासु रम्या रमण्यस्तासां रम्या आकृतयो वेषाः केशाश्च, तेषु रम्यः सुरभिः, तासु पुना रम्यो हासो हावो भाव आकर्षणञ्चेति रम्याणां प्रदर्शनं तत्रासीत्। तासामोष्ठजिह्वामुखनासिकाकपोल-चक्षुर्भ्रूकुटिभालानामाङ्गिकाभिनयोऽनन्तोऽनन्तचक्षुर्भिर्विभाव्यश्चासीत्।

"आसां क्व शिक्षायतनं क्व चाभ्यासः? यौवनेन शिक्षिता उदरेण वा? इयं शाला वा शिक्षिका? अहो दलितमर्द्दिता आत्मरसमवशं परान् पाययित्वाऽव-करप्रक्षेप्यतां गमिता द्राक्षा इवेमा मुग्धाः समोपानहः प्रोच्चपार्ष्णिपादत्राणाः चतुष्फलिन्यः, उपानन्नद्धपादा उन्मुक्तपादाः विविधकरकोशाः शाटीफट्-कारैरुत्तेजयन्त्यो नयनाञ्चलैः प्रभावयन्त्यः पक्ष्मरक्षोभिरुच्छेदयन्त्यः कुल-ललना इव प्रतीयमानाः अङ्गेषु कलङ्कान् दधत्यः कामनाकान्तारस्य रूपकुञ्जे विकसितुं विकला लोककान्ता इमाः किशोर्यः किमु भारतस्य महिलाः?" अहमचिन्तयम्। तासां शरीरोपवने मधुरुवासैव। तासां विकसिताः कपो-लाः कुसुमानां चलदङ्गानि पत्राणां वाचः कलरवाणां चलदञ्चलो मलयानि-लस्योद्वेगो विकासोन्मुखतायाः सुरभिसारगन्धो यौवनमदस्य, हासः प्रसा-दस्य स्तनयुगलमामफलानां प्रातिनिध्यमिवाकुर्वन्। यूनां मर्यादातटं भिन्दन् कुटिलकुन्तलानां कुलटानां मादको गन्धो ह्लादको हावः सादको भावः सर्वत-श्चचार निर्झरप्रवाह इवाक्षिसञ्चारस्तान् क्लिन्नाँश्चकार च। एवं ता अपरि-णता मुकुलिता लता भ्रमरकरैरात्मानं मर्द्दयितुमपेतलज्जाः पुरजनसङ्गमोचित-चारुवेषा वेषेण जीवन्त्योऽवीरा वीरा आचक्रमुर्विनोदस्थलाम्।

अनयैव कलया यूनां यूथं शुनामिव शुनीं समन्तात्ता अभितोऽभ्रमत्। अवचूर्णनमोहिताः कीदृशे गर्त्ते निपतन्तीति ते न विदुः। यदा वेत्स्यन्ति तदा वेदनामेव नान्यत्। हन्त, वासनावासानां दौर्बल्यम्?

अहमचिन्तयं बहुशो यद् युवका दरिद्रा इतो जीर्णवाससां शीर्णत्वचां दरिद्राणामलब्धभृतिका अपि कन्याश्च वस्त्रालङ्कारेण सम्पन्नाः प्रतिदिनं द्विशस्त्रिशो महार्हवेषं परिवर्त्तयन्त्य उत्तमं भोज्यं बहुश आददाना पीना अदीना इव शौल्किकीषु भ्रमन्त्यो विलोक्यन्ते। ते कर्म कुर्वाणा भृतिं प्राप्नुवाना अपि दुरवस्थास्ताश्च न कुर्वाणा अपि सदवस्थाः। को हेतुः ? परमद्य समाधानमलभे। वराकाणां वेतनमेताश्चतुष्पथविहारिण्यः कोशवत्यो भगवत्यः पञ्चषैरेवाहोभिरपहरन्ति। एते वासनान्धाः प्रथमे सप्ताहे सम्राजः द्वितीये मन्त्रिणस्तृतीये कर्मकराश्चतुर्थे भिक्षुकास्ततश्च पाक्षकोटरिकाः।

एका युवतिः प्रसाधनभारेणेवानता—ध्वस्तं सौन्दर्यं प्रसाधनेनावृण्वती प्रतीक्षमाणेवोपविष्टाऽऽसीत्। परं हन्त ! ध्वस्तं यौवनं न प्रसाधनसहस्रेण प्राप्तुं शक्यम्। तस्याः शरीरोपवने वसन्तः सत्यमुवास। परमधुना स कतिभिर्वर्षैरावासमत्यजदिति न सम्यगनुमातुमशक्यत। श्वेताम्बरां तमालवीटिकामलसमलसमाकृष्य किमपि विचारयन्ती, अज्ञातावस्थान एव धूममाकृष्य शनैश्शनैस्त्यजन्ती सा दुःखदग्धकलङ्कितजीवनेन निर्विण्णेव, बाधितेवास्मै कर्मणे प्रतीयमानाऽऽसीत्। तस्या मानसाकाशे उदस्ता मेघा इवाच्छन्ना आसन्।

परमेकस्मिन्नेव क्षणे सा प्रसन्नोत्थाय वेषेण मुक्तहस्तव्ययेन च तातार्जितप्रचुरधनस्यैकमात्रमिव पतिं प्रतीयमानमेकं युवानमवदत्—"किमु भवान् मनोरञ्जनाय साहचर्यमाकाङ्क्षते ?"

जीवने प्रथममहमद्राक्षमश्रौषञ्च। हन्त ! भ्रान्ता नारी स्वस्थानादधो निपत्य क्व जिगमिषति ? क्षणाय सा किमभिलषति ? भारतीयाङ्गना प्रेम्णा मृतं पतिमप्यन्वसरत्, मोहानन्दाधारं देहमप्यदहत्। साधुना साधुनाऽपि पूर्वमभिलष्यमाणपादधूलिर्धूलिसाद्भूता किमु ?

युवा तां क्रेता द्रव्यमिव क्षणं निर्वर्ण्यावदत्—'उपविश'। क्षणं विरम्य पुनः सोऽवदत्—'किमास्वादयितुमिच्छति भवती ? —"पुराणं मद्यम्, मेषस्याण्डम्, भर्जितं मत्स्यञ्चटकारसञ्च" सोदतरत्। युवा प्रतीक्षकं तथैवा-

दिश्य तमालवोटिकया धूममालां वितन्वँस्तरुणीमवदत्—'यथा शरीरं तथा-भिलाषोऽपि भवत्याः परमो मनोरमः"

युवतिः क्षणं लज्जामिव नाटयामास। अवचूर्णनसितं तस्या मुखं लज्जया रागं बभार।

प्रतीक्षक आदिष्टमानैषीत्। तरुणी त्रिभिर्दिनैर्बुभुक्षितेव भक्षयन्ती स-हावमवदत्—"युवतीनां शंसा पुरुषाणां स्वभावः। सर्वे एवमेव कथयन्ति।"

मुखग्रासं निगीर्य किमपि वक्तुमवसरं चिन्तयन्ती मद्यचषकं निपीय पुनरापूर्य किञ्चिदास्वाद्य यूने ददत्यवदत्—"बहिरद्य मेघशीतो वातः, एतादृशे समये मम मनो भित्तिबद्धं स्थातुं नेहते। यौवनं न चिरस्थायि.........
मेघस्य तत्तूपभोज्यम्। श्रावणी घटा श्रावण एव भद्र! भवान् किमु तादृशानन्दाय सस्पृहः? अहमेकाकिनी बहिर्भयमनुभवामि, अनीक्षिताद्यतनलोकाचारा"—निर्लज्जं निःसङ्कोचं ममाश्चर्यं तन्वाना सा जगाद।

तरुणः—अवश्यम्। अहं त्वया सह भविष्यामि। यत्रोन्मुक्ताकाशे त्वामु-पवेश्य शयानश्चक्षुषी पिधायानन्दमनुभवेयम्।

तरुणी—परमेवंविधसौभगाय त्रिंशद् व्ययितव्यानि भवेयुः।

तरुणः—केवलं त्रिंशदेव किम्?

क्षणेन स्थानं रिक्तमासीत्। नरमणी रमणीमणिमनैषीत्, रमणीमणिर्वा नरमणिम्।

× × ×

पौरवधूरिव निपुणकरैः प्रसाधिता जडापि प्रकृतिर्लाघवलेखिकाया अङ्गुलीव चञ्चला सहावं लज्जां नाटयन्तीवाह्वयन्तीव प्रत्यैयत। रमण्यो दोलादोलनलोलपदाः काश्चन मसृणतृणश्यामलायामिलायामासन्द्यासीनाः मणिखचितकर्णपूरकिरणैरुदञ्चितेन्द्रायुधा इव विविधरङ्गान् स्फीतानायोज्य भ्राजमाना मनोजवणिजा सज्जां प्रसाधकवसन्तेन परिष्कृतां यौवनकारुणाऽऽहित-कलां तन्वीं तनूं दोलयन्त्यो नगर्याश्चिरकुमार्य्यः पुष्पात्पुष्पं किञ्चिदाघ्राय स्वच्छन्दं मरालमदहारिण्या गत्या भ्राजमाना भ्रमन्त्यो भ्रमर्य इव सुमनस्सु चातुर्यं रचयन्त्यः, विविधवर्णवासश्शोभिताः पतङ्गिका इव, विनैवाश्रयं स्वैरं

वर्द्धिता लता इवोत्फुल्ला अधुनाप्याश्रयनिरपेक्षाः केवलमालिङ्गितुमुदरदाहं भोगभावनां वा प्रशमयितुं कुचकाठिन्यशल्यं वा व्यपगमयितुं क्षणमाश्रयितुं वोपेता आखेटाय सज्जा मदनोद्यानमशोभयन् ।

परस्य स्त्रियं कृत्तकेशां निविडितकटिं स्तनौ विकाश्याकर्षकं रूपं प्रकटयन्तीमालिङ्ग्य परो निर्भरं ननर्त्त । केचनोत्सङ्गनिलीनजानयः सुखास्यासूपाविशन् । क्वचन स्त्रीदासाः पतयः शिशूनङ्केन वहन्तः वासोभूषणभ्राजमानाः स्त्रीरन्वसरन् । यत्र पतयो मूकाः पत्नीनां जिह्वाश्च वैशिष्ट्येन युवसन्निधौ विद्युद्व्यजनस्य पत्रिका इवानवरोधमनवबोधमचलन् । कलङ्की भ्रमरोऽन्तःप्रियं मुद्रितकमलमुकुलमभितोऽभ्रमद् आसूर्योदयम् ।

एको व्याचष्ट— "विवाहोऽश्रृङ्खलो बन्ध उन्मुक्तप्राचीरा कारा परिवारस्य कठोरमाज्ञावहनम्, परं यूनां नाचार्यो मन्मथातिरिक्तः । प्रेक्ष्यतां नो मुख्यामात्यः । यः प्रतिदिनं शताकारैरालपति, शतेन सङ्गच्छते, शतं प्रीणाति, शतं क्रीडयति । गृहे गां वासयितुमक्षमो विपणेरपि दुग्धं नाददीत किमु ? को भेदश्चन्दनकरीरयोर्दाहे ।"

परा—सत्यम् । गृहकारायां तिष्ठन्तीं वद्धां क्षयामूर्त्तिं भ्रान्तो लोको मिथ्याशंसायै वदेन्नाम गृहिणीम् ? परमिदं कियत्तथ्यमिति सर्वो जानाति । विवाहः सुन्दरीणां बन्धनम् । विवाहिता तिष्ठेत्काचन कुरूपा श्लथस्तनी च । लोकं वशयितुं क्षमा कस्यापि वशे तिष्ठेत्तदा त्वनर्थमेव महत् । अत एवर्षयस्तां वराङ्गनामवदँल्लोकमानसमोदिनीं सर्वदा सुभगाम् ।

परः—अत एवामात्योऽधुनाऽविवाहितमातॄणां परित्यक्तानामधिवयसां स्वस्य स्वसहयोगिनाञ्च प्रेयसीनां कृते महिलामङ्गलमन्दिरं निर्मापयति ।

काश्चन रूपगर्विताः सौन्दर्योन्मत्ता अवमतहंस्या गत्या मुक्ताभेन हासेन च्युतचरित्राणां चमत्कारन्तन्वानाः सम्राज्य इवास्यासूपाविशन् । नेतस्ततस्ताः प्रैक्षन्त, लोकस्ता अपश्यत् । एतत्तासां मूल्यं मानमवर्द्धयज्जनस्यौत्सुक्यञ्च ।

इमाः क्षणसख्यो वेषेण भाषया वा कस्य प्रान्तस्य सन्तीति परिचेतुमशक्या आसन् परं प्रियतमाः ।

हन्त, सद्गृहस्य रत्नं केनात्र प्रक्षिप्तम्, स्वतः समेतम्, शिक्षयोपेतम्, वासनया प्रहितम्, कामेनाकारितम्, उदरेण किमु वा निर्दिष्टम् ?

काचन काञ्चनवर्णा विमुक्ताश्रु कमपि कोकिलवर्णं सघनमिव प्रतीयमानमुपालभमानासीत्—आनन्दो मे व्यपगतः, कज्जलं स्रु तमतितमाम्, यतस्त्वं प्रणयकलहे मां विहायागच्छः। सकृन्मया चिन्तितं यन्न परधनेन कस्यापि गृहं पूर्य्यते। परम्, नैष विचारः स्थायी। एतादृशाः कलहास्तु प्रणयिनां भवन्त्येव मुग्ध, तत्र किं गमनमुचितम् ? विषं जग्ध्वा जीवनं त्यक्तुं त्वत्प्राप्तिपर्यन्तं नीरशना नीराशना निरशना वा स्थातुं व्यचारयम्, परं त्वद्दर्शनोत्कण्ठा त्वदालापेच्छा मां व्यरमयत्। अस्माकं सङ्गस्तु दीपवर्त्त्योरिव सहयोगी, शरीरद्वयेऽपि प्राणास्त्वेक एव। तथापि त्वमव्रजः।

अधुना नवीनाशया मुकुलानि विकसितानि, जीवनेऽपूर्वोऽयमानन्दस्यावसरः। मानसोपवनेऽद्य पुनः पिकः कायति, सुमनःसुरभिः समीरः सरति, अद्य त्वामहं न त्यक्ष्यामि।

अनन्ता निशा अनन्तैश्चन्द्रैः सह समागमिष्यन्ति, पृथिव्यां पुष्पाणि विकसिष्यन्ति, परमहं कथं स्यास्यामि न वेद्मि। धैर्यहीनां मामद्य परिरभस्व, प्रेमप्रश्नानामुत्तराणि मानसपत्रेऽङ्कितानि पठितुं त्वमेव चतुरः। नेदं मम नर्मभाषितम्। शृणु, मे सावशेषं वचः, न पुनरेवं गच्छेः।

परः—न्यायस्यापि विचित्रा गतिः। बाणैरिव तिर्यगपाङ्गैः, विकोशकन्दर्पकृपाणायितैर्नेत्रैः परुषं विद्ध्वा लोकस्य चेतनां जनसमक्षं चोरयन्त्यो मणिमण्डितकबरीभुजङ्गोभिर्दशन्त्यो वाग्जालैर्यन्त्रयन्त्यो भूषणाङ्गारैर्दहन्त्यो वचोभिर्वञ्चयन्त्य इमाश्छद्मनेत्राः कृष्णकेश्यो गौर्य्यो मानसमन्दिरं सौरातपे भङ्क्त्वा यूनां मनांसि हरन्ति। कथं न हरेयुस्तदनायासलब्धम्। आसामुत्पीडनं निर्बाधम्। अनन्तेषु गृहेषु ध्वस्तेष्वप्येता निर्दोषा एव। हन्त लोकघातुकानपि लोको घातुकान्न वदति। कबरीकृपाणिकां भ्रुकुटिधनुष्षु विषाक्तान् कटाक्षविशिखान् चूचुकभल्लमुत्थाप्याधरज्वालां प्रज्वाल्य विमोहनास्त्रं मधुरस्मितं प्रसार्य शस्त्रास्त्रपञ्चकमायोज्य विश्वं जेतुम्, चलता केशपाशेन साधुवादमिवाप्य नयनैरानन्दं प्रसारयन्त्य आकृतौ लज्जां नाटयन्त्यश्च-

क्षुर्भ्यां मादकतां वर्षन्त्यो वसन्तोत्सवसमाः स्मयमाना मानिन्यो वशीकरणं कज्जलमायोज्य विभ्रमवैविध्येन यूनां मनांसि भ्रमयन्ति ।

काचनोदतरत्—माराहतानां शरणन्तु चरणावेव चारुनेत्राणाम् ।

परः—मनोजभावैं रमयन्त्योऽनङ्गसरोवरान्निमज्ज्य सम्भूयव्यापारायोपेताना (सामेक्षाव्यापार) मासां हावा भावा अदृष्टा वारिता अपि मानसं प्रविश्य विशारयन्ति । मुग्धमंदिरे क्षुराभे कज्जलाभे अक्षिणी दलयितजघना गतिश्च लोकमन्वयति । जगतो वैचित्र्ये किं कथनीयम्, जानन्नपि कारां विशति, पतङ्गो ज्वालामिव ।

आसां कटाक्षक्षेपेण वज्रं वंशीयते, कटुर्मधूयते, पाषाणं कुसुमायते, कृपणः कर्णायते मुखनिम्बो मुनिमोऽपि मधुमुखः श्रेष्ठायते, परुषोत्तमः पुरुषोत्तमायते कपर्दी कुबेरायते च ।

शिञ्जया विध्वस्तविवेको लोको बुध्येतापि कथम् ?

काँश्चन पुरतो रमणोत्सुकान् केवलं चुम्बनोद्यताँश्चुम्बनोद्धताँश्च क्षणं कोणकुञ्जेषु स्थित्वा प्रत्यावृत्तान् भृशमाक्रोशन् कृपणक्लीबदरिद्रोपाधिभिर्यथायथं कुमार्य्यः ।

वल्लीलालिते प्रलम्बे सरसि महोच्चो मञ्चः । यस्मात् किशोर्य्यः किशोराश्च कामतापहारिणि वारिणि कामोत्क्षिप्ता इव उच्छलिता न्यपतन् । जलक्लिन्नं वासो देहघटनमाकर्षकमघोषयद् बहुमूल्यञ्च ।

अहं पश्यन्त्येवासम्, प्रतीक्षको मां कपर्दागमनममूचयत् ।

महदाश्चर्यम्, जीवने प्रथमं मया दृष्टम्, यदेका जटाजूटे पलाष्टिककुन्दकुसुमस्रग्धारिणी स्वल्पवसना सीमन्ते विविधरागान् विद्युद्दीपानायोज्य, रूपोन्नयनसाधनानि निष्कार्पण्यं प्रयोज्य समेता । दीपाः प्रतिनिमेषं प्रज्वलन्तोऽवज्वलन्तो रूपोपवनस्य सौन्दर्योपभोगाय लोकमाह्वयन्त इव प्रत्ययन्त ।

एकस्मिन् प्रकोष्ठे चतस्र आस्या आसन् । मध्ये कपर्दः, वामे चिकित्सको दक्षिणेऽहमुपाविशम् । चिकित्सकेन शतद्वयीतः षोडश षोडश्योऽवचिताः शेषाश्चाधिवयसः प्रत्याख्याताः । तास्वेका ग्राहयाऽऽसीत् । अन्तरङ्गो भृत्यः क्रमशस्ताः प्रैषयत् ।

प्रथमाऽऽहूता स्मितं वर्षन्ती नमस्कृत्य रिक्तास्यायामुपाविशत् ।

कपर्दः—किं नाम, का योग्यता ? कियद्वयः ? अपि विवाहिता ?

प्रथमा—नाम प्रियतमा, अष्टमीं कक्षामुत्तीर्णा, लाघवलेखने गतिः सार्द्ध-शतम्, अङ्कने षष्टिः, कुमारी, वयस्तु..........मम भगिन्या चतुर्वर्षावरम् । साऽधुना विंशी । क्वापि कर्म न कृतम् । सर्वतः पूर्वं देवं समेतास्मि ।

कपर्दः—चिकित्सक ! अस्याः स्वास्थ्यं निरीक्षस्व । वरमवरं वाङ्गं जर्ज्जरं सदोषं निर्दोषं वा । सम्यगीक्षस्व । परा का ?

—मम नाम श्यामा, दशमीमुत्तीर्णा षण्मासानामनुभवश्च ।

कपर्दः—तदा भृत्या कथं वियुक्ता ?

द्वितीया—कथम् ? कथमित्यहं वक्तुम्............न.........

कपर्दः—त्वया प्रवर्त्तकस्याज्ञा सम्यङ् न वाहिता भवेत् ।

द्वितीया—तत्र तु कश्चन दोषो नासीत् । मम कार्येण सर्वे तुष्टा आसन् । परम्........ ।

कपर्दः—परं किम् ?

द्वितीया—प्रवर्त्तकस्य भ्राता कार्यद्रष्टाऽऽसीत् काणः परुषोत्तमः । स एकदा मामावासमागन्तुमकथयत् । तस्य दुर्नाम कार्यालये विश्रुतम् । तमहं जुगुप्समानासनाम् । परमहं गता तस्य व्यवहारेण क्षुभिता च । प्रातरेव स मां विमुक्तिपत्रं प्रादात् ।

"तदा त्वया शिक्षा नाधिगता, भ्राष्ट्रमेव भर्जितम् । अत्र भवत्याः स्थानं नहि"—किरातदृष्टिः कपर्दोऽवदत् ।

द्वितीया—परमहमधुना सर्वं करिष्यामि, सर्वेषामाज्ञानुरूपम् ।

कपर्दः-तदा शृणु, मदीयचित्तानुगतञ्च चित्तं सदा मदाज्ञापरिपालनञ्च त्वया विधेयं भविष्यति ।

द्वितीया—स्वीकृतम् ।

सापि स्वास्थ्यनिरीक्षणायाज्ञप्ता । सर्वाः परीक्षितुं महान् समयोऽपेक्षित आसीदतश्चिकित्सकस्यावासं गत्वा स्वास्थ्यप्रमाणपत्रमादायोपतिष्ठेयु-

रितिनिश्चितम्। यत इयता समयेन चिकित्सक एकस्या अपि स्वास्थ्यं न विवृतवान्। सुस्वास्थ्ये परीक्षणायाल्पः कालः, ततो वर्षपञ्चकाय नियोगः।

अन्तरङ्गो भृत्य एकामादायोपेतोऽवदत्। एषा सर्वथा योग्याऽधुनैव विवेच्या।

कपर्दः—किं नाम वयश्च ?

—"चन्द्रिका"। सहावं ग्रीवां वलयन्ती जिह्वयाऽधरमवलिह्यावदत्—"प्रमाणपत्रे ममायुश्चतुर्दश। ऐषमो दशमीमुत्तीर्णास्मि।"

तस्याः कणः कणो नृत्यन्नासीत्। चिकित्सक एकान्तमधुरे स्वास्थ्य-परीक्षणे, कपर्दोऽन्तरङ्गेण सम्मन्त्रणेऽहञ्च तूष्णीमासम्।

कपर्दः किमपि पातुं घण्टिकामस्पृशत्, प्रतीक्षक उपस्थायादेशायोपनतः।

कपर्दः—चन्द्रिके, किं रोचते ?

चन्द्रिका—यद्भवते रोचते मम कश्चन पृथगभिलाषो नहि।

कपर्दो मद्यमार्द्रकनीरं दाडिमरसं भर्जितं किञ्चिच्चादिदेश। कपर्दो दूरालापे लग्नः। प्रतीक्षकानीतं स्वयमास्वादयन् सङ्केतेन चन्द्रिकामत्तुं प्रैरयत्।

अथ सोऽन्तरङ्गाय किमप्यादिश्याजिगमिषत्, परं सद्योवचिता मन्दार-मञ्जरीव स्रग्धरा शिखरिणी वसन्ततिलका उद्ध्वस्तं भावगृहं सज्जयन्ती समा-धानाय समस्येवोपस्थिता चन्द्रिका विनैव प्रयोजनं नासां मुहुः सङ्कोचयन्ती, नभोलीनोत्तरीयमपसार्य कपर्दधनं वीक्षितुमुद्ग्रीवयोरिव कुचयोरुच्छ्रायं प्रदर्शयन्ती, वटनान्युन्मोच्यास्तव्यस्तं योजयित्वा पुनः सम्यग्योजनेन षोडश-वर्षाणामालस्यं विहाय सोद्वेगं लोकं जेतुमुत्कूर्दमानौ कुचौ प्रत्याययन्ती चोलीयोगेन, विशाले चक्षुषी, प्रलम्बे पक्ष्मणी, प्रसार्य साभिप्रायमनिमिषं कदाचन तन्मुखं कदाचन मुखपीठं पश्यन्ती सज्जायां कलायां हावे भावे चातुर्यं बोधयन्ती एवं प्रायैः साभिप्रायैः प्रियैः प्राय·कार्यैः कपर्दस्यान्तरङ्गं तरङ्ग-यन्ती स्मरवेगेन स्पन्दमानमधरम्, स्वच्छां निरङ्कां तनीयसीं तनूञ्च सुघनहस्ते समर्पयन्तीव नितरां मधुरया मुग्धया स्पष्टया बालवाचावोचत्—सर, किमपि नियतमुत्तरितव्यम्।

कपर्दः—अधुनाऽपि कथनस्यावश्यकता किमु ? श्वस्त एव रात्रेर्द्वितीययामत आतृतीयं तव नियोगो बकधवले। परं तव जातिः का ?

—सर, गुप्ताऽस्मि।

—मयापि तथैव चिन्तितम्—कपर्दोऽवदत्।

किंवृत्ताः कद्वदाः कत्त्रयो मरुत्तरं भेजुः, अहञ्च स्वकीयम्। इति।

—"तारे धनपतिं निबन्द्धुं कः प्रबन्धो विहितः ?

कृष्णतारा—तदपि श्रावयामि।

धनपतेर्भार्याणां जीवनाश्वासपणं परीक्षितुमगच्छम्। बहिःस्थूलाक्षरैरङ्कितमभूत्—'व्यवहारनिवर्त्तने विलम्बश्चेद् व्यवस्थापकः सूच्यः। समयः १०-५

अहमन्तरविशम्। पञ्चषास्वास्यामु युवानः प्रत्यैक्षन्त जिज्ञासाकक्षे। एका कमनीयवर्णवेषा सुन्दरी कुचयुगलं गिरीश्वरसानुशिखरस्पर्धि विधाय रूपं प्रसाधयन्त्यवर्त्तत। अहं स्वोद्देश्यायापृच्छम्। साऽधरं शोणिम्ना लिम्पन्ती सेर्ष्यमवदत्—'किमर्थमुपेतासि ?' अहं पुनः सर्वं न्यवेदयम्।

—'हुम्' दर्पणव्यापृतेक्षणा कपोलशोणिमानं संस्कुर्वती तिलके रागत्रयं ददत्यवदत् 'भवादृश्यो द्वित्रा यदि समागच्छेयुर्मस्तिष्कं निरवशेषं भक्षयेयुः"।

तावदेव दूरालापस्य घण्टिका टमकरोत्।

—अले, आदेशः। सुधामवचीरयन्ती साऽवोचत्। आलापकस्यालेर्वाङ् मम कर्णावस्पृशत्। अश्रौषम्—

—नलिनि, क्वाद्य गन्तव्यम् ?

—झनकं झनकं गुञ्जति भृङ्गम्—इत्येव मनोज्ञम्।

—समयः कः ?

—यामिन्या द्वितीयो यामः।

—स्वीकृतम्।

धृतमात्रमेव पुनष्टमकरोत्।

—अहमस्मि श्रीवास्तवः। कः कार्यक्रमोऽद्य नलिनि ?

—यथा देवादेशः।

—मया त्वदर्थमद्येन्द्रपुर्य्यां व्यासङ्गो विहितः प्रथमे यामे।

—आदेशः सर, परं सोऽनुकूलो नास्ति ।

—तदा......

—यथा देवादेशः ।

—तदापराह्णे ?

—परमेष कार्यकालः । पञ्चनदनतः प्राक् भवानहञ्च कथं गन्तुं प्रभवावः ?

—नियम आहन्यतां गुलिकया । तदहं साधयिष्ये, व्यवस्थापकं सूचयिष्ये । शृणु, सोऽपि परमो भावुकः, यथावसरं हस्तसात्कार्यः । आम्, तर्हि निश्चितम् ?

— यथा देवादेशः ।

पुनः सा हर्षविह्वला प्रेमालापनिसर्गपण्डिता कञ्चुतिकायां लग्ना, दर्पणमादाय । क्षणेन घण्टिका पुनष्टमकरोत् ।

—अहं भार्गवोऽस्मि । श्रीवास्तवोऽद्यासूचयद् यत्त्वं कलायाः परमा परीक्षिका शृणु, द्वितोये प्रदर्शने (Second Show) त्वं मया सह भविष्यसि दिव्यालोके ।

परिस्थित्याऽनुमितं यदियं वाणी व्यवस्थापकस्यासीत् ।

—यथादेशः । इति कथयित्वा सा शरीरस्य कणं कणमान्दोलयन्ती भ्रुवं संस्कर्त्तुं प्रवृत्ता । 'घण्टिका पुर्नश्चरं' चकार ।

—अले, नलिन्यवोचत् ।

—अहमस्मि शकसेनः । सा नवनियुक्ता नाद्य समेता किमु ?

—परिपाहि (Pardon) सर, सा तु नवीनैवासीत् सर, अनुभवविहीना सायं मलहोत्रा सह निःसृता मद्यमलं पीत्वा रात्रौ प्रवर्त्तकस्योद्यानशालायामस्वपत् । श्रान्ता साऽधुनापि शय्यामेव भजते । मलहोत्रा प्रातस्तस्यावकाशाय पत्रमर्पितम् । सर्वथा अपरिचिता सभ्याचारस्य सर, हँ हँ हँ (अहसत्) ।

जीवनेऽश्रुतपूर्वमकल्पितमननुमितं वृत्तमाकर्णयन्ती साश्चर्या विह्वलोन्मत्ता चासम्, सा मां भर्त्सयन्त्यसूचयद् "गम्यतामन्तर्वामकोणे" ।

घट्याः प्रलम्बःकरो नववध्वाः कर इव शनैश्शनैश्चलन् दशमं स्पृशन्निवावर्त्तत

सलज्ज इव ह्रस्वश्च स्तब्ध इव कर्त्तव्यमूढ इवासोदुपान्त्ये । परमासन्द्यः प्रायशः शून्या आसन् । अहं पुनरामन्त्र्यैकस्या आस्यायाः समक्षमास्यायामुपाविशम् । सार्द्धैकादशनदनसमये आस्याऽचर्मरायत । अपश्यं यदेको दुर्मुखदुर्बलः कृष्णवामनः पुँल्लिङ्ग आस्यामध्यमालिलिङ्ग । अहं तस्मै स्वप्रयोजनं न्यवेदयम् । चिरं प्रतीक्षितः स मां वीक्ष्य खिन्नः स्विन्नो निःश्वसन् स्खलन्नवदत्—"कीदृगौष्ण्यम् ? रौद्र आतपः, आः कीदृग्घर्मः कीदृग्जनसम्मर्दः राष्ट्रियपरिखिद्ने ? कथं जीवनं धारयितुं पारये ? आः कतिगुणमवशिष्टं प्रवृद्धं कर्म ? कथं कर्त्तुं शक्यते ? आः निश्चितं मरिष्ये" ।

अथ स व्यजनस्य नियामकं (रेगूलेटर) सप्तमाङ्के कृत्वा मुखेन वातमुद्वमन् शनैश्शनैः परिधानस्य वटनान्यस्पृशत्, शनैश्शनैस्तान्यमुञ्चत्, शनैश्शनैर्दक्षिणकरेण कक्षाकेशानामृश्य पुनः पुनराघ्राय निमीलितनयनो ध्यानमग्न इव तर्जनीतः शुष्कसिङ्घाणखण्डान्नासाया निरकासयत्, मध्ये दूषिकां दीपशलाकया पीञ्जषञ्चापहरन्, परमश्चतुरः परमः कुशलः कर्मचारीति लोकान् प्रत्याययन्, ताम्रिकेण पणेन कटिं घृष्ट्वा तत्र सिक्थमयीमुपलेपिकां दद्रुविनाशाय व्यवहरञ्श्रितश्वासो विश्वोद्धारायेव विचारमहोदधौ न्यमज्जत् परिधानस्य वटनान्युन्मोचयन् आस्यायां न्यपप्तच्च । नस्यभ्रष्टेनावघुष्टशिङ्घाणेन करपटेन शरीरं प्रोञ्छ्य नस्यमञ्जूषिकां पक्षकोटरान्निःसार्य, एकतो नासां निपीड्य परेण नासानलेन तीव्रं नस्यमाघ्रयाश्वस्तो घटीं वीक्ष्यावदत्—"अहो द्वादशनदनवेला । अस्मिन्नेव क्षणे समैमि, क्षणं तिष्ठ । तमालधूममाकृष्य पायुकक्षा (पाखाना) मुपेत्यागच्छामि । एष मेऽभ्यासः । इति गदन्नुत्थाय गतः स एकनदनसमये प्रतिनिवृत्तः स्वेदस्नात उद्विग्नश्च । "आः का स्थितिः ? पायुकक्षायां व्यजनमेव न, द्वारनिबद्धाभिराभिः खशपट्टिकाभिः किं स्यात् ? सर्वाणि प्रतिष्ठानानि नियन्त्रितशीततापानि, परं विपुलेऽपि जले तृषितैव पिशाची । अत्याहितम् । अस्मद्भाग्यमनेन निबद्धम् । हन्त म्रिये मन्दभाग्यः । अस्मत्प्रपितामहस्य षष्टिरुपपत्न्यो रक्षिता (रखैल) आसन् वयञ्च परै रक्षिताः । भाग्यं नो विशीर्णम् । एवं प्रलपतस्तस्य दृष्टिर्निपपात भित्तिघट्याम् । स झटित्युत्तिष्ठन् "अहो सार्द्धैकनदनसमयः, उपस्थितोऽ-

पराह्लाशस्य कालः। प्रातश्चायचषकेण द्वित्रान् विष्किटान् (वि, किट गतौ पारस्करादित्वात् सागमः) उदरसात्कृत्वा समेतः। भृत्यानां समये समागमनमावश्यकम् , अधुनोदरे महान् कलकलः"—इति गदन्नपसृतः।

द्विशस्त्रिशः पञ्चशश्च जना परित आस्यासूपाविशन्। कपोलजल्पनाः निश्शुल्कलब्धभोजनेऽभिनवप्रवाहैर्हालं विकम्पयामासुः। सार्द्धत्रिनदनसमये घण्टाघोषेण समं सर्व उपस्थिताः। परं मत्सम्मुखाऽऽस्या रिक्तैवासीत्।

भित्तिघटी त्रिराजघानं तस्य वाक् च मम कर्णम्। "पायुकक्षे व्यजनाभावान्नाधिकमवस्थातुं शक्यतेऽतः पूर्वं कोष्ठशुद्धिरेव नाभूत्। अधुनोष्णचायपानेन द्विदलमुद्गमकुष्ठभक्षणेन मलाशयचापवशान्मलशुद्धिरभूत्। परं देवि, कार्यकालः समाप्तः। त्रिनदनपर्यन्तमेव बहिरङ्गं कर्मानुष्ठीयते। श्वः प्रातः समेतु भवती। कष्टाय सलज्जोऽहम्, परं किं कुर्वे नियमबद्धः। इति।

अहञ्च तस्य नियमानुरागं मनसि प्रशंसन्ती प्रत्याजिगमिषन्ती तस्य योग्यतां परीक्षितुं चतुराणकीमेकां तत्समक्षमुपास्थापयम्। शनैश्शनैः सोऽवोचत्ताम्बूलमर्पयन् 'क्षणमास्यताम् बहोः कालात्प्रतीक्षमाणा वर्त्तसे, अधुनैव कार्यं साधयामि क्षणेन"।

एषा स्थितिस्तेषां यत्र जगतो जीवनं जीविका च समाश्रिते। यत्रत्यो वायुरपि लोकपीडी, तत्रत्यः पञ्चेन्द्रियो विवेकी प्राणी किमु स्यात् ?

✢ ✢ ✢ ✢

अहम्—युवत्या विवाहे को विलम्बः ?

कृष्णतारा—प्रतिशतं नवनवत्याचारेण कार्यं सिद्धम्। शिष्टमपि सेत्स्यति।

अहम्—परमस्मिन्नार्जवमुपयोगि, कुटिलेषु कौशलं श्रयन्तः फलं श्रयन्ति।

कृष्णतारा—तस्य शक्तिं मतिञ्चैक्षिषि।

अहम्—कार्यं कथं पुरः सरति शुश्रूषेऽहमपि।

कृष्णतारा—तर्हि श्रृणु,

"तारे कथमुद्विग्ना त्रस्ता च प्रतीयसे ?" चन्द्रकला मामपृच्छत्।

—"मृत एवानुमितो मत्पतिर्बहोः कालादसूचयित्वा गतः पूर्वेद्युः प्रतिनिवृत्तः कृशः कृष्णो म्लानो रुग्णश्च। प्रातिकूल्ये पवनोऽपि प्रतीपगतिः।

चिकित्सकेन स क्षयी घोषितः। तस्य स्वास्थ्याय धनमावश्यकम्। यद्यपि मासे द्वित्राणि दिनानि न्यूनानि, परमावश्यकतापरवशा सङ्कोचमश्नन्त्यपि भवत्याः स्नेहं विचार्य निवेदयितुमुत्सहे"—अहमुदतरम्।

—"तदा किं त्वं विवाहिता ? एतत्तु त्वया कदापि नोक्तम्"? विस्मयविह्वलोत्कर्णा सुकर्णा मीनसदृशे दृशौ स्फारयन्ती चन्द्रकलाऽवोचत्। "बहुशो भ्रातृभार्या गदितापि नावोचः। अहमचिन्तयं यदनिपिद्धमनुमतं भवति। सता कितवादिव दुरुक्ताद् द्विरुक्ताच्च भेतव्यम्! द्वि (दो) गलो न समाजे सम्मानभाजनम्।"

अहम्—शैशव एवावयोर्विवाहो भूतः। स च दुर्मतिर्यौवने दुर्निवारप्रवाहैः प्रभावितोऽसत्सङ्गेन गृहममुञ्चत् पितरौ श्वशुरौ चासन्नेव नहि। ततः प्रभृति पठन्ती सख्या गृहे वसामि कुमारीव। एषोऽधुनाऽधनो मित्रतिरस्कृतः सङ्गनिर्मुक्तो मामुपेतः। दुःखवार्त्तायै न कस्याप्युत्सहते चेतः इति विचार्य न किञ्चन न्यवेदयम्। अथ चाहमचिन्तयं यद्भवती मत्पतिं भ्रातरमिव मनुते। कले, भाग्यबाणेन वक्षो मे विदीर्णम्। अस्तु, सर्वं ज्ञातमेव, अधुना साहाय्यं चर। अतर्कितोपनतः सोऽधुना सेव्य एव। भारतीयाचारो मामेवं कर्त्तुं प्रेरयति।

चन्द्रकला—भ्रातरं सूचयिष्यामि, धनं प्राप्स्यसि।

इति कथयित्वा गता घटयर्द्धेन प्रतिनिवृत्ता मां धनपतिकक्षे गन्तुमादिशत्।

—"एतद्रहस्यं सम्प्रति समेतमस्मद्विचारकमलवने तुषारपतनमिव। अस्तु, धनन्तु यथेच्छं ग्राह्यम्, परम्, भविष्यज्जीवनाय विचारोऽपि स्थापयितव्यः। कुसुमकोमलं कलेवरं महामरौ सिकतिले भर्जयितुं नोपयुज्यते तारे! वयं तव सर्वविधसाहाय्याय सज्जाः। अहं तवावासाय मामकीनं मनो निष्पणं दातुमुत्सुकः यदीच्छेः, कण्टकमदो निःसारयितुं क्षमः। —स्खलिताक्षरमवोचन्मय्यासक्तदृष्टिरधीयन्मामकान् भावान् धनपतिः।

अहम्—शासने जाग्रति विधौ विद्यमाने कथमेतत्सम्भाव्यते ?

धन०—विधिरल्पबुद्धीनां निर्धनानां वा बन्धनम्। वयं तादृशं विधिं भङ्क्तुं विचक्षणाः। असञ्जातकृपोऽपि नृपोऽस्माकं किं करिष्यति ? सोऽप्य-

स्मत्कृपाभिक्षामपेक्षते क्षितेः शब्दपतिः। मम कोपहुताशे धनाज्यसमिद्धे न्यायमूर्त्तिर्देवशर्माऽपुनःप्रबोधाय निदद्रौ। अगण्यं लावण्यं बलञ्च द्रविणे। विपुलक्लेशपाशनाशकं शौर्यप्रशमभेषजं धनम्। चतुर्मुखे विमुखेऽपि साफल्यमस्माकं चरणसेवि तारे, चिन्तय तारे ! मधुमञ्जरीव कल्पपादपस्य तादृशेन दुर्विनीतेन दुराचारेण सह कथं स्थास्यसि ?

अहम्—दोषाकरोऽपि प्रियश्चन्द्र इव दिव्यशान्तिप्रदः। निर्दोषोऽपि परो रविरिव सन्ताप्येव।

धनपतिः—अवसादनासोदर्यं निर्धनत्वमल्पीयसा विचारेण विहातुं शक्यते तारे, सम्यग्विचारय, मधुरवाचामक्रीतदासं विश्वम्।

अहम्—अहमीदृग्विचारवतो जनान् हेयदृष्ट्या पश्यामि.......

धनपतिः—दुर्वादोऽपि प्रियवदने परमानन्ददः। यद्यपि भवत्या मुखादश्रुतचरः सः। अस्तु, वस्तुनः पक्षद्वयं श्रीमत्याः समक्षम्। स्वर्गो नरको वा स्वीकार्यः। पत्रमुद्रापुञ्जं ददद्धनपतिराह।

अहम्—मनोऽधुना न स्थिरम्, विचार्य सूचयिष्यामि।

धनपतिः—विवेकस्ते विचारमनुगच्छतु। परमवधेयं मध्वपि भुज्यमानमेव स्वदते।

अहं पत्रमुद्रापुञ्जमादाय प्रत्यावर्त्तिषि। कृष्णतारावदत्।

परह्यः सर्वत्र प्रसृतप्रभावं स्वामिनं चटपटानन्दं वीक्षितुं भवानीनगरमगमम्। कस्यापि महाधनस्य बृहद् भवनं तेन स्वायत्तीकृतमासीत् यत्र स्थूलाक्षरैर्लिखितमस्ति "साधनासदनम्"। बहिर्द्वाःस्थौ भगवद्रागेण रञ्जितवाससौ आकृत्या मानवौ प्रकृत्या दानवौ नयनाभ्यां नरमांसविकलौ कराभ्यां सत्त्वं सम्मर्दितुमुत्सुकौ पादाभ्यामर्द्दितसज्जनाविव प्रत्यैयेताम्।

अहं यवन्या वेषमायोज्यावगुण्ठितमुखाऽनमम्। स्वामिदर्शनविकलां मां प्रवेष्टुमादिशताम्। अन्तरेकतः सततजघन्यकृत्याभ्यासवशाद् भीषणीभूताकृतीन् आसन्नशतानि व्यायच्छमानान् मानवान् एकतश्चाप्सरःस्पर्धिरूपा उपदशाः षोडशीश्चापश्यम्। पार्श्वे पाकशालायाः कुक्कुटतित्तिरिच्छागानां पच्यमानमांसस्योग्रं गन्धमजिघ्रम्।

महान् हालोऽवरङ्गजिह्वस्याऽऽस्थानमण्डप इव प्रत्यैयत ।

मध्ये हस्तत्रयोच्छ्रिते काष्ठपीठे त्रिपरिघिः ऐश्वर्यगुणालङ्कृतो विपुलस्थूलाङ्गमर्द्दसोढा वोढा कौशेयकुथावरणपोषस्य, उन्नम्यमानतन्त्रावलीललितो दशजनोपवेश्यो मञ्चपर्यङ्को व्याघ्रचर्माच्छन्नो रिक्त आसीत् । अभितः कौशेयकोशभूषितानि सुरभिसारभावितानि सूपधानानि गेन्दुकाश्च मनांस्याह्लादयन् । सम्मुखे विभिन्नरागा दूरालापमञ्जूषा अभ्राजन्त । अभितः शतशो निरङ्कलोहदण्डाः स्थितिस्थापिकाश्चतुश्शतमूल्या आसन्द्यश्च येषु नगरस्य ख्याता धनपतयः प्रसिद्धा राजनयविदः सिद्धाश्चौराः प्रसभकर्माणः पाक्षकोटरिकाः प्रथिताः सामाजिकाश्च प्रत्यैक्षन्त । प्रातः षड्वादने महाख्यातीनामेष जनसम्मर्दे आश्चर्यकर आसीत् ।

अहमेकस्मिन् कोणे रिक्तामासन्दीं लब्ध्वाऽऽगुल्फं कृष्णवस्त्रावृता तेषामक्षिनिपातान्निर्भयाऽभूवम् ।

क्षणेन मरुत्तरस्य घर्घरस्वनः सर्वानवहितांश्चकार । मरुत्तरात्तमालधूमपर्वतमध्यवर्त्ती स्वामी पञ्चभिः षोडशीभिः सहावातरत् । अद्य स वेषेणामरिकावासीव प्रत्यैयत । तीक्ष्णशृङ्गमादर्शोपमं कृष्णं पादत्राणं श्वेतः पदपटः कोटश्च कृष्णं न्यस्तस्वर्णचक्रं ग्रीवाबन्धनं अजस्रधूमस्राविणो काष्ठनालीयोजिता बृहती तमालवीटिका विलासशाल्युपनेत्रं कारुक्रियायुजः केशास्तं विलासिनं प्रत्याययन् ।

अथ स्वमुभयतो युवत्योः स्कन्धे हस्तं निधाय अक्षिप्तचक्षुर्विजने वने गर्वबर्वरः केशरीव चलन् स्वासनं प्रापत् । सत्वरं मदनचपलेव मेनकाभा बाला उपेत्य पादत्राणं व्यमोचयत् ।

स्वाम्यासनमारुरोह, षोडश्या दत्तं पेयं निपीय लोकाभिमुखो बभूव । सर्वः क्रमशस्तस्य पादत्राणे स्रजो व्यमुञ्चत् सश्रद्धम् ।

एकः स्थूलवामनः सहस्रकपत्रमुद्रौघान् दशोपास्थापयत् । स्वामी क्षणं ताः दशलक्षमुद्रा विचिन्त्य रोषकषायितेक्षणस्तन्तम्यमानः पादाग्रेणाधो निपात्य भृशं कुप्यन्नाक्रोशत्—

"किमेतदनर्थकमुन्मादमौढ्यम् ? जानन्नपि मत्तोऽपहरसि, परलोकादपि स्वांशमानेतुं क्षमोऽस्मि, एतादृशी मम शक्तिः। शृणु मे सावशेषं सावधानं वचः। ऐषमो गोधूमानां कृष्णवाणिज्ये कोटिमितं धनं प्रापः। तत्रास्माकमंश आसीत् पञ्चाशल्लक्षी। त्वञ्च दित्ससि दशैव। एतत्तु अत्यये गतम्। यदि मध्याह्नात् पूर्वं पञ्चाशल्लक्षीं नाप्स्यामि स्वचन्द्रमसं पृष्ठस्थमेव विद्धि। विंशतिवर्षैरस्माभिः सह व्यवहरंस्त्वमेवं चरिष्यसीति नास्माभिश्चिन्तितमासीत्। याहि। पुनरग्रे त्वया सह नास्माकं कोऽपि व्यापारः। चतस्रः कोटीरर्जयित्वापि त्वं दरिद्रचेता एव।"

"देव, दुर्जातपिशुनैर्भ्रमं प्रापितेन भवता सम्यङ् न चिन्तितम्। एवं कदापि नासीत्। एषा दशलक्षी तु मया भवनायार्प्यते संस्कृतसमुन्नयनन्यासात् येन साधनासदनं नियन्त्रितशीततापं कर्तुं शक्येत। अस्माकं धनेच्छा नास्त्येव, भवत्कृपया अनन्तं धनम्। वयन्तु श्रीमन्तं सेवितुमेव वाञ्छामः। मुद्रास्तु तद्व्यापारे सप्ततिलक्षमिता लाभत्वेनाधिगताः ताः सर्वा भवते दातुं प्रागेव निश्चयः कृतः। ताः सन्ति मरुत्तरे। अथ देवाय एकां नयपालसुन्दरीमानीतवानस्मि। सा बहोः कालाद् देवे स्पृहावत्यभूत्। भीतभीतो दशलक्षी एवं गदन्नासीत् परस्तस्य सहायकः पिठरे सप्ततिलक्षमुद्रा वरारोहाञ्चानयत्। प्रणमन्तीं वरारोहां चरणेनामृश्य मुद्राभिः समं तामुपरि नेतुमसङ्केतयत्। तं जनञ्च पुनर्दर्शनाय। अथापरो लज्जित इवाभितः पश्यन् स्वामिनमगदत्। स्वामिन्! भवतां छत्रच्छायायामपि दुःखं विन्दामहे। षोडशी विवाहयोग्या कन्या विद्यालयादावर्त्तमाना गुण्डैरपहृता। अस्मद्वंशे परमोयं लज्जाविषयः। कथं तां प्राप्स्यामि कथं वा परिणाययिष्यामि ? दुःखाम्बुधौ निमग्नोऽस्मि।

स्वामी—मा चिन्तय, सर्वं भविष्यति, कन्याऽद्य रात्रौ अत्रैव लभ्या। येन च विवाहेच्छा सोऽपि सूच्यो यं वयं सूचयिष्यामः। दशसहस्रव्ययः। अथ च नाद्यत्वेऽयं प्रसङ्गो लज्जास्पदम्।

स पक्षकोटरान्निःसार्य दशसहस्रीं दत्तवान्। परा युवतिः कन्यापितुर्नाम आवासं चिह्नानि च लिखन्त्यवर्त्तत। ततः परो द्विसहस्रमुद्रा अर्पयन्नाह "गृहं क्रीतं परं वर्षेभ्यो निवसन्तो जना न निस्सरन्ति। तदर्थं स्वामिपादावेव शरणम्।

स्वामी—कति परिवारा निवसन्ति ।

—"दशोत्तरं शतम्"

स्वामी—तदा दशसहस्रं देयं भविष्यति, अद्यैव रिक्तं कारयिष्यते ।

"अधुनैव ददामि" प्रसेवान् निःसार्याध्र्यसहस्रमुद्राः पुनर्ददौ ।

स्वामी—निश्चितं शेष्व, प्रातरेव निर्जनं गृहं प्रविश । याहि ।

स्वामी—विजय ! राजीवलोचना कथं नोपेता ?

विजयः—तदर्थमेषा विद्यालयाध्यापिका वक्ष्यति ।

स्वामी—कति कन्यास्तव विद्यालये पठन्ति ?

—"सप्तशती"

स्वामी—"अस्मत्साधनायां कति समेताः ?

"केवलं सप्त"

स्वामी—"त्वं तदा किमर्थं प्रतिमासं सप्तशतीं लभसे ?

"तदर्थन्तु सेवायै सज्जैवास्मि ।"

स्वामी—"शृणु, नयैता लक्षमुद्राः परं कर्म स्यादाज्ञानुसारम्, राजीवलोचना अद्य साधनासदने भवेत्त्वं वा यमसदने । ततश्च प्रतिदिनं क्रमशः । याहि ।

स्वामी—मनोवीर ! धनेशस्य पुत्रः समानीतो न वा ?

—"आनीतो गृहे निवेशितश्च, तत्पिता पुनरधुना विकलो जनसेवा-विभागमभितो भ्रमति ।

स्वामी—कोटिमितमर्जितं रजतात् । विंशतिवर्षैः शासनाद् गोधूमान् क्रीणाति विक्रीणीते च चतुर्गुणमूल्येन प्रत्यहमयुतमर्जयते । कदापि काणा वराट्यपि नानेन दत्ता। अधुना भाग्याद् हस्तसाद् भूतः । दशलक्षीं दास्यति चरणपतितः । मल्जातः (हरामजादा)

स्वामी—"राजेश सिता कियत्यधिगता ?"

निष्टनशतम् (ष्टनशब्दे, पचाद्यच्=टन) तच्च तूष्णीं कान्दविकेभ्यो विक्रीतम् । त्रिशत्सहस्रमुद्रालाभः "पत्रमुद्रा, ददद्राजेश उदतरत् । परमयं नवीनो वितारकः प्रतिदिनं निष्टनशतं दातुं बाधामातनोति ।

स्वामी—तमहमद्यैव बोधयिष्यामि । श्यालश्चरणरेणुं मूर्ध्ना वहन् दास्यति

वार्त्तायामेव कुम्भाक्षोऽसूचयद् यद् गृहमन्त्री श्रीमन्तं द्रष्टुं समैति ।

आनीयतामित्युक्ते गृहमन्त्री अस्मद्विभागाध्यक्षेण सह समेत्य तस्य पादत्राणे गन्धवतीं स्रजं समर्प्य नतेन मूर्ध्ना स्वामिन आसनं त्रिः संस्पृश्य द्विजनोपवेश्ये कोचे उपाविशत् । अहमाश्चर्यचकिता चक्षुषोरविश्वसत्य वालोकयम् । स्वामिनो व्यवहारे कापि नवीनता नासीत् । यथा तौ प्रत्यहं द्विशस्त्रिश आगमशीलौ । ते किमप्युपकर्णमालप्योत्तस्थुः । परे स्वामिनाऽऽलापेच्छया तस्य सामीप्यं भेजुः । परं स सर्वान् मध्याह्नोत्तरमागन्तुमादिश्य सभास्थानं जहौ ।

अहं गन्तुं सज्जैवासमेका युवतिर्मां स्वामिनमेकान्ते द्रष्टुं निनाय ।

स्वामिन आवासः पञ्चाशद्धस्तानाहः विंशतिहस्तपरिणाहो द्वाविंशतिहस्तोच्छ्रायस्तव पितुर्महाराजस्य शयनागारादपि रम्यतर आसीत् । आयसैः कवाटैश्चतुर्विधैः सोपानैः सज्जः स कस्यापि स्फुटदोषस्य जन्तोरावासः स्फुटं प्रत्यैयत ।

अहमेकाकिनी प्रवेशायाज्ञप्ता प्रविश्य स्वामिनं नत्वाऽतिष्ठम् । एकतः शतसहस्राणां पत्रमुद्राणां कबन्धोच्चः कूटः, परत्र स्वर्णमुद्राणां गोणी, अन्यतश्च विविधरूपाणां नवानवानां स्वर्णालङ्काराणां खारी । महाधिकोशवदामासमानं भवनं मम चक्षुश्चमदकृत । भित्तिषु भ्राजमानान्यस्त्राणि लम्बमानानि हिंस्रचर्माणि मां स्वामिन इतिहासमावेदयन् ।

न्यवेदयं यदहं यवनबालविधवास्मि, अज्ञातसंसाराचारा अलुप्तशैशवविचारा अप्रजाः । लक्षाधिके धने गृहे उपवने विपणौ व्यापारे सत्यपि दायादैः परं पीडिता सुखं न विन्दामि । अतो भवतः पादौ श्रये ।

—"तवाकृतिमवीक्ष्य नाहं किमपि गदिष्यामि" भिन्दिपालेन क्रीडन् स्वाम्यवोचत् । "स्वामिनः का लज्जा ?"

अहमवगुण्ठनमपासारयम् । स्वामी भूषितवदनां मामुन्मत्त इव विस्मृतसंसार इवाक्षिस्फारं पाषाणायितोत्तानितनयनो व्यलोकयदवदच्च—

मा भैषीः । अहं सर्वं साधयिष्ये । बह्वोः कालादहं आसनस्य वामं भागं

पूरयितुं कामपि सम्राजों विधातुं लोकममार्गयम्, परं देवोऽद्य तुष्टः। अस्तु अधुना लोकं शासती चक्रवर्त्तिन आनन्दमनुभव।

अहम्—विजयतां देवः। परमानुकम्पा पामरे। केन शब्देन केन कर्मणा देवस्यानृण्यं भजिष्ये। देवस्याऽऽज्ञां शिरसा वहन्ती यथारुचि सम्पादयिष्ये। परं शासनसम्बन्धीनि गृहादेः पत्राणि यथाशीघ्रं हस्तसात्कृत्वाऽऽगमिष्यामि स्थास्यामि चामरणं चरणयोरधुना यान्तीमनुजानीहि, परं प्रतिजानीहि न कदाचन वञ्चिता स्यामिति।

—सर्वं तवेच्छानुसारं भविष्यति। मधुमधुरे मुग्धे! सौभाग्यप्रसूस्ते विचारः स्तात्। नेयं परिहासवाक्। चटपटानन्द उदतरत्। इति।

प्रभे, सोऽयमत्याचाराचार्यश्चटपटानन्दो महर्षिवत् पूज्यते, सभास्वध्यक्षासनं राजभोज उपासनं लोकक्षेमकार्येष्वग्र्यं पदं राज्ञः प्रधानामात्यस्य वाऽऽगमने पदवीं पत्रञ्च भ्रष्टाचारनिरोधायाध्यक्षतां च लभते केवलं स्त्रीयष्टिबलः। कथं राष्ट्रस्योद्धारो भविष्यति? यत्रोद्धारका एवं दुर्बलास्तदा तदधीनानां तु बलमेव कियत्?

लोकः कथयति यत् सर्वस्माद् गर्हितं वस्तु मलम्। परं जानासि भद्रे तन्मलमहोरात्रात् पूर्वं लोकस्य मनांस्याकर्षयत् सौरभेण नासां मनश्चाप्याययत् लालां स्रावयत् मिष्टान्नपदेन बोध्यमानमासीत्, परं पुंस एकदिनसंसर्गाल्लोके गर्ह्यतमं मलं पदं प्राप। विचारय पुमानुत मलं वा गर्ह्यम्। विकटा विडम्बना? कृष्णतारा मामसूचयत्।

देवस्य पर्यङ्कोपभोगसमयः। देवः शय्यानन्दं भजतु

पञ्चममाह्निकम्।

सूर्यप्रभा
किं वा
वैभवपिशाचः
षष्ठमाह्निकम्

पथि निपतितां शून्ये दृष्ट्वा निरावरणाननां
नवदधिघटीं गर्वोन्नद्धः समुद्धतकन्धरः ।
निजसमुचितास्तास्ताश्चेष्टा विकारशताकुलो
यदि न कुरुते काणः काकः कदा नु करिष्यति ।। भल्लटस्य ।

असरलमरसं कठिनं दुर्ग्रहमस्निग्धमाश्रिता खदिरम्
यदुपैति वाच्यपदवीं मालतिका तत्किमाश्चर्यम् ।।

—दामोदरगुप्तस्य

माकन्दराजपरिरम्भणलालितापि मल्लीवधूर्मधुपरागवती बभूव ।।
वीक्ष्यापि तत्कुटिलतां न जहाति चूतः प्रायः कुजातिनिवहेषु कुतोऽभिमानः।।
केनात्र कर्कशकरीरवनान्तराले बाले, वलाद्बकुलकन्दलि, रोपितासि ।
यत्राप्नुयुर्मधुलिहस्तव कोमलानि नो कुड्मलानि न दलानि न कन्दलानि।।

शम्भुकवेः ।

पुष्पोत्करेषु च फलेषु च सावलेपस्त्वं कन्दलेषु च दलेषु च सावहेलः ।
किं मुग्ध दग्धमकरोः सुरभेरगारमङ्गारकार, सहकारमकारणेन ।।

शम्भुकवेः ।

रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या ।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनाङ्गनाङ्गसङ्गम् ।।

—वराहमिहिरस्य

प्रतिबन्धके दिनेऽवसिते चन्द्रवियोगेन प्राप्तवैधव्यां गुहालीनं तमस्तमस्विनीमाजुहाव । पूर्वं प्रेम्णा भुक्ता अधुना त्यक्ता अमानवीयं जीवनं यापयितुं बाधिता निश्शब्दं क्रन्दन्त्य उद्विग्नाः कपर्दस्त्रियस्तस्मै प्रतिदिनमुग्रतरमद्रुह्यन्।

प्रतिदिनं कोऽपि नवीनोऽत्याचारस्ताः प्राबोधयन्। तासामकथ्यव्यथानां कथानां कश्चन श्रोता नासीत्, यतः सर्वासां सर्वाधिकारः कपर्दपक्षकोटरे सुरक्षितः। ताश्च वृत्तं श्रावयितुं हृदयोद्गारमुद्गरितुं विकलाः। सप्ताहाय कपर्दो बहिरगच्छदित्येषोवसरऽत्युत्तम आसीत्।

अहं प्रथमं मिलितां प्रथमामभिधास्ये, एवं क्रमशः।

तस्या एकमेव लक्ष्यमासीत् वृत्तोद्गरणम्। सा मां जलायाल्पाहारायोपवेशायापि नापृच्छत्, श्रान्ता स्वयमुपाविशम्। सावदत्—

"एष प्रासादो वर्द्धनराजस्यासीत्, परं सर्वेषां दशा न सर्वदा समाना। वर्द्धनराजोऽपव्ययेनास्याधमर्णोऽभूत्, एतदेवैष ऐच्छत्। पञ्चलक्षमुद्राः सोऽस्मादगृह्णात्, दशलक्षमुद्राणामृणपत्रमलिखच्च महता कुसीदेन सह। एष प्रासादश्चाधी (गिरवी) कृतः। प्रतिमासं व्याजस्योपरि व्याजः खातपत्रेष्वैधिष्ट। मदमत्तो वर्द्धनराजः, सतर्कश्चायं सभ्यो दस्युराजः। वत्सरैरेव भूते धनराशौ कपर्दः प्रत्यादानाग्रहं (तकादा) प्रारभत यदस्माकं व्यापारे महत्यावश्यकता धनस्य, एकमुष्ट्या (एकमुस्त) सर्वं देयम्।" इति।

अगत्या वर्द्धनराजः प्रासादं विक्रेतुं ससज्ज। घटकाः प्रेरिताः। कपर्दस्तानाहूय सत्कृत्यावदत्—वर्द्धनराजस्य विष्टि (वेगार) निर्मितः प्रासादो विना मूल्यं ग्राह्यः। भवद्भ्योहं प्रतिजनं सहस्रं दास्यामि, शतमधुना गृह्णीत।

चञ्चता श्वेतेन पीतेन वा धातुना पत्रमुद्राभिर्वा लोकस्य मानसं जितम्। घटका इतस्ततो दिनं यापयित्वा सायं वर्द्धनराजमसूचयन् यदियन्तं महान्तं प्रासादं क्रेतुं न कोऽपि सज्जः, कथयति यदस्य परिष्करणे रक्षणे सम्भालन एव महान् व्ययः। केचनेच्छुका अपि द्वित्रलक्षं दातुमिच्छन्ति, इति।

वर्द्धनराजः प्रतिदिनमेवं शृण्वन्नुदविजत।

ऋणजर्ज्जरस्य वर्द्धनराजस्य कार्मिक (कामदार) उत्कोचप्रिय आसीत् कपर्दस्य सवर्णः सधर्मा च। उत्कोचधनेन पञ्चाशल्लक्षमुद्राः स समग्रहीत्। कपर्दस्तेन सुगुप्तं दशसहस्रमुद्रया सन्धाय न्यायालयद्वाराऽऽघ्राहरिकीं सूचनां प्रैषयत्। कार्मिकोऽपि तदनु कपर्दानुरूपं मन्त्रयामास।

वर्द्धनराजः कपर्दमाहूयावदत् "सामस्त्येन (सांवठा) ऋणं शोधयितुम-

क्षमोऽहम्, पदकविशुद्धया (थोडा थोडा करके) ऋणमपनीयताम्, अथवा त्वयैव गृह्यतामेष प्रासादः, इति ।

—क्षम्यतामन्नदातः! अहं वराको लावणिकस्तैलिको (लूणतैलबेचनेवाला) व्यापारी किं भवतां प्रासादं वस्तुमर्हामि ? पुनश्च व्यापारविनियोज्यादधिकं धनमेव कुतः। परिस्थित्या भवन्तं सेवितवानस्मि, अधुना तु परं विपन्नः। अतो नाहं क्षमः, क्षम्यताम्, परधनासिदक्षोऽवदत्कपर्दः ।

पञ्चलक्षेण प्रासादो गृह्यतां व्याजेनेमेऽलङ्काराश्च—व्यवहारानभिज्ञोऽश्रमं प्राप्तघनो वर्द्धनराज उदतरत् ।

कपर्दः—(विहसन्) क्षमस्व देव, विपत्तावपि देवादेशमुल्लङ्घयितुं नास्ति दासस्य शक्तिः, परं पञ्चलक्षमुद्राभिः क्रयणे त्वायकरीया एव मां भक्षयिष्यन्ति, भवतश्चापि स एव दोषः। स्यान्नाम देवादेशेन पञ्चलक्षमुद्रा मूल्यम्, परं विक्रयो दर्शयितव्य एकलक्षमुद्राभिरेव ।

वृत्तमुभयतः स्वीकृतम्। विक्रयो भूतः। प्रासादे प्रसाधनसम्भारो राजार्ह आसीत्, यः पञ्चलक्षमुद्राभिः कस्मैचन राजस्थानीयाय राज्ञे विक्रीतः। स राजाप्याकाशाप्तघन आसीत् महर्घं सम्भारं समर्धं लब्ध्वा परं प्रासीदत् पुत्रविवाहे भूषणनिर्माणाय कपर्दमादिशच्च। एष कुसीदोपनतानलङ्कारान् परिष्कृत्य त्रयोदशलक्षमुद्राभिर्विक्रीतवान्। एवमेष वैतसीं वृत्तिमाश्रित्य प्रासादमष्टादशलक्षमुद्राश्चाप्यगच्छत्। प्रासादोधुना पञ्चाशल्लक्षमूल्यः। सर्वेषु कोणेषु विलासपोषकाः सज्जसावना रात्रिविहारा वर्द्धनराजस्याभिसारकक्षास्त्रिविवसोपानाः, येषु बहवोऽन्याया अत्याचारा एकेनैव परिचिता अचर्यन्त कपर्देन सेव्यन्ते। कपर्दस्य चक्षुषी ह्रस्वे स्यातां नाम परं तस्य दृष्टिः सपादा। बाह्याभ्यन्तरेण नवीकृता विविधरागैर्भ्राजिता नवपरिणीतस्य प्रसादाय भूषणसज्जा वधूरिव हर्म्यावली राजते। इति"

सा विपुलवृत्तोद्गरणे व्यग्राऽऽसीदहञ्च विपुलानां वृत्तं श्रोतुम्। अतोऽहं "पश्चाद्भवतीं द्रक्ष्यामि, अधुना यामी" त्युक्त्वा उत्तरमप्रतीक्ष्य पुरोऽचलम्।

एका जरती दासी सहासीत्। सा मां द्वितीयं कक्षं बोधयन्त्यवदत्—भार्या एवैताः कथयितव्याः परं कयापि समं तस्य विवाहो नाभूत्। तस्य विवाहिता

स्त्री अविद्या छलादनीत्यविनयाविव कन्यां सुतञ्च प्रसूय रौरवाभिमुखी बभूव। एष तदा पञ्चविंशे वयसि वन्धुवयस्यैरागृहीत आकृत्या नीरसोऽन्तर्बाह्यरूपेण घनश्यामो धनानन्दमुपभोक्तुं समाजसेवाव्रताभिलाषमेव कर्त्तव्यमबोधयत्। एताश्च विविधकार्यालयेषु साभिप्रायं सचिवत्वेन नियुक्ताः काञ्चनानीताः काञ्चनोपहृता कपर्दकलया दूषिता भ्रंशिता देवाय समर्पणं विनैव निर्माल्यतामुपगताः सुमनस इव, समाजभीताः, कमपि प्रभावयितुं कपर्देन रुद्धा वाऽन्नाभिसारकक्षासु निवसन्ति। क्वचन कदाचन कथञ्चनासां सङ्घर्षः करुणं क्रन्दनं द्यावापृथिव्यौ कम्पयित्वापि दुर्लङ्घ्यप्रासादप्राकाराद् बहिर्निरेतुं न शक्नोति। जलस्य पूरो विशालशिलाघातं प्राप्येवासामश्रुप्रवाहः प्रासादप्राचीरमाप्य प्रतिनिवर्त्तते। द्वारे द्विनालीशालिनां पर्यवेक्षणं निषिद्धञ्चासां निःसरणम्।

भद्रे, अस्य माता वन्ध्याऽऽसीन्निःसन्ताना। वस्तुतस्तु सा वन्ध्या नासीत्, परमस्य पितुः शुक्रे जीवाणवो नासन्। सन्देहाकृष्टा सा चातुर्येण परीक्षयामास। यतः परिणीताया धर्मो वार्षिकी प्रसूतिः, सा तत्र नाभूत्। मां विना तां विना नादः कश्चनाज्ञासीत्। त्वामेवाहं कथयामि। अधुनाहं वृद्धा, जीवने कदाचन कथनायावसरो भवेन्न वा? अकथ्यमानञ्च वृत्तं पुनर्भवस्य कारणं वदन्ति वेदितारः।

एको युवा मणिहारो हसन् वस्तूनि विक्रेतुमस्या गृहे बहुशा आगच्छत्। समयेऽपसमये रक्तचूषिका जलौकस इव सा घनवासोऽशनपानैः प्रसादयन्ती तमाजुहाव। परिवारस्तस्य गतागतं स्पष्टं विदन्नपि, कर्मकरैरुत्पादितायां सम्पदीव, एतदुत्पादनेऽप्यधिकारस्त्वस्मदीय एवेति विचिन्त्योपैक्षत। एतादृक् चिन्तनमेतादृशानां सार्वकालिकम्। भगवतो लीला विचित्रा। साऽमावस्यासन्ध्या घनान्धकारमिवैनम्, त्रीनपरान्सुतांश्च प्रासूतैकां सुताञ्च। पञ्चस्वेव वर्षेषु भगवतो विधानं परिवर्त्तितम्। सर्वेषामाकृतिर्हंसन्मुखसमाऽऽसीत्।

—"एतत्कथम्?" आश्चर्यचकिताहमपृच्छम्।

—त्वं नवीना, महन्मन्यानामेष आचारः। अस्तु, एकदा तया तस्य ताम्बूले विषं दत्तम्। स गृहं गत्वा मृतः। इतिहासः समाप्तः। ततः परमेव

सा राक्षसीसमा विकृता कृष्णा भीषणा चाभूत् । जाने नहि किमप्यभक्षयत् पापाद्वाऽभवत् । परतश्च तस्याः शरीरं विशीर्णम् । लोकवादैर्भ्रमैः सन्देहैर्व्याप्तो लोक एनमपाङ्क्तेयमघोषयत् । परं यदास्य मुख्यामात्यधैर्येलोपि धनमुपेतम्, तेन नृगाम्बरीषोपमं यशः क्रीतम्, मधुराहारी लोकश्च तोषितस्तदा पङ्क्तिश्छिन्ना । अधुना त्वयं परमः पाङ्क्तेयः । रथ्यासु राजपथेषु चत्वरेषु देवमन्दिरेषु वाणिज्यारेषु कूपेषु तडागेषु निन्दतां प्रवदतां मुखं मूकम् । एष च कारणात् कार्यमिव स्वपितुर्न बिभिदे । सत्यमेव पैतृकं पुमांसोऽनुहरन्ते । अद्याहमीदृश्यस्मि भद्रे, अदः शरीरं वसन्तेन ग्रीष्मेण शरदा च बहुशोऽपकृत्य विकृतम् । परमेकदाऽहमप्यासम् । अस्य पिताऽयञ्च मया निकटेन दृष्टौ । परमधुना वयस आकर्षणं वयसा नष्टम् ।

द्वितीयस्याः कक्षः सम्प्राप्तः । विनैव सूत्रं सर्वाभिर्ममागमनं ज्ञातमासीदितीव प्रत्यैयत । सा मां दूराद्वीक्ष्य बहिरागत्य मम हस्तं हस्तेनामृश्य मञ्चे समुपवेश्य ताम्बूलवीटिकां विरचय्य ददत्यवदत्—

"धरायां धूमस्य मेघा एवातताः, यैः श्वासावरोध इवानुभूयते । परं श्वासा निर्गच्छन्ति नहि, अपुनरागमाय । कपर्दस्य कस्मिन्नपि कार्यालये सहायकपदे नियोजितां त्वां मन्ये। एकदाऽहमप्येवमासम् । परमधुना भगिनि, किं ब्रवीमि.... .... ।

तारे, शासनाननुमोदितायामस्य मद्यशालायामेकः स्वामिभक्तो पैतृकदारिद्र्यद्रविणो भृत्यः स्वजीवनं सन्देहसिन्धौ निपात्य प्रतिमासमस्मै द्विलक्षमुद्रा अदात् । वस्तुतोऽभितः सञ्चितजलो जलाशयो धनी । आकाङ्क्षया भावनया रहिता जडा निश्चेष्टाः प्रस्तरस्तूपा इव बहव एनं सेवन्ते ।

तस्य वेतनमासीत् पञ्चाशन्मुद्राः प्रतिमासम् । स परमः सच्चरित्र आसीत् । परं दरिद्रे शीलस्य चरित्रस्य च किं मूल्यम् ? अन्धबधिरस्य जगतो दृष्टिसृष्टौ न कोऽपि तस्मिन् विश्वसिति ।

त्वां निरूपयामि, परमवधेहि, कदापि कस्मा अपि रहस्यमेतन्न प्रकाश्यं भवेत् । अधुनातने पुरुषबहुले दुष्काले छलमये स्वार्थपूर्णे समाजे च को नु खलु स्त्रीणां गृहगुहासु जीवनं यापयन्तीनां दुःखानि वचांसि वा श्रोतुं प्राप्तावसरः ?

पुरुषाः पुरुषाणामेव पक्षं पोषयन्तः पुनरधिकं पीडयितुं विकला भविष्यन्ति वराकीर्नारीः। अस्तु, समर्घतायाः समय आसीत्, स वराको दशमुद्राभिर्जीवन-व्ययं विशोध्य परिवारं पोषयितुं शिष्टा मुद्राः गृहं प्रैषयत्। स एकदा कपर्दम-वदत्—श्रीमन्, सद्यःपरिणीता पत्नीहागन्तुमभिलषति........। —"आनय चतुरा चेद्धर्म्ये कार्यं करिष्यति" कपर्द उदतरत्। स आनैषीत्। दासस्य स्त्री ग्राम्यापि नागरभावमजानत्यपि पार्वती निर्झरिणीवादम्योद्वेगाऽसह्यहासा-ऽज्ञातयौवना विजनेऽनाघ्राताऽनिरूपिता मल्लीवल्लीव लीलातरला परमा सुन्दर्यासीत्। तस्या वपुःस्पर्शेन कौशेयं वासः सम्मान्यते स्म। जीवने प्राणद-वायुसेवनेन रक्तं च्यावयन्तीव स्वस्था मुग्धोन्मदमदनोद्वेलिता ज्योत्स्ना-जयिस्मिता, तनीयसी विकसिता मालतीलतेव चैत्री परप्रियोन्मुखं कपर्दं विस्मितं चकार। तस्याः सविषं स्मितं चक्षुषोरेव नहि सर्वस्यां तनौ चचार। स तस्या वर्त्तुलोन्नतौ स्तनौ, रत्नप्रभे साञ्जने खञ्जनाभे चक्षुषी, मन्द्रमधुरं नूपुरझङ्कारं प्रत्याकृष्टः।

उपवनरोपितैरालवाललालितैः क्षुपैर्न्यूनापि बहिरङ्गेण, सौरभेण मद-यन्ती वन्या मालती धरित्र्या निर्बाधप्राणदसमीरणस्पन्दितेन नैसर्गिक-सौन्दर्येण सर्वानतिशेते। रससिद्धकवीनां कलेव रसस्याजस्रं स्रोतः सारयन्ती सौन्दर्यसरसी मृदुलमारुतचलितं कमलमिव नयनं दिशि दिशि क्षिपन्ती, जीमूतखण्डे विद्युत्कणमिव प्रसरच्चिकुरराशेरधस्तात् कपोलस्थले वज्राभकाचखण्डमण्डितं कर्णकुसुमं भ्राजयन्ती, घोषस्य पल्ल्यां प्रसूतापि चैत्री राधेव कृष्णस्य दयादवस्य मानसमाचकर्ष।

झञ्झावातप्रताडिता दीपिका (चिमनी) कियत्कालं तिष्ठेत्सुरक्षिता? सौरे प्रकाशे सर्वस्य समक्षमप्रतिरोधं निश्शङ्कं साधिकारं घनं प्रतिष्ठां शीलञ्चासौ लुण्ठत्येषोऽस्य दैनिको व्यापारः।

दासः कपर्दस्याधमर्ण आसीत्। ऋणं हि दारुणो रोगः। दास्यै निजावासे कोष्ठं दत्तम्, वेतनं पञ्चाशद् भोज्यं वासः शय्याप्रसाधनं कर्म च। दासस्य वेतनं जातं द्विशतं मद्यशालायां निशावसरश्च।

कुटिलकलो वासनालुब्धं वराकमविलम्बं पातयति। प्राभातिकपवन-

ल्हरीव पवित्रा चराचरचिन्त्यमानचारुचरित्रा चैत्री कलुषितकनीनिकयाऽऽक्रान्ता, उदितवासना कपर्दकलाकारायां कृष्टा।

कामः किल प्राणिनां सर्वाधिकं मित्रम्, सर्वाधिकः शत्रुः, सर्वाधिक उत्साहः, सर्वाधिका शक्तिः, सर्वाधिका च दुर्बलता।

अत्र मृदो मूल्यम्, हीरकस्य नहि। फलादधिकं फलत्वचि प्रधानमाकर्षणम्। मानवस्य विकृतवृत्त्या नार्या वरं रूपं शापीभूतम्। अद्यतनः पुमान्,—पुमानेव स कथयितव्यः, यत आकृत्या स पुमानेव प्रतीयते, यद्यपि तस्मिन् पुंसो गुणा न सन्ति—नार्याः स्नेहं सौहार्दं कारुण्यं शीलं वचो वात्सल्यं वक्षोदुग्धं कुक्षेर्निवासं विस्मृत्य केवलं कामिनीत्वं सुन्दरीत्वं प्रेक्षते चर्माकृष्टश्चर्महार इव।

हर्म्ये पुष्करिण्यां कूले पुलिने मञ्जुकुञ्जे प्रसरत्पवन उपवने अतुलपरिमले रसालशैले क्षपां क्षणोपमां क्षपयन् चैत्र्या सहारमतोत्पलाक्षलक्ष्मीनिक्षेपी कपर्दः। विलासोपप्लुतापि चैत्री पतिकृतां कुतुकलोचनमीललीलां स्मरन्ती भीषणाकारात्कपर्ददैत्यादबिभेत्। रहसि मदनविलासे वसनाभरणैः सज्जाया रामदासस्य निर्दोषं मुखं स्मरन्त्याः सदोषं मनोवनं कपर्दस्य कल्पनोद्भवैर्हुङ्कारैस्त्रस्तं शून्यतां बभार। परिस्थितिपतिता सा स्वात्मानं बहुशो धिक् चकार। तस्या विश्वासघाति मानसं बिभ्यत् स्वपतिं सस्मार। कुसुमाकरे का नाम कुञ्जं निर्भ्रमरं विभाव्य न खिद्येत् ? न तत्र गृध्रो मोदावहः।

कदाचन दासेन सह मेलं गता चैत्री हारमाणकद्वयमूल्यमक्रैषीत् यं सा वैजयन्तीममन्यत। रङ्काय वराटिकापि हीरकः। प्रतिमासं पञ्चाशन्मुद्रा लभमानोऽस्मिन्युगे मनोरञ्जनद्रव्याणि कथं नाम क्रेतुं क्षमः ? उदररञ्जनमेव तस्य दुष्करम्। पतिप्रेमलक्षणं श्रियां विहारं तमेव हारं स्वर्णमणिभूषणेषु बहुमूल्यममन्यत चैत्री। परं पतिस्मृतिविलोपी कपर्दस्तमभनक्। हारमुक्तास्तस्या अश्रुमुक्ताभिः सह भूमौ प्रसृताः। परतन्त्रता दीनता स्त्रैणी लघुता मूर्त्तिमती भूत्वोपस्थिता सर्वाधिका च सेवावृत्तिः।

जरेव सौन्दर्यं दीनता मानं नाशयति। सन्तोषपोषं शीतवातातपसेवी

निराहारः शुष्यन् भूशायी परोपकरणकायस्तपस्व्यपि सेवकः परमवमन्यते। सत्यम्, देवानामपि दैन्यसृः सेवा।

मुक्तास्तयावचिताः। वासनाविषाक्ताहङ्कारः कपर्दो हुङ्कृत्य क्लान्तां कान्तां नितान्तमापीड्य पतितामपि पीडयितुमारेभे। अधुना तस्य मनोऽन्यामभ्यलषत्। सर्वः किलाभिनवमध्वभिलाषः। नवमेव कुसुमं भ्रमर आकाङ्क्षते। को नाम च्योतितरसं फलं रक्षेत्।

वस्तुतः पुरुष एकः शिशुः स्त्रियश्च क्रीडनकानि। भेद इयानेव यत् कश्चन शिशुः स्वस्य क्रीडनकानि सुचिरं चिक्रीडिषया सुरक्षति कश्चन च क्षणेन क्षपयति नवञ्चाभिलषति।

मृतमातृकं प्रोषितपितृकं भ्रातृजमिहानयच्चैत्री। मुग्धः सुशीलः सुभगश्चित्रमनोहरः सुवाक् शिशुः कपर्दपुत्रेण क्रीडन् जीवनं यापयन्नवर्त्तत। एकदा कपर्दपुत्रश्चलचित्रे युवत्याः शिरःस्थितां दीपशिखां शरेण निर्वापयन्तं कञ्चन युवानमपश्यत्। परेद्यवि शशशिशुहुङ्कारनष्टचेष्टोऽपि तमवोचद् यदहं शिखां निर्वापयिष्यामि त्वं दीपमाधायागच्छेति।

दास्यवोचत्—नहि कुमार, वराको भिक्षुः (भ्रातृजस्य नाम) मरिष्यति। परं सोऽपि दुर्मदस्य पुत्र आसीद् दुर्विनीतः। कपर्दस्य पुरोऽभियोग उपस्थापितः। कटुपटुः कलुषपरुषपुरुषशिरोरत्नं सोऽवदत्, "भिक्षुर्मरिष्यति तदा किं संसारो रेक्ष्यति"।

वदने निक्षिप्यमाणमुष्णं तैलमिव दास्यन्वभवत्। को नाम न कम्पेत नृशंसचरितैर्मानवः? चैत्री निश्चला निष्प्रभा नखेन धरामुत्किरन्ती अवर्त्तत। कपोती काननेऽक्रन्दत। विमानक्रीडनकमादाय क्रीडन्तं वैमानिको यथा कपर्दस्तदुपेक्षाञ्चक्रे। मणिमयमण्डपे क्रीडन् को दरिद्राननुभवेत्?

कपर्दकुमारस्य साहसमैधत। परदिने सज्जदीपो भिक्षुरेजमान उपस्थापितः। पञ्चगुटिकं भिन्दिपालमादाय कपर्दकुमारोऽप्युपस्थितः। प्रथमा गुटिका काचकवाटं भिन्दत्युपरिष्टान्निर्गता, क्षुभितः पुनरसाधयत्, साऽपि वामतो निरगात्। पुनरसाधयत् साप्युपरिष्टादगात्। कम्पमानोऽपि भिक्षुस्तस्य नैष्फल्ये जहास। कुप्रसूतेः क्व हस्तलाघवम्?

हासः क्रोधाग्नौ घृतम् । पुनः क्षुभितः सोऽसाधयत् । परं तस्य हस्ताद् भिन्दिपालोऽपतत् । निःसृता गुटिकाऽयोमञ्जूषामभिनत् । अधुना त्वेकैवासीद् गुटिका । वराकी चैत्री वाष्पलोचना वृश्चिकनिश्चला भगवन्तमस्मरत् । परं सौभाग्यभाजां भवनेषु व्यासक्तो भगवान् कथं हतभागान् सम्भालयेत् ?

वैभवस्य मनोराज्ये क्रीडन् कपर्दकुमारः समीपमागत्य गुटिकाममुञ्चद् या भिक्षोर्वक्षो विदार्य भित्तिमविशत् । भिक्षो रक्तस्नाताः कोमला अवयवाः प्रासरन् । चक्षुर्भ्यां प्रावृषमनुकुर्वती मूर्त्तिमती करुणेव मुमूर्च्छ चैत्री ।

क्षणमुपकर्णं फुस्फुसात्मकं किमपि विवृण्वन्तो भृत्याः स्वं जुन्हुविरे, धरां निरीक्षमाणा उदकिरन् । शताधिकानां पुरुषवत् प्रतीयमानानां जीवतां जाग्रतामिव भासमानानां वक्षसि हृत् स्पन्दमानमवर्त्तत, सामान्यतो द्विगुणम्, परं चेतनाशून्यमिव प्रतिकर्मरहितम् । चलच्चित्रगृहाणि जनैः पूर्णानि प्रणयवीथयो रथाक्रान्ताः कुकामव्यापारः प्रबलपूरः जनमनांस्युल्लासपूर्णानि शिञ्जितरञ्जितानि । समग्रमव्यग्रं चलदवर्त्तत ।

एधमाने नैराश्यराज्ये दास्या आत्माभिमानः क्षुभितोदधेः कल्लोल इवोदीरितः । धैर्यबालुकाबन्धः कणशो भग्नः । कल्पैः पीडितं नारीत्वं प्रसह्य विद्रुह्यदवर्त्तत । शारीरिकेण मानसिकेन सामाजिकेन आर्थिकेन विपत्पूरेणोद्विग्नमानसो मानवो विचारसन्तुलनं विनाश्योद्दीप्यते । वासनां यौवनस्य भोगतृष्णाञ्च विहाय साधुना प्रतिजिघांसया सिंहीव ज्वालामुखीव विकटा, रूपं निपीय पिशाचीभूतान् भक्षयितुं भुजङ्गीव पुरः प्राटत् । सत्यम्, क्रोधाग्नौ प्रेम भस्मसाद् भवति ।

अकस्मादुपेतः कपर्दस्तस्या रूपं प्रेक्ष्य विभ्यदपृच्छत्—"क्व धावसि चैत्रि ?"

—"तव पुत्रस्य प्राणानपहर्त्तुं गलं निपीडयितुं यामि, येन दानवेन निरपराधो भ्रातृजो मे हतः" सोदतरत् ।

—"तदा किं जातम् ? सहस्रशो भिक्षवः पौरप्रतिष्ठानस्य प्रणालीषु प्रवहन्ति, तदानेन तत्रावरोधो भविष्यति किम् ? गच्छ, स्वकार्यं कुरु" विषतिक्तं कपर्दोऽवदत् । तत्कृते नैतन्नवीनमपि तु चिराचरितम् । यदा क्रुद्धा सा पुरः प्राटत् कपर्दपादाघातेन मूलच्छिन्ना मालतीव भूमौ पतिता

प्राणैर्वियुक्ता च। अवशानां जीवितपिशितस्पृहिणः कपर्दस्य कुटिलक्रूरा दृष्टिः कृष्णसर्पस्य तनुलतेवाभितो व्यापत्। वियन्मूकमासीत्, रोदितुमावृतमुखानीव नक्षत्राणि, स्तब्धास्तरवो मलिनो वायुः प्रासादपाषाणप्राचीराणि जडानि, धरा व्यथाऽधरा त्रासाकुलञ्च भृत्यकुलम्। मृत्युवन्मौनम्। तस्या गौरो वर्णः, विकसितं यौवनम्, प्रलम्बाः वलयिताः कृष्णाः केशाः प्रासरन्।

अहं गवाक्षाद्द्राक्षम्—कृष्णतारावोचत्—

"कश्चन भृत्यश्चम्पकस्योत्फुल्लानि कुसुमान्यादाय पथि निश्शङ्कं चलन्नकस्मान्मरुत्तरविषाणमाकर्ण्योद्विग्न एकतो भवन् पञ्चषाणि पुष्पाण्यपातयत्, यानि मरुत्तरो दुर्दर्श्यदशं ममर्द। न कस्यापि करुणादृष्टिस्तत्रापप्तत्। सर्वो दलितानि दलयन्नधावत्। अहमचिन्तयम्—दिनान्धो निष्ठुरपादेन निर्दयं मर्द्दयति पुष्पाण्यपि। एतत्पुष्पं वायोर्दुर्दमनीयवेगे साहसेन नृत्यदासीत् पत्रसहचरानालिङ्गच्चुम्बत्सौरप्रकाशे विकसितः साभैर्दलैर्नवयौवने माद्यद् घूर्णमानम्। परं केनापि मायाविना मानवेन निर्दयं त्रोटित इमां दशां प्रपन्नः। हन्त किमयं मानवः? मरुत्तराणां गमनाय येन विषमा भूः समीकृता, मृद उत्पूरणोत्खननेन शिरो निष्केशतां नीतम्, परं राजमार्गे तस्य भ्रमणं न स्वतन्त्रम्। मरुत्तरविषाणेनोद्विग्नः स कदाचन स्वमेव जहाति पूषोष्मोपप्लुतः" इति।

कपर्दभार्या मम ध्यानं भञ्जत्यब्रवीत्, तिरस्कारः, काठोर्यमकारुण्यममार्द्दवमस्य गुणाः। कपर्दायैष क्षुद्रोपद्रव आसीत्। विवाहे चितायाञ्च समप्रभावो वह्निः। तुच्छश्वपुच्छच्छटेव सदा कुटिला तस्य प्रकृतिः। कोपारुणे दारुणे हृदि क्व नाम करुणाकणः? हिमालयोत्सङ्गादासमुद्रं सुदीर्घं पन्थानमतिकालमतिक्राम्यन् ललितलहरीलाल्यमानः सुरसरिति प्रवहन् पाषाणखण्डो विविधैर्विघर्षणपरिवर्त्तनैर्बहिर्वर्तुलत्वं मसृणताञ्च लब्ध्वापि रसस्य विन्दुशमप्यन्तः प्रवेशयति किमु?

सत्कर्मान्तराय आलोकावसायः सायमभूत्। मृतपुत्रेव जननी निरालोका निशोच्छ्वस्य मूर्च्छितेवास्वपत्। प्रासादादाकुटीरं सर्वेषां द्वाराणि कवाटितानि। निशीथप्रतीक्षायां निहितौ शवौ जीप आरोप्य मद्यशालां नीतौ भ्राष्ट्रे पातितौ

च। विक्षता विगर्हिता विरूपाः शवाः हताशेन हुताशेनास्वाद्यन्ते। मृत्योः स्थाय्यावासो मद्यशाला।

अथ विद्युतीव दृष्टनष्टायां चैत्र्यामनार्यकार्यः कदर्यः कपर्दोऽघोषयद् यत् स्वैरिणी चैत्री भ्रातृजमादाय केनापि सह प्राद्रवत्, अहञ्च तस्या अन्वेषणायानुपदिनः (खोजी) प्रैरयम्।

एवं निरुद्देश्या रूपरेखाविहीना वर्णयोजनेव कवितासंज्ञा क्षणमुच्चारणप्रभावेणोद्दीप्य विरता। तस्याः स्मृतिरपि नावर्त्तत। शताब्दीभ्यः समाजस्य शोणितं निर्दयमाचूष्य स्थूलीभूतेषु मानवाधमेषु मानवता नाम कथं स्यात्? कूपे चेज्जलं न, घटे कथं लभ्येत? धृतराष्ट्रः स्वार्थवशः सदैवान्धः समीपवर्त्तिनां दुःखं नेक्षते, हृतराष्ट्रश्च किमपि कर्त्तुमक्षमः। धौतप्रसाधितानि लौहापीडितानि सदुज्ज्वलानि वासांसि दधच्चौरः साभः, मलिनानि विशीर्णानि लोकसेवया तन्तुभावं गतानि च दधत्साधुश्चौरः। हन्त? विलक्षणः शब्दार्थविपर्यासः। कपोतकर्बुरं भस्मानेन विहितं बहूनामनेनसां पद्मचक्षुषां महताम्।

परममूनि श्वेतानि वासांसि, एते शतवल्या उष्णीषाः, एतानि मरुत्तराणि, तिलकानि च भगवन्न्यायं परिवर्तयितुं न क्षमाणि। विलम्बो जायेत।

विषाक्तेन दशनेन दशतां कृष्णसर्पाणां फूत्कारभूता नीतयोऽवश्यं क्षेष्यन्ति, समाजरक्षकम्मन्यानां धर्मावतारमानिनाममानवीयं कर्म च। पापस्य जिह्वां मुद्राभिर्मूकयन्त एते विसर्पा इव प्रसृता देववेषा दैत्याः, येषामत्याचारान् विभाव्य महिमवान् हिमवानुष्णतां व्रजेत्। स्वोपभोगाय धनमर्जयितुमग्निविषं विक्रीणानां शोणितशृङ्गैर्वसन्तोत्सवं सर्वर्त्तुषु रचयतां महिषाणां मर्द्दनाय कापि महिषमर्द्दिन्यपेक्ष्यते।

अपि जानासि? तारे मृत्युः कासो हर्षः क्षेमञ्च तिरोभवितुमशक्यानि। स्वल्पेनैव समयेनैतद्रहस्यं प्रकटितमभूत्। स्थितिरियमासीद् यत्प्रक्षेपकेभ्यः पञ्चाशन्मुद्रा दातुं कपटकलाकलानिधिर्धूर्त्तराजः कपर्दः प्रालोभयत्, परमदाद् शैव। कौटिल्यमधम इव धनी धनं न मुञ्चति। शनैश्शनैः कर्णाकर्णिकया वृत्तमेतद्रामदासस्योपकर्णं गतम्। लोकस्तमवदत्—"भीरो! संसारस्तव जलमग्नः। किमर्थमर्जयसि पापम्? न तव हासः नोल्लासो नानन्दप्रकाशो

न चाश्रूणि । क्व ते विवेकः ? तव भार्या त्वयि जीवति लोकैर्भुक्ता मारिता ऽपवादिता च । तस्या आगमनेनैधितो वेतनस्तरस्तव पतितः । धिक् ते जीवनम् । धिक् ते मानवताम् । अरे विद्युन्निपातविनष्टशोभः स्थाणुभूतोऽपि वृक्षः क्षेत्रे स्वशत्रुमाकाशमङ्गुल्या निर्देशयन्निव प्रतिशोधाय प्रतीक्षमाण इव तिष्ठति । त्वम्......त्वं पाषाणीभूतः" इति ।

चतुर्दिङ् निस्तब्धम्, नगरं निद्रितम्, नीरवता, वायोरपि न सणत्कारः । केवलं विद्युद्दीपो जागर्त्तिस्म । चपलशिशोः कराविव घट्याः करौ चलावास्ताम्, अस्पष्टो ध्वनिश्च । कपर्दस्यायं प्रत्यावर्त्तनकालः । अस्मिन्नेव समये रामदास उपेयाय । तस्याभिमानः शौर्यञ्चापमानदावेन दग्धम्, हृदयं चलदलदलमुच्चस्वरेण भयज्वरः । स दिनस्य स्वच्छे प्रकाशे कथं कपर्देनालपेत् ? परमत्याचारदारिद्र्यमनस्तापनियन्त्रितो विपद्भिः सह युध्यमानः शून्याङ्गोऽपि स वृत्तं जिज्ञासितुं मुखे दुःखमिवापूर्योच्छ्वासेन सह वचो व्यसृजत् ।

विषाक्तं शूलमपि न तथा यथा दोषारोपणमुपकर्णं श्रूयमाणं कथ्यमानं वा व्यथकम् ।

परिस्थितिं तस्य विचिन्त्य चिकित्सामिव चिन्तयन् क्षणं बधिरस्याभिनयं कुर्वन्निङ्गितेनोग्रमसूचयत् । स्वार्थाय चतुष्कर्णो मक्षिकाध्वनिमपि सम्यक् शृणोति, स्वार्थायैव च द्विशस्त्रिशो बोध्यमानोऽपि नहि ।

यष्टिवीरशतकपतिः कृष्णाक्षरित (दागी) उग्रः प्रतिमासं पञ्चशतीं मुद्राणां लभमानः कपर्दविरोधिनो ध्वंसयाञ्चकार । सदंशं वृश्चिकस्य पुच्छमिवोन्नतं श्मश्रुजालं तस्य स्वभावमघोषयत्, अपरिचितहासं मुखञ्च ।

तस्यां निशि रामदासः पञ्च दास्याः प्रक्षेपकाश्च भ्राष्ट्रं भेजुः । दावाग्निर्घसिन सह रसालानपि दहति । एवमेष मृत्योर्नीरव उत्सङ्गे बहून् शाययति ।

गुण्डान् विनाऽनाचारिणः कार्यं कथं चलेत् ? रात्रौ वेश्यागृहे स्वापः, द्यूतम्, मद्यं पीत्वा करणानं भवनं गमनम्, उच्छृङ्खलमुच्चारणम्, याष्टिकान् विना कथमेतत्सिद्ध्येत् ?

लोकः कथयति यदेका विशिष्टा मानवसभ्यता प्रादुर्भविष्यत्यचिरेण । अस्तमिततमस्तोमो व्योममणिश्चोदेष्यति, यस्मिञ्जीवनस्य सत्यः प्रकाश

आनन्दश्च प्राप्तुं शक्ष्यते। परम्, वर्त्तमानकालस्याशेषतत्त्वेषु विनष्टेषु नवयुगोत्पत्तिः। उच्चैःस्वरेण सदुद्देश्यघोषं घोषयत इमान् प्रति नितरां साशङ्का। पर्युषितं भोजनमिव तत्त्वज्ञानमेषामम्लं रुजां कारणमेव केवलम्। स्त्रीशुद्धिचिकीर्षया विधवाश्रमे प्रतिष्ठानान्तरे च प्रविष्टा इमे निशाचारिणो मारीचाभाः विषयिणो भुजङ्गाः किमु अल्पीयांसो दुष्टाः ? एतेषां परिष्कृतां दुष्टतां प्रकटदुष्टेभ्यो घृणिततमां मन्ये। अहो मानवत्वरहिता मानवाः। अधुना स्त्रीभिरपि दौर्बल्यं त्याज्यम्। दौर्बल्यं सर्वापदामुत्पत्तिभूः। यस्या वक्षसो यस्य प्रभवः पालनञ्च, या यस्य धात्री, यदुच्चारितानि वचांसि यः प्रथमं शृणुते याध्यापिका च, या जननादामरणं यस्याश्रूणि मार्जयति विविधरूपेण, यामाश्रित्य कुलसङ्ख्या वर्द्धते जीवने प्रमोदश्च तामेव स निर्दयमर्दयति।

कदाचनैतेऽनुपभुक्तानन्दाय परियशः (पेरिस) प्रयान्ति ज्येष्ठ (ज्येट) यानेन, कदाचनान्यत्र भोगभूमौ छलेनाधिगता लोकमुद्रा व्ययितुं व्यापारवैशारद्यमधिगन्तुम्। परम्, कस्मिन्नपि विषये वैशारद्यं तु प्राप्नुवन्त्येव।

अधिकारेण, अध्ययनेन, प्रभावेण, धनेन च पूर्णीभूता अवसरक्षुरमादाय जीवनमार्गे स्थितान् ज्ञानादिभिक्षां भिक्षमाणान्, जीवनमार्गे शनैश्शनैर्यियासून् वराकान् स्वसहयोगिनो घ्नन्ति। आचरणं विनोपदेशस्य प्रभाव एव कियान्? एते दुष्टा मोहकवचोभिर्मोहयित्वा गर्त्ते निपातयन्ति मुग्धान्।

लोकोऽधुना जागरणोन्मुखः। परं तस्य भाविकार्यक्रमोऽस्पष्टोऽनिश्चितश्च। पुरो गमनाय तस्मिन् व्याकुलता विलोक्यते, परं तस्य मार्गा भृशमवरुद्धाः। शासने, व्यापारे, समाजे, धर्मे सर्वत्र धनाभिजातानां सुकुलम्मन्यानां प्रभाव आदरः स्वागतं वचःश्रुतिश्च। यतस्तेषामेव सर्वत्र चतुष्पद (रुपैया) चमत्कारः।

चञ्चलत्वं महान् गुणश्चञ्चलायाः, यद्येतन्नाभविष्यत्तदा मानवो दानवोऽभविष्यदसन्दिग्धम्। आनासिकं भोगे विलासे निमग्ना लघुषु ग्रामेषु जनाकीर्णेषु नगरेषु च सघना अधुना समानगतयः। सर्वत्रैषां जीवनसरित्समानमानेन प्रवहति। लोकोऽद्य घननिर्मिते स्वर्णसेतौ धावति। एषां शब्दकोशे च धनस्यैव शब्दावली। अतिमात्रं भुक्तं वाम्यते विरिच्यते वेति श्रुतिः,

परमेषां सर्वं जीर्य्यति। वमनविरेचनयोरवसरो वा नोपेतः। ये धनं रुद्ध्वा रक्षन्ति, स्वैरं वाऽपव्ययन्ति, ते वस्तुतो लक्ष्म्याः सेवका नहि, कारागार-कुशलाः। राष्ट्रस्य सत्कार्येऽप्रतिफलेच्छया कर्त्तव्यबुद्ध्या धनस्यार्पणं लक्ष्मी-सेवा। विचित्रमित्राणामेषां गतिर्मतिः प्रीतिर्नीतिश्च सर्वत्र समा। सकृज्जग्ध-नरः सिंहो नरमत्तुं साभिलाषः, अतोऽहिंसकेनापि हन्तव्यः, इति शिष्टाः। परं प्रतिक्षणं शोणितपायी दशाननो नरपशुः कथमुपेक्ष्यते? अहो सरलः शिशुर्दीपस्य प्रकाशं मोहकं मनुते, परं स दाहकोप्यस्तीति न जानाति अत एव वञ्च्यते परमत्र तु प्राप्तप्रज्ञोऽपि। दुर्जनश्च सकृद्दोषपूर्ण-माचरन् परम्परामेव मनुते। अभ्यासश्च शनैश्शनैः प्रकृतिमुपैति।

परमेषामपि सुदिनमस्तमेष्यत्येव। कस्य साम्राज्यं स्थायि? न सदाऽमा, न च राका। नैतिकीं सम्पदं विना भौतिकसम्पदस्तथाविध एव विनाशः।

तस्या भाषणं विस्तृतमासीत्, मोहकमाकर्षकञ्च। परमपरां श्रोतुं क्षमा-मभ्यर्थ्य परस्मा आवासाय प्राचलम्।

तृतीया शीघ्रं शिष्टाचारमाचर्य विषयोद्गरणाय व्याकुलाऽवर्त्तत। अद्य तस्याः स्वर्णसूर्य उदितो यत्तस्या अपि वृत्तं श्रोतुं कश्चन साभिलाषः। सावदत्—वाक्संयमम्, मौनचातुरीम्, मनोभावानां प्रच्छादनञ्चाहमभ्यस्यम्। परमद्य मौनं मर्द्दयिष्यामि। अहो मानवस्य दुर्विज्ञेयं मानसम्। अहमधुना सुतरामवहिता। चायेन दग्धमुखः शार्करमपि फूत्कृत्य पिबति। परमिद-मवधानं गृहे दग्धे चातुर्यमिवाकिञ्चित्करम्। दुर्भाग्यान्धकारं व्यप-नामयितुमालोककामाः, नैराश्यसैकते भर्ज्यमानामाशालतां शीतकुञ्जेऽभिषे-चयितुं बहवोऽत्र क्षुत्क्षामकुक्षयः स्वाधीनचेतसः समेताः, परम्, पिशुनपरि-ष्वङ्गलिप्ताः कर्म कृत्वापि धनेनास्य कोशमापूर्य्यापि दुर्भावाग्नौ भस्मीभूताः। खस्थलीं कर्षन् कः कृषकः समृद्धफलां कृषिं विन्देत्? केनापि विश्वासघातं कुर्वन्नायं लज्जते दुःसाहसो धृष्टः। जनाश्च क्षुधान्धा अन्धान्धौ निपतन्ति।

यस्या धम्मिल्लमामृश्य निर्भरमाजिघ्रति, तां तेनैव हस्तेन निष्करुणं मृत्योः कृष्णाञ्चलेनाच्छादयति। स्वार्थलक्ष्यस्य प्रेमाल्पमूल्यः।

सर्वः सद्भावनया जायते जगति, इति श्रूयते, परमधुना परया भावनयैव

जायन्ते सुभगवधूवैधव्यदीक्षादायिनः। अस्तु, निरवधिः कालो विशाला च भूः। धन्यजननीकः कश्चनावश्यं सर्वस्य नैसर्गिकाधिकाराय सनातनसङ्घर्षे पुरो वर्द्धयिष्यति साफल्यवल्लीप्रसूनशेखरः।

अधुना तु जगतः शासका इमे। एषां दुर्लक्ष्यकरेङ्गितेन शासनस्य समाजस्य व्यवस्थाः परिवर्त्त्यन्ते। लोक एषामेव गुणपूंषि तेजांसि वर्णयन् भूयांसि श्रेयांसि लभते। एते च स्वस्य भूत्यै पदाय प्रतिष्ठायै धनाय च चेष्टन्ते। नियुज्य यो जनानां योजनानां सहस्रमुद्योगशाला निर्माय, निष्पीडयति धनम्, तस्मात्कथं धनागमः, तस्य कथं दयोदयः? यस्य मनो देशद्रोहिभिः सहानुभवति, परिस्थितिपीडितानां क्षुत्तृड्वशानां दासानामुत्कर्षाय नोल्लसति, कल्याणं न कामयते स्वेतरस्य, हुतात्मनां बलिवीराणां स्मृतौ न द्रवते, अत्याचारोच्छेदाय नोद्वेलति, तस्य सत्तया प्रयोजनमेव कियत्? येषु मानवेषु न संस्कृतेर्न साहित्यस्य नेतिहासस्य गौरवम्, न महत्त्वाकाङ्क्षा सत्या न च जगद्धिताय महाभिलाषः, ये च गर्हितलोकस्य शोणितस्नातलोकस्य लालाटिकतामेवोन्नतिं मन्वते तादृशाः कलङ्का यत्र तिष्ठन्ति जीवन्ति चेत् पशवः किं न चरन्ति? परं बहव एनं शंसन्ति धूर्त्ता अनुग्रहापेक्षिणो मन्त्रिणः पर्युपासते च।

चन्दनवच्छनैःशनैः स्वात्मानं राष्ट्राय क्षयतां महात्मनामुपरि च्छलेन बलेन धनेन च चरन्तो विभववञ्चिता लोकवञ्चकाः सदेहा सन्देहा निःस्वार्थताया वेषमायोज्य जनसम्मर्दे खादीं परिधाय राष्ट्रभक्तिवाणिज्येऽल्पमूल्येन परमां सिद्धिं क्रीत्वा साश्चर्यं वीक्षिता अन्तर्बहिर्घनश्यामा विडालाः परदुग्धमुपयुञ्जाना विचरन्ति स्वस्य सेवां परमं प्रचारयन्तः प्रचारबलाः। प्रचारस्य महत्त्वं प्रबलं तारे, येन जारजः कानीनोऽपीशायते, मूर्खो निर्बुद्धिरपि विवेकप्रचारेण रामकृष्णायते, चौरजारशिखामणिर्भक्तप्रवरः, च्युतचरित्रेषु प्रथमो ज्ञानिज्ञानचौर्यचतुरो लोकगुरू रविरिवेन्दति च।

यं जीर्णं प्रासादमुद्धर्त्तुं कामयते चौर्यजश्चौर्यपालितश्चौर्यनिरतश्चौर्यजीवनो दुष्टस्तस्य प्राचीराणि यदि तस्मिन्नेव पतेयुस्तदा न पुनस्तथाविधं कर्म कर्त्तुं कश्चनोद्यतस्तिष्ठेत्।

कुटिलक्रूरशोणितं वारिधिवारिणापि न प्रक्षालयितुं शक्यते तारे, न च स्वर्णस्य पीतया प्रभया तस्य कालिमा प्रच्छादयितुम्। परं समयस्त्वपेक्षणीय एव।

धनी वस्तुतो विगतनिद्रः पशुः। अभावेन, क्षुधया, तिरस्कारेण च पीडिताः सम्पल्लवपल्लवं प्राप्तु कामा एनमाश्रयन्ति, आश्रित्य चाजीवनं तान्येव भुञ्जते। तावन्न शान्तिस्तारे, यावद् धनार्जनगर्जनतर्जनैर्भाययतां राष्ट्रद्रोहिणामेकमपि शिरः शरीरेण संयुक्तम्।

कदापि केनापि क्षीणायुषाऽस्याभिलाष आकृष्टः, मन्दपुण्येनाहम्भाव आहतः, आदर्शे व्यङ्गो विहितस्ते केऽपि स्युः, भ्राष्ट्रे भस्मनि सन्ति। तेषां नामावली सिकतायामङ्किता पदावलीव विनष्टा। क्षुद्रवामनेन विरूपदुर्बलेन निस्तेजसाऽशस्तललाटेन मुद्राभद्रेण सर्वे स्वपथाद् बहिष्कृताः। सत्यम्, स्वर्णं शक्तं रूपं परिवर्त्तयति। परं वटप्ररोहैरिव दूरगामिभिर्दुर्भावैर्युक्तोऽप्ययं स्वं सात्त्विकभावाभिषिक्तं सद्वृत्तीनां निधिं मनुते स्वसिद्धान्तञ्च श्रेष्ठम्। यद्यपि तस्य जीवनस्य सारो निरङ्कुशता, परमस्तोषः कोशपरिपोषः। ईदृग्विधानामाखेटिनां शुनां मर्द्दनं नहि, भुवि निखातः परमावश्यकः।

अस्य कर्माणि मुद्रितानि पत्राणीव मानसभावं बोधयन्ति। सम्प्रति सेव्यमस्य आहारनिद्राभयमैथुनञ्च। घासाहारिकुले जातोऽपि परं पिशिताकुलः। एकदा मयासौ जिज्ञासितः। कथमत्सि मांसम् ? सर्वत्र धार्मिकं ख्यापयन्। स उदतरत्। शष्पभोजिनां शाकभोजिनां शरीरं शाकसारम्। तदा तेषां भक्षणे को दोषो मुग्धे ! शाकभोजिनाम्। पयो भुञ्जतां नाज्यभक्षणं कुत्रापि निषिध्यते। अतएव भगवानपि "मद्याजी मां नमस्कुरु" मद्यञ्चाजश्च तत्, तदस्यास्तीति, तादृशो भूत्वा मां नमस्कुरु इत्यवदत्।

एष सहस्राक्षो मीमाक्षः पर्वतान्तरालादपि पश्यति, सहस्रकर्णैः शृणोति, सहस्रकरैः करोति, सहस्रपादैः पद्यते च। एष विलक्षणः सुदृढदामा सुदामा कृष्णसखः। शासनीया अशासनीयाश्च घटनाः पूर्वमयं वेत्ति। प्रमुखपदेषु स्थिता अधिकारिणस्ततोऽधिकं वेतनमस्माल्लभन्ते सुवर्णसुरया मत्ताः। पुरा विजयसाधनमभूत् जनभुजगजवाजिबलम्, परमद्य मुद्राबलं सर्वातिशायि।

गानवाद्यनृत्तदक्षाः सुन्दरीः कानिचिद्वर्षाण्युपभुज्याऽऽपानके नियोजयति, अधिकारिणः प्रसादयितुं तेषां कार्यालये सचिवपदेऽङ्कने वा नियोजयति। यतस्तत्रत्यं वृत्तं प्रतिदिनं ज्ञातं तिष्ठेत्। एवं ता उभयवेतनभुज एनं सेवन्ते। एतत्प्रयोजनानि यान्त्यायान्ति पत्राणि पूर्वमत्रोद्घाटयन्ते, ततस्तानि व्रजन्ति नापि वा। एषोऽन्तर्दर्शी दूरदर्शी च सर्वान् धनेन नियमयति। कपर्द-समालोचकः क्वचन प्रेम्णाऽऽहूयते, पुनर्न स तद्रूपेण संसारं प्रत्यैति। अधि-कारिणामनूढाः कन्या इह विदेशे चास्मान्मासिकव्ययं मनोऽभिलषितानि वस्तूनि च लभन्ते, विवाहोत्तरं तासां पतयः सतीं जीविकाञ्च।

अत्रैक आयकराकलक उपेतः। सत्यो म-(मद्यमहिलामुद्रा) त्रयैरप्रभा-वितोऽनुपयुक्तश्च कलङ्कितायै। य एकस्मिन् सत्रे शासनाय तिस्रः कोटी-रधिकमर्जयामास। स एनमाजुहाव।

भीतस्त्रस्त एष जीर्णमलिनं वासः, विश्रृङ्खलामुष्णीषिकाञ्चायोज्य, श्मश्रु-जालं प्रवर्ध्य, करे बृहतीं रुद्राक्षमालां ग्रीवायां तुलसीमालां परिधाय, चक्षुषो-र्दूषिकामप्रमार्ज्य भाले विपुलं भस्म विलिप्य, पानीयाधाने (परिण्डा) पितृ-पादौ, आलये स्थापितां शीतलां श्मशानीं मातरञ्च ललाटस्पर्शं नासा-घर्षं प्रणम्य, हनूमते पञ्चकार्षापणस्य मखान्नम् (मखाणा) गणेशाय गुडम्, क्षेत्रपालाय नवताम्रिकाणां (N.P.) शर्कराम्, देव्यै नारिकेलम्, यवन-प्रेताय (जीन्द) अजबलिम्, काल्यै महिषबलिम्, गोगवीराय (गोगापीर) मोदकम्, दातुं प्रतिज्ञाय, भाविनोऽतिसाराद् बिभ्यद् वस्तिनोदरं संशोध्य, मुहुर्मुहुर्देवान्नमस्यन्, हस्तौ संयुञ्जन्, चलदोष्ठः किमपि जपन्, रेणुकणमपि देवं मन्वानः विप्रैर्बहुशो दाम्भिकेतिपदवीभूषितैः स्वस्तिवाचनं कारयित्वा, दधि जग्ध्वा, जय गणेश जय गणेश, इति मुहुर्मुहुरुच्चारयन् कपटपटुः, पूर्णं घटं शिरस्यादधतीं मालिनीं दक्षिणे, वामे च भृत्येन गर्दभमानीय पुष्पहस्तं मालिनं सम्मुखमायान्तं विधाय मृतमातापितृकैरिव मुनिमैर्मृतमातापितृक इव वीक्ष्यमाणो गृहान्निरगात्।

बधिराभिनयकुशलो दाम्भिकैः कपटकुटिलाचार्यैर्वाक्कोलैर्मुनिमैः सह खात-पत्राणि दर्शितवान्। आकलकोऽपि कलिकलाचार्याणां कार्यं पश्यन् चतुरीभूत

आसीत् । दोषो हस्तिततः । पञ्चाशल्लक्षकरस्य देयतास्मै नियोजिता । सत्यम्, नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । परम्, जानासि तारे, रूप्यकस्य झङ्कारस्त्रिभुवनव्यापी । प्रथमावतीर्णदिनकरकरा इव दीर्घास्तद्वतां कराश्च ।

स आकलकः क्व गतः, तस्य चर्चां पुनर्नाश्रौषम् । एवमेकः वृत्तपत्र-सम्पादकः स्पष्टवक्ता सत्यवक्ता पञ्चभिरेव रूप्यकैः पञ्चत्वं गमितो योऽमुं नानमत्, सत्यमलिखच्च ।

एकदा भृत्याक्रन्दनाकुला तमवोचम्—"विभविन्, यन्त्राद्यन्त्रं क्रीणासि, देशे विदेशे वाणिज्यं प्रसारयसि, सर्वत्र स्वं लोकसेवकं घोषयसि कोटिशो नराणां जीवकञ्च । किमदः सत्यम् ? लोकवञ्चनायां त्वं परमो विद्वान् । तव कर्मकराणामन्नदातॄणां स्थितिः कीदृशी ? सायं तेषां गृहाणि धूमशून्यानि, गृहाणि तानि कथ्यन्ते, वस्तुतस्तानि गोष्पदोपमानि । तेषां शिशवोऽचिकित्सिताः परलोकं श्रयन्ते जीविता वेङ्गालकाँश्चिन्वन्ति, स्वयञ्चाकाले यमेनाहूता यक्ष्मभक्षिता परिवारं शोकसागरे निमज्ज्य यान्ति । तेषां युवतयो गृह एव तिष्ठन्ति नग्नाः । किं कदाचन काणेनाक्ष्णापि, अश्रुमोक्षणविचक्षणानि करुणाशिक्षणदक्षिणानि क्षीणानि वराकवीक्षणानि वीक्षसे ? तव व्यापारे प्रवृत्तिः शोभना । सम्बन्धिभ्य उच्चपदं धनदानमपि युज्यतां नाम ? नित्यं नवं मरुत्तरं क्रीणातु, विलासखेलापि सुश्लिष्टा, परम्, कर्मकरा अपि पर्यवेक्ष्यास्त्वयैव । येषामाश्रयेण तव प्रतिष्ठा गौरवञ्च ।

अहो आश्चर्यम्, यदनुद्योगिनोऽद्योद्योगिनः, कर्मकराश्चानुद्योगिनः ।

प्रासादमारूढो मानवो न कदापि सोपानानि पश्यति, तत्रोपवेशस्तु सम्भाव्यत एव नहि । परम्, कदाचन स तेषामुत्खननाय प्रयस्येच्चेत्तस्य पतनं चूर्णनञ्चावश्यम्भावि ।

असम्यक् प्रयुक्तं रसायनमपि प्राणान् हरति, तद्वद् धनम् । प्रयोगोपयोगौ विज्ञाय व्यवहरन्नेव सफलः । समये समये विकृतं मिथ्यार्जितं द्रव्यं ताम्बूलनिष्ठ्यूतवद् बहिः क्षिपसि, लोकस्य प्रबलमसन्तोषं क्रोधानलञ्चोपशमयसि, यद् दानं निगद्यते चाटुकारैः । त्वादृशा प्रज्ञाशालिनो धनिन एतदेव निश्चित्य

ददति, तेषां नेश्वरे लोकान्तरे वा विश्वासः, अल्पज्ञाश्चताननुकुर्वन्ति । परमेतद्दानं किमु ? यैः कर्मभिरुच्चैः प्रासादम्, नित्यं सुखम्, अनन्तं यशोऽभिलषसि, तैरधस्ताद् गमनम्, नित्यं दुःखम्, अनन्तः कलङ्क एवोत्पत्स्यते, गोधूमाद् गोधूमः कनकाच्च कनक इव ।

नर्मसचिवैः कृतान्मानान्मा माद्यस्व । बहवो विश्वजयिनो भूताः, परं रेणुषु कणोऽपि किं तेषां लभ्यः ? यः स्वस्यानन्दाय विलासाय वराकानामुदरे पादं प्रहरति, तेषामुटजं दाहयित्वा प्रकाशमुपयुङ्क्ते, तेषां कृषिक्षेत्राण्युत्पाट्य तान् ध्वस्तान् बुभुक्षितान् विपद्ग्रस्तान् विधाय यन्त्राणि स्थापयति, स केन शब्दकोशेन मानवः कृतः ?

अन्विष्यान्विष्य सद्गुणान् मानसमन्दिरे समावेशय, येन तव चेतो विश्वात्मनो भवनं भवेत् । को नाम विषयेभ्यस्तुष्येत् ? अग्नौ घृतमिव जुह्वत् । सफलोऽपि दुर्भग एव । परमं धनं चरित्रवलम् । अन्ततस्तव कियानभिलाषः ? एतदज्ञानं त्वया त्याज्यम् । आकाशस्पर्शिनो भावाः, मदोन्मादः, धनगर्वः सर्वमेकदा नङ्क्ष्यति । क्व भ्राम्यसि भोगेषु ? आकर्षिकास्वाकृतिषु च । यदा कर्मविपाकस्त्वामुपैष्यति, कम्पिष्यसे । अमुष्मै वैषयिकानन्दाय यावन्तं दण्डमाप्स्यसि तत्त्वयाऽप्रकल्प्यम् । क्व भ्रान्तोऽसि दिव्यामृतं विहाय विषयविषेषु ?

पापस्य परिणामः पुण्यं नहि, पापमेव, घोरं पापम् । सुकर्म कुकर्म वा तिरोधातुमशक्यम् । मृत्पूरनिखातमपि बीजं मृदमुत्पाट्य निरेति ।

कस्यापि मङ्गलं परेषां मङ्गले समाश्रितम् । परं भोगी निष्कामसेवां नाटयन् मुग्धं लोकं विमोह्यामङ्गलं पापं कर्माचरति । सा शुद्धा प्रतारणा ।

प्रतिदिनं प्रासादे विविधदेशानीतान् पाषाणान्निखातयसि, पूर्वं निखातानुत्खनसि, प्रकोष्ठानि विविधै रागैर्लिम्पसि । अनेन नवीनमुत्पद्यते किमु ? किमपि स्थायि लोकहितं कुरु । राष्ट्रेऽनक्षरताऽस्वास्थ्यम्, अनियोगिता (बेकारी unemployment) च प्राचुर्येण प्रसृतानि । त्वञ्च राष्ट्राद्विपुलं धनमाहार्षीः, आहरसि च । तदा राष्ट्रस्योन्नत्यै कदाचन चिन्तय ।

धनं सर्वदा न स्थायि। परं तस्योपयोगः सर्वेषां मनसि इतिहासक्रमेण सर्वस्मै कालाय भ्राजमानस्तिष्ठति। भामासाहो मृतः। परं मृतोऽपि जीवति। त्वञ्च जीवन्नपि मृतः। अतो जीव, जीवतां चेष्टामनुवर्त्तस्व च। यतः प्रभृति त्वं विपुलं धनं समग्रहीः, तेन च तस्करमित्राणि प्रभाव्य यशः प्रतिष्ठाम्, ताभ्याञ्च पुनर्विपुलमर्जयित्वा स्थूलीभूतोऽसि, चिन्तय, सूक्ष्मं विचारय, किमपि सत्कर्म कृतवानसि किम्? केवलं स्वरतिः शृङ्गारप्रियतां वर्द्धयसि, लोकेऽनुचिताचारचातुर्य्यं प्रवर्त्तयसि, न्यायेऽन्यायं द्रढयसि, महार्हमास्यां सेवसे महार्हं वेषं धत्से, नर्मसचिवैः पुनः पुनर्नमः स्वीकुरुषे। परं किमिदं स्थायि? लोकस्तव प्रदर्शनप्रियतां सम्यक् परिचिनोति, स्यान्नाम परिस्थितिवशो मूकः। एतत्प्रदर्शनं यावज्जीवसि यावद्वा धनं स्थास्यति तावदेव। पश्चात्त्वां ग्रामसूकरोऽपि न नंस्यति न च त्वयाऽऽलपितुं सज्जः स्थास्यति। अतो यावज्जीवनम्, यावद् वा धनं तावत्कुरु किमपि लोकहितम्।

बहुशो बोधितोऽपि प्रासादसज्जायै सचिन्तः, सुषमावतीनां भ्राजमानेषु भूषणेषु चमत्कुर्वत्सु वासःस्वनुरक्तः, शिञ्जितेषु वीणानुरणनेष्वाकृष्टः। एवं सति सत्यं बोद्धुं कथं शक्नुयाः? परमेतद्यौवतं (युवतीनां समूहः) आकर्षकं जगन्नात्रैव स्थास्यति, त्वञ्चैकदा रेणुकणकोणे भविष्यस्यज्ञातचिह्नः, अतः किमपि चिह्नं लोकेन ज्ञायमानं रचय।

सप्तधातुनिर्मितां ते मूर्त्तिं सपादलक्षमुद्रामूल्यामपि लोको निर्विकारो निर्लिप्तो द्रष्टेव पश्यति। लोकस्य दृष्टौ तस्या विहगोपवेशादन्य उपयोगो नास्ति। स्वामिनि मृते विहगविष्ठामपि नासां कश्चन परिष्करोति, अतस्ताः परिचेतुमप्यशक्यास्तिष्ठन्ति। एतत्सर्वथाऽनुपयोग्याडम्बरमेव।

पश्य, तव सजातीयाः प्रासादायितेष्वावासेषु निवसन्ति, युवतिभिः सह क्ष्वेलितैर्दिनानि क्षपयन्ति, सर्वानृतून् वसन्तान्, सर्वा रात्रीः सौभाग्यरात्रीर्मन्वते च। तत्रैव तव धनं वर्द्धयन्तो वराकाः कृपणाश्रुपरिक्लिन्नाः श्रमिणः श्वान इवेतस्ततो यष्टिलोष्टाघातं सहमाना अमाना अनुद्देश्या भ्रमन्ति म्रियन्ते च। क्षुद् रोगो भयं दुःखं मृत्युरपमानश्च तव स्वजातिप्रासादेभ्यो निर्वासितानीव तेषां गृहाणि भजन्ते, इत उल्लास उत्साह आनन्द

आरोग्यं समृद्धिः सम्मानश्च तेषां गृहेभ्यः प्रासादांश्च। परं तथापि त्वं तेषां वेतनमल्पयसि, सभयं काठोर्यं वर्द्धयसि, स्वयञ्चालितयन्त्राणां योजनेन तेषामुपयोगं क्षपयसि, पटून् क्षुद्राँश्छिद्रैककर्माणोऽधिकारिणः प्रलोभ्य श्रमिणः क्षुधितान् विधाय सन्तोषमावहसि, दयां द्रावयसि, सहृदयतां हापयसि, उदारतां विदारयसि। एवमक्ष्णोः पट्टिकामावध्य कर्णौ पिधाय स्वेच्छानुसारमाचरसि।

चिन्तय, तेषां स्थित्यै स्वापाय भोक्तुं वा भूमिर्नहि खादितुं घासो नहि, परिधातुं वासो नहि श्वसितुं श्वासो नहि, शयितुं वासो नहि, वर्णयितुं भाषो नहि, लिखितुञ्चेतिहासो नहि। लोकः शोकातुरः परमः। अवलोकय लोकमपि स्तोकं कदाचन। ते ग्रीष्मे स्विद्यन्ति, वर्षासु क्लिद्यन्ति, शरदि सीदन्ति, हेमन्ते शीतहेतिहता हुङ्कुर्वन्ति, वसन्ते वाचंयमा वञ्चनां वकजनस्य सहन्ते। यत्किञ्चिल्लब्धं भुक्त्वा पानीयं वा निपीय जीवनं धारयन्तः शरीरबन्धं यापयन्तो मुनय इव, मनोजवेन यौवनं व्यतियाप्य वार्द्धकं मृत्युं वाऽऽलिङ्गितुं धावमानाः प्राणान् विहातुं वाञ्छन्ति।

परं तथापि त्वां सम्मानयन्ति, त्वां पितृवद् देववत् पश्यन्ति, त्वां पापिनं नोद्घोषयन्ति। परं त्वं नितरां पापः। सर्वं दिनं दीव्यन् ष्ठीव्यसि तानेव चर्बितताम्बूलवत्। क्लेशयसि तानेवाभिनवक्लेशैः, कालकवलितान् करोष्यकाले तेषामेव यूनः, सुन्दरीश्चापहरसि तेषामेव। हन्त, दोषपरम्परा?

अभ्रंकषप्रासादपरिपूर्णायां पुर्यां ते शिरः पिधातुमपि स्थानं न लभन्ते। कश्चन कदाचन भद्रभगः चञ्चलाञ्चलः (वरारोहायुतः) सौभाग्यशाली शालां शयितुं लभेतापि सा रौरवमतिशेते, अभितो मलमूत्रप्रणालीनां दुर्गन्धेन, कर्दमावकरकूटेन मशकमक्षिकामत्कुणैश्च। यत्र विड्भक्षिणः शूकरा इव नरा निवसन्ति। क्षणहर्षाय जीवनेऽननुभूतपूर्वाय हर्षाय मद्यं गञ्जां भङ्गामहिफेनं वाऽऽस्वादयन्ति दुःखं विस्मर्तुं मूर्खीभवितुं वा, परमनेन दुःखं दारिद्र्यमेवैधते तव धनं यया।

कश्चनोदरपूरं भुङ्क्ते इति ते न जानन्ति, अजीर्णस्तु तेषां प्रज्ञापथमेव नावतीर्णः। प्रतिमासं प्रत्युपद्रवं प्रतिजनपदोद्ध्वंसं तेषामेव सङ्ख्या मृत्युपुस्तिकां पोषयति, तेषामेव शवसङ्ख्या शरीरशास्त्राध्यायिनां ज्ञानं दृढीकरोति,

तेषामेव सङ्ख्या त्वादृशाञ्छ्वविक्रयिणो धनिनः करोति। अन्येषु सर्वेषु मौनव्रतावलम्बिषु केवलं मित्रं मृत्युरेव तेषां दैन्यं दारिद्र्यं दारुणवेदनाञ्चाप-हरति।

स्यान्नाम ? त्वया तु कुवेरनगरम्, इन्द्रपुरम्, श्रीनिकेतनम्, लक्ष्मी-सदनम्, इन्दिराविहारश्च प्रतिदिनं निर्मातव्यान्येव। परमवधेहि यं यशोध्वजं स्वहस्तेन विस्फारयसि, उल्लासयसि, लोकस्तं त्वयि विपन्ने ईन्धनं विधास्यति।

इदं सत्यं त्वं समीक्षस्व, यल्लोकस्त्वां नहि, तव धनं वीक्ष्य, तुभ्यं राजत-मञ्जूषासु भ्राजमानं स्वर्णाक्षरमभिनन्दनमर्पयति, त्वां विदन्नपि विद्वांसं घोषयति, तव धनेनायोजितासु सभासु। बुद्धिमानेतत्सर्वं वेत्ति, मुग्धश्च तव गुणेषु मुह्यति, अनर्गलं शंसति च। परम्, मूर्खात् प्रशंसाऽकिञ्चित्करी।

तव जन्मदिने बहवो जनाः संस्थाश्चानाहूता एवाहमहमिकया तुभ्यमभि-नन्दनपत्राणि ददति, केचन भोज्यादर्शास्त्वदुदराः कुचरित्राः कव्याभासाः विशालमभिनन्दनग्रन्थञ्च। यत्र त्वं वंशपरम्परया धर्मधुरन्धरो घोष्यसे दैत्याव-तारश्च कन्याविक्रयी। परं जानीहि, ते त्वां प्रति न श्रद्धालवः, बद्धास्पदाः केवलं तव धनं प्रति। यतस्त्वं न वचस्वी न वर्चस्वी न यशस्वी न विद्वान् न दार्शनिको न सिद्धो न प्रियदर्शनो न प्रियभाषी नाचारचरित्रवान् नोदारो नैकदारश्च। तदा किमर्थं त्वां लोक उपैति ? विद्धि, तत्केवलं धनम्, स्त्रिया यौवन-मिवाकर्षकम्, यस्मै लोकः स्पृहयति, यदर्थं त्वामुपैति। बहुशः शृणोमि, यत्त्वया सह मन्त्रणायै कश्चनोपैति, परं स त्वां लोष्टमूर्खं विदन्नपि त्वया सह परिचयं वर्द्धयन्नेति धनाकृष्टः। बहवो धनिन एतादृशैः मन्त्रणार्थिभिरावृता अतिष्ठन्, येऽधुना निर्धना मशकैरावृतास्तिष्ठन्ति। तेऽधुना मूर्खा भूताः। अवधेहि, मूर्खास्तु ते वंशानुक्रमेणासन्, परं धनेन मौर्ख्यं तिरोहितमतिष्ठत्, तदधुना प्रकटितम्। न ग्रीष्मः सदा तिष्ठति न वसन्तः, न निशीथो न प्रभा-तम्। बहुशस्त्वं लोकमञ्चेषु लोकहिताय वक्षि, तस्मिन्नेव दिने च श्रमिणां शोणितं निर्भरं निपीय शेषे। स्मर, द्विर्भाषी सुजातः किम् ? अनेनाः किम् ?

परमेवं बहुशो बोधितोऽपि सर्वदुर्गुणखनिः प्रतिदिनं कञ्चन नवं दुर्गुण-मेवाधिजगे। तथाप्यस्य धनं वस्तूनां मूल्यमिव प्रतिक्षणमेधाञ्चक्रे।

तारे, तृष्णापिशाचोप्रणयी धनी सदैव स्वार्थाय मोहकपदार्थानुत्पाद्य लोकस्य धनं हर्त्तुं चेष्टते। स जडीकृतं तैलं घृतं चूर्णञ्च दुग्धं घोषयति। जनस्यार्थं स्वास्थ्यं विनाश्य स्वयमिन्द्रियभोगानभिलषति। सवाक्-चित्राणि निर्माय लोकस्य चरित्रं विकीर्य नीतिं विनाश्य विलासितां प्रवर्द्धय, अत्याचारमनाचारं व्यभिचारं चौर्यं छलं हिंसनं प्रसार्य स्वेप्सितं धनञ्चार्जयति।

तस्य लक्ष्यं धनमेव केवलम्। अद्य यन्त्रेषु कोटिशः श्रमिणो नरा नार्यश्च पशुवज्जीवनं कदर्थयन्ति। तेषां लाभः=रक्तार्जितं द्रव्यम्, तेषामेव रक्तापहाराय शीलविनाशाय प्रयुज्यते। तत्र स्त्री कथमुपमर्द्यते इति तु ता एव प्रष्टव्याः।

लोकं प्रपीड्य पुरा धनी भृत्यानकृत, सम्प्रति लोभजालं प्रसार्य। साधने विविधता फले नहि।

तदाहमस्य प्रेयस्यासम्। कालचक्रस्य घूर्णनध्वनिमनाकर्णयन् प्रेम्णा सोऽवदत्, शृणु, अन्यस्मै कार्याय त्वयाहं सम्मन्त्रयामि न वा, परमुपदेशाय त्वां कदापि न कष्टायिष्ये। परदोषनिरीक्षणसेक्षणता मोहाञ्जनमहिमा। एतादृशेष्वशक्यचिन्तनेषु गृहपञ्जरकोकिलया मस्तिष्काय न क्लेशो देयः। आः स्त्रिय आजीवनं सदसद्विवेकविहीनाः शिशवः। वयं पूर्वापरनिरीक्षणे विचक्षणाः। पीयूषकरधौततमा तमस्विनी, इदञ्च पुरातनं विदेशमद्यम्, निर्भरं निपीय भुज्यतां विश्रम्यताञ्च। त्वत्तो व्याख्यानं श्रोतुं न कामये। एतद् गहनं चिन्तनं सर्वथा दुर्जरम्, चिकित्सकैर्निषिद्धमिति।

अमूनि नगराणि गरपूर्णानि तारे, पर्युदासो नकारः। एतानि भ्राजमानानि वाणिज्याराणि दीप्तिमन्तः प्रासादाः जनाकीर्णानि पण्यस्थानानि, विलासवैभवपूर्णान्युद्यानानि विपत्त्रस्तजनानां मेदोमांसरक्तास्थिनिर्मितानि सन्ति।

हन्त, वयं विपन्नाः। पतिहीना पत्न्यः। पत्न्योऽपि नहि। दुर्मेधसा पाणिनिना यज्ञसंयोग एव पत्न्यो व्युत्पादिताः। परमस्माकं कतमः संयोग इति वदन्त्येव जिह्रेमि। घृणास्पदस्य संयोगस्य विवरणमप्युद्वेजकम्। स्यान्नाम, कश्चनाहिफेनमुपहरेच्चेद्वयं खेदगेहं देहं त्यक्तुं साभिलाषाः। वयं मुषिताः ध्वस्ताः।

कंसस्यास्ति प्राप्तिश्च द्वे कामिन्यावास्ताम्। अस्तौ सत्यां प्राप्तेः परमेच्छुका अधुनापि बहवः कंसाः। एषां निर्हरणाय कश्चन दण्डधरः पशुपालो मृग्यः। यतो बुद्धिजीविनो बहुविधविचारव्याकुलः कर्त्तव्ये विकलास्तिष्ठन्ति निश्चयमगच्छन्तः। अहो दिनेन्धनः कालानलः सौन्दर्यं सौर्यं वैदुष्यं वैभवं वपुंश्च भक्षयति निरवशेषम्। अदृष्टापि दुरदृष्टिवृष्टिर्देहगेहं प्रवाहयति।

एडकाचर्नणि व्याघ्र एष इन्दुदर्शने (ईद) यवनान्, ईश (शा) जन्मदिने ऐशान्, विजायायामार्यांश्चाधिकारिणो विरमयकारिणा सत्कारेण तर्षोयमि परमोऽस्थिचूषी कुटिलः सर्वधर्मसमतां ख्यापयन्।

बहव एतस्य विरोधिनः सन्ति। परं क्लीयबहुले लोके दार्ढ्यं नास्ति, स्वल्पेऽपि वैषम्ये शीर्णपर्णवद् पतन्ति। बालुकागिरिरपि जलौघेऽकिञ्चित्करः। वणिक्पथस्य चतुष्पथे मद्यपो मद्यं पीत्वाऽपि मद्यपमेवंविधमवाच्यमभद्रं वचो न वदति, तथाविधमयं सर्वेषां समक्षं प्रतिष्ठितेभ्यः कर्मकरेभ्य उच्चारयति। मलिनतमेषु कार्येषु शिथिलमप्यनार्यस्य रक्तं चञ्चलतां बिभर्त्ति। घृणयेक्षमाणा प्रकृतिरप्युपेक्षया तं दुर्भावैरेव योजयति। परं कष्टनष्टः प्रमत्तमेनमेवार्थयते। भीषणमथैकष्टं मानवमनुचिताचरणाय प्रेरयति। तृषार्त्तो विषाक्तमपि जलमाम्रष्टुमीहते।

स्वं सन्देहसिन्धौ निपात्य जीवनेन धनेनैनं प्रीणतोऽल्पे प्रातिकूल्ये भ्राष्ट्रे निपातयति भेषजमात्रया वा भवबन्धनाद्विमोचयति घोषयति च धनमपहृत्य द्रवणम्। पङ्कादुद्धृत्यैनं पङ्कजमारोपयतो निश्शेषं पङ्के निमज्जयति। नैतादृशी कृतघ्नता क्वापीतिहासे लभ्या। अस्य मनोमधुराणि वचांसि विषसिक्तानि भ्राजमानान्यायुधानीव घातकानि। श्वेतपरिधानस्याधः कालिम्ना पूर्णो गरीयानितिहासः।"

बहु वक्तुमाधस्तायां क्षमामभ्यर्थ्य पुनरागन्तुं निवेद्य यातुं प्रस्तुता। चतुर्थी मां प्रतीक्षमाणा पथ एव हस्तावामृश्य गृहं नीत्वोपवेश्य जम्बीरशार्करमपाययत्। वृत्तं वेदयितुं व्यग्रा क्षुभिता साऽऽरभत—

"क्व निपतसि तारे? एनं परिहर साद्यन्तं सविग्रहं विश्वासघातम्। नास्माद्धनं लभ्यम्। मृगतृष्णया कस्य पिपासोपशमः? अथ च यद्धनं वनमिवैधेत

प्राप्येतापि किं तेन ? धनमहत्त्वेन जीवनं कुजीवनम्। प्रेम्णा प्रसादेन प्रशंसया विलसितमेव जीवनं जीवनम्। तादृग्जीवनं जीवितुं मा प्रवर्त्तस्व तारे। उन्मत्तनृत्तोपमेन वित्तेन मुग्धो मानवः परमाप्यायनं मनुते, केवलं विनिमयसाधनेन। परं सत्यमाप्यायनन्त्वन्यदेव। महानयं गर्त्तः, अपसर तारे, अपसर। आत्महत्या पापम्, परं जीवनं कुतः पुण्यम्, अश्मभञ्जिविलपनपूर्णम्। बदरीमारोहमाणः फलापेक्षया कण्टकानेवाधिकं लभते। तारे नास्मासु पतत्पत्र ऋतुः सर्वदा, महता रागेण परागेण परिमलेन विकासेनास्मासु वसन्त उषितः परं कपर्ददावः सर्वं भस्मसाच्चकार। अस्माकं जीवनं व्यतीतं प्रतीक्षायाम् सर्वं दिनं रात्रेः प्रतीक्षायाम्, निशा च प्रातः प्रतीक्षायाम्।"

"अस्तु, पुनरैष्यामि"—इत्युक्त्वोत्तिष्ठासन्ती पुनरुपवेशिता ताम्बूले सत्कृता प्रणम्य क्षणेनोत्थिता।

जगदञ्जनदीपं प्रकृतिवातो निरवापयत्, तन्निर्वाणे धूमो ध्वान्ततामगच्छच्च। जरत्यै दास्यै मुद्रामेकामुपहृत्य श्वः शीघ्रमागन्तुमादिश्य प्रत्यागच्छम्। तासां वृत्तश्रवणस्पृहा बलवत्यभूत्। बहूनां रहस्यानां प्रकाशोऽप्यपेक्षित आसीत्, अतः परदिने दशमनादनसमयेऽगच्छम्। पञ्चमी मां प्रत्यैक्षत। राजार्हं भोजनं सज्जमासीत्। त्रिविधमोदनमुपविंशानि शाकानि सौहार्देन सज्जितान्यासन्।

साऽवदत्—अहोः कालात् परमद्य भोज्यसज्जामकार्षम्। तस्या आग्रहः सज्जाश्रमश्चापूर्व आसीत्। कदलीदलद्वये जरती दासी भोज्यं पर्यवेषयत्। उत्कूलस्नेहेन निर्मितस्य भोज्यस्य स्वादनिरूपणे जिह्वा मूका। भुञ्जाने आवामालपाव। पञ्चम्यवदत्—"कण्टकार्याः कुसुमे रागस्तु परमो मनोहरः, परं परिमलः कुतः ? मानवस्य परिमलस्तस्य ध्येयः, य एषु त्रिकालबाध्यः। केषांञ्चित्पादपानां पुष्पं मनोहारि, परं तेषु फलानि नोत्पद्यन्ते तद्वदेषां वचांसि। भाषावन्त एषु बहवः परिपक्वाश्च स्वोद्देश्ये। परं चरित्रवानेषु प्रतिकोटि स्यात् कश्चन जन्मना क्लीबः। एषां मतौ नार्यो भोग्या नान्यत्। अत एवैकस्या उपरि परां वर्णवर्गवेषदेशनिरपेक्षोऽपक्षीणमध्यां सुन्दरीं गृहसात् कुरुते रूपोत्सुकः सौरभमोदी मधुपः कर्णिकारकुसुममिव क्षणादुत्तरं पूर्वां

त्यजति च। भुञ्जानायां परा सुन्दर्याजगाम। पञ्चम्यसूचयदेषा मम सपत्नी। सा ताम्बूलं चातुर्य्येण रचयन्ती मनोयोगेन वृत्तश्रवणे लग्ना। पञ्चमी ग्रासं गिलन्त्यवदत्—अस्य कार्यं मद्यपानं मोषणञ्च। लोकः कथयति यल्लोके सभ्यता वर्द्धते जाङ्गलिकता नश्यति च। परं पूर्वं यथा नरमांसभक्षिणो नरा आसँस्तथाद्यापि आस्वादमास्वादं भक्षयितारः सन्त्येव पूर्वादधिकाः। परं प्रकारस्तस्य परिवर्त्तितः। परं किमनेन ? मृत्युः केनापि भवेत् स तु मृत्यु-रेव। पुरा नरबलिरासीत् परमधुना सोऽवरुद्धः किमु ? प्रकारः परिवर्त्तितः। सागरसरिद्गुर्वीयमुर्वी व्याप्ताद्युनैतादृशैः।

पञ्चम्यां कवलं गिलन्त्यामरुचितवार्त्ताभङ्गा षष्ठी प्रसङ्गोपात्तं वृत्त-मेकेन श्वासेन विवृण्वती मा नाम पञ्चमी वृत्तान्तरमुपस्थापयेदितिभीत्या सत्वरमवदत्—स्वस्य चतुरो भ्रातॄन् समयमित्रो जटिलच्छद्माऽप्रजानेव व्यापादय-त्तेषां व्यभिचारदूषिता वधूश्च क्षणमुपभुज्य कशास्रावितशोणिता भ्राष्ट्रमगमयत्। एकान्तधनोपयोगाय धनान्धवात्यया संवृतचक्षुर्घातप्रतिघाते व्यग्रः कं पश्यति ?

सप्तम्यपि समेता षष्ठ्या वृत्तं श्रुत्वा मुखरिताऽवदत्—तथाविध एवास्य श्यालको दुर्धर्गा दुष्कर्माऽस्माच्छतगुणो दुष्टः सहस्राक्रोशः। अपुनरावृत्ति-रहिता अभिनवा गालीर्धाराप्रवाहमुदवमत्।

जाने नहि कस्मिन् राष्ट्रे एतादृशो विश्वविद्यालयो यस्मादनेन शिक्षण-मधिगतम्। स पिशुनसम्राट् व्यभिचारिवर्यो लोकं निन्दन्नेवावर्त्तत। वस्तुतो दोषैः परिपूर्णः स्वामिनो ध्यानं स्वस्मात् परावर्त्तयितुकामः परेषां दोषाभासा-नाविष्करोति। एष श्यालकवातोऽस्माकं श्रमिणाञ्च जीवनोपवनेष्वमङ्गल-कुसुमान्येव व्यकासयत्। न तस्य शासनाद् भयम्। साधनशून्यो वराकः शासनं नाम कथमनुकूलयेत् ? कस्तस्य वाक्कीलः ? स्याच्चेन्नकारस्यानुजः।

पञ्चमी—श्यालकोऽपि स नासीत्, परं धनमहिमा सर्वानेव निकट-विप्रकृष्टान् श्यालकीभवितुं प्रवर्त्तयति। कपर्दस्य बान्धवाश्चतुरा अपि कार्यं नालभन्त। श्यालकाश्च वैभवविलासेषु सर्वं दिनं यापयन्तो भगिनीबला भार्याबलाः पुत्रीबला राजान इवातिष्ठन्। अथ चैनं कश्चन सज्जन उपे-यादपि कथम् ? विषवृक्षस्य निकटे नेतरे सद्वृक्षा जनिं स्थितिं वा लभन्ते।

अस्तु, समयः सूचयिष्यति यदेषोऽग्निर्लोकस्य ज्वलनाय ज्वलितो ज्वलयितारमेव धक्ष्यति। एनं निकृष्टदुष्टमासाद्य प्रथमपरिणयस्य स्निग्धः सङ्कोचः साक्षात्कर्त्तुं सज्जनोत्तेजना च न कदापि कयाप्यनुभूता।

भोजनं समाप्तम्। गण्डूषे कृते षष्ठी नागवल्लीदलम्, सप्तमी सुरभिपूगीफलमदात्। अहं सर्वा नमस्कृत्य दास्या सहाष्टमीमुपेता। सा सुप्ताऽऽसीत्, कवाटध्वनिना जागरिता। तस्याः कुटीरे वस्तुजातमस्तव्यस्तमासीत्, अमर्षवशेन वन्यपशुना विकीर्णमिव, अप्रसन्नेन धनपतिना बहिर्निःक्षिप्तं श्रमिणो गृहसम्भारमिव। सर्वतः स्वेददुर्गन्धः प्रासरत्। तस्या मस्तिष्कं विकृतमिव प्रत्यैयत। साऽवदत् क्षमस्व तारे, बुद्धेरस्थैर्येण किमपि यद्यसम्बद्धं प्रलपेयम्। अपि स्त्रीत्वं जानासि तारे? यदा सौहार्दस्नुतं कणं कामिनी स्वशोणितेन वर्द्धयति सहर्षम्, यदा प्रेम्णो वासनाया विषयस्य वा क्षणो व्यक्तं रूपं समासाद्य महिलाया उत्सङ्गमालिङ्गति, यदा जीवनमालायां परो मणिर्ग्रथ्यते, यदा कुलस्य कलनायामेका सङ्ख्या वर्द्धते यदा च प्रेमा रूपमाप्य कलमालपति, तदा स्त्रिया रोमाणि हर्षाप्लुतानि भवन्ति, तदा तस्याः स्मितकणोऽमितसमुद्रतामुपैति। अस्माद्विपरीतञ्च यदा प्रेमा रूपं नाप्तुं शक्नोति, प्राप्तं वा विनश्यति यदा हर्षाश्रूणि नैराश्यनदस्य तटमाघ्नन्ति, यदाऽनाश्रया विकला विचारा उत्थायोत्थाय लीयन्ते यदा सा शून्य उत्सङ्गे प्रेम्णो व्यक्तरूपस्य स्थाने सरमासुतमारोपयति तदा, तदा सा रोदिति, तथा रोदिति येन मानससरोवरः पूर्य्यते, एतत् स्त्रीत्वम्। परमेष दुष्टः स्त्रीत्वं विच्छेदयन् वन्ध्यकारान् प्रयुञ्जानः प्रजां नैच्छत् गर्भानच्यावयत् आशङ्कमान उत्तराधिकारम्। अहं सुतमसविषि त्रिभुवनसुन्दरम्। एष व्यश्वसद् भृत्यजम्। कस्मादपि भवेत्सोऽबिभेदुत्तराधिकारात्। एकदा तस्मिन् रुग्णे मदङ्कपर्यङ्के शयाने एष दुष्टो प्रस्नुतपयोधरामपि कुकार्याय प्रसह्य प्रैषयत्। सायं प्रतिनिवृत्ता शिशुं निरसुं हिमशीतमपश्यम्।

वसन्तस्य वर्षाणां शरदो हेमन्तस्य च रात्रेः शून्ये प्रहरे कापि रमणी स्वशय्यामात्मद्वितीयां पश्यति तदा सा मूकं चीत्करोति। येन तस्याः शरीरं

कणशः सम्पद्यते परं भाविन्याशया कथञ्चिदपि तान् कणान् समुह्य सञ्चिनोति। परं यदा साऽऽशा सर्वकालाय व्यपगता भवेत्तदा किमु वक्तव्यम् ?

रक्तेन यः पोषितो भवेत्, जीवनं सन्देहसिन्धौ निपात्योत्पादितो भवेत्, अशेषां निशां जागरित्वा पालितो वर्द्धितो भवेत् तस्मै कथं नाम नाकर्षणं भवेत् ? दग्धकुक्षेः स्त्रिया वेदनां वेदितुं न कश्चन क्षमस्तारे !

सर्वमिदं वृत्तं स्मृतिमन्दिरे खचितं मणिमिव सम्भाल्याहमरक्षम्, यत्कदाचन कञ्चन कथयिष्यामि। दैवात्त्वमुपेता। अद्य त्वं क्षणमवतिष्ठेथाः, तारे येनाहं वैकल्यं बहिष्कुर्याम्। परमुद्वेजकं वैकल्यम्।

चन्द्रस्य कलङ्काः वीक्षितुं शक्यन्ते परं सूर्यस्य नहि। परं सूर्येऽपि कलङ्कास्तु सन्त्येव, चन्द्रादपि बृहत्तराः। परं सूर्यस्य तेज इव धनिनो धनं कलङ्काना वृणोति। अहो भूरिभावानि भूरिमायानि भुवि भूतानि।

पूर्वमहमस्य प्रियतमाऽऽसम्। अनन्तैश्चाटुकारैरेष मां परिणिन्ये किं वाऽऽनिन्ये। अहं तत्र पुष्पाणि विक्रीणानावर्त्तिषि। मम गृहं नयनतालम्, धरायां स्वर्गः। पुष्पाणां सज्जां रम्यामहमकार्षं पुष्पपिठरे। अम्लानानि पुष्पाणि। लोको मां पूर्वं पुष्पाणि पश्चादपश्यत्। लोकः पुष्पाण्याश्रित्य मया सह बहुश आलपितुमैच्छत्। यथाहमेव तेषां प्रधानं लक्ष्यमासमिव।

—कुतः समानीतवत्यसि सुभगानि कुसुमानि ? अस्माभिस्तु कदाप्यत्र दृष्टान्येव नहि। आलपतां दृष्टिर्मम मुखेऽभवत्।

—तव काचन स्वकीया वाटिका विद्यते किम् ?

—अमूनि बीजानि कुतः प्राप्तवत्यसि ?

—कस्तव परिजनः ? किं त्वमेकाकिनी ?

—कस्य कूपस्य जलं पिबसि ? कस्य हस्तेन पिष्टमन्नमत्सि ? येनेदृशो भूतासि।

यदाहं सप्तवर्षाऽऽसम्, तत एव लोकस्य विषाक्तां दृष्टिं वेद्मि। अहं कार्यव्यग्रा पुष्पाणि सज्जयन्ती स्रजो रचयन्ती लोकमनुत्तरन्त्यासम्। क्रेतार आसन् पञ्चषा आलापकाश्च शतम्। कस्मै कस्मा उत्तरमहमदां नाम ? कदाचन कञ्चन दुराग्रहिणं कथञ्चनोदतरमपि परमिमान्युत्तराणि सङ्केतप्रधानान्या-

सन् बहुशः। लोको मां पणस्थाने कदाचन राजतीं मुद्रामदात्। शैशवादेवैवंलोकं समीक्षमाणाहमासम्।

केचन जनेषु प्रयातेषु मम स्मितेन स्वगृहं भ्राजमानमकथयन् केचन ध्वस्तम्। कश्चन स्वं जितममन्यत, कश्चन पराजितम्। कश्चन ग्राहकाणामभावे सँल्लापकानामनुपस्थितौ मां शनैश्शनैरवदत् "गौरि, तव मधुरमादकहासाय रत्नाकरस्य सर्वाणि रत्नानि समाहर्त्तुं शक्नोमि, परं जडानि रत्नानि किमु ते हासेन साम्यमासादयिष्यन्ति ? स्वभावशोणितस्याधरस्य स्पन्दनाय स्वर्गात्सर्वाणि पुष्पाण्यहमानेतुं प्रयत्नमातिष्ठेयम्, यदि स्यात्साम्यम्। परं निश्चितं वच्मि, साम्यं न भविष्यति। तव सन्निधौ सर्वास्तिथयो ज्योत्स्नया युताः पूर्णिमाः। सर्वे ऋतवो वसन्ताः। सर्वं विश्वं नवीनम्। सर्वः क्षणो हर्षाप्लुतः। पाषाणकणास्तव हासेन मुक्ता इति।

यथा मधौ नवपल्लवानि, तेषु पुष्पप्रसवः, तेषु झङ्कारमुखरा भ्रमरास्तेषु च मादिनी दशा स्वतो यथावसरमाविर्भवति, तद्वन्ममापि मनसि किमपि जायमानमवर्त्तताशिक्षितमप्रेरितम्।

अद्यतने काले सौन्दर्यं यौवनञ्च महत् पापम्। अभितो गुञ्जतां परसन्नारीज्वरकारिणां भ्रमराणां यूथम्। तेषां गुञ्जनं तदा बोधगम्यं नासीत्, बुध्यमानञ्च व्यवह्रियमाणं नासीत्। परं तदपि—वयसो दौर्बल्यमेव मन्यताम्—सङ्कोचकमिव अव्यक्तमाह्लादकमासीत्। कश्चनौष्ठध्वनिना कश्चन तालैर्मामाक्रष्टुमैच्छत्।

यौवनारम्भे ममैकः प्रिय आसीत्। बलवानियान् यत् स्पृष्टो गजोऽप्याजायत। मल्ला द्वन्द्वयुद्धे, आखेटिनो लक्ष्ये, दाण्डिका दण्डे, खाड्गिका खड्गे, अश्वारोहिणोऽश्वद्रुतौ, कूर्दकाः कूर्दने, कान्दुकिकाः कन्दुके, धावका धावने, तारकास्तरणे, गायका गाने, वादका वादने, नर्त्तका नृत्ये तस्य कौशलं सेर्ष्यं स्वीकुर्वतेस्म। बले वन्यो महिष इव, क्रोधे विपिनविहारी वराह इव, स्फूर्तौ श्वेव अवधाने शश इव स आसीत्। होलिकोत्सवे मृदङ्गं पणवं वंशीमलङ्गुञ्ज-(अलगोजा) मादाय प्रोद्दामरसं प्रवाहयन्तो नरा नार्यश्चाभङ्गतरङ्गैः परस्परमालिङ्गन्। तदा तस्य मम च कर्म प्रेक्षणीयमभूत्। पुरुषेष स, स्त्रीष्व-

हञ्च प्रथमावभूताम्। सर्वदा ग्रामाद् वहिः प्रातर्निर्निमेषं प्रतीक्षमाणोऽवर्त्तत। अवदच्च त्वां वीक्ष्य परमां तृप्तिमनिर्वचनीयन्तोषञ्चानुभवामि। स भग्नगृहोऽर्थविहीनो मृतमातापितृको दरिद्रो गाश्चारयन्नवर्त्तत दुर्गमगमनेन, स्फूर्त्या, लोकस्य निर्माय्यं कार्यं कुर्वन् प्रसिद्धिमध्यगमच्च। "मैवं मुग्धो भव, उद्यम, किमपि कार्यं कुरु, जीवनं विशालम्"—एकदा रुदत्यहं तमवोचम्—"किञ्चिन्तयसि मदर्थम् ?"

"नारीणां परमास्त्रमश्रु। मयि स्थिते त्वया न चिन्तयितव्यम्। प्रतिजाने, त्वामहं न त्यक्ष्यामि" एवं वदन् मुग्धस्मितः स मामस्पृशत्। अहो सुधाप्लुतः स्पर्शः। परमहं हावं नाटयन्ती तमभर्त्सयम्—"विरम, मा मां स्पृश, च्छलिन् ?

हन्त, तानि दिनानि मे व्यतीतानि। अस्तु, पुष्पाणि विक्रीणानाहं शैशवं समुत्तीर्य वयःसन्धिं समाप्य यौवनं प्राविशम्। अक्षतं यौवनम्, अनाघ्रातमस्पृष्टमयातयामम्। एषु दिनेषु कश्चन नवीनो युवा मत्तः पुष्पाण्यक्रीणात्, यावन्त्यभवँस्तावन्ति सर्वाणि। प्रतिदिनमहमेकां मुद्रामलभै। कदाचिदाणकद्वयं न्यूनं कदाचिदधिकम्, परमेषु दिनेषु स मां प्रतीक्षमाण वागात्, मुद्राद्वयं दत्त्वा सर्वाणि पुष्पाण्यक्रीणाच्च।

एकदा स मामवोचत् 'राज्ञि, त्वामहं राज्ञीमेव विधास्यामि, मम स्वामी राजा वर्त्तते, विपुलस्य धनस्य यशसो भवनानाञ्च। त्वं तस्य मनः प्रविष्टा। स एव मां प्रेषयति। कथय का तवेच्छा ? अहं किमपि नावोचम्। स प्रतिदिनं समये समैत्। मया राज्ञां राज्ञीनाञ्च कथा वहुशः श्रुताऽऽसीत्। अस्मै आनन्दाय मनसि स्थानमभुत्। शनैश्शनैर्मानसाकाशे तस्मै प्रणयचन्द्रिकोदैत्। प्राणेषु वैकल्यं स्नेहसौरभं प्रासरत्। एकात्मताया अनुभवः परिपाकाभिमुखोऽभूत्। उदधौ तरङ्गा इव मनसिकल्पना अक्रीडन्।

पुनरेकदा सोवदत् सुन्दरि! हस्तस्य दाहविघाताय दर्वी प्रयुज्यते, नान्यत्तस्याः प्रयोजनम्। नार्य्याः सौन्दर्यमपि तद्वत्। तस्य फलं त्वं प्रापः। इति।

अहं स्वविहीनाऽऽसम् मया स्मितेन सर्वं स्वीकृतम्। परस्मिन् दिने मरुत्तरेण वयमेकं ग्रामं गत्वा दिनमतिवाह्य रात्रौ वाष्पयानेन कलङ्कितामुपेताः।

अहमचिन्तयम्, यदहं तस्य प्रेयसी, निःसपत्नीका प्रेयसी भविष्यामि। परमत्रागत्य ज्ञातं यत्प्रेयसीनां सङ्ख्या गरीयसी। अनुवर्त्तं (लगातार) गणनेन गलस्य श्लेष्मा शुष्येत्, इयती विशाला।

यौवनवेदनोद्विग्नेव वलयिता निशासुन्दरी नीलाञ्चलेन चन्द्रदीप-माच्छादयन्ती अभिसारपथे शनैः शनैर्निश्शब्दं प्रायात्।

एकस्मिन् भवने सौभाग्यरात्रेः प्रबन्ध आसीत्। अहमचिन्तयं यत् प्रियः समेत्य कलया कवितया ममावगुण्ठनं हरिष्यति, मन्दं मन्दं निश्शब्द-पदमुपेत्य मिथ्यानिद्रामधिगताया मम सौन्दर्यमतृप्तः पास्यति। मां लब्ध्वा स आत्मानं प्राप्तप्राप्तव्यं मंस्यते च।

मदयन्तीमण्डिताऽलङ्कृता प्रतीक्षमाणा चिन्तयन्त्यासं यत् स प्रसह्य ममावगुण्ठनमपहरिष्यति चेदनिच्छां नाटयन्ती लज्जया सङ्कुचिता भविष्यामि। स च धृष्टः स्मयमानो मम कोमलान्यङ्गानि स्पृशन् दिव्यां मादकतां जनयन् स्वप्नसृष्टिमुद्भावयिष्यति, इति।

कलङ्किता तमस्तोमे महाकालमन्दिरस्य वितान इवाकाशे नील-वसनं परिधाय निश्चेष्टं निद्रितां निशीथिनीं भृशमालिलिङ्ग। मम स्वप्नसृष्टिर्ध्वस्ता। स मञ्जनट्याः कक्षमगच्छत्। वासनावासस्य वासना नाल्पेन निवर्त्तते। अग्निमधिश्रितस्य पयसः परमुत्सरणं जलस्य द्वित्रैरेव बिन्दुभिर्न शाम्यति। प्रतिनिशं कपर्दः कस्या अप्यतिथिः, कापि वा कपर्दस्यातिथिः। सायं यदाऽनङ्गौ कपोलौ कलङ्कयितुं वलीविरहितौ कठिनौ कुचौ नमयितुं सज्जां तनोति सुवर्णशस्त्राणि दधत्, पुरातन-राजस्थानीयक्षत्रियाणां युद्धसज्जा स्मृतिपथमुपैति। समस्ता निशा प्रतीक्ष्यमाणया गमिता। प्रातर्देवलः प्रतिष्ठितां पाषाणप्रतिमामुन्निद्रयितुं घण्टया शङ्खेन मृदङ्गैर्ढक्कया च वातावरणमातङ्कयायास मूर्खः। यदि स भगवानभविष्यत्तदा किमेवमभविष्यत्? पाषाणः, उत्कीर्णः पाषाणः मानवेन मानवाकारं स्वरूपानुरूपं टङ्कैश्छिन्नः पाषाणः।

प्रसवोन्मुखीं निशां निरीक्ष्य सहवासविरतश्चन्द्रोऽन्यामाशामालिङ्ग्य कुटीमविशत्। जरायुक्षरच्छोणिता निशा प्राचीकुक्षितो भानुशिशुमसूत। तस्य रोदनमनुरुवतां पक्षिणां कलकलो विश्वं व्यापत्। प्रभातवेला धनिनो विधवेव लोकं कर्मणि नियोक्तुं रक्तेनाक्ष्णाऽपश्यत्।

परदिने दास्यः पुनर्मां सज्जयामासुः। मम शय्यां पुनः पुष्पैराच्छादयामासुर्विद्युद्दण्डैर्भवनञ्च। परमेष निशीथोत्तरं समेतः क्रीतवस्तुन आवरणमिवावगुण्ठनमपनिन्ये मूकः। तस्यास्यं हास्याय निर्मितमेव नेतीव प्रत्यैयत। प्रतीक्षमाणया मयैव प्रियो दृष्टः, वन्यकन्द वत् स्थूलः, स्थूलनासः स्थूलकपोलः स्थूलौष्ठः स्थूलोदरः स्थूलदन्तः परं सूक्ष्मभालः सूक्ष्मनेत्रः सूक्ष्महनुः सूक्ष्माङ्गुलिर्मूर्खस्मितः, कालीजिह्वः, स्तब्धहनुरकलकथो यौनव्याधिविषाक्रान्तः कज्जलीभूतो धवलिम्ना कलङ्कान् तिरोधित्सन्।

उष्णं भक्ष्यमाणं जिह्वां दाहयति, मम तदेव परिणतम्। अहमचेतनेव सञ्जाता, परं रज्जुर्हस्तान्मुक्ता। विपुलरमणीकामुको मद्यं निपीय कामनाभिः सह मामपि विमर्द्यास्वपत् क्लीवः।

तारे, स्नेहस्य पूर्त्तिर्मोदकेन नहि, सा स्निग्धवीक्षणेनैव। अस्य मुद्रा मां व्यामोहयन्। सागरस्य तुलनायां गोष्पदमवृणवम्, कुसुमिता लता फलपुष्पसमृद्धं सहकारपादपं विहाय श्वेतकण्टकावृतं बब्बूलमाश्रिता, भ्रमरी मधु विहाय गुडमलमभ्यलषत्। तद्वदहं भोगाभिलाषा दुष्टा वासनाया नश्वरसौरभं प्रत्याकृष्टा, जीवनप्रियतमं सहचरं भ्रमनिशीथे विलपन्तं विहायेहोपेता। इतः प्रतिपदं पुष्पाण्यवकिरन् कपर्दः कतिपयेनैव कालेन वैपरीत्यं गतः। कालपक्षी यौवनान्नकणानवाचैषीत्। अधुना काऽऽवश्यकता?

धिगनुरागं कुपात्रनिवेशितम्। रूपस्य लुण्टाकः प्रेमाणं कथं परिचिनुयात्।

एकदाहमस्य पादौ स्पृशन्त्यश्रूणि सारयन्त्यवोचम्—'त्वमधुना कथमित्थं भूतः? तदा त्वया कथं न विचारितम्? यदा मम कपोलौ कुचौ वलीविहीनावास्ताम्। यौ तवाज्ञया त्वां धनपतिं कर्त्तुं निकृष्टद्रष्टानामधिकारोन्मत्तानां क्रूरकरैः कठोरौष्ठैर्विमर्द्दितौ। ययो रेखासु तवेतिहासश्चकास्ति।

अपि स्मरसि ? लोहस्यानुमतिपत्रं यदाऽऽनयम्, शकसेनस्यावासे मासमेकमुषित्वा, सिंहस्यावासे निशात्रयञ्च, तदा त्वया मम चरणौ चुम्बितौ, मां स्कन्धे चारोप्य त्वमनृत्यः। परमद्य मामेवं कदर्थयसि कदर्य ? एतादृशी दारुणा घृणा ? अद्याहं कण्टकाक्षी शाकिनीभूता किमु ?

अहं बहुशः स्वं पृच्छामि यत्स सत्यमेव मय्यस्निह्यत् तदा कथं मम हासेन परेषामावासान् व्यभासयत् ?

विचित्राऽद्यतनजगतः स्थितिस्तारे, अद्यत्वेऽधिकारिणोऽपि बहुविधाः। केचन मुद्राधिकारिणः (टकाबाबू) केचन मद्याधिकारिणः (बोतलबाबू) केचन मत्स्याधिकारिणः (मांछबाबू) केचन बालाधिकारिणः। (छौकड़ीबाबू) एतदमोघमस्त्रम्।

वयं लुण्ठितास्तारे, अकणनिश्शेषम्। विभवविलासोऽपि व्यपगतः। विभवशून्यासु घटीषु प्रियवियोगो व्याकुलयति कुलीनम्।

विपत् पुमांसमूर्जस्विनं करोति। पाषाणशकलेष्वपि पुष्पोद्गमः। त्वं कथयिष्यसि यन्महिला किं कर्त्तुं शक्ता प्रकृत्याऽबला ? इति। परं क्षणमपि द्योतमाना विद्युत् विश्वं प्रकाशयति।

अद्यतनः समाजः पीडायां प्रतिष्ठितः सा च समाजानुमोदिता। यस्य यष्टिस्तस्य महिषी। अद्यतनो मानवः कल्पनारम्यं लोकं मधुमुद्रामहिलेति मकारत्रयेण विजिगीषते। अद्य विलासो विकासः, धनानन्दो ब्रह्मानन्दः श्रेष्ठा गरिष्ठा प्रतिष्ठा, सज्जैव शुद्धिः भाषणमेव ब्रह्मविचारः। पर्ज्जन्यधाराणामखण्डाभिषेकेणाभिषिच्यमानोऽपीङ्गालको यथा घृष्यते, चिरन्तनसंस्कारवशात् कृष्णतामेवोद्गिरति।

अस्य शतशो वारुणीगृहाणि (वार) विहाराश्च सन्ति। येष्वसङ्ख्येयाः सुहासिन्योऽनेन पूर्वमुपभुक्ता अधुना विनैव जलमश्रुसरसि स्नान्त्यो लोकं ह्रासयन्ति सवस्त्रा अवस्त्राश्च, द्विवेलं भोजनं वासांसि मदुरायितां कुटीं पञ्चविंशतिमुद्राश्च प्रतिमासं लभमानाः। रसिकेभ्यो यल्लभ्यते तदप्यस्यैव।

तारे, कदाचन निष्क्रिया शान्तिः कदाचन कुकार्यभारः कदाचन श्रमजं लाञ्छनम्, कदाचनोत्पीडनमस्मान् सम्प्रति परितापयन्ति।

पुरा तु कुकर्म कुर्वन्नयं शासनादबिभेत् । परमधुना बालाबल उत्कोचवलोऽर्जितविपुलधनो दृढाभ्यासो निर्भयः, अत एव स्वातन्त्र्येण तव गमनागमनं भवति । एवं प्राक् कदापि न भूतम्, कस्या अपि । तवागमनं स किमपि विचार्यान्विमंस्त, परं त्वयापि विचार्य कार्यम् । अवधेहि, कपर्दः केवलं स्वमेव जानीते स्वस्मै प्रयतते च । तस्य प्रियः परिजनो धनं दुराचारश्च । ध्येयमात्मवैभवं मुद्रामहिलामद्यम् । कपर्दो लोकाय मृतो लोकश्च कपर्दाय । तारे, स्त्रीणां सर्वाण्यस्त्राणि शस्त्राणि प्रयुक्तानि, परं व्यर्थानि । एष स्वच्छन्दं कोष्ठेषु गोष्ठविहारीव चचारैव । अस्यायं स्वभावः प्रतिदिनमेष एकस्या संसारसौभाग्यं पादैः सम्मर्द्य विवाहवेदीमारोहति प्रसादस्य विजने क्षौमे, तैरेव शोणिताक्तैरशुष्कैर्हस्तैर्मदयन्तीं रचयति । एकस्याः सीमन्तसिन्दूरं विलोप्य परां सिन्दूरमायोजयति ।

एकदाहमेनमवोचम्—"समाप्तषष्टिकः किमर्थं षोडशीः कदर्थयसि ?" एष उदतरत्—"कान्ता मनोरञ्जकजीवितद्रव्यादतिरिक्तं नान्यत् किञ्चित् । मुखेनोपभुज्यमानं भोज्यम्, इन्द्रियान्तरैश्चोपभुज्यमानं भोग्यम्, तादृशवस्तुषु स्त्रियाः प्राधान्यम् । मनोरञ्जनाय लोकस्तां नर्त्तकीं वेश्यां भृत्यां रक्षितां लेखिकां सचिवां विपणिपालिकामध्यापिकां वा करोति, कदाचन परिवर्त्तनप्रियो राज्यपालिकां मन्त्रिणीं न्यायाधीशां वाकीलां कवयित्रीं वा नियोजयति । कदाचन तस्याः रसवतीं सरस्वतीं कदाचन तर्ककर्कशां युक्तिं कदाचन यमकश्लेषरुचिरं काव्यं भाषणं वा शृणोति, परमवधेहि तानि न नर्त्तकीगानादतिरिच्यन्ते ।

मधुरेणोद्विग्नो लावणिकमिव गानादुद्विग्नो भर्त्सनां शुश्रूषते, पालितशुनो भषणात् कदा विरज्यामहे, तदपि कलामेव कलयामः, तद्वदेव जीवितपुत्तलीनां कृते । तासां हावो भावो विभ्रमो वेषो भूषा च पुरुषान् प्रसादयितुमेवोपयुज्यते, स्युर्नाम ता महोच्चपदनियोजिताः । अत एव पुरुषो धनी स्त्री च धनमित्युच्यते । यदा वर्षीयान् कश्चन चमचममास्वादयति, आपूर्णरसं रसालं वा चूषयति न कश्चन तं विगायति, तदा स षोडशीरुपभोक्तुमीहमानः कथं जाल्मो मन्येत ? तदेतद् विचारकस्य शुद्धं मौर्ख्यं विवेकवैकल्यं वा प्रकटयति, नान्यत् । इति"

तारे, परस्य शिशोर्वृत्तं श्रुत्वा काकलीमाकर्ण्य रोदनं विभाव्य मानसं मे परमवसीदति। परं तप्तलोहे ताड्यमानेऽग्नेरिव नास्य व्यथा। प्रासादे कौशेयशय्याशायी झञ्झाचेष्टितं कथं विद्यात्? को नाम क्षोभो मुष्टिभिराकाशस्य? परमहं तुङ्गकुड्यमश्मवेश्म भङ्क्ष्यामि। इति।"

उदीर्णरोषायास्तस्या रौद्रं रूपं शमयन्त्यहं तस्या जलमभ्यलषम्। सा स्वयं निपीय मह्यं जलपात्रमदात्। अहं तां सम्भाव्य पुनरागन्तुमाश्वास्य नवमीमुपेता।

सा कपर्दं प्रत्येव नहि संसारं प्रत्येव विरुध्यमानावर्त्तत।

परमतु धावन्सत्यमेव निम्नतामुपेति, सरित्स्रोतः समुद्रमिव। स्वपरिधिमर्यादः पराननाश्रयन्नल्पगुणोऽपि सम्मानं समुद्र इव।

बहिरेव काष्ठपटेऽङ्कितमासीत् 'स्नेहवल्लरी चित्राला'। पीडिता घण्टिका व्यरौत्। क्षणेन द्वारं व्यकसत्। एका तनीयसी चित्रनिर्मितिरिवोत्तमचित्रकारस्य जहास कालिदासस्य कल्पनेव मनोरमा, माघस्य शब्दरचनेवालङ्कृता, बाणस्य वर्णनेव श्लेषघना, हर्षस्य भणितिरिव सुभगा, वाक्कीलस्य छलवागिव चञ्चला, चतुरवणिजो दम्भपूर्णा हसितिरिव क्षणमनोहरा, अद्यतनवेषा, मिष्टमुखी मामाजुहाव। शैशवस्य मौग्ध्यं यौवनस्य कमनीयत्वं तस्यां पूर्णम्। ज्ञानस्याभा तस्या मुखमण्डलेऽभ्राजत। लघीयसि कुटीरे पुस्तकानि लेखनसामग्री च तस्याः कलाप्रेमाघोषयन्। विद्युच्चुल्या चायो निर्मितः। फलानि पात्रिकायां क्षुरेण सह स्थापितानि। शनैःशनैरैतस्ततिकीं वार्त्तां समाप्य सा वदितुमारेभे।

परमो निर्वेदोऽस्मात्संसारात् बीभत्साद्दम्भपूर्णाच्च। गते वर्षे राक्षस एष देवमन्दिरं निरमापयत्। देवमन्दिरन्तु तस्य नामैवासीत् वस्तुतस्तदासीत् स्वमन्दिरम्। देवस्य मूर्त्तिरासील्लघीयसी पाषाणमयी गुहागृहे। स्वस्य च बहिर्विशाला सप्तधातुमयी ऋतुदेशकालवातप्रभावेणाप्रभाव्या। स्वयशस आकल्पस्थित्यै लोकं वञ्चयितुं देवमन्दिरमिषेण स्वमन्दिरं कारयन्ति चौरवञ्चकपुङ्गवाः। चारुकारुकराः कौशलं प्रादर्शयन्, धवलपाषाणेऽस्य कृष्णचरितमुदकिरन्। क्रीतवाचः कृपणाः कवयः कृष्णाक्षरै-

रेनं शास्त्रतत्त्वदर्शिनं धर्मधृतविग्रहं राममिव सुचरितं देवदर्शिनं देवालापिनं देवमित्रं गुणागारं दयावतारमघोषयन्। तूलिकेव चित्रकारस्य धनिनो धनमपि, असत् सद्दर्शयति। इतिहास आचार्यपदवीं लब्ध्वाऽनुसन्धानाय कृतनिश्चया बहून् शिलालेखानपठं सुदूरमगच्छं पितुः श्रमार्जितं द्रव्यमव्ययिषि च। अतुला श्रद्धा तदा लेखेष्वासीत्, ईश्वरलिखितानिवामन्ये च। परमेतान् क्रीतवाचः कवीन् विभाव्य सर्वथा च्युता मे श्रद्धा। अनन्तश्रमिणां कारूणामस्थिपञ्जरे निर्मितं तन्मन्दिरमद्य नगरस्याभरणम्। अस्य तु प्रतिमा तत्र राजते, परं शिल्पिनां नामापि न। पापस्य सरसि स्नान् शिलासु स्वं धर्मात्मानमुत्किरति। एवमभिजने परधनसम्पादितं विद्यालयं शिक्षोद्योगमिव चालयन् शासनान्मानं सवर्गाद्यशः अधिकारिभ्योऽर्थञ्चाप्नोति। एतेषामादर्शं दर्शं दर्शं भृशं निर्विण्णा। स्वस्य पुत्रस्य वा जन्मदिने पण्डितसभां प्रतिवर्षमायोजयति। तत्र शतशः समाजवृद्धाँश्चाटुकारान् घटकान् धर्मावतारघोषिणः पण्डिताभासानाकारयति। ते काकस्य कार्ष्ण्यं हंसधवलिम्ना धवलयन्त एनं वचनामृतैराप्याययन्ति दिङ्मूढाः। आद्वियामं गर्वविलेखिभ्यस्तेभ्य एष एकादश मुद्राः श्वेतपत्रे चिटिकामायोज्य तेषां हस्ताक्षराणि कारयित्वा प्रयच्छति। परिस्थितिरेषा वर्त्तते यदसौ आयकरप्रतिषेधाय स्वस्योद्योगशाला विविधन्यासे (ट्रष्ट) भ्योऽदात्। शासनञ्चैतद् विज्ञाय विधानं व्यधित यन्न्यासायस्य त्रिपादी प्रतिवर्षं व्ययितव्या भवेत्। अतः पण्डिताभासशतायैकादशशतीं प्रदाय स्वयमेकादशलक्षमर्जयति। गर्दभनिर्विशेषाः व्यवहारानभिज्ञा अपण्डिता बहु विनाश्यापि परं हृष्यन्ति श्वबुद्धयः। हन्त ! परमो मे क्लमोदयः ?

—"निर्वेदस्तु सत्य एव परमस्य प्रतीकारोऽपि चिन्त्यः" अहमवोचम्।

क्षणं स्तब्धता प्रासरत्।

हास्योन्मुखं समागमकुशलं (मिलनसार) तस्या मुखं वसन्तस्य स्थायि वेश्म। वासांसि शुभ्राणि निरङ्काणि, सौन्दर्यमनिमिषनयनविलोक्यम्, विलोचनं कटोराकारं शरीरसङ्घटनं विभाव्यम्। शरीरेण वेषविन्यासेन

सा कुमारीव महाविद्यालयस्य च्छात्रेव प्रत्यैयत। वृत्तव्यवहारेऽपि तस्याश्चातुर्यं स्पृहणीयमासीत्। स्फूर्त्तिर्हावोऽनालस्यं तस्याः कौमारमक्षुण्णमिवाघोषयन् यद्यपि सा पुत्रं पुत्रीञ्चैकामसूत। केशविन्यासे सा विशिष्टं ज्ञान (डाक्टरेट) मलभतेतीव प्रत्यैयत। वाग्व्यवहारे क्व नासा सङ्कोचः, क्वौष्ठसन्दंशः, क्वौष्ठमुद्रा, क्व भ्रुवोस्ताननम्, क्व स्मितम्, क्व कपोले कुञ्चितम्, क्व शनैः क्व तारं क्व फुस्फुसायितम्, क्व वामे दक्षिणे च विभाव्य, क्व भाले वलीर्विरचय्य क्व जिह्वां निःसार्य, क्वाक्षिणी विस्फार्य क्व कर्णौ स्पृष्ट्वा वक्तव्यमिति सा सर्वं विवेद। अभिनये परमोत्कृष्टाऽभिनेत्री।

"सम्प्रति यामि, पुनरागमिष्यामि"—इति तामभिधाय दशमीं द्रष्टुमचलम्। पथि जरती दासी मामवोचत्—लोकाय शिक्षा सम्मन्त्रणमेतस्याः कर्म केवलम्। प्रतीयते धात्रैषास्मै कर्मणे निर्मिता भवेत्। परमेषा परामर्शबुद्धिरेतस्या उपयोगाय नोपेता। वराकी पङ्के निमग्ना दुःखमश्नुते परम्। दशमी प्रतीक्षमाणा पथ्येव मिलिताऽवदत्—"अङ्गाराच्छैत्यं मलकर्दमात् सौरभमभिलषन्ती भ्रान्तासि तारे! अस्यैको बालभृत्यो मृतमातापितृको रात्रिन्दिवमेनं सेवमानो वचनकरः कदापि निष्कर्मा न प्रेक्षितः। भाजनभवनवसनसंस्कारः, आगतानां स्वागतम्, पादसंवाहनम्, परस्तात् स्वापः, पूर्वमुत्थानं तस्य प्रधानं कर्म। सदा हसन्कर्माणि सोऽकरोत् भोजने चालभत भिस्सटां मासे मुद्रामेकाञ्च। स एकदा वातश्लैष्मिकज्वराक्रान्तोभूत्। तापमापकेन कश्चन यदि तममास्यत् षडुत्तरं शतमानमभविष्यत्। परं कस्यावकाश आवश्यकता च। कृतघ्नैकवसतिः कलङ्किता। कपर्दो निशीथोत्तरं विहारभूमिषु निपीतमद्यो रमणक्लान्तः श्लथसन्धिः समेतः। प्रत्यहमनाथस्तमुपातिष्ठत। उपानहावुन्मोच्य वासांस्यपनीय जलम्पाययित्वा शरीरं समवाहयत्। परमद्य सोपानस्याधस्ताद् बिले शयानोऽभूत्। "अनाथ, अनाथ", असकृत्तेनोच्चारितम्। परं मूर्च्छितोऽनाथः कथमुत्तिष्ठेत्? "मृतो गर्दभः श्याल औदनिकः, घोटकान् विक्रीयेव सुप्तः, अत्युदरं जग्ध्वा विषण्णः प्रसृतो दुष्टोऽयोग्यः"—इत्येवं हिंसायां क्रोधादौरसः पुत्रः कुशब्दव्यये न कार्पण्यं व्यवजहार, विबुक्य मत्तकरीन्द्रकराकरेण सोपानहा पदाऽऽश्रम-

माजघान, उत्स्वनो वेत्रेण ताडयामास, अन्ततस्तस्य गण्डतलं कुट्टिममिव मत्वा ताडयन्ननुबभूव च यदग्नितप्ते तापवाहन इव चपेटाः पतन्ति । कुशब्दमहोदधि-निष्फल उत्तिष्ठन् पुनः शिष्टान् दुष्टनिकृष्टशब्दानकृपणं व्यवाहरत् ।

रक्तपिपासुर्व्याघ्रोऽप्यधिकारिषु विनतो मृगायते, स्वाश्रितेषु च विपरी-तायते प्राज्यव्याजः कठोरपिशाचः । सर्वथा विपरीतावस्योभौ पक्षौ विभाव्य बुद्धिमानप्यस्यैकस्मिन् शरीरे सन्देग्धि ।

अस्य गर्दभानुकारिणा ध्वनिना सर्वा जागरिताः । प्रातरनाथो मृतः श्रुतः । परमस्य पश्चात्तापलेशो नहि । सत्यम्, न स्थाणुः कोमलपल्लव-प्रसवभूमिः । स्वराः स्थायिनमिव सर्वे कपर्दमन्वसरन् । न्यायालयस्य द्वारं कियदपि विशालं भवेत्, परं दीनहीनानां कृते न तत्रावकाशः । अधिकृता एनं जानन्ति, परं तैर्धनं सङ्ग्रहीतव्यम्, विलास उपभोक्तव्यः, वैषयिकी तृप्तिरेष्टव्या, श्रुतिमधुरं श्रोतव्यम् रसनातर्पकं भोक्तव्यम्, तदेतत्सर्वमेष साधयत्येव; तदा को नाम पङ्किलं जलं विलोडयेत् ?

एकदास्य सुतस्य ज्वरो नवनवतिमानस्तापः कासाभासः शिथिलं शकृच्च सकृत् । तदा नगर्याः सर्वे भिषजश्चिकित्सकाः प्रकृत्युपचारा विविधपद्धति-निष्णाता आकारिताः सर्वं दिनमेनमुपतस्थिरे प्रदक्षिणां साधयन्तः । एवमेष मेषोपमः स्वजने यथा स्निह्यति तथैव भृत्यजनं द्वेष्टि । मृतश्चेन्मशको मृतः ।" इति

एकादशी मां वीक्ष्य दण्डवदनमत्स्मयमानावदच्च—भवत्या सह स्थास्यामि । हृदयहीनानां सङ्गेन हीनत्वमेव वर्द्धते कपर्दश्च सर्वस्य गुरुः ।

तारे ! अस्य ज्येष्ठपितृव्य आसीत्सुशीलो धनी च । अयमस्य पिता च यस्य गृहे पालितौ शिक्षितौ । तन्निर्देशेनैष धनी । कुटिलः क्रूरः कपर्दस्तस्य वाणिज्यं सम्भालयन् बहिकासु यथेच्छमलिखत् । न कस्यापि स्थितिः सर्वदा समाना । निष्पुत्रः पितृव्यो निर्धनीभूतः । वृद्धस्त्वासीदेव । तस्य गृहं विपणि-रुपवनं कपर्देन क्रीतानि । लुप्तमर्यादो धर्मशालासु वसन् खिन्नो मनस्वी कपर्दमुपेत्य साश्रुरवोचत्—वृद्धोऽहं सम्यक्कार्यं कर्त्तुमक्षमः. मध्याह्नात्परं यामद्वयं कार्यं कर्त्तुमभिलषामि, किमपि कर्म प्रदेहि कुटीश्चावासाय ।

"वृद्धो भवान् कथं कार्यं कर्त्तुं शक्ष्यति। पुनश्च मध्याह्नोत्तरमेव कर्म करणेनास्मत्कर्मकराणां कर्मसम्पादनपरिपाट्येव लुप्येत। प्रासादे च केवलं सार्द्धं द्विशती गृहाणां सम्भारेण पूर्णानाम्। नावकाशः कणायापि। भवानधुना काशीं गच्छतु। तत्र बहूनि सत्राणि। आवासभोजनवाससामपि न न्यूनता। प्रतिदिनं सहस्राणि निर्व्ययं यान्ति, तत्र भवतो वृद्धस्य काशीवासमभीप्सतो गमनाय बाधापि न। अद्य सुदिनम्, गम्यताम्, प्रणमामि। अहमधुना कार्यव्यग्रः काश्यां मिलिष्यामि। मुनिम ! एको भृत्य एतानारोहयितुं प्रेष्यः, पश्य, नैतद्विस्मर्त्तव्यम्। एते यदा काशीं यान्ति, तदास्माकमेतदपि कर्त्तव्यं नास्ति किमु ?"

श्वागणिकः कपर्दलुब्धक एवं निगद्य वैभवविलासमविशत्। पितृव्यश्चासीद्विस्फारितनयनः। कपर्दस्य कृष्णमानसे दयाकणोऽपि नोपेतः। पथि गच्छन् पथिकोऽपि किमपि दद्यादयाचितो दयाचितः, परमयं दम्भी दुर्धर्मा दुष्टः कणमप्यदत्त्वा द्रुतः। यदायं दरिद्र आसीत् बिलं भुवनागारममन्यत, अधुना तु भुवनमपि बिलम्। अस्य नृशंसता मया बहुशो विलोकिता।

मेदिनीनगरनिवासी कृषकोऽस्माद्दशवर्षपूर्वं त्रिंशन्मुद्रा अगृह्णात्। कृषकः प्रतिवर्षमस्मै दशमणमन्नं मणमितमाज्यं शुष्कं शष्पञ्चादादहले समये निश्शुल्कं सेवाञ्च। तस्य कृषिभूरनेनोपवनसात्कृता। परं कपर्दस्य घोरधारा लेखनी मुद्रापञ्चशतीमवशिष्टामेवालिखत्। एवं स वर्षश्रमार्जितां सम्पदमश्रममुपभुञ्जानो युवतिं पुत्रीमादित्सुरन्यां प्रणालीं व्यवाहरत्। अभियोगं न्यायाधिकरण उपास्थापयत् कृषकपत्नीं सूचयितुमाह्वयच्च।

साऽवोचत्—कपर्द, जीवने ममैका विच्युतिर्यदाहं त्वत्तस्त्रिशन्मुद्रा अगृह्णाम्। तदर्थमस्माकं सर्वस्वं त्वया गृहीतम्, सर्वं जीवनं कुसीदेन व्यपगतम्, भूता च त्रिशतःस्थाने पञ्चशती। भगवन् किमयं न्यायः ? कपर्द अधुना कुटीं मा मोचय। जीवनं तव गर्हितं भविष्यति। अस्मिन्नुटजे विवाहात्परमहं सौभाग्यरात्रिं समपादयम्, कुलीनाया शव एव तस्मान्निःसरति, जीवितां मां मा निस्सारय। अहं तव पादौ स्पृशामि। एषा तव युवतिः पुत्री, यद्येनां तवेच्छया तव दास्ये नियोक्ष्ये लोको मां किं कथयिष्यति ? त्वं तु

निरपवादः। धनमपवादं व्यावर्त्तयति। परमहं दरिद्रा। अहं माता। अहं नारी। अहं भारतीयसंस्कृतौ जीवितुमिच्छामि। जानाना कथं पातकाय पुत्रीं प्रक्षिपेयम्? त्वमन्धः। यद्यन्धो नाभविष्यः कथमदोऽन्यायेनार्जयिष्यः। अन्धता तव गुणः नो चेत् कथमकथयः पुत्रीं दासीं कर्त्तुम्।

एवं सा करुणं कठिनं रूक्षं मधुरमाभाष्य प्रत्यावर्त्तिता। परं पाषाणे न पुष्पोद्गमः। न्यायालये सफलो धनबल आम्रमिव निश्शेषमाचूष्यापि जीर्ण-तृणमुटजमादातुं मुनिमं प्रैषयत्। शासनढक्काऽस्य धनदण्डेनाहता व्यनदत्। मुग्धा असङ्घटिताः ग्राम्याः सहवासिनः प्रतिष्ठाध्वंसं द्रष्टुं सम्मिलिताः। मासेन ज्वराक्रान्ता कृषकस्त्री त्रिभिर्दिनैर्निरन्नः कृषको युवतिः कन्या चोटजाद् बहिर्निःसारिताः। कृषकस्त्री दारुणशोकाहता बलिनः कृषकयूनः पाणौ स्वसुतायाः पाणिं ददती प्राणाञ्जहौ। वस्तुजातं मुद्रात्रयेण विक्रीतम्। तास्तिस्रो मुद्रा ढक्काधिकारिणे दत्ताः नास्य लाभोऽणीयानपि कृषकस्य च सर्वस्वनाशः। इति

द्वादशी प्रतीक्षाविकला द्वारशाखामवलम्ब्य स्थितोवाच ममाक्षिणी उच्छूने तव प्रतीक्षायाम्, वहोः कालात्परमायाः। अगाधं गर्त्तमनुधावसि तारे, समयोऽस्ति, रक्ष स्वम्। कृतघ्नं समाश्रयन् न कोपि किमपि विन्दति दुर्गुणेऽयं पितुः समः मातुश्च। केन पण्डितेन तस्या नाम कृतं परिहासेन वा 'सरलेति'। तस्या निर्माणे विधिः 'किमेनां मानवीं मानवं वा निर्मापयामि दानवीं दानवं वा' इति सन्दिहानः शैघ्र्येण मानवीं निरमात्। एवं तस्या आकृतौ मानवत्वमन्यत्र दानवत्वं विकसितम्। अस्तु, पुत्रैः सहास्य पितुर्दुःसम्बन्धेन मृतभार्यो वासनामयः स बहुधात्रीक आतुरालये वसन्, तं सम्भालयन्, तदायेन स्वशरीरव्ययं संशोध्य सुभगाधात्रोः प्रसाद्य प्रतिवर्षमेकादशसहस्राणि ददन्नामाप्यर्जयामास। रैभद्रोऽपि स सर्वतोभद्रो बभूव। वर्षकार्यविवरणस्य मुखपृष्ठे तस्य चित्रं मुद्रितमभूत्परमोपाधिना। अधुना कुपुत्रस्तत्र पाषाणप्रतिमामपि प्रत्यष्ठापयत्। एकदा स पुत्रकृपया मेरुदण्डभङ्गमाप। प्रासादस्य दक्षिणेन तृतीयभूमौ रहसि तस्य शय्या कृता, विकलाङ्गो भृत्यश्च नियोजितः। पापीयान् वृद्धो द्वे त्रीणि वा दिनानि निराहारः कपर्दाय वार्त्तां प्रैषयत्।

तदैष मासे सकृत्समेत्य वाग्बाणैस्तुदन् अब्रूत "दशेन्द्रियाणां भोगा भुक्ताः, पुत्रा पौत्राश्चासङ्ख्याता वैधा अवैधाश्च, आयुरपि शतम्, परं मत्तु मनो न मनुषे काकवद्दीर्घमायुर्जुषसे. भोगे च वृद्धस्य तृष्णा विस्तीर्णतामेति" इति ।

स्थितिरेषाऽऽसीद् यदनेन स्वपितुर्नाम्ना कारितायां यन्त्रशालाया-मनाशंसितं धनमाप्तम्, यस्यायकरः कोटिमुद्राः । परमयं काणां वराटी-मपि नादित्सत्, अतः पितरं मृतमघोषयत् श्मशानशालया मृत्योः प्रमाण-पत्रमध्यगात् मुण्डित और्ध्वदेहिककृत्यमप्यकृत, ध्वस्तामघोषयद्यन्त्रशालाम् । एवं श्मशानाधिकारिणां चक्षूंषि धूलिभिरापूर्य स्वस्थोऽभूत् । परं पिता जीवन्नेवासीदिति शल्यमपहर्त्तुं स परमचेष्टत । यदास्य पिता मृतो मारितो वा तदा तत्रैव पृथ्वीतलीयं प्रक्षिप्य दीपशलाकयाऽदाहयत्, अशेषं भस्म च पौरप्रतिष्ठानस्य कर्दमवाहिन्यां प्रणाल्यां प्रावाहयत्, एवं स्वपितरं 'पुंनाम्नो नरकादत्रायत ।' एतादृशेषु कार्येष्वस्य महन्नैपुण्यम् । पुराप्ये-कदैष धनं सगुणेषु सधर्मेषु निक्षिप्य स्वं निर्धनमघोषयत्, शासनबद्ध उन्मत्ता-भिनयश्चकार च । विशिष्टज्ञा एनमुन्मत्तमघोषयन् । कपर्दो मोचितः । तस्मिन्नेव दिने भूपालं गत्वा प्राग्व्यवस्थापितं वाणिज्यं परनाम्ना चकार । धनेन धनमैधिष्ट । एवमस्योन्मादाभिनयः परमः फलवाञ्जातः ।

तारे, यदि कश्चन मां पृच्छेद्यत् कः स्वार्थी दम्भो राष्ट्रद्रोहः पापाचारः छलश्च ? तदाहमसन्दिग्धं साङ्गुलिनिर्देशं बोधयितुं क्षमा यत् सर्वेषां सारो धनविग्रहः क्षपाटो धनाटः किराटः ।

प्रसह्यकर्माणो दस्यवो लुण्टाका इतस्ततो धनमाहृत्यास्य गृहं पूरयन्ति । तेषां भोजनमनोरञ्जनयो रहस्यावासे स्थायी प्रबन्धो विद्यत एव । भुक्त-मात्रेष्वेव तेषु सूचयति "समेता अनुपदिनः" । अवशाः सर्वं स्वं विहायास्माद् द्वित्रसहस्राण्यादाय पलायन्ते । अस्य लाभो दशलक्षमुद्राणाम् । लुण्ठनेऽस्य भागस्त्रिपादी । एष लोकनायकैः सन्धाय पाचयति । अस्य चरा धनाप्तेर्योगं बोधयन्तश्चरन्ति । तच्चैष लुण्टाकेभ्यः सूचयति । अस्य शृङ्खला प्रलम्बा तारे ।

त्रयोदशी स्वकुटीरं स्नक्कदलीभिः सज्जीकृत्य मालां हस्तयोरादाय स्थिता मां वीक्ष्य गले मालां योजयन्त्यवदत् 'जीवनेऽद्वितीयोऽयमुत्साहावसरः। आयाहि, ममाक्षि प्रातरेवास्पन्दत। परं कलङ्किकुलाय साभिलाषा मा भव। बाला वृद्धा जीवन्तो मृताश्चात्र सर्वे समाः। त्वादृशी विदुषीहावसीदेदिति नेच्छामः। मदनुभवेन लाभान्विता भव।

यथायं तथास्य पुत्रः। नास्य पुत्रः परीक्ष्याङ्कयोजकं मधुरितोदरमकृत्वा परीक्षावैतरिणीं तर्त्तुं कदाप्यशकत्। चलचित्रविज्ञापनज्ञानं तस्य सर्वाधिकमासीत् मा भूत् परीक्ष्यपुस्तकज्ञानम्, धनन्त्वासीदेव, सर्वस्माद् गरीयः सर्वकारि च। सप्तवर्षवया अपि स पीठसर्पी सम्प्रत्यपि प्रस्नावः(पेशाव) शय्यायामेव। अप्राप्तयौवनो विवाहं कामयमानो बहुशः प्राकाशयत् "पुस्तकेषु धूलिः, मसीपात्रं शुष्कम्, वासांस्यदृष्टरजकभवनानि तान्यप्यस्तव्यस्तानि" इति। पुस्तकपत्रैः सह तुमुलं युध्यमानेऽपि विजयः पत्राणामेव। तस्य मनो वेश्यानूपुरझङ्कृतिसरस्यां निमग्नमभूत्। कथं न स्यात् पित्रनुसारी पुत्रः? बहुशः प्राकट्यदेतावद्दिनपर्यन्तं केनापराधेन पापेन वाहमविवाहितोऽस्मि।

स एकदा पितरमसूचयत् यदहमाखेटमकृषि। परदिने सूचना प्रसृता। दिग्धमुखा दग्धमुखाः पत्र सम्पादकाश्चित्रेण सह जीवनवृत्तं ददतो लोकमाकर्षयन्, यन्नवाभजातस्यो (नवावजादा) त्साहवर्द्धनोत्सवः।

समये समेतेषु नगरमान्येषु सोऽभाषत—मान्याः, साहसस्य महदाख्यानं भवद्भ्यः श्रावयामि। मदनुभवेन भवन्तो लाभान्विता भूयासुरित्येव ममोद्देश्यम्। चाटुकाराणां करतलध्वनिः कपर्दपुत्रस्य मुखं प्रासादयत्। वीरवरेण्याः, एकदा विविधशृङ्गारकल्पनासु लीनो विश्राम्यन्, तीक्ष्णदंष्ट्रेण जन्तुनाऽऽक्रान्तः। अनवहिते प्रथमः प्रहारो गभीरः। अहमवहितः। शतशो विद्युद्दीपाः प्रदेशं प्राकाशयन्। नेत्रयोर्दूरवीक्षणम्, वामे द्विधारां क्षुरिकाम्, दक्षिणे षड्गुटिकं व्रजलोट [व्रजं समूहं लोटयति—सः] श्चायोज्य सज्जः। परं स कातरः क्वापि लीनः। कणशोऽवालोकयम्, परं तं नोपलभे। मम भृत्यकुलं कुर्लामिव कौलेयकानां मृगयां मार्गयमाणमासीत्। परं स विचित्रो जीवः प्रसह्य क्वापि प्रहारावसरं प्रतीक्षमाणो वा भयत्रि-

लीनो वाऽवर्त्तत। अतितमां स्वेदः, असाफल्यजनितः खेदः प्रवृद्धः श्वासः, महद् हृत्स्पन्दनम्। परं श्रमो श्राम्यन् श्रमफलमनुभवत्येव यदि नोपरमते। अन्ततो यामश्रमेण दशाधिकानां जनानां सहयोगेन स लब्धः। स गुहायां लीनो विश्राम्यन्नासीत्। पलायनाशङ्कया वस्त्रेणैव गुहादुर्गस्थित एव स हस्ताभ्यां मर्दितः। शस्त्रस्यावश्यकतामेव नान्वभवम्। एवं स वीरोऽवीर-गतिं गमितः [पुनः करतलध्वनिः] सैषा गुहा ममोपबर्हस्य सेवनसन्धिरा-सीत्। भृत्यास्तं 'मत्कुण' मवदन्। इति।

तामहं हासेन सत्कृत्य नमस्कृत्य चतुर्दशीमगच्छम्। साऽवदत्—

मम वारिदः (वारि = वीर्यरूपं गर्भनिषेचनकाले यो= ददाति सः) एक-स्मिन् मायाच्छिदे काचो (कचते=बध्नाति, लोकं संघटयति सः) आसीत् पञ्चवेलमाह्वानं वदन्। मम पितुः पितृष्वस्रीयो भ्राताऽऽयकरविभागेऽध्यक्षो भूत्वेहायातोऽस्माकं गृहे अन्तरा अन्तरा आगच्छदिति कपर्दोऽज्ञासीत्।

कपर्द एकदा मत्पितरमैत्य वासोभूषाभिः सत्कृत्य क्षुरायणं (क्षुरेऽयन-मिवायनं यस्मिन्, क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया—इतिवद्) पठितुमैच्छत्।

धनाय सर्वः स्पृहयति। परिचयः प्रवृद्धः। रात्रेर्द्वितीये यामे फलमिष्टान्न-वस्त्रैर्युक्तः स आगच्छत्। अहं तदा चतुर्दशवर्षीया जवनिकायामतिष्ठम्। परं कपर्दधनं सर्वाणि बन्धनान्यभनक्। सोऽवदन्मम समक्षमप्यवगुण्ठनम्। शनैः शनैः प्रेमा परिचयश्च प्रवृद्धः। मम पितुरनुपस्थितौ काचखण्डमण्डितां वक्षःकटिकां (वक्षः कटति = आवृणोति जाकेट,) परिधाय तेन सहा-लपम्। सोऽपि मत्तोऽस्मद्गृहनिर्मितं खाद्यं याचयित्वाभक्षयत्।

आयकराध्यक्षाय स त्रिंशत्सहस्रमूल्यं मरुत्तरमदात्। कोऽस्य लाभ इत्यहं न वेद्मि। आयकराध्यक्षः पूर्वन्त्वेनं ग्रावस्तुतं हेयममन्यत, परं हेयमपि स्पृहणीयं करोति धनम्। अलम्, अजरतः पिता मे अजाय ( ) सज्जोऽभूत् पितामही च। अहं कपर्दस्य बकधवले स्थास्यामीति निश्चितम्। सर्वो व्ययः कपर्देन सोढः प्रयाणकालिकं भोज्यं मरुत्तरश्च तस्मादुपेतानि।

अस्माभिरलं भुक्तम्। तन्निशि परां निद्रामन्वभवम्। जागरिताऽस्य

बकधवलेऽभवम्। तत्राहं ब्रह्मचर्यव्रतं समापयम्। कतिचिद्दिनानि तत्रोषित्वा कपर्दलालिता करणानं भवनमुपेता। पिता पितामही च मे मारितावित्येवाशङ्के। यत एष एवमेव करोति। कार्ये निष्पन्ने न कमपि जीवितं पश्यति भेदभयात्।

मम नाम कुलसुमम्। मम ज्येष्ठा भगिन्यासीत् अक्षततरी परमासुन्दरी विद्यालयं गता न प्रतिनिवृत्ता। पितामही क्षर्योर्मिनिशा मां बहुशो जगद्वृत्तमसूचयत्।

ममावास (फ्लेट) स्य पार्श्वे परस्मिन्नावासे परा युवतिरासीज्जात्या चाण्डाली परं परमा सुन्दरी प्रासादशकृच्छोधकस्य पुत्री चन्द्रिका। शकृच्छोधकस्य बालविधवा प्रासादे कार्यमकरोत्। प्रतिमासमेकां मुद्रा-मुच्छिष्टं भोज्यञ्चालभत। सद्वीर्येणोत्पन्ना चुन्नीर्युवतिर्जाता। यौवनस्पर्श-मणिर्देहलोहमसुवर्णयत्। कपर्दस्य नयने तस्यां निविष्टे तन्मातुर्वेतनं भूतं त्रिशत्, कार्यान्मुक्तिर्वस्तुमावासश्च। शकृच्छोधकस्य पत्नी शालिग्रामशिलेवासीत्, कृष्णा विश्वस्मिन् कुरूपासु प्रथमा। परं यदा चुन्नी चन्द्रिका जाता तदा साप्योष्ठौ ररञ्ज केशेषु कृष्णापं व्यवजहार। साधुना मलशोधकानां प्रधानमभूत्। पुरा तस्या जिह्वायां गतिर्नासीत्, अधुना चावरोधः। चन्द्रिकायै करणानभवने पृथगावासो दत्तः। करणानभवनेऽस्य बहव आसन् आवासाः परस्परमविदिताः। परं चौर्येणास्माभिर्ज्ञातं क्व कदा कपर्द उपैति। एवं सर्वाः कतिचिन्मासान् बकधवले ततः कतिचित्करणानभवने गमयित्वे-हानीताः। एकदा प्रासादात्प्रतिनिवृत्ता चन्द्रिका मामवोचत्—'प्रातः सूच यिष्यामि यदि जीवनं धारयिष्यमि' इति। परं सा रात्रौ मृता। उषस्येव कपर्दभृत्यास्तां निन्युः। मानवस्य स्त्रिया सम्बन्धस्त्वगाश्रयः, नातो गम्भीरः।

प्रथमं यदा मामस्पृशत्, अहमवोचं यवन्यस्मि भवदनुसारं म्लेच्छा।

"—तदा किम्भूतम्? यदि त्वं यवनी। किं मानुषी नासि? अये कश्चन संन्यासी पुरा तत्र गतवान् भ्रमणप्रियः शिखासूत्रविहीनो मुण्डितः, अधो भागे निर्ग्रन्थिवासो वसानः मोहो मदश्च त्यज्येतामितिवदन् सोऽजरतो मोहमदाख्यां प्राप। करं पात्रत्वेन व्यवहरन् करपात्रो यथा, दण्डेन 'खट-

खटध्वनिं कुर्वाणः खटखटा बाबा' यथा कालं कम्बलं दधत् कालकम्बली यथा। तमनुसरन्तो जनास्तस्यैव शिखासूत्रविहीनं शरीरं वासश्चान्वकुर्वन् निराकारं ब्रह्म चोपासत। आर्याणां शोणितं समानं मुग्धे ! नार्यत्वं विचारान्तरेण व्याहन्तुं शक्यते—कपर्दोऽवदत्। ईशलाभा (ईशं लभन्ते) स्तु श्रेष्ठा आर्याः। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

अस्यैकाऽर्द्धभारतीया भार्यापि। सा मातुरन्तिके निवसन्ती मातुःपत्यौ स्निह्यन्त्यभवत् सोऽपि च।......

अहम्—किं मातुः पतिम् ?

आं मातुः पतिम्। पिता तस्या जन्मनोऽब्दचतुष्टयात्परं मृतः। तस्या माता परं कञ्चनाष्टादशवर्षीयं युवानं पतिमवृणोत्। तदा सा पञ्चविंश्यासीत्। यदा तस्या पुत्री षोडशीभूता, तदा युवा जरतीं प्रियां परित्यज्य युवतिं पुत्रीं प्रियां कर्त्तुं प्रवृत्तः। तया सद्य उपपाः (व्यत्यासो भूतः, पा उप=पोपः ईश्वरस्य समीपस्थो रक्षकः) परामृष्टः, सोनुमेने च। परं तन्माता कपर्देन सन्धाय सुगुप्तं दशसहस्रमादायास्मै तामदात्। इति

भगवद्वस्त्राण्यायोज्य जगत्कर्माणि सन्न्यस्य विरक्तः सूर्यः सुदूरं परिव्रजन्नलक्ष्यत। विहायोविभूतिं प्रव्रजन्तं वीक्ष्य विहङ्गमाः क्रन्दन्तोऽवर्त्तन्त। आर्त्तविकलानां चीत्कारमाकर्ण्य लोचनं प्यधाद्वियत्। क्षोभेण रक्तीभवत्, स्वस्यासामर्थ्यं विभाव्य शनैश्शनैः पीतीभवद्वियन्मर्त्तुकाममिव कृष्णतां वभ्रे। दिगन्तेभ्यः कज्जलाभा काचन भा धनिनो योजनेवोत्कोचानुमोदिता विश्वं व्यापत्। सन्ध्यावध्वा वदने लग्नं शोणिमानं प्रमार्ज्य कर्दममिव तमः प्रलिप्य लोकमानसे भयं सञ्चारन्ती तमःप्रिया वृत्तिरिव विद्विशां गाढाद् गाढतरं भवन्ती चचार। धूमो धूलिश्च व्यापत्। विषादमयी मायेव चेतनाशून्या निष्प्रभा निशा रुदतीव वियत्पथे प्रसृता। पापपरायणां वाणीमाकर्णयन् समीरणः साश्चर्य इव निःस्पन्दः।

अनसूयाया आवासे शयिष्ये इति जरती दासी बोधिता। अनसूयाया निर्दोषं सौन्दर्यं निर्मायं विलोकनं निरुपायमवस्थानं पाषाणस्यापि करुणामजनयत्। तस्या आकृतौ लिखितां कथां पठितुं परमुत्सुकाऽऽसम्। एवन्तु

यद्वृत्तं वक्तुं वागक्षमा तत्तासां नेत्राण्यवदन् परमनसूयायाः सर्वमङ्गं कथां व्यथाञ्च प्राकटयच्छान्तमपि । अहं तस्याः कवाटं हस्तेन शनैराहनम्। द्वारं विकसितम् । आभ्यन्तरं शान्तं नीरवमुदासीनं वातावरणम्, अवर्ण्या शान्तिः । कुटीरस्तपोनिलय इव प्रत्यैयत । कस्मिँश्चिच्छान्तिधाम्नि विलक्षणानन्दे प्राविशमित्यन्वभवम् ।' आवासेऽल्पा सामग्री, कटो द्वित्राणि भाजनानि रामायणं गीतोपनिषदगुरुवर्तिकाः मालाः क्रमशो न्यस्तान्यासन् ।

पल्लवग्राहिपण्डितेभ्यो भीता सरस्वतीव भूतभाषाकविभिः सार्द्धचन्द्रं निर्वासिता सत्कवितेव ज्ञानविकलैः पण्डितम्मन्यैर्हस्तितासनैर्धूर्त्तैरवमानिता देवगीरिवानसूया पद्मासनेनोपविष्टा जपन्त्यासीत् । कपाटविघटनध्वनिस्तामैहिकसंसारं प्राबोधयत् । सोत्थाय प्रणम्योपवेष्टुं कटं समकेतयत्, यत्राहं जरतीं विसृज्योपाविशम् ।

यामः शनैश्शनैःसरन्नवर्त्तत । प्रभेव चैतन्योच्चया, मणिकाञ्चनप्रतिमेव सप्राणा स्थिरा विद्युल्लतेव साधनेव शरीरिणी दिव्याभाऽनसूयाऽऽचम्य नित्यकृत्यं विसृज्य स्मितेन मां सत्चकार ।

द्वित्राणि फलान्यासन् यान्यावामभक्षयाव । अहं सर्वं दिनमदन्ती चायमास्वादयन्ती तृप्तैवासं परं नेति कथयितुं न प्राभवम् । तस्याः परिवेषणेऽपि सौकुमार्यमाभिजात्यं देवत्वमृषित्वमेकीभूतमासीत् ।

अहमचिन्तयं यत् कोयं दुर्भगो गुरु (गुलाभ) लाभपुष्पस्रजं ज्वलदङ्गारेषु न्यपातयत् ? कः पापो मालतीवल्लीमयोघने घनेन व्यमर्द्दयत् ? कः कलुषकर्मा नवनीतपिण्डं मुञ्जरज्जौ न्यबध्नात् ? कोपुण्यकर्मा सुरसां सरस्वतीं खलाय न्यवेदयत् ?

अपरिचितच्छलच्छिद्रा सा षड्यामान् देवाराधने व्यत्ययापयत् । तस्याः कान्तिमती शामिका शोभा मां परं प्राभावयत् । सा कदापि किमपि नावोचदवागिव । मदर्थं शय्यां प्रकल्प्य कटे सा शयितुं प्रावर्त्तत ।

बिभ्यती श्वासं नियम्याहमवदम्—"त्वत्कथां शुश्रूषे" इति । पुण्डरीकायताभ्यां कृष्णचक्षुर्भ्यां मां विलोक्याघश्चक्षुर्निर्वातनिष्कम्पदीपशिखेवाभूत्, परं तस्या भ्रुकुटावाकुञ्चनप्रसारणं भवदवर्त्तत । क्षणोत्तरं तस्या अन्तर्निहितवीणा वाणी समस्फुरत्—

"जीवने प्रथमोऽन्तिमश्चायं प्रश्नः। परं भद्रे मत्कथाकर्णनेन कियत्पातकमुदेष्यति जानासि किमु ?"—ज्वलन्तीमविरलामश्रुधारां सारयन्ती सोदतरत्। अस्तु, जिज्ञासाकुला चेदाकर्णय—

"अहं पृथुयशसो महामहोपाध्यायस्य कन्यास्मि। पञ्चहायन्यां मयि माता मे संसारमत्यजदतः पितुः परमः स्नेहो मयि प्रादुरभूत्। शैशवादेवाध्ययनदक्षा मेधाविनी सभाष्यामष्टाध्यायीं रामायणं महाभारतञ्चाध्यैषि। एकदा शारदनवरात्रेषूपस्थितेष्वेषोऽनार्तवां नवदिनानि यावद्देव्या मण्डपे सदेहां देवीमिव मां पूजयितुं पितरं मे प्रार्थयत मम वैवाहिकं व्ययं वोढुं प्रत्यजानाच्च। पिता मे सरलः साधुः कुटिलकलस्य नीतिं कथं ज्ञातुं क्षमः ? स आदिशत्। परमहं कदापि देवीं नाद्राक्षम्। नगराद् बहिर्वर्करपुरे सुभगोपवनेऽहमानीता। रूपोत्कृष्टा निकृष्टतमाः सवयसो वयस्या मामसेवयन् कामशास्त्राचार्याः। ता मां त्रिवेलं चतुर्वेलं मद्यमपाययञ्छार्करेण सह, अण्डानां मांसानां रुचिकराणि कामोद्दीपनानि भोज्यानि मदज्ञातानि ममोदरं प्रावेशयँश्च। सप्ताहात्परं कपर्दः प्रतिनिशं समाजगाम, मद्यमत्ताया मम शरीरं कदङ्गानि चास्पृशत्। अद्यतनदुष्टताया अनभिज्ञा मद्यधुतज्ञाना न किञ्चिदपि वेदितुं प्राभवम्। एकदा वयस्या मां वाप्यां स्नातुं प्रैरयन्। वयं चतस्रो नग्ना मद्यं निपीय वाप्यां स्नातुं प्राविशाम। तदैवैषोऽपि तस्यामविशल्लालयन्नभ्रंशयच्च। मत्पित्रे दशसहस्रमुद्रा भवननिर्माणायादादसूचयच्च यदनुसूया देव्या देहमविशत्। एकदा काचन मां समदिशद् यन्मम पिता गङ्गाङ्गतो जङ्घाभङ्गमवाप्य देहं जहौ।

एकदा रुष्टायां मयि कपर्दो रहस्यमुदघाटयत्—"अनसूये ! सौन्दर्यमुपभोक्तुमेव तं जरठं ज्ञानमूर्खं त्वत्पितरं गुरुमकार्षम्, दारिद्र्यदारिद्र्यं दातुमुद्विग्नः फलधनवासोभिरपूजयं यातायातैस्तव रथ्याञ्चाकार्षं शतावर्त्ताम्।"

एवमहं जीवनस्यान्त्यं क्षणं प्रतीक्षमाणा महर्षिकल्पस्य पितुरपवादेन भीतात्र निवसामि। परं क्रौञ्चकुररकुक्कुराविले पल्वले मराली कथं निवसेत् ? भाग्यं मम भग्नम्।

एवमेष विधवाः कुमारीश्च प्रचुरेण धनेन वाससा भोज्येन च साभिप्रायं तोषयन्, भगवतश्चरणामृतमिषेण काश्मीरमृगमदशार्करमिश्रं मद्यं पाययन्

काममुत्तेजयन् रासमरचयत् । दिने कस्मादपि क्रीतपण्डिताद् भागवतीं कथामख्यापयत् । सत्यम्, पापमावृणुते वित्तम् ।

मायाजालं प्रसार्य मधुरं वदन् वञ्चकः साधोः सर्वस्वमपहरति ।

वह्व्योऽत्र कीर्त्तनोपलब्धा जीविता मृताश्च । मृतायां स्त्रियां बक एष हरिमकीर्त्तयत् । साधनासदनं रहःसाधनायै शान्तनिकेतनं गौरीगृहं गोविन्दगृहमित्याद्याश्छलरचना अस्थापयत् । रात्रेर्द्वितीये यामे कीर्त्तनमारभ्यत । अमद्यगन्धि रुचिकरं पेयं पयश्चायो मिष्टान्नं कामोद्दीपिनः श्रमहरा लेह्याश्च सर्वैः किं वा सर्वाभिरागलमुपायुज्यन्त, यतः कीर्त्तनस्थले पुरुषाणां प्रवेशो निषिद्ध आसीत् । नवयौवनास्तत्र दीक्षिता अभूवन् । मध्ये मध्ये यां प्रेयसीं स रहः क्रीडाकुञ्जमनयत् सैव माननीयाऽगण्यत । एतत्कार्यं बहूनि वर्षाणि यावत्प्रवर्त्तितम् । कस्यावकाशोऽत्र चिन्तनाय । परं काश्चन कुमार्य्यः सगर्भाः, केनापि प्रयोगेणाच्युतगर्भा अभूवँस्तदाऽनाचारोद्भेदः प्रकटयितुमारब्धस्तदा ता अत्र कारासु वासिताः, अयञ्चोत्तरकाशीमद्रुद्रुवदितिश्रुतम् । परमलं भद्रे पापकथाभिः । कौलीन्यं क्वापि नास्ति तारे, वर्त्तते केवलं काञ्चनकौलीन्यम् । श्रेष्ठता धनाश्रिता, यशश्च वञ्चनाधीनम् । एते द्वेषद्रोहदम्भदूषिता लोभक्रोधक्रौर्यकपटगर्वबर्बराः, भयवैरविषादेर्ष्यापूर्णाः लोकस्य शोणितं शार्करमिवागलं पिबन्तः सद्वेषेण सुरूपाः प्रतीयमानाः परं कुरूपाः, चलन्तो रोगालयाः सर्वत्र रोगानेव प्रसारयन्ति । अतः सुखं शान्तिमारोग्यञ्चेच्छद्भिस्तेभ्यो विपरीतं गन्तव्यं भविष्यति, सर्वथा विपरीतम् ।

आर्यैः पाषाणप्रतिमायामपीश्वरः प्रवेशितः प्राणान् प्रतिष्ठाप्य, परमेतेऽनार्या मानवस्य जीवितशरीरादपि प्राणान्निःसारयन्ति । इति ।"

साधारणो मानवो येन दुष्कर्मणा पापेन च निन्द्यते तदेवाचरन् समर्थो लोकस्य सम्मानभाजनमितिचिन्तयन्ती कपर्दस्य वर्त्तनेनो (वर्त्ताव) द्विग्ना स्वप्नानपि तादृशानेवापश्यम् ।

महतो वियतः पार्श्वान्मृत इव श्वेत उदस्तः सूर्यः स्वमुखं प्रादर्शयत् । अनसूया जिगमिषन्तीं मां मूर्धाधिकृतयुगलबद्धकराभ्यां जानुपातं ननाम । तां तपस्विनीमहमपि तथैव नत्वा कृतार्थेव प्रत्यागमम् ।" इति कृष्णतारा मामसूचयत् । देवस्य स्वापसमयः । षष्ठमाह्निकम् ।



सूर्यप्रभा
किं वा
वैभवपिशाचः

सप्तममाह्निकम् ।

विद्या सत्कविता तथा सुजनता सेवाप्यथ प्रार्थना
पञ्चैताः परिणिन्यिरे जनयितुं वित्तात्मजं यत्नतः ।
व्यापारं सकलं विहाय नितरां तास्वेव रेमे मुहुः
किं कुर्मः कुटिलाशयेन विधिना पञ्चैव वन्ध्याः कृताः ॥

अज्ञातकवेः

एते वारिकणान् किरन्ति पुरुषान् वर्षन्ति नाम्भोधराः
शैलाः शाद्वलमुद्वमन्ति न सृजन्त्येते पुनर्नायकान् ।
त्रैलोक्ये तरवः फलानि सुवते नैवाऽऽरभन्ते जनान्
धातः ! कातरमालपामि कुलटाहेतोस्त्वया किं कृतम् ॥

भानुकरस्य

शुष्काः सम्प्रति निम्नगास्तत इतो नालोक्यते जीवनं
भूयः क्वापि न वापिकापि नितरां जाताविलं पल्वलम् ।
ग्रीष्मोऽयं समुपागतोऽस्ति बहुशो वाचालतां मुञ्च रे
मन्दं सञ्चल भेकशाव समभूत् कालः करालो महान् ॥

भट्टवीरेश्वरस्य

हृष्यामि यस्य वाणी नाधिगता चाटुकारित्वम् ।
कालुष्यं म्लानत्वं येन भवेत् काव्यकुसुमस्य ॥ अज्ञातकवेः

अल्पतमास्ते वृक्षाः फलवन्तोऽपुष्पनिर्गमज्ञानाः ।
विरला भुवि ते पुरुषा अभणन्तः कर्म कुर्वन्ति ॥ प्रवरसेनस्य

कस्तूरिकां हरिण मुञ्च वनोपकण्ठे
मा सौरभेय ककुभः सुरभीकुरुष्व ।
आस्तां यशो ननु किरातशराभिघातात्
त्रातापि हन्त भविता भवतो दुरापः ॥ अज्ञातकवेः

यदि वित्तार्जनेनैव विद्वांसो यान्ति गौरवम् ।
कस्तर्हि वेश्याविदुषोर्विशेष इति वर्णय ॥
माकन्दा मकरन्दबिन्दुविधुरा व्यग्रो गजग्रामणी-
रप्यन्तर्मदशोषदोषकलितं चक्रे हरेर्हुङ्कृतैः ।
त्वं हे कल्पतरो करोषि नहि चेदन्तः कृपाकोमलं
कुत्रायं भ्रमरो मनागपि मनोविश्राममालम्बताम् ॥ मधुसूदनस्य
अपरं गतवति भर्त्तरि सवितरि देशं चकोराक्षि ।
कमलिन्योऽपि रमन्ते मधुकरमुपवेश्य कोशान्तः ॥
चक्रपाणिदीक्षितस्य

उतुङ्गशैलशिखरस्थितपादपस्य काकः कृशोऽपि फलमालभते सपक्षः ।
सिंहो बली गजविदारणदारुणोऽपि सीदत्यहो तरुतले किल पक्षहीनः ॥

प्रातरेव कपर्दस्य कृष्णं मरुत्तरं मां शृङ्गध्वनिनाऽऽचकर्ष । इतः पूर्वं स दूरालापेनासूचयद् यदद्यावश्यमागन्तव्यम् । स्वास्थ्यशालायां महोत्सवः ; यस्या अहं मन्त्री ।

अहमपि द्रष्टुमुत्काऽगच्छम् । लघीयसि दूर्वालाने शतकल्पास्वासन्दीषु कपर्दस्य कृपापात्राण्यवातिष्ठन्त । हर्षोत्फुल्लाक्षः कपर्दो विदेशवेषमायोज्य युवकीभूत ओष्ठविस्फारिणा हासेन लोकं सत्कुर्वन्, च्योततो लालाबिन्दून्सं हरन् उपावेशयत् मामपश्यन् । दम्भी लोकसमक्षं रहःप्रियां नेक्षते समाज-सङ्कुचितः । परं तस्याः समक्षं स स्वमतिशायिनं प्रत्याययति इति स मां रहःप्रियां चिकीर्षंस्तथाऽचेष्टत । अथ सर्वङ्कषशेखरः खरक्रोशी शूकरमुखः स उत्थाय गलं विशोध्य त्रपाजडम्, प्रियचिकित्सकेनोपस्थाप्यमानं ध्वनि-विस्तारकयन्त्रमामृश्य वक्तुमारेभे ।

"वयस्याः षोडश्यश्च ! सर्वतः पूर्वमहमासां षोडशीनां कृतज्ञतां ज्ञापयामि भारखिन्नो धन्यवादैः खेदमपनयामि, यदाभिः सर्वङ्कैवास्मन्मानसमोदस्थली विकास्यते । वस्तुत आसां रूपवाङ्माधुर्यादिषु रूक्षो जनसम्मर्द उत्सवरूपतामेति । अथ च जनसम्मर्दोऽप्यासां प्रेक्षणायैव । अहमेताः प्रार्थये यत्ता उत्सवोत्तरं मिष्टान्नमास्वाद्य व्रजेयुर्येन सुभगोच्छिष्टमुपभुज्य तदधिष्ठिता आसन्दीरामृ-श्यैष जनसम्मर्दः कृतार्थतामुपेयादिति ।

बहुवर्षेभ्यः प्राग् इरावतीतटेऽस्मत्पितृव्योऽदः पावनं दिनं स्वतन्त्रदिनरूपेण सममानयत् । ततः प्रभृत्यस्य महत्त्वं गुरुतरम् ।

राष्ट्रे स्वास्थ्यस्य स्थानं महत्तरम् । स्वास्थ्यसंरक्षणाय येषां महानुभावानां त्यागेन तपस्यया स्थानमदो निष्पन्नम्, यस्माद्वयं सेवया लोकान् विशुद्धमानन्दमनुभावयितुं क्षमाः, तान् प्रत्याभारप्रदर्शनं कर्त्तव्यमामनामः । परं मित्राणि, यादृशी सेवासुव्यवस्थाऽद्य भवति, तादृशी कदापि नाभूत् । स्वार्थपराः कुचक्रा एनां सेवाशालां दुःशासनबलेनाशिषन् । ते संस्थाद्रव्येण व्यापाराद्धनमधिगम्य समाजात्सम्मानं शासनात्पदवीश्च प्राप्य स्वमभूषयन् । ते तेषामुपयुक्ता नासन्, परम्, सेवासंस्थाप्रसङ्गेन सुभगधनबला अद्यतनसमयलभ्यं विशुद्धमानन्दं बुभुजिरे । भवन्तो जानन्ति यद्भटमहाशयस्य भार्याविरहस्तस्य युवावस्थायामेवाभूत् । तदैनां [स्वास्थ्यशाला] प्रत्याकृष्टस्तस्या अभावमपूरयत् । अस्तु, समाजविदितेऽर्थे व्यर्थः समयव्ययः ।

पुरा चिकित्सकाः कर्मकराश्चैनां पितृधनमिव मन्वाना बहोः कालान्निर्बाधं सेवमाना आसन् । परमद्य वयं मासत्रयादधिकं नात्र कमपि नियुञ्ज्महे । नवीनस्त्रिचतुरान्मासान् श्राम्यन् कर्म करोतीति ममानुभवः । सङ्घीभूयाधुनिकानां श्रमिविकाराणां प्रसाराद् भयमपि न । तदा कमकरेभ्यो दीर्घः सवेतनोऽवकाशः, वार्षिक उपहारः, सेवानिवृत्त्युत्तरं कृतज्ञताज्ञापकं धनम्, मासि मासि सञ्चितं धनञ्च द्विगुणीकृत्यादीयत । परं भ्रातृजस्य केकरस्य कलां न न्यूनां शकुनेः शंसयिष्यामः, यया स समस्तान् पाशानमोचयत् । अन्यथा मक्षिकाया अग्नि निःसारणं दुष्करमासीत् ।

अस्मिन् कार्येऽत्रत्यानां केषाञ्चित्कर्मकराणां प्रियचिकित्सकानां चोत्कोचमूलको योग उपलब्धो येभ्यो वयं साधु वदिष्यामः । ये सकर्मभिः मित्रवञ्चका द्विगला भेदका विश्वासघातिनश्च घोषिताः । वस्तुतः दण्डेन बिना काष्ठं छेत्तुं कुठारोऽक्षम एव ।

एकदैकः पण्डितमूर्खो मां सममन्त्रयन्निर्धनो यन्नैतद्वरम्, यतः चिकित्सकः कर्मकरो वा स्वं द्वित्रमासेभ्यो नियोजितमनुभवन् स्वं कर्मणि न नियोजयति, रोगिभ्योऽनुचितं व्यवहरति द्रव्यमाजिघृक्षति च । स्वास्थ्य-

शाला सेवायाः सत्क्रियायाः स्थानम्, नारोग्यालय इष्टकासमूहः। तस्य प्रमुखं पात्रं चिकित्सकः, परे पात्राणि धात्रीसेवकादीनि ततः परं प्रबन्धकास्तृतीयश्रेण्याम्। अस्यां स्थितौ प्रमुखपात्रस्याधमपात्रेणापमानः सर्वथानुचितः, स्वास्थ्यशालासिद्धान्ताद्विपरीतश्चेति।

परं स पण्डितमूर्खः सत्यं नाजानात्, यत्प्रबन्धं विना अर्थात् धनं विना प्रथमो द्वितीयश्च सर्वथा व्यर्थौ। अद्यत्वे धनस्य श्रेणिः प्रथमा, अन्येषां तृतीया। धनाय सर्वं उपानहौ परिष्कर्त्तुं सज्जः। पठिती लिखिती तादृशो मूर्खो भवत्येतन्मया तस्मिन् दिने ज्ञातम्।

स एवैकदा मामगदत् यदप्रजसः स्त्रियः प्रजननशक्तेर्विकासाय स्वास्थ्यशालां प्रवेशिता अवैधगर्भाधानाय प्रेर्य्यन्ते, उत्साह्यन्ते बलाद्धनादानुकूल्यन्ते च, यत्सर्वथानुचितम्। इति।

परं विचार्यं सुभगप्रेयस्यो वयस्याः! यत् स्त्रियां मातृत्वभावना परमा प्रबला, मातृत्वं विना सा जीवितमपि नेच्छति, अतो यदि काचन पत्युरक्षमतां तिरोधायास्मत्सहयोगिनः प्रियान् कर्मकरान् वोल्लास्य धनमानन्दञ्चाप्य समाजाय नररत्नं प्रसूय मातृत्वं फलवत् करोति तदा अद्यत्वे सत्यं सा सम्मानभाजनम्।

अथ चास्माकं सर्वाणि कार्याणि तिरोहितरूपेणैतदपि च, सहयोगिनो मित्राणि मुनिमा कर्मकराः सेवकाः पाचकाश्चालकाः द्वारपालाश्च कुर्वन्ति तदा यदि ता अदः प्रत्यक्षरूपेणापि कुर्युस्तदा कश्चन विवेकविकल एव विरुन्ध्यात्। अस्तु, एतादृशव्यर्थविचारस्यायं न समयः। केवलं भ्रमनिवारणाय वदामि। स्वास्थ्यशालायाः प्रसवविभागे शिशुपरिवर्त्तनं प्रतिदिनं श्रूयते। इदं सत्यम्, यत्कन्यावती पुत्रम्, पुत्रवती च कन्यां परिवर्त्तयति। अद्यत्वे प्रजननविभागस्योत्पादनं प्रचुरम, अतोऽस्माकं प्रियां धात्रीं प्रियं चिकित्सकं वा प्रसाद्य यद्यविदितं परिवर्त्तनं करोति तन्नाकर्णनाय। अहमेतादृग्विषये यथावन्निरूपयामि यन्न कश्चन भ्रमे तिष्ठेत्।

मूर्खा वदन्ति यन्मृत्युसङ्ख्या वर्द्धते, परन्ते नैतच्चिन्तयितुं कष्टायन्ते यन्मृताः के? सज्जनाः! भवन्त एतज्ज्ञात्वा प्रसत्स्यन्ति यन्मृतेषु भिक्षुकाः

कीटपतङ्गाः धृष्टा अवचनकरा उपद्रविणः कर्मकराश्च। नैतेषु कश्चनास्माकं प्रियो बन्धुर्मृतः। बन्धुस्त्रिकटुरामः पौरुषग्रन्थेः शल्यकर्मणि मृतः। सोऽपि भवादृशो रङ्गशील आसीत्, अद्यतनयुगस्योपहारान् यौनव्याधी-ञ्छतश आपच्च परं कदापि नोदविजत। अस्मिन् वयस्यशीति विस्मरन् सर्वां निशां मुक्तहस्तं व्ययमानोऽवर्त्तत। तादृशबन्धोः सुकर्मणश्च वियोगो-ऽस्माकं निश्चितं दुःखावहः। भिक्षूणामुपद्रविणाञ्च विनाश एव राष्ट्रस्य हिता-वहः। ते वराका भगवताऽऽकारिताः, न तत्रास्माकं शक्तिः। परं मित्राणि, एतत्समाजाय हितकरमेवाभूत्। सुकर्मणे भगवान् सदैवास्माकं साहाय्यमा-चरति।

मित्राणि! पुरात्र रोगिभ्यः पयः फलं पथ्यमौषधं मलमूत्रपरीक्षणं फुफ्फुसचित्रञ्च विना मूल्यमसाध्यन्त। सर्वोऽत्र निर्भयमगाहत सबलीभूतः पृथुलीभूतः। अस्मिन्कर्मणि शालाया विपुलं धनं व्ययमापत्, चिकित्सकाश्च दिवसस्योभयस्मिन् भागे शाकमघसन्। परमधुना सर्वं निरुद्धम्। सम्प्रति तत्सर्वं धनेनादातुं शक्यतेऽतो दरिद्रा नात्र प्रवेशमभिलषन्ति न च चिकित्सकः पूर्णोदरस्तिष्ठति। वराकोऽपूर्णोदर एव साध्वाचारः। एतत्सर्वं मन्मन्त्रणया चर्यते। कायचिकित्सकान् शल्यकर्मणश्चाहं परामृशामि, गर्भाशयं संस्कर्त्तुं मूर्छिता युवतीश्च।

स्वास्थ्यशालयाऽधुना पौरप्रतिष्ठानस्य जलं रक्तीकृतं सलवणं भेषजीकृतं प्रदीयते नान्यत्। भेषजान्तराणां परीक्षाणाञ्च मूल्येनाधुना स्वास्थ्यशाला लाभमुद्गिरत्युद्योगशालेव। निश्शुल्कभोजिनः कीटाश्च खात-मिताः। पुरा दरिद्राः स्वास्थ्यशालां शिरोऽर्त्तिकारिणीं विधायातिष्ठन्, परम्, शेखराय धन्यवादः, यः सर्वमशोधयत्। केकरशेखरः कुशलः कर्त्ता। यदा स क्रुध्यन् काणेनाक्ष्णा तिर्यक् पश्यति, तदा तत्, न न्यूनं खड्गात्कार्यं करोति, तत्कृपयैव विशुद्धमानन्दमुपभोक्तुमुपभोजयितुञ्च क्षमाः।

यदाहमत्रोपेतः, स्वास्थ्यशाला वृद्धैर्वृद्धाभिश्च पूर्णाऽऽसीत् विकलाङ्ग-शालेव प्रतीयमाना। लोकः क्रन्दंश्चीत्कुर्वाणश्चातिष्ठत्। परमधुना मसृणा आकृतयः फुल्लानि कुसुमानि मत्ता हासा उद्यन्तश्चन्द्राः प्रभाभाञ्जि

नक्षत्राणि नो भाण्डागारे सन्ति। रोगिणो जातास्त्रिलक्षस्थाने त्रिंशत्स-हस्रम्। रोगो दुःखं दैन्यञ्च शालाया निष्कासितानि। अधुनात्र केवलमुल्लास आनन्दो रसमाधुरी च। तदा न कश्चन सदस्यः शालामीक्षितुमभ्यलषत्, अधुना च त्यक्तुम्। अस्मिन्सौकर्ये सुकार्येऽस्माकं कलिशकुनेः कला साधीयसी।

धार्मिकभावनायाः पुरात्र गर्भपातो निषिद्ध आसीत्, परमद्यतनजन-सङ्ख्यां विभाव्य चलचित्रयोगात् क्षणप्रणयवृद्धेः प्रभावाच्च धार्मिकम्मन्यै-रवैधं घोषितस्य गर्भाधानस्य वृद्धिर्गरीयसी। अतः समाजस्य छिन्नां भिन्नां मर्यादां सर्वैर्विदितां व्यवहृताञ्चापि वृद्धजनपरितोषाय विधवानां कुमारीणाञ्च गर्भाशयः परिष्क्रियते सदस्यानामनुमत्या। परं यत्र स्वास्थ्यशालायाश्च्यु-त्या गर्भः, गर्भाधात्र्याश्च शोधयितुमभिलाषस्तदानुमतिं विनापि, यतः शाला स्वविच्युतिं शोधयितुं सदा सचेष्टा। अधुना केकरशेखरस्यार्हत्तमां योजनामुप-स्थापये यां श्रुत्वा प्रमोदाश्रुशीला भवन्तो भविष्यन्ति।

विवाहितानां परं केनापि कारणेनाप्राप्तप्रजसां स्त्रीणां कृते गर्भाधानस्यापूर्वः प्रबन्धः। आवासशतमेतत्कार्याय स्यात्। प्रत्यावासं दैनिकं शुल्कं पञ्चाशत्,लोकस्य यातायातं व्यवस्थया। अनेन पञ्चसहस्रं प्रतिदिनमायो विशुद्धानन्दस्योप-लब्धिश्च। मासे सार्द्धलक्षमायः। एत आवासाः प्रतिवर्षं शतमेधितव्याः। अनेन स्त्रीपुरुषाणां महतोऽभावस्य पूर्त्तिर्भविष्यति शाला च भविष्यति मुद्रा-शाला। केकरः परीक्षकरूपेण कार्यमदश्चालयति चारुतरं लोकमाकर्षयन्। मम तु मनः शालां हातुमभिलषत्येव नहि। अहोरात्रमेषैव मे मानसमधि-तिष्ठति। स्थानान्तरेषु सर्वानावासानहमत्यजं व्यापाराय व्यतरञ्च जला-ञ्जलिम्। भवतश्चानुरुन्धे तथा कर्त्तुम्। एतत्स्वास्थ्यशालाया नववर्ष-विवरणम्।"

अभितो हस्ततलध्वनिर्मां हीनवातावरणादुज्जहार।

अश्रुतचरमकल्पितचरमप्रयुक्तचरं वचो निशम्य मस्तिष्कमेव नहि शरीर-मपि घूर्णमानमवर्त्तत। बत बलवानभ्यासोऽनुचितमपि सदाचारवत् प्रयुङ्क्ते।

\+ \+ \+

वैद्यवेदनामाकर्ण्योत्कण्ठाकुला तस्मात्स्थानादिकमापृच्छ्याचालिपुरवा-

सिनीं महाधनस्योर्वशीं वीक्षितुमगच्छम्। सङ्गीताध्यापिकामात्मानमघोषयम्। परमभिलषितास्तस्याः सुन्दर्यः, किमुत सङ्गीतनिपुणाः। सा मां न्ययोजयत् केवलं होरायै। स्वल्पेनैव कालेन तामहमवशयम्।

पक्वनारङ्गपिङ्गतां प्रयाते पद्मिनीप्रिये परिस्थित्या शर्वरीसार्वभौमः स्वप्रभावं प्रसारयामास। प्रमोदापूर्णलोचनोत्पला सीमन्तवलयितव्यालाऽपाला बाला वृत्तोद्गिरणवेदनाव्यग्रा सा मस्तिष्काद्वृत्तभारं लघयन्त्यबोधयत्—

"यदहं कस्यापि जरठस्य कोटिपतेर्भार्यास्मि। पतिर्मदुत्थानात् प्राक् शौचं निर्वर्त्यास्नातो यन्त्रालयं याति मुद्रैकप्रियः। मध्याह्ने समेत्य भुक्त्वा क्षणं निद्रामनुभूय कार्यालयं याति। नैशं भोजनं तत्रैव प्रहिणोमि। रात्रौ मयि सुप्तायां निशीथे समेत्य शय्यां स्पृशन्नेव सुषुप्तिमधिगच्छति श्रान्तः। विवाहकालेऽयं षष्टिवर्ष आसीदहञ्च षोडशी। कृष्णचतुर्दशीचन्द्रिका न मानसं प्रसादयति। न कश्चन वायुमेव भक्षयित्वा जीवितुं शक्नोति। जीवनस्य वयःसन्धौ कस्या हृदयं न स्पन्देत? कस्या हरिणीनयने कल्पनारागं न प्रतीक्षेताम्। विद्युतो विस्फूर्जथुः, मेघानां ताण्डवनृत्यम्, हिमो वायुः शीता निशा, एकाकिनीं परं त्रासयन्त्यप्राप्तपतिसुखाम्। यौवनोन्मत्ता प्रकृतिकिशोरी वलयवलयनैर्यदा सोल्लासं झङ्करोति, तदा किशोर्याः परं कष्टम्। हिमततिस्रुति हेमन्ते शीतमपनेतुं जानुभ्यां वक्षो निगुह्य यदा स्वहस्तेन तूलनीशारं सारयति तदा तस्याः कम्पनं वेद्यमेव वर्ण्यं नहि।

आवयोर्द्वित्रिरालापोऽभूत्केवलम्। अयञ्च यौवनेऽपि प्रकृत्या पुंस्त्ववर्जितः। अधुना त्वमेव चिन्तय किमहं कुर्वीय? अधुनाहं रसायनसाधनेन सन्ततीर्निरुध्याविच्छिन्नेन्द्रियानन्दाय सर्वान् धनिनो धनीबुभूषूँश्च त्रासयामि प्रतिशोधविधावधीरा स्मरातुराढ्यपुरुषपशूनां बलिं गृह्णती निष्करुणम्। अहं मञ्जूषा नास्मि या वासोभूषणैरलङ्कृता गृहकोणे क्वापि केनापि स्थापिता निहिता तिष्ठेयम्। अहमस्मि रमणी रमणप्रिया दशेन्द्रियशालिनी।

अवकाशदिनेषु स मां सवाक्चित्रगृहमनयत्। परमेण प्रेम्णा, मम मनो रञ्जयितुम्, चलचित्राभिनेत्रीणां रीतिं कर्म नेपथ्यमनुकर्त्तुं वेति नाहं निर्णेतुमशकम्, परं स मामानखशिखं सज्जितामप्सरोजयिसौन्दर्यां पार्श्वे

उपवेशयितुं हस्ते हस्तमादाय हालं प्रवेष्टुञ्च स्वसहचारिणां समक्षं गर्वमन्वभव-दित्यवैमि। परमयं गर्वो हीरकजटितान्नवलक्षमुद्रामूल्याद्धारात् सप्ततला-द्धवलपाषाणरचितात्प्रासादाद्वाऽविशिष्ट आसीत्।

सप्तघटीविततेऽभिनयकाले न स आलपत्, नाहसत् नाशंसच्च। समाप्तौ तस्य पाषाणी प्रतिमा चाञ्चल्यमासदत्। परमहमभिनयचातुर्यं शृङ्गारस्योत्कूलं स्रोतः, इतश्च श्वेतां कम्पमानां ग्रीवां विभाव्य परमुदविजिषि। अभितः शरीरयोजमुपविष्टानि सवयोयुगलानि वीक्ष्य कस्या मानसं नोद्विजेत? लोको यदा पूर्वं मां तदनु तञ्चापश्यत्, तदाऽचिन्तयम्, कथमियं न विदीर्णा धरित्री, यत्राहं विशेयम्। ततश्च तन्वा परतन्त्रा मनसा स्वतन्त्राऽद्यतनी नारी किं कुर्वीत गुप्तापकृत्यादृते।

अस्माकं मरुत्तरचालको माद्रो दर्शनीयो युवाऽऽसीत्। एकाक्येव सोऽस्मा-नसेविष्ट, यतः सपत्नीका भृतिं नालभन्त। शनैश्शनैस्तेन सहाहमेकाकिनी चित्रगृहेष्वगमम्। वयसा स्वास्थ्येन वेषेण व्यवहारेणच स मत्पतिरिव प्रत्यैयत। एकस्मिन् विजने प्रकोष्ठे द्वे श्रेष्ठे आस्ये विनियुक्ते आस्ताम्। शृङ्गाराविलानि चित्राणि पश्यन्त्यहं विमुह्यन्ती तदुत्सङ्गं श्रयन्त्यासम्। मादृश्यो बह्व्यो मध्याह्नोत्तरं चित्रालयेषु जीवनानन्दमुपभोक्तुं चालकैः पालकैः पाचकैः पूजकैः सहाऽऽगच्छन्। तासां पदचिह्नान्यहमप्यन्वसरम्। शनैश्शनैर्व्रीडा-वेला विनष्टा रागेन्दुश्चोदियाय। आवयोः प्रेम सम्पर्कश्च ववृधे।

श्रावणस्य प्रथमा घटा गर्जन्ती तर्जन्त्युपेता। माद्यन्तो मधुराः शीता वाता मन उदक्लेशयन्। नेत्रं प्रवर्षिमेघमन्वकरोत्। मनोऽधिकमधिकं तस्य रम्यां तनूमस्पृहयत्।

सूर्ये पश्चिमाशया वसन्तोत्सवमग्ने रतिश्रान्तौ च शय्यां श्रितेऽहमप्यानन्दे न्यमज्जम्।

एकदा जरठो नगरान्तरमव्रजत्। अहञ्च कामोद्विग्ना क्वापि शमं नालभे। रविरासीत्। तेन सह चित्रालयं गता। घटी द्विराजघान। जाठरी बुभुक्षा नासीत्। अद्यापरा बुभुक्षा तीव्रात्तीव्रतरमुदीर्णाऽऽसीत्। नाटकान्ते स मां भोक्तुं प्रैरयत्। परं मम रुचिर्नासीत्। परं तस्य कथनं साधयितुं तं प्रसाद-

यितुं तं भोजयितुं तेन सह रम्यं भोज्यागारमविशम्। घट्यै दशमुद्राभिः कोष्ठकं गृहीतम्। आवेदक आज्ञप्तो रसगुल्मान् समाशांश्चायचषकानि चानैषीत्। मद्यं मया श्रुतमासीत्। तदर्थमप्यावेदकः आज्ञप्तः। माद्रो बुभुक्षित आसीत् बिभ्यच्च, परं प्रचुरमघसत्। भोक्तुं मामप्याजग्राह।

"हस्तौ सर्वथा अशुद्धौ कथं भोक्ष्ये' अहमवोचम्।

स्वहस्तेन भोजयिष्यामि' रसगुल्मान्मम मुखे ददत्सोऽवदत्। ममाग्निर्मन्द आसीत्। मया सकृत् पूर्णो रसगुल्मः कदापि जग्धो नासीत्, परमद्य तद्धस्ताद्दशरसगुल्मानभक्षयं स्वर्जिकाक्षारनीरेण किञ्चिन्मद्यञ्च। मदुच्छिष्टं स पपौ। पुनरपरचित्रालयं गतौ।

स्वैरिणीव विभावरी दिनपतौ गते चन्द्राननं चुचुम्ब। सोपि स्वभाग्योदयदृप्तः कलङ्की सातिशयं जहास।

एवं चत्वारि चित्राणि वीक्ष्य निशीथोत्तरमहं प्रत्यावर्तिषि। शशाङ्को निःशङ्कं निशाप्रेयस्या तमःकञ्चुकं स्वकरेणापनीय स्वधवलोत्तरीये तां निगुह्य केलिविलोलो व्यहरत्। अहमुत्कटप्रीतेः परिपूर्त्तिपारणामकार्षम्।

अधुना मम प्रवृद्धः कामाग्निर्न कथमपि शाम्यति।

अस्मिन् पञ्चभूमिके वैभवविलासे विंशतिः फलाटाः सन्ति, सज्जाः सम्राजः सम्भारेणेव। अहं प्रतिदिनं शतं मानवानेष्वाहूय भुञ्जे, त्रासयामि, ताडयामि, परिष्वजे, लुण्ठामि च। अस्मै कार्याय परमाः पटवः पञ्चाशज्जनाः निश्शेषितव्यय आयः प्रतिवर्षं द्विलक्षमुद्राः। निरवधिरनिर्वाच्यश्चानन्दः।

न धनं न वलं न स्वास्थ्यं न सौन्दर्यं नाभिजात्यं न शौर्यं न वैदुष्यं स्त्रियं प्रभावयति, यत्प्रभावयति तत्कामोपशमनम्।

एतदधुना मे व्यसनम्। कस्मिन्नपि दिने द्वित्रान् न्यूनाँल्लभे चेच्छून्यमिव तद्दिनं प्रतीये। यद्यपि वहुलमूर्खायाममितधनायामस्यां नगर्य्यां वर्षे एकं दिनमेतादृशं स्यान्न वा। नितम्बनिम्बक्रिमिः कामी अकामोऽप्यत्रासक्त एव। कदाचन संयोगाद्युगपदेव द्वित्रेषु पुरुषेषूपेतेषु तिस्रः सुन्दर्यो मदाज्ञामनुतिष्ठन्ति। अन्याः कामकण्टकव्याकुलाश्चिकित्सायै विकलाः कलभाषिण्योऽत्रोल्लाघतां यान्ति। प्रथमश्रेण्यां शतं सदस्याः द्वितीयस्यां सहस्रम्। प्रतिमासं

द्विशतं शतञ्च शुल्कम् । आह्वानोत्तरकालमेव सर्वं कर्म परित्यज्य मदाज्ञां पालयन्ति मनोरञ्जनाकुलाः । ता विभविनां गृहरत्नानि सन्ति प्रात आरभ्यानिशीथं व्यापाररतानां मुद्रायै विद्रवमाणानां लोकरावणानां हिरण्यकशिपूनाम् । विभवविलासस्तासां महान् । परममृतादपि भृशं निपीताद्‌द्विजते पुमान् । अतस्ता मणिपुर्याः पुत्तलिकाः हर्म्येषु क्रन्दन्त्यो वेदनामय्योऽत्र मन्मथविलासे वदनाम्बुजं विकासयन्ति प्रतिदिनमभिनवजीवनेन सिच्यमानाः सप्ततावपि षोडश्यः । भवनक्रयणे दशलक्षमुद्रा व्ययिताः, दूरालापेन दशैव सूचितास्तत्क्षणं प्रैषयन्नपरावर्त्यम् ।

एका वामाक्षी यत्कार्यं साधयति तन्न शतैरपि पुरुषैः साध्यम् । अत्र च कीदृशोऽपि भवेच्चतुरो नरपशुः, परं वलयितकृष्णकेशपाशाद् बन्धनमुपैत्येव ।

मत्पतिरधुनापि मां पतिव्रतोत्तमामेव मनुते, मन्वानः प्रत्याययति वा मुग्धः कौशिकः । इति ।

एवं महत्त्वाकाङ्क्षारहितं प्रतिशोधेन स्वाभाविकात्पथः कुण्ठितं जीवनमस्मै पथे प्रैरयत्सा । संसारस्य भ्रमोत्पादिन्यां पद्यायां भ्राम्यन् प्रतिक्षणं निपतन्नप्युन्नतिं मनुते मुग्धः । सत्यजीवनाद्दूरं गतः कल्पनाजीवने कल्पितरागेण कल्पितसौन्दर्यं रचयंस्तुष्ट इव भ्रश्यति मूर्खः ।

अविनयामनयाचारिणीं तामहमबोधयम्—

भ्रान्तासि स्वामिनि ! नरानेवं विलुण्ठ्य विषाद्य परिष्वज्य सन्त्रास्य वा विश्वं नोद्धर्त्तुं क्षमा । नैष प्रकारः प्राज्ञोचितः सत्कुलोचितो वा । मार्गस्तु परो मृग्यः । नानेन वृद्धानां युवतिभिः सह विवाहोऽवरोद्धुं शक्यते, न च चरित्रं चित्रयितुम् । स्त्रीशिक्षया स्त्रीषु साहसमनुचितकर्मणो विरोधाय शक्तिश्चाधातुं शक्यते ।

अथ च व्यभिचारो लुण्ठनञ्चात्र नित्यकृत्यम् । विरोधः प्रतिशोधः सङ्घर्षश्च न दोषापनयनकारणानि । एभिस्तु दोषो वर्द्धमानो बद्धमूलो भवति । एतत्सर्वं परिहर स्वामिनि ! एतन्न तव कुलस्य रूपस्य बुद्धेर्वैभवस्य चानुरूपम् ।

पुनश्चायमपराधोऽधुना सार्वत्रिकत्वाद् राष्ट्रविदितः । राष्ट्रं सद्योऽस्योन्मूलनाय प्रयत्नशीलम् । तद्यदि भवती निगडिता तदा समाजस्य महानपमानः ।

तदाप्यस्मात्कर्मणः प्रत्यावर्त्तितव्यमेव भविष्यति परं तत्प्रत्यावर्त्तनं धारायां प्रवहन्त्या पर्वतादाघातं प्राप्य खण्डशो भूत्वा प्रत्यावर्त्तमानया नावा तुल्यं भविष्यति। समयात्पूर्वं बुध्यते बुद्धिमान्। इति।

सत्यशब्दाः सापराधस्य मर्माणि कृन्तन्ति। सा बुद्धिमती त्वासीदेवेति क्षणं विचिन्त्यावोचत्। त्वं सत्यमेव वक्षि। भोगो न भोगेन शाम्यति, न वैरं सङ्घर्षेण प्रतिशोधेन वा। अद्य प्रभृति त्वं मे गुरुः। तवाज्ञानुरूपमाचरिष्यामि। तारे, अस्य प्रासादस्य सर्वा आवासकक्षा अनन्तं रहस्यं स्वस्मिन् निह्नुवाना वर्त्तन्ते। यद्यासां जिह्वा अभविष्यन् व्यासप्रतिद्वन्द्वितायामष्टचत्वारिंशल्लक्षात्मकं महाभारतान्तरं निर्मातुमशक्ष्यन्। सत्यम्, इन्द्रियसुखं भुञ्जानाहं व्यभिचारैककृत्याऽधुना ग्लानिं व्रीडाञ्चानुभवामि।

अहम्——संसारवासनाग्निः सज्जनसंस्कारान्मार्जयति, क्षणमपि सेवितः परं सत्संस्कार उद्धर्त्तुमुदेत्येव कदाचन। वैभवविलासो विद्याविलासः स्यात्। सर्वाः सदस्याश्च विवाहिता अविवाहिता वात्र शास्त्राण्याचारांश्च शिक्षयेयुः जीविकार्जनक्षमं शिल्पञ्च, येन न ताः पुरुषाश्रितास्तिष्ठेयुः।

प्रपीडितानां सज्जनानाञ्च वस्तूनि प्रत्यावर्त्तय।

× × × ×

"प्रभे, भारतीयसंस्कृतिरूपो जीवनरसः सर्वा एव धर्मनाम्ना प्रतिष्ठापिता जीविकाविपणीः पोषयति। शिष्यबौद्धादयः सनातनेन भारतीयभावेन कणशः पोषिता लोकमनल्पमल्पं वा प्रभावयन्ति। पुरा विरक्तानां महात्मनां सङ्घो नाभवत्। एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्य्या इव कङ्कणः इत्येव सनातनः सिद्धान्तः। तदा ते सङ्गरहिता अनासक्ताः कर्मबन्धं क्षपयन्तः शरीरपातं प्रत्यैक्षन्त। परमद्य बौद्धाननुकुर्वाणेषु विरक्तवद् भासमानेषु सङ्घः सम्प्रदायो मठश्चावलोक्यन्ते। कालनेमिसमा एते व्यापारवृत्त्यै यशोवृद्ध्यै धर्मवाणिज्याय च बहुविधमाडम्बरं रचयन्ति।

कपर्दी मां पितृस्वस्रीयस्य भ्रातुर्भक्तराजाभिधस्य गोविन्दस्य कथायामुपस्थातुं बहुशः प्रैरयत्, समाजं वीक्षितुं स्पृहावत्यगच्छञ्च।

लोकस्य मौग्ध्यं परमम्, स धर्मप्रवचनाभिनयमपि सत्यं मन्यते। नाट्येऽपि

सत्यतां स्वीकरोति मूर्खः। तत्रैको घटकः कुकर्मकदन्नपूरितपापोदरपिठरः सिद्धान्तविच्युतो लोकं वञ्चयितुं राधाकृष्णाङ्कितेन वाससा गलकन्थाधिवासया जनसम्मर्दे धृतया प्रलम्बया मालया अनायासं लब्धेन चन्दनेन च मुग्धं विश्वमाकर्षन्नुत्थाय क्षुद्राभद्रमूर्त्तिर्मलिनाक्षः, अभितो नवयौवनाननेषु निर्निमेषनयनो रूपसुधां पिबन्निव, आनन्दाश्रुभिरक्षमतया दुःखाश्रुभिर्वा व्याप्ताननः, पापः, पूर्वे वयसि व्यभिचारचतुर आचारचरित्रच्युत इव प्रतीयमान आकृत्या, अधुना धनापगमेनासामर्थ्येन च गलितनखदन्तो वृक इव सम्मानेन राधागोविन्दलीलायां वैषयिकमानन्दमास्वादयितुं प्रमोदपयस्विन्यां प्लवमान इव प्रतीयमानः षट्तालैर्जनानभिमुखीकृत्यावदत्—

"भगवतः कृपा,ईश्वरप्रसादो भागवतभावापन्नं वा शरीरं भक्तराजस्येति-तु परमभागवता एव ज्ञातुं क्षमाः। परमेतत्सत्यम्, यद् भक्तराजो न कदापि गुरुकुलमवसत्,न संस्कृतां वाचमभ्यस्यत्,न साहित्यमास्वादयत्,न व्याकरणमाकर्णयत्, नचोपास्तोपनिषदः। परं यदेष दर्शनोपनिषदां भावानुद्गिरति, प्रसङ्गस्य गूढं तत्त्वं प्रकाशयति तदाऽनुवंशिका विद्वांसः साधकाश्च कर्णौ स्पृशन्ति। एष भागवतो भावो येनाज्ञातान्यपि शास्त्राण्येनमुपतिष्ठन्ते।

गुणपुष्पपरागाणां पुण्यैर्गन्धैराकीर्णं भुवनतलम्। परमः पुण्योदयो नो यदद्य रामसखो रामसुखो भक्तराजो दयालुर्जगदुद्धर्तुं विषयवासनया सगलग्राहं गृहीतानां मोहोर्मिमालाकुले संसारसमुद्रे समाकुलविमोहितधियां मानवानामुद्धाराय भगवताऽऽदिष्टः समेतः।

भक्तराजो न केवलमनेकशः साक्षादकृताशेषब्रह्माण्डनायकं भगवन्तम्, अपि तु भक्तवश्यं बहुशः स्वेन सहाभोजयन्न। सोऽधुना मासे पञ्चदशदिनान्यनेन सह व्यतियापयति। परमं सौभाग्यं यद्वयमस्य समानकालाश्चर्मचक्षुर्भ्यामेनं पश्यामः।" इति।

अहो अलं श्लाघ्यतमं मनोः कुलम्, अहो अलं पुण्यतमा कलङ्किता।
यदेष पुंसामृपभोधवाधवः सम्भाषणैश्चङ्क्रमणेन चाञ्चति॥

त्रिचतुरान् पुरुषान् विहाय प्रायशो युवतयो भक्तराजमावृण्वन् भूषणैभवनं भ्राजयन्त्यः कामनया कृष्णं मेघं प्रत्यासक्ताः स्थिरीभूता विद्युत इव।

"अखिलो लोकः शाश्वतसुखाभिलाषो निसर्गतः। परं तस्योपदेष्टा परमो दुर्लभः। अहो उपदेष्टा सर्वतो गरीयान्। स एव गुरुः। अत एव गुरोर्वैशिष्ट्यं शास्त्रेषु। वन्द्यौ नु गुरुगोविन्दौ समं दृष्टौ कथं वद।

गुरुरेव पुरा वन्द्यो गोविन्दपरिदर्शनात्॥

अतो गोविन्दादप्यर्हत्तमो गुरुः। गोविन्दसत्ताया व्यवस्थापको गुरुरेवेश्वरप्रतिष्ठाता। अतः शिष्यस्य दृष्टौ गुरुरीश्वरादधिकं सेव्यः। गुरुर्ज्ञानोपदेशात्। केचनोदरपूरणाय कर्णे मन्त्रं फूत्कृत्य जनाँल्लुण्ठन्ति, तेषां दर्शने पातकम्। गुरुः संसारसागरादुद्धरति वर्णवर्गरहितः सत्योपदेष्टा। तस्मै निर्मायमात्मसमर्पणं कार्यम्, स्त्रिया पत्ये यथा। गुरौ लयो विधेयः शर्कराया जले यथा। गुरुणाऽभिन्नताऽनुभवितव्या जलदुग्धयोर्यथा। अनुभवी मार्गदर्शको गुरुर्लक्ष्यं प्रापयति नान्धोऽन्धम्। तस्मै तनोर्मनसो धनस्य वा न सङ्कोचो विधेयः। अयाचितोऽपि शिष्यस्तानि सर्वाणि गुरवे समर्पयेत्। एवं समर्पयन् सर्वानर्थान् विन्दते। लौकिकं पारलौकिकञ्च सारूप्यमनेन कर्मणा प्राप्नोति।

गुरोश्चरित्रे न कदापि सन्देग्धव्यम्, तदेतन्महत्पातकम्। "ईश्वराणां वचो ग्राह्यं तथैवाचरितं क्वचित्"। महतामाचरणं न साधारणबुद्धिगम्यम्। अस्मिन् पथि प्रवृत्तो लोकनिन्दामुपेक्षेत। एकान्ते सद्वासोभूषणैरात्मानं सज्जयित्वा गुरुर्गुह्यतत्त्वाय प्रष्टव्यः। 'देवो भूत्वा देवं यजेत'। गुरौ प्रसन्ने न किमपि दुरापम्"। इति

एकस्मिन् स्वच्छे हाले उच्चैः पीठे प्रतिष्ठितस्तत्त्वार्थसार्थविकलोऽपि स्वमाचार्यं प्रत्याययन्नुन्मत्तवदशृङ्खलमलीकाध्यात्मभक्तिवादैर्मिथ्याज्ञाननिदर्शनैःपरमपुरुषार्थमाख्यातुमचेष्टत लोकस्य दयमानः स्मयमानो भक्तराजो गोविन्दः।

तदैवैको भद्रतनुः साक्षर इव प्रतीयमानः पीतां शाटीं स्वच्छं यज्ञसूत्रं भव्ये भाले चन्दनं वक्षसि चन्दनस्य गले तुलस्याश्च मालां दधद् गोविन्दमुपेत्य "रिक्थगोत्रः क्षुधाव्रतशर्माहं गोविन्दमभिवादये" इत्युक्त्वा साष्टाङ्गं ननाम। गोविन्दश्च परमहर्षाप्लुतः, एतादृक्कर्म दृष्ट्वा परं प्रसीदन्नपि लोकव्यवहारपटुर्नटवज्जगाद—भवान् द्विजोत्तमः कथमधर्म्यमशास्त्रीयमाचरति। अहं द्विजाधमः, शिशुरपि ब्राह्मणोऽस्माकं परं पूज्यः। इति।

"भगवन्, मया सर्वं ज्ञातम्। सर्वज्ञस्य तिरोहितमपि किम्? लोककरुणया देवःश्रोतुकामश्चेद्दास आज्ञायै सदैव तत्परः। देव, भगवन्तं साक्षात्कर्त्तुमहं हरिद्वारे हृषीकेशे काश्यामुत्तरकाश्यां चित्रकूटे द्वारिकायामयोध्यायां मथुरायां गहनेषु काननेषु तपोऽताप्सम्। ततः केनापि सद्गुरुणोपदिष्टः सत्वरं सिद्ध्यै भगवतो विहारभूमिं वृन्दावनमुपेत्य भाण्डीरवटस्याधः गलितपत्राम्भक्षो भगवन्तमध्यायम्। एकदा करुणावरुणालयो देवो मां स्वप्नेऽबोधयत् यन्न कश्चन चर्मचक्षुर्भ्यामनन्तसूर्यभास्वरं मां वीक्षितुं क्षमः। अतस्त्वमन्यद् याचस्व। ऐश्वर्यं शक्तिं यशो भोगाँश्चेप्सितान् दुरापानभक्तैर्लभस्वेति स मुहुर्मुहुर्मां प्राबोधयत्। परमहमागमापायिनो भोगान् प्रति निःस्पृहो भगवन्तं साक्षात्कर्त्तुमेवाग्रहीषम्। ततश्च दीनवत्सलोऽल्पज्ञस्य बालमतेर्मम हठाग्रहे हसन्नवोचत् यच्चर्मचक्षुर्न क्षम ईक्षितुम्, परं तव यदि परमाग्रहो हरेर्द्वारं गच्छ यत्राहमेव गोविन्दोवतीर्णोऽस्मि। तत्र वृक्षमूले भक्तानुपदिशन्तं मां पश्येति। भवांश्च सदैव क्रीडाकौतुकप्रिय इत आयातोऽतोहं भवद्भुवं शिरसा नत्वेहायातः। अतो ज्ञाताखिलार्थो देवपादधूलिं शिरसा वोढुमुपेतोऽस्मि। अतो वाग्वञ्चनाभिरलम्"। इति।

एवं कथयित्वा स तदन्तिक उपाविशत्। गोविन्दस्य प्रावृषेण्यगोमयप्रतिमे मुखे प्रसादस्य परा काष्ठा प्रादुरभूत्। तस्य विलासजीर्णायामिव प्रतीयमानायां तनौ नवयौवनमिव प्रासरत्। हर्षगद्गदवाक् हर्षाप्लुतां वाणीं विवेकेन निरुन्धन् परमो व्यवहारवित् सभ्यान् शनैश्शनैरवदत्—

भगवतः परमा दया यन्मादृशेऽल्पज्ञे एतादृश्यनुकम्पा।

सत्योऽयं ब्राह्मणः। ब्राह्मणो नाम कथं मिथ्या वक्तुं शक्नुयात्? भगवान् मामपि तथैवादिशत्। अस्मै ब्राह्मणाय गृहं देयं सुखदं प्रसाधनञ्च। येन तपस्विनां समादरभावप्रचारः सर्वदा तिष्ठेत्। इति।

एकेन विधुरेण भक्तेन समालोच्यमानभूतबाधं वासायोग्यं स्वगृहमेकलक्षमुद्रामूल्यं ब्राह्मणायार्पितम्। यस्मात्प्रतिमासमाय आसीत्पञ्चशती। परेण गृहप्रसाधनम्, अन्येन पात्राणि, एकेन वासांसि।

पुनर्गोविन्द आदिशत्—ब्राह्मणः शिविकामारोप्य भक्तैर्भक्ताभिश्चोह्यमानः सर्वस्मिन्नगरे भ्रमणीयः शतस्थलेषु नीराजनया सत्करणीयश्च।

"अखिलो लोकः शाश्वतसुखाभिलाषी निसर्गतः। परं तस्योपदेष्टा परमो दुर्लभः। अहो उपदेष्टा सर्वतो गरीयान्। स एव गुरुः। अत एव गुरोर्वैशिष्ट्यं शास्त्रेषु। वन्द्यौ नु गुरुगोविन्दौ समं दृष्टौ कथं वद।

गुरुरेव पुरा वन्द्यो गोविन्दपरिदर्शनात्॥

अतो गोविन्दादप्यर्हत्तमो गुरुः। गोविन्दसत्ताया व्यवस्थापको गुरुरेवेश्वरप्रतिष्ठाता। अतः शिष्यस्य दृष्टौ गुरुरीश्वरादधिकं सेव्यः। गुरुर्ज्ञानोपदेशात्। केचनोदरपूरणाय कर्णे मन्त्रं फूत्कृत्य जनाँल्लुण्ठन्ति, तेषां दर्शने पातकम्। गुरुः संसारसागरादुद्धरति वर्णवर्गरहितः सत्योपदेष्टा। तस्मै निर्माय-मात्मसमर्पणं कार्यम्, स्त्रिया पत्ये यथा। गुरौ लयो विधेयः शर्कराया जले यथा। गुरुणाऽभिन्नताऽनुभवितव्या जलदुग्धयोर्यथा। अनुभवी मार्गदर्शको गुरुर्लक्ष्यं प्रापयति नान्धोऽन्धम्। तस्मै तनोर्मनसो धनस्य वा न सङ्कोचो विधेयः। अयाचितोऽपि शिष्यस्तानि सर्वाणि गुरवे समर्पयेत्। एवं समर्पयन् सर्वानर्थान् विन्दते। लौकिकं पारलौकिकञ्च सारूप्यमनेन कर्मणा प्राप्नोति।

गुरोश्चरित्रे न कदापि सन्देग्धव्यम्, तदेतन्महत्पातकम्।"ईश्वराणां वचो ग्राह्यं तथैवाचरितं क्वचित्"। महतामाचरणं न साधारणबुद्धिगम्यम्। अस्मिन् पथि प्रवृत्तो लोकनिन्दामुपेक्षेत। एकान्ते सद्वासोभूषणैरात्मानं सज्जयित्वा गुरुर्गुह्यतत्त्वाय प्रष्टव्यः। 'देवो भूत्वा देवं यजेत'। गुरौ प्रसन्ने न किमपि दुरापम्"। इति

एकस्मिन् स्वच्छे हाले उच्चैः पीठे प्रतिष्ठितस्तत्त्वार्थसार्थविकलोऽपि स्वमाचार्यं प्रत्याययन्नुन्मत्तवदशृङ्खलमलीकाध्यात्मभक्तिवादैर्मिथ्याज्ञाननिदर्शनैःपरमपुरुषार्थमाख्यातुमचेष्टत लोकस्य दयमानः स्मयमानो भक्तराजो गोविन्दः।

तदैवैको भद्रतनुः साक्षर इव प्रतीयमानः पीतां शाटीं स्वच्छं यज्ञसूत्रं भव्ये भाले चन्दनं वक्षसि चन्दनस्य गले तुलस्याश्च मालां दधद् गोविन्दमुपेत्य "रिक्थगोत्रः क्षुधाव्रतशर्माहं गोविन्दमभिवादये" इत्युक्त्वा साष्टाङ्गं ननाम। गोविन्दश्च परमहर्षाप्लुतः, एतादृक्कर्म दृष्ट्वा परं प्रसीदन्नपि लोकव्यवहारपटुर्नटवज्जगाद—भवान् द्विजोत्तमः कथमधर्म्यमशास्त्रीयमाचरति। अहं द्विजाधमः, शिशुरपि ब्राह्मणोऽस्माकं परं पूज्यः। इति।

"भगवन्, मया सर्वं ज्ञातम्। सर्वज्ञस्य तिरोहितमपि किम्? लोककरुणया देवः श्रोतुकामश्चेद्दास आज्ञायै सदैव तत्परः। देव, भगवन्तं साक्षात्कर्त्तुमहं हरिद्वारे हृषीकेशे काश्यामुत्तरकाश्यां चित्रकूटे द्वारिकायामयोध्यायां मथुरायां गहनेषु काननेषु तपोऽताप्सम्। ततः केनापि सद्गुरुणोपदिष्टः सत्वरं सिद्धयै भगवतो विहारभूमिं वृन्दावनमुपेत्य भाण्डीरवटस्याधः गलितपत्राम्भक्षो भगवन्तमध्यायम्। एकदा करुणावरुणालयो देवो मां स्वप्नेऽबोधयत् यन्न कश्चन चर्मचक्षुर्भ्यामनन्तसूर्यभास्वरं मां वीक्षितुं क्षमः। अतस्त्वमन्यद् याचस्व। ऐश्वर्यं शक्तिं यशो भोगाँश्चेप्सितान् दुरापानभक्तैर्लभस्वेति स मुहुर्मुहुर्मां प्राबोधयत्। परमहमागमापायिनो भोगान् प्रति निःस्पृहो भगवन्तं साक्षात्कर्त्तुमेवाग्रहीषम्। ततश्च दीनवत्सलोऽल्पज्ञस्य बालमतेर्मम हठाग्रहे हसन्नवोचत् यच्चर्मचक्षुर्न क्षम ईक्षितुम्, परं तव यदि परमाग्रहो हरेर्द्वारं गच्छ यत्राहमेव गोविन्दोवतीर्णोऽस्मि। तत्र वृक्षमूले भक्तानुपदिशन्तं मां पश्येति। भवांश्च सदैव क्रीडाकौतुकप्रिय इत आयातोऽतोहं भवद्भुवं शिरसा नत्वेहायातः। अतो ज्ञाताखिलार्थो देवपादधूलिं शिरसा वोढुमुपेतोऽस्मि। अतो वाग्वञ्चनाभिरलम्"। इति।

एवं कथयित्वा स तदन्तिक उपाविशत्। गोविन्दस्य प्रावृषेण्यगोमयप्रतिमे मुखे प्रसादस्य परा काष्ठा प्रादुरभूत्। तस्य विलासजीर्णायामिव प्रतीयमानायां तनौ नवयौवनमिव प्रासरत्। हर्षगद्गदवाक् हर्षाप्लुतां वाणीं विवेकेन निरुन्धन् परमो व्यवहारवित् सभ्यान् शनैश्शनैरवदत्—

भगवतः परमा दया यन्मादृशेऽल्पज्ञे एतादृश्यनुकम्पा।

सत्योऽयं ब्राह्मणः। ब्राह्मणो नाम कथं मिथ्या वक्तुं शक्नुयात्? भगवान् मामपि तथैवादिशत्। अस्मै ब्राह्मणाय गृहं देयं सुखदं प्रसाधनञ्च। येन तपस्विनां समादरभावप्रचारः सर्वदा तिष्ठेत्। इति।

एकेन विधुरेण भक्तेन समालोच्यमानभूतबाधं वासायोग्यं स्वगृहमेकलक्षमुद्रामूल्यं ब्राह्मणायार्पितम्। यस्मात्प्रतिमासमाय आसीत्पञ्चशती। परेण गृहप्रसाधनम्, अन्येन पात्राणि, एकेन वासांसि।

पुनर्गोविन्द आदिशत्—ब्राह्मणः शिबिकामारोप्य भक्तैर्भक्ताभिश्चोह्यमानः सर्वस्मिन्नगरे भ्रमणीयः शतस्थलेषु नीराजनया सत्करणीयश्च।

ब्राह्मणो मूक आसीत्। वराको दरिद्रः कलया दारिद्र्यं दध्वंस इतीव प्रत्यैयत।" धूर्त्तो धनी सर्वस्मिन् क्षेत्रे स्वप्रभावं प्रसारयितुं वाञ्छतीत्यहम चिन्तयम्"।

÷ ÷ ÷

तारे, धनपतियुवत्यै किं कृतम्?

"प्रभे! प्रातः शनैश्चरे धनपतिस्त्रीदाहपत्रपुञ्जं (फाइल) साभस्य पुर उपास्थापयम्। मामकीनं विवरणं सर्वान् व्यशदयत्। तात्कालिको भुक्तो-पदोऽधिकारी चिकित्सकश्च समाहूतौ। नितरामुद्विग्नोऽभिज्ञतायाः सन्दर्भे नवीनामिमां घटनां सज्जयन्निव व्यग्रः साभो हाले गतागतं कुर्वाणः पदक्रमै-र्धरां निघ्नन् मुक्तमुखं पर्यभाषत—"युवयोः सहयोगेनैतज्जातम्। भिक्षुकाय व्यर्थो रथ्योपदेशः। चौरादतिरोधेयं चौर्यम्। जनसेवक आर्त्तानामसहायानां व्यसनं चरेत्, न्यायस्य गलं निष्पीडयेत्, तदा तस्य प्रयोजनमेव कियत्? यथा तृणमयो हस्ती। धनाय धनपतेः स्त्रीहत्याप्रवृत्तिं भवन्तोऽज्ञासिषुः। परं तदा-प्यनपराधामबलां भवतां समक्षं वैभवपिशाचोऽभक्षयत्। हन्त, मुद्रापत्रोप-नेत्रैरन्धीकृतः कथमवलोकयेत्? रूप्यकरोधकैः पिहितकर्णः कथमाकर्णयेत्? हंहो लोकः कथं जीविष्यति? शृणुतम्, अस्मै कुकृत्याय प्रायश्चित्तं चरणीयं भविष्यति, कुकृत्यानां समुच्छेदायोत्साहश्च। अस्तु, अधुना स निगडनीयः। शृणु, मे सावशेषं वचः। तस्य पलायने भवतां साभिप्रायां दुर्बलतामेव कारणं मंस्ये। आगामिन्यां होरायां धनपतिर्मम पुरस्तिष्ठेत्। गम्यताम्।

धनपतिर्निभृतं कारामानीतो विजने निवेशितश्च। श्रावितोऽभियोगः स श्वेतमुखोऽभूत्। तदनु प्राप्तं क्षते क्षारमिव युवत्या आवेदनम्। धनपतिर्बो-धितो यज्जीवनाश्वासप्रतिष्ठानेन सप्ततिलक्षमुद्राः प्रत्यावर्त्तयिष्यन्तेऽत्य-यश्च (जुर्माना) विचारानुरूपम्। स्त्रीहत्यापराधे तवाजीवनं कारावासः, सहयोगिनाञ्चापराधानुसारम्। अयञ्चाभिनवोऽभियोगो युवत्या गर्भवत्या इति।

विकटायां परिस्थितौ विचाराय स त्रीणि दिनानि प्रार्थयत। शनैश्चर एतज्जातम्। रवौ प्रातर्धनपतेर्गृहमगच्छं शून्यमौदासीन्यपूर्णम्। चन्द्रकला सर्वं व्यशदयत्। आच्छादितानभितो घनान् विदत्यपि युवतिमेकान्त

आश्वास्य वृद्धामसूचयं यदहं साभस्य पुत्रीं शिक्षयामि, मयि कृपावाँश्च सः। अहं मोचयितुं यतिष्ये, इति।

प्रासादे प्रसादलहरी प्रसृता। वृद्धा लक्षमुद्रा आवश्यकतायां व्यवहर्त्तुं मह्यमदात् मरुत्तरङ्ग्न।

अहं धनपतिमपश्यम्। घनतमस्यतर्कितश्चन्द्रोदय इवाकल्पनीयो मम समागमस्तमचकितयत्। शुष्ककुसुमवत्स जहास।

स सर्वां रात्रिं साश्रुरेव व्यत्ययापयदितीव प्रत्यैयत। आयुषो मानस्य क्षुरवस्य धनस्य च वृद्धचै नर उन्मुक्तरोदनस्याधिकाराद् वियुज्यते तदा, यदा कदा स रोदिति प्रकृतिद्वितीयः।

स रहसि मां वीक्ष्योल्लसितः। मृत्युशय्यामधिशयानं विषमामापदं प्राप्तवन्तमपि आशाकुसुमसुवास उल्लासयति।

"भवान् केनाभियोगेनात्रानीतः?" अहमपृच्छम्।

"एते पिशाचा जनसेवकम्मन्या धनकाम्यया मिथ्याभियोगमारोप्य मामानैषुः। परमहमपि धनपतिः। सर्वानमून् धूलिसाद् विधास्यामि। आजीवनं स्मरिष्यन्ति श्यालकाः। नाहमेवं त्रासालसो दुर्विदग्धश्च। सर्वान् मर्दयिष्यामि। रजोऽपि स्वशिरः उत्थापयति मर्दितम्।"—धनपतिरवदत्।

कूपपतितः कपिरुद्धर्त्तुकामानपि लुञ्चति। पापपङ्कनिमग्नमुद्धर्त्तुमुद्यतान् स एवं मेने।

अहम्—अन्तत एभिः किमपि सूचितमारोपितञ्चापि भवेत्?

धनपतिः—ते कथयन्ति, यन्मया सप्त भार्या जीवनाश्वासाद् द्रव्यं जिघृक्षणा व्यापादिताः। विचारय, कश्चन पतिरेवं कर्त्तुं क्षमः?

अहम्—एतादृशि विधानानि बहुशो धनिगृहेषु धनेप्सया श्रूयन्ते वीक्ष्यन्ते च। तासां गर्भवदवस्थायां मरणं समानमूल्यो जीवनाश्वासो लोकस्य विश्वासस्थानम्। अतः संयोगेन सर्वैः स्वीकर्त्तुं शक्यते शक्ष्यते च। अपवादो हि सर्वतः पूर्वमवतिष्ठते। न्यायस्य विधेश्च गतिः कुटिला, अर्थवद्ग्रहणं तत्र स्वाभाविकम्। को जानीते का स्थितिः स्यात्? एवम्भवति बहवोऽभियोगा भवितुमर्हन्ति। एकत्रापि च्छिद्रे दण्डस्य ध्रुवतैव। लोकापवादश्च प्रारम्भतः।

उपदाप्यायितो जनोऽपि परिस्थितौ विपरीतायां विपरीतायते । पादपस्य पत्राणि यदा पतन्ति तदा चटकास्तत्र नीडं न रचयन्ति । एतादृशा अभियोगा इदानीं व्यक्तिषु न विमृश्यन्ते, लोकस्तत्राभिरुचिं गृह्णाति, तदा, सूर्यस्य प्रतिमूर्त्तय इव प्रजाः शब्दगोलकैरङ्गारान् वर्षन्त्योऽभियुक्तस्य मृत्यव उच्चैर्नदन्ति । एवञ्चोन्मत्तजनस्योग्रा मूर्त्तिः, समाजस्य बद्धा मुष्टयो वातावरणं खेदयिष्यन्ति । घृणागरलसिक्ता विषतीक्ष्णाः शब्दा आकाशमालोडयिष्यन्ति । एते नवरक्ता रक्तस्यान्त्यबिन्दुं यावत्तव शत्रवः स्थास्यन्ति । अग्नेर्ज्वालेव वायुना क्षणेन तव कथाऽऽतङ्केन सह सर्वत्र प्रसरिष्यति । तदा न कोऽपि तव शिरो रक्षितुं प्रभुः । उष्णजलस्योत्सर्प इव प्रबलो लोकस्तव पश्चात्तापाश्रूणि छलपूर्णान्येव विमर्शिष्यति । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिस्तत्राशक्या । यतः सत्यातपे कल्पनारागो नश्यति ।" इति ।

सापराधो दुर्बलमना आतङ्कं विचार्य स्थिरः स्थातुं न शक्नोति । तस्य जीवने नैराश्यध्वनिर्दिगन्तगामी । आपदि सदोषस्य मनो मृदु । कठिनोऽपि लौहदण्डस्तप्तः सुखं वर्त्तुलीक्रियत एव ।

"नितरामहं दुःखी । राजशय्यामधिशयान इन्द्रानन्दमनुभवन्निर्दयं जागरितः । सुखं मे मृत्साद् भूतम् । निकारज्वर एधते ।" स्खलत्खेदजलो धनपतिरवदत् ।

अहम्—रोदनेन विपदो वर्द्धन्ते, युद्ध्यमानेभ्यश्च बिभ्यति । जीवनकल्लोलानां परिवर्त्तनेन सुखं दुःखं वा परिवर्त्तते । मतिमतां तत्र को विचारो विकारश्च ।

धनपतिः—अथ मन्यतामेतन्मया कृतम्, परं लोकः कथं ज्ञास्यति ?

अहम्—सौरातपेन जलस्य वाष्पीभवनं चक्षुर्भ्यां नेक्ष्यते, परमनेन वाष्पीभवनं नावरुध्यते ।

धनपतिः (चिन्तातुरः) जीवनेऽस्मिन्नहं निर्विण्णः । यस्मै जीवनायापकृत्यान्यकार्षम्, तदधुना भारभूतम् ।

सत्यम्, यौवनस्य दोषेषु स्फुटेषु जीवनं शोकाकुलं विचाराक्षिप्तं भयविकृतं विवेकविरहितञ्च भवति ।

अहम्—विकटा परिस्थितिः। नाद्यावधि कदाचिदेतत्सूचितम्। परमधुना किमाचरणीयम् ? नाहं भवन्तं कारायां द्रष्टुं शक्नोमि। अहं साभस्य दुहितुः शिक्षिका। यद्यालपेयं तेन केनाधारेण ?

धनपतिः—भवत्येव दैवाङ्कितानि दुरक्षराणि क्षालयितुं क्षमा। पशूनां पाशविमोके पशुपतिरेव प्रभुः। त्वमेवास्माकं दैन्यं दारिद्र्यं दारयिष्यसि। न कारावासो नचार्थदण्डो न लोकापवादश्चेत् कस्मिन्नप्याधारे भवत्यालपितुं स्वतन्त्रा। सदसद्विवेचनविच्युतिस्तु पूत्यपूतिगन्धान् वहतो जगत्प्राणस्य वायोरपि, ममैव को दोष ? इति।

तमस्यपि नर आशाया मन्दतमं प्रकाशं प्रकल्प्य धावति, ग्रीष्मसूर्यं शारदपूर्णचन्द्रे परिणमयितुं चेष्टते च।

तस्मिन्दिने बहुशस्तमद्राक्षम्, ससुखं निवासाय प्राबध्नाम्, उद्विग्नेन पृष्टा सिद्धिं जटिलां कठिनामसम्भवामवोचञ्च। तृतीयदिने स्मयमानाऽवदम्—अतिमानुषं कर्माकार्षम्, साफल्यं त्वदधीनम्। भवतो न विकारो न च न्यक्कारः। विकारः सोऽप्यान्तरिकः। युवतिर्विवाह्या, व्यापारे निर्देशिका न्यायालये निष्पणं स्वेच्छया स्वीकार्या। यद्येषाऽमरिष्यन्महाननर्थोऽभविष्यत्। स्त्रीहितकारिप्रतिष्ठाने पञ्चाशल्लक्षमुद्रा देयाः। याभिः षोडशप्रान्तेषु निःशुल्कप्रवेशनिवेशः पञ्चशतावकाशोऽद्यतनसाधनसज्जः कन्याऽऽवासो विधास्यते भवत्पत्नीनां स्मृतौ। अवधारय, आ कार्यनिष्पत्तेः सज्जाः पञ्चाशल्लक्षमुद्रा विश्वासन्यासः (रोकड़ी जमानत)।इति

प्राणापदमपेक्ष्य धनापगमकातरोऽपि धनपतिः सर्वं स्वीचकार।

मारणाय गृहीतोऽङ्गच्छेदं स्वीकुरुते। कल्पितो मृत्युरुपेक्ष्येत, परमुपस्थितो भयङ्करः।

युवतिरधमजातिरासीत्। वृत्तपत्रसम्पादका मिष्टान्नेन मधुरगानेन मकारैश्च मोहितास्तोषिताः पोषिताः प्रसादिताश्चित्रैः सह पाठकानां रुच्यनुरूपं लिखन्तो धन्यमवदन् धनपतिम्। समाजादकिञ्चित्कराद् भयमेव किम् ? कश्चन 'चूँ चाँ' चकारापि स धौतेन वाससा सत्कृतस्तूष्णीम्बभूव।

महताऽऽडम्बरेण विवाहो भूतः। परदिने न्यायालयं गत्वा स स्वेच्छया

पद्मिनीं स्वसम्पदः स्वतन्त्रां स्वामिनीं व्यापारनिर्देशिकाञ्चाघोषयत्।

निर्मुक्तनीरदायां निशायां जननयननाथो निशानाथः सुधाबिन्दुरिवाभ्राजत। साधुवादायाहमुपेता। परिवारो हर्षोन्मत्त आसीत्। मुद्रा अर्पयन्त्यहमवदम्, सपत्नीको भवान्नारीहितकारिप्रतिष्ठाने स्वयमेता व्ययताम्।

युवतिर्मूकाऽऽसीत्। तस्या वचनचातुरी रुद्धा। वित्तापत्यपतिप्राप्तिपीयूषं तां निर्भरममूकयत्। हर्षेऽपि वैकल्यमिन्द्रियाणाम्। स्नेहगद्गदं विह्वलं सश्रद्धं जीवनेऽननुभूतपूर्वमानन्दं मौनेन निश्छलं व्यञ्जयन्ती न तूष्णीं नातूष्णीमासीत्।

* * *

अभ्यस्तानेकदेशभाषोऽनवरतहासोऽमरभारतीसमर्चनलालसोऽनल्पलिपिज्ञः क्रान्तिवार्त्यां शब्देन प्रवर्त्तयन्नवर्त्तत कविः। शनैरुपेत्य तस्य स्पष्टाक्षरं सन्दर्भमध्येतुं प्रावर्त्तिषि। मध्वोघमुचो विवेकनिकषनिर्घृष्टाः शब्दाः भद्रभावोद्भाविनी रम्याभिव्यक्तिः समाजस्य सामयिकं चित्रं भावानां घातप्रतिघातौ च मानसप्राचीरेणाघटय्य लेखनीमार्गेण पत्रेषु प्रकटितान्यासन्।

स संसारं सुन्दरात्सुन्दरतरं प्रेक्षितुं प्रायतत। तस्य विचारो दृढः स्थायी स्पष्टो विवेकानुमतः सरलो व्यापको वोधकः प्रेरक आकर्षकश्चासीत्, येन मूर्खो बालश्चापि बोद्धुं शक्नुयात् सरसश्च येन सर्वः स्वादं स्वादं रससागरोर्मिषु निमङ्क्तुं सज्जस्तिष्ठेत्।

एकं ग्रन्थं सोऽमुद्रापयदन्यांश्च मुद्रापयितुमैच्छत्। परं धनस्य सौकर्यं नासीत्। लेखके दोष आसीन्महत्तमः—'मनस्विता'। यया स कमपि याचितुं सेवितुं प्रसादयितुं लालयितुं वा क्षमो नासीत्। राष्ट्रे सल्लेखकानां दशा चिन्त्या। तेषां सन्दर्भाणां विक्रेतारो नियन्त्रितशीततापेषु गगनघर्षिषु भवनेष्वविदितसुखदुःखं वसन्ति वर्यमरुत्तरेषु भ्रमन्त्यजीर्णजरणायानुक्षणं भेषजं क्षपयन्ति च। परं गुरुतरगुणसमूहसङ्ग्रहव्यग्राः सिद्धवैदग्ध्या वाचां गुम्फेन क्षौद्रद्रवदर्पोद्रेकं द्रावयन्तो लेखका अर्द्धोदरं जग्ध्वा पत्न्या आभरणानि विक्रीय शिशूनां कोमलकामनाः सम्मर्द्य च भग्नचप्पलैः पदपद्या घर्षयन्तो दारिद्र्याग्निभस्मितभावना याथार्थ्यतो लाभा-

धिकारिणो रथ्यास्वेव निवसन्ति मित्राणां गृहेषु कदाचनैव सतोषं भुञ्जते च।

धनं मानञ्च कश्चनैव युगपदधिगच्छति सरस्वत्याराधको वाक्चौरो वा प्रभे ! हन्त ! भूष्यं वैदुष्यमनायुष्यं यदि धनरहितम्।

विश्वविद्यालयमहोदधिं निर्मथ्योपाधिरत्नं गृहीतवतोऽपि परिचयाञ्चलं विना विश्वविद्यालयेषु न प्रवेशो वाचस्पतेरप्यधनपतेः। यतस्ते पाठ्य-समितिसदस्यान्न प्रभावयितुं क्षमाः। न ते कस्यापि श्याला न जामातरो न मातृस्वस्रीया न पितृस्वस्रीया न भागिनेया न च सौन्दर्यबलाः। यद-भावे विशीर्णवाससां प्रवेशो दुष्करः।

दरिद्रा जननी पुत्रजीवनकामा सप्तकपर्देनापि तं विक्रीणीते। एषैव स्थितिर्लेखकानाम्। पाठ्यत्वेन निर्धारितपुस्तकेषु ज्ञानं राष्ट्रिया संस्कृति-र्भाषा भावश्चाल्पीयाँसि. परम्, पत्राणि मसृणानि क्वचन हावदरीणां सुन्द-रीणां चित्राणि विक्रेतुरधिकोशे विपुलं धनञ्च येन स यामिनीरप्यहयति।

तस्योत्कर्षं कामयमाना विचारैः प्रभाविता तमसूचयम् "रोचते ते काव्यमतितरां मह्यम्। अहं तव ख्यातिं वृत्तपत्रेभ्यो विधास्ये।"

कविः—मैवं भद्रे मैवं चर। नवीनो हि ख्यातिमभिलषन् मृत्युमेवा-मन्त्रयते। अपरिचिता अपीर्ष्यालवो निष्कारणं तस्य शत्रवो जायन्ते।

अहम्—सप्तकपर्दो नाम धनिश्रेष्ठो मम परिचितः। अहं पत्रेणाक्षराणि प्रेषयिष्यामि, शकटे शूर्पस्य भारोऽपि कः ? स सर्वं साधयिष्यति, तं याहि।

कविः—स तवाक्षराणि कथमङ्गीकरिष्यति ?

अहम्ः—स मां स्पृहयति मां प्रसादयितुमभिलषति।

कविः—मानवः कदाचन सत्यमनुमिमीते, कदाचनासत्यम्, परं तत्रा-स्माभिर्न विवदितव्यम्।

अहम्—पर्वतो मानवं नोपैति चेन्मानवेन पर्वत उपासितव्यः।

कविः—मम नास्ति सङ्कोचलेशोऽपि गन्तुम्, परमिमां सरस्वतीमाधाय शास्त्राणि मानसमन्दिरे संस्थाप्य न कथमप्यभिलषामि हीनजनस्य सामी-प्यमासादयितुम्। पशुप्रतिमपुरुषहस्तभ्रष्टैर्दुष्टैर्द्रव्यैर्न हि कामये देववाणीं सेवितुम्। बुभुक्षितः सिंहः शष्पं नास्वादयति नोक्षा बुभुक्षातुरो वा मांसम्। अथ च स्वतो भास्वतोऽपि परसम्पर्काद्विच्छायत्वमेव।

अहम्—विज्ञापनयुगे विज्ञापनकलाविहीनो विद्वान् धनं मानञ्च नाप्नोति न च वस्तु प्रचरति। लोकक्षेमङ्कराणां विचाराणां प्रचारो लोकहिताय कार्य एव, माभूद् यशसे धनाय वा। विचारप्रचारकातरोऽपि मानोन्नतो वीरो मित्राणां योगेनाग्रणीर्भवितुं सुशकः। उत्साही नैराश्यनदं तरति। खेदं मा आवह। यथानुशासनं चर।

एवं बहुशः प्रेरितः सोऽगच्छत् परं वीतेऽपि मासे न प्रत्यागच्छत्। कविं वीक्ष्य स्वतः सात्त्विकताऽऽध्यात्मिकताऽनिर्वचनीया शान्तिश्चोदभूत्। तस्य चमत्कारिणी सुबोधा सरला कल्पना श्रोतुः शिरः कम्पयन्ती नमयन्ती वाग्मिता, प्रखरं तेजः, अचिन्त्यविचारा बुद्धिः, अद्भुता क्षमा, अपूर्व आत्मविश्वासः, दृढं साहसम्, अनुपमेया निर्भीकता, शब्दशास्त्रमिव शास्त्रेषूच्चं वचः, उच्च उदार आशयो मां प्राभावयन्। ललितकलानां कर्त्ता निरभिमानः प्रफुल्लः कौतुकरहस्यप्रियोऽविलुप्तमतिरभिनवोन्मेषे, यशोवयोवृद्धैरभिनन्द्यवन्द्योऽपि कविः कथमभिलाषपूरणायार्थदारिद्र्यमनुभवति? सूर्योऽपि किं तमसि मार्गं गवेषयते? परमोऽयं साधकोऽधुनाप्यनाप्तधन एव। अथवा नास्त्यस्य सिद्ध्यसिद्ध्योर्वैषम्यमर्थकृतम्। स कमपि न प्रसादयत्यर्थाय। न तादृशः कोऽपि योगस्तेनाविष्कृतः। स्वतन्त्रं स निःश्वसिति। न कदाप्यभावमनुभवति। न कदाप्यर्थाय चेष्टते। न कदापि धनिनोऽभिनन्दति।

दाम्भिकाः परान्निन्दन्तो नन्दन्ति। परेषां निन्दां विना स्वगुणशंसाऽकिञ्चित्करी तेषाम्। परं निर्मलमानसः सर्वेषां प्रशंसापरः सः। कदापि कस्यापि मते सन्दिहानोऽपि नापमनुते; एकाग्रबुद्धिः स्वयं चिन्तयति यदहमेव न किमु मिथ्यापरः? अनुत्सेको विवेकः सर्वातिरेकोऽमृतसेकः सर्वसम्पदां पदम्, परमस्मात् सम्पदो बिभ्यति। अथ च तस्य सम्पदः परिभाषैवान्या, यया स सर्वसम्पत्पतिः। तस्य मानसं सर्वदाध्ययनपथे पुरस्सरं लोककल्याणाय व्याकुलञ्च, परम्, यथा स लोकाय चिन्तयति, किमु लोकस्तस्मै चिन्तयति? न हि। विद्वेषपरुषेष्वपि क्लेशोष्मशोषकेष्वपि न कर्कशाः सन्मानुषाः। परं कथं स नोपेतः? व्यवहारदृष्ट्या तस्याभावप्रदर्शनमावश्यकमासीत्। इत्यहं चिन्तयन्नत्यवर्त्तिषि।

एकदा प्रातः सुभगम्, सूर्यस्य किरणाः सकरुणमस्पृशन्। मनः सुमनोवद्विकसितम्, प्राणाः सप्राणाः शरीरं समुत्साहि जगत् कुसुमकोमलम्, वनानि निष्कुटाः, शिलाः कुसुमशय्या इव प्रत्यैयन्त। मनोऽद्य त्रिश्वबन्धनानि विदार्य मत्तमप्यवहितं निर्भयं प्रत्यैयत। अद्यतन आवेगोऽरोध्योऽज्ञातं प्रेरयन्निवावर्त्तत। दृढं व्यश्वसम्, अद्य कविं प्राप्स्यामि। पर्वतं विचूर्णयिष्यामि। कोऽद्य कवेर्निह्नवने क्षमः? उपकर्णं कदेर्वाणी व्यभाव्यत। शनैश्शनैरपराह्णः सायाह्ने विलीयमानोऽवर्त्तत। सूर्यः कमपि गवेषयमाण इव धावमानस्तदनु दिनमप्यनुचरवदचरच्च। कविं वीक्षितुं पराभिलाषं मन उद्विग्नम्। पदमविज्ञायापि तं प्राप्तुं मरुत्तरमारोहम्।

समस्तं दिनमविश्रान्तं व्योमक्षेत्रे क्रीडन् श्रान्तः सूर्यशिशुः स्वकरान् सङ्कोच्य गृहाभिमुखोऽभवत्। देहल्यामेव श्रममपनेतुं रजो व्यपगमयितुं तनुं शोधयितुमुष्णरक्तेन जलेन तं स्नपयित्वाऽशाययत् सन्ध्या। शोकातुरेव द्यौः कृष्णं वासोऽधात्। खरखुरनिपातैः सर्वतो विदीर्णेनेव वक्षसा मूर्च्छामिवापन्ना भूः शैथिल्यमभजत्। सायन्तनो धूमो भुवः शोकोच्छ्वास इव सर्वत्र व्याप्तः।

उपनगरम्। श्वानोऽनागतपूर्वाय मरुत्तराय क्रोशन्तो धावमाना अगत्या श्रान्ता भुवं विलुच्य वृक्षमूले गताः स्वैरं प्रावर्त्तन्त।

वक्राः सङ्कुचिता रथ्याः, कण्टकवरण्डिकावृतानि गृहाणि, कण्टकिफलकावृतानि द्वाराणि मांसमाचूष्य विदूरं प्रक्षिप्तान्यस्थीनीव व्यलोक्यन्त। दारिद्र्यस्य प्रदर्शनी। तत्र रथ्यायां भ्रमन्ती कविमद्राक्षम्, मरुत्तरविषाणस्य परिचितं ध्वनिमाकर्ण्य मामीषद् वीक्ष्य चौरमिव भीतं प्रद्रुतम्। पट्टधराः (पटेल) नगरपञ्चमुखाः पृष्टाः सूचयितुमक्षमा आसन्। कविर्मानसे जिज्ञासामुद्दीप्यान्तर्हितः। अहं तमन्वेष्टुं नगराद् बहिरागच्छम्।

दिनभा नववधूरिव निशि निभृतं शयितुं लज्जितेव शरीरं सङ्कोच्य चुपिता गता। यां वीक्षितुं श्यामगगनस्यानन्तानि चक्षूंषि विचकसुः। प्राप्तावसरो वासरचौरः सौरातपशापी शशी कलङ्कं दधदपि दोषाप्तविभवो हसन्नुदैत्। तदनु मन्दं मन्दं स्पन्दमानः पीयूषसारी पवनः पीडितां पृथ्वीं प्रेम्णा पुच्चकार।

नभःकुमुदे सोल्लासं सज्जा सुहासिनी चन्द्रिका माधुर्येण म्रदिम्ना मनो मधुरयन्ती दुग्धधाराभेण स्मितेन विश्वं क्षालयन्ती सौभाग्यरात्र्यै चन्द्रं प्रभावयन्तीवावर्त्तत। ताराः स्वप्रकाशं चन्द्रिकायां राज्ञ्यः स्वाधिकारं पटराज्ञ्यामिव विलाययन्त्य आप्राकाशन्त।

चन्द्रिकया शतगुणितशोभ उपलव्यथितो निर्झरः पर्वतान्मन्थरगत्याऽवातरत्। लघीयसीं पुष्करिणीमापूर्य शनैश्शनैः स्वोद्देश्यं व्रजन्नवर्त्तत। तटे च प्रबलैर्लघूनां भक्षणं वीक्ष्येव विदीर्णहृदया वराक्यो वराट्यः प्रसृताः। सुदूरे एका बलीवर्द्दशकटी चर्चरायमाणा सरन्त्यवर्त्तत, पार्श्वे च निमीलितनयनो रोमन्थायमानः साण्डः।

प्रशान्तनिर्जने मोहकं मूकसङ्गीतम्, मुकुलितपङ्केरुहाङ्के भ्रमन्तो भ्रमराश्च मम मन आह्लादयितुमिवाचेष्टन्त।

अहं कवेरार्जवं विद्रवणं चौरदृष्टिञ्च विचारयन्ती विकला निकुञ्जान्तरिता तमागच्छन्तमपश्यम्। मलिना निष्प्रभा दृष्टिः, बलीभाक् त्वक् क्लान्तः शिथिलः पदन्यासः, उज्जटं रूक्षं शिरः, शुष्कं मुखम्, गर्त्तार्त्तौ कपोलौ, घनो घास इव शुष्कं श्मश्रुजालं धौतं वास इव परिपाण्डु शोणितविहीनं शरीरम्, जीर्णमलिनानि वासांसि, दीपशलाकाशकलाकारेऽस्थिपञ्जरेऽवरुद्धः श्वासः विविधभावनोपेतमिव चिन्तातुरं मनश्च तस्य दशां प्रकामं प्राकाशयन्। स्वास्थ्यस्य शक्तेश्च तस्मिन् सत्तैव न प्रत्यैयत, प्रत्यैयत च कङ्कतिकया केशानां शाश्वतिको विरोधः। तं वीक्ष्य पेषणदृषदिव शिरो मेऽघूर्णत। कार्यभारनिष्पेषित इव, दुर्भाग्यदुर्दैत्यस्य निष्करुणदण्डाघातेनाहत इव जर्ज्जरः स निर्झर शिलायामुपविश्य हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्य, स्वेदबिन्दूनपनीय, वने स्वैरं विचरञ्छशो नवीनं पदध्वनिं श्रुत्वेव मध्ये मध्ये उत्कर्णश्चकितलोचनो भीतो विषादविह्वल इतस्ततो विलोकयन् विग्रही ज्योतिष्मान् संयम इव सन्ध्यातुमुपविष्टः स्वकर्णश्राविणा स्वरेण शोकावेशपरवशः स्फुटमवदच्च —

"अहो धनवतां मोहः ? आप्रलयं जीविताशा च। समयेन न राजा न राज्ञी न धनं न धनी न च तेषां गर्वः स्थास्यति। सर्व एवैतेऽस्यां भूमौ क्वापि कोणे कणमग्ना भविष्यन्तीति निश्चितम्। परं तदपि स्वजीविताय

स्वमनोमोदाय स्वाग्रहनिर्वाहायाकरुणसुकरं जीवनहरणं कीदृग्दुर्वाच्यम्? क्व शिवराजः? क्व प्रतापः? क्व जयचन्द्रः? क्वावरङ्गजिह्वः? सर्वं एव हि गताः। येषां स्नेहस्मितं कामयमाना लक्षश आसन्नाबद्धकरयुगलास्तानद्य कः पृच्छति? परं हन्त, मुग्धो मानवः कीदृङ् मूर्खं उद्धतश्च। मन्ये, मोहममुं वीक्ष्य भुवोऽपि कम्पो दिवोऽपि रोदनम्। अहह, मानवः परैति परं तस्य श्वेतानि कृष्णानि कर्माणि तिष्ठन्ति। हन्त! मर्दितकुसुमानां भारमिव जीवनं किमर्थं धारयामि? मृत्योर्न बिभेमि। मृत्योर्नाम किं भयम्? किन्तु श्वमारं मरणं मे न रुचिकरम्। मानवमारकाणां भावानां मारणं विना मे निष्फलं मरणम्। अहह, विलक्षणः संसारे सुखभ्रमः। अङ्गुष्ठं लिहन् स्रुतलालः स्तन्यमेव मनुते शिशुः। ममापि मौग्ध्यं परमम्, यद्विपदां प्रतीकाराय द्विपदपशुं विपद्विग्रहिणं वासनोद्धूतमतिं दुर्मात्सर्यमदं कामोन्मत्तं वैभवपिशाचमश्रयम्। दुर्हृदं सुहृत्त्वेनाग्रहीषम्। मनोमोदकैर्जीवनमैच्छम्। भित्तेर्भिक्षामपैक्षिषि। विशालं नो मौर्ख्यम्। सर्वस्वं परेभ्यो दत्त्वा पुनस्तेभ्यः कणयाचनम्। पुत्रविवाहे प्रक्षिप्तस्वर्णमुद्रः कश्चन कदाचन कञ्चन प्रक्षिप्तस्वर्णमुद्रया धनीभूतं भिक्षुकं पणं यथा याचेत, तद्वत्।

अशेषां सविषां तमस्विनीं भ्रमन्नप्राप्तकिरणः श्रान्तोऽस्मि भगवन्! अधुना प्रकाशरेखां वितर। किमु नेमा निशा अन्तमुपैष्यन्ति? जीवननिकुञ्जोऽधुना निष्पत्रतां बिभर्त्ति विभो! तत्र किमु वसन्तो नोदेष्यति। विश्वेश्वर! सम्प्रति स्वरः श्राम्यति, मनो भ्राम्यति, जीवितुं वितृष्णा भवति। अधुना तव कृपां कामये। कियदवधि मामेवं त्रासयिष्यसि? त्वच्छरणायैवं त्रासः किमु शोभास्पदं दीनबन्धो? यन्मह्यमनन्तमन्धं तमो वितरसि यत्र मार्गं मार्गयमाण उद्विजे तृष्णाकुलश्चातक इव। एषा तिक्तानुभवज्वाला मां धक्ष्यति, ततोऽग्निः स्वतः शाम्येत्। जीवनदीपः सम्प्रति प्रभञ्जनवेगं सोढुमक्षमः प्रभो! मनो मेऽनन्तभावकल्लोलैर्व्याप्तम्, तद्विलायय देव। कर्मणा सह मनो दुर्गुणकणरहितं निर्मलं सबलं तिष्ठेत्। साम्रेडं मृड समीडे, दयस्व।

एषा छलमयी तमोमयी वञ्चनामयी हिंस्रा निशा। कथमहं जीवनं

धारयिष्यामि पराभवपरिभूतो जीर्णसंस्कारः शीर्णाशोऽस्तबलः शिथिलतनुः । हन्त कीदृगस्मि ? मम मानसोपवने कदापि वसन्तो नावसत्, पुष्पाणि न व्यकसन्, परिमलो न प्रासरत्, भ्रमरा नागुञ्जन्, धीरः समीरो न प्रावहत् सर्वदा पतत्पत्रतामेवान्वभवम्, जातमात्राणां पत्राणामन्तम् ।

सम्प्रति स्वैरिणीमिव बहिर्गतागतशीलां चित्तवृत्तिमवरुध्याकुतोभयं निःस्पृहराज्यमाश्रयिष्ये । वैराग्यमेव नो योग्यं मृग्यमारोग्यम् ।

भगवन् ! अश्रौषमपठञ्च यद् हिरण्याक्षं हिरण्यकशिपुं रावणं च निहन्तुं समये समयेऽवातरः बहुना श्रमेण समयेनावधीश्च । परं भगवन् ! उद्विजेऽद्यतनान् हिरण्याक्षान् हिरण्यकशिपून् रावणान् विभाव्य । यतोऽधुना प्रतिग्रामं प्रतिनगरं प्रतिगृहमेव नहि, प्रतितलमनेके हिरण्याक्षा हिरण्यकशिपवो रावणाश्च । तान् शासितुं चतुर्विंशत्यवतारान् युगपदासाद्यापि किं सफलो भविष्यसि ? मनो मे सन्दिहानं तवापि च । अनन्तैरवतारैरवतर देव ! त्रस्तमधुना विश्वम् । साधनविहीनाः प्रजा उपसमुद्रं गत्वा न त्वां स्तोतुमाह्वातुं वा समर्था एतेभ्यो भयात् । प्रतिक्षणं रक्तबीजवदेधमानेभ्य एतेभ्यो भयात्त्वमपि सन्ततचिन्तो निर्णयासमर्थो निरन्तरं पारिषद्यैर्विमर्शमग्न एव भग्नसाहसः । परं त्वमनन्तशक्तिः सिद्धसङ्कल्पश्च, बुद्धचस्व कुरुष्व । क्वापि पलायितोऽसि किं पुराणपुरुष ! हिरण्यकशिपुस्तम्भोत्पाटिन्, द्रौपदीशाटीवर्द्धक कथमधुना भीत इव विरक्त इव बधिर इव निर्लज्ज इव विस्मृतविश्वः शेषशय्यायां शेषे ?

कवेर्वचांसि श्रान्तस्याशरणस्य निष्करुणं विप्रलब्धस्येव नैराश्यपूर्णानि भुवि विपुलमाच्छन्नेनावार्यमाणेन दुःखेनाक्रान्तान्मानसान्निःसृतानीव प्रत्यैयन्त ।

विधुविधूता विभावरीवधूर्विबुधवितर्क्यं विदग्धविभ्रमं विदधती विक्रमविहीनं विद्वद्वरं विनोदयितुं विचक्षणां विभां वितेने ।

क्षणं विरम्य पुनः सोऽब्रवीत्—स्यान्नाम ? खरनखनिपातैः शिशिरमातङ्गं विदार्य वसन्तसिंहः शोणितपृषद्भिरिव रागैः कदाचन ममापि

जीवनोपवनावनिमभिषेक्ष्यति। निशीथिनीं विनाश्य सुप्रभातं विधास्यति भाग्यभास्वान्। इति।

मांसेन रक्तेन रहितश्चर्मणा नद्धः कङ्काल इव भिक्षुसङ्घस्य सदस्य इव कविर्मनोनिविडगुहायां शान्तेः सरो दधच्छोकमिवाश्रूणि विमुच्यापास्तदोष इव ध्यानसज्जो बभूव। स्फुरन्तावोष्ठौ रुद्धौ, चक्षुषी निमीलिते, दिशो नमस्यँस्तपस्याभिमुखो जोषमासिष्ट।

अहमचिन्तयम्—कथमियमाकृतिर्दुराचरितुमर्हति? रहस्यपरिधानावृतः कविरद्यावश्यं प्राप्तव्यः।

शनैश्शनैर्निःशब्दमुपेत्य स्थलविष्टरोपविष्टस्य तपोनिष्ठस्य ध्यानावस्थितस्य पुर उपाविशम्। क्षणेन स कल्पितस्वर्गाद्वास्तविके जगति प्रत्यागतः प्रसह्यानीतो वा।

स मामतर्कितोपनतां वीक्ष्य नतनयनः सर्वाङ्गमकम्पत विलपितुमैच्छच्च। परम्, नरस्तावदेव विलपति यावल्लब्धसञ्ज्ञो दुःखाभिभूतसञ्ज्ञो नहि। विक्लवाकुलः स मां साष्टाङ्गं प्रणम्योवाच—

भद्रे, रोगाक्रान्तः पलायितुमक्षम आसम्। अधुना स्वस्थः प्रतिदिनं क्रोशं क्रोशद्वयं वागच्छन् स्थानमदस्त्यक्ष्यामि। सकृद्देवी दयताम्। क्षाम्यतु च ममापराधम्। भद्रेऽपमानाग्निना पक्वं व्रणमिव मनो मे नाधिकं निर्दयं मथान।

कवेरुत्पलायितानि विलोचनानि शनैश्शनैः क्रमशस्तित्क्ताश्रुबिन्दूनसारयन्निःशब्दम्। तस्य भाषणभङ्गीमश्रूणि वैक्लव्यं स्वास्थ्यं विभाव्य विस्मितावोचम्—अन्तर्दाहशुष्काण्यश्रूणि मानसमधितिष्ठेयुर्नाम, तेषां निर्गमनं पुरुषाणां शोभास्पदं किमु? सत्यं निरूपय, कथमेवं क्लान्तोऽसि? ग्रन्थानां मुद्रणं भूतं न वा? कथं त्वं पुरस्कृतः सम्मानितः? कीदृग्विदायः प्राप्तः?

कविः—भगवतो महती दया। भद्रे जीवनं मे शिष्टमेतावदेव बहु। अन्यथा तु....

अहम्—तावकीं भाषामाकर्ण्याहं खिन्नास्मि। मरुत्तरमारोह।

कविः—[पादौ स्पृशन्निव दयां भिक्षमाणः] देवि, दयस्व, बाला सुशीला कुलीना पत्नी मां प्रतीक्षते। त्वं स्त्री, स्त्रीहृदयमवश्यं वेत्सि।

अहम्—सर्वं वेद्मि, परमधुना तु त्वया गन्तव्यमेव मया सह। स्वेच्छया

नारोक्ष्यसि चेद् बलेनारोहयिष्यामि। शृणु, परमाहं हितैषिणी अभयं ते ददामि।

भीतः कविर्वचसि विश्वस्य परिम्लानः परिस्खलन् मरुत्तरमारोहत्। अहं मौनिनीवासम्। बकधवलमानीय सत्कृत्य शयितुमादिशं रक्षकांश्च सतर्कतायै। निशीथात्पूर्वन्तमद्राक्षं मुमूर्षुमिव। अहमवोचम्—निश्चिन्तो भव कवे यदि नाजीविष्यः पाषाणीं प्रतिमां तेऽस्थापयिष्यम्।

"शिव शिव मैवं कुर्याः। विहगविष्ठोपलिप्तां परिचेतुमशक्यां कदाचन प्रवर्षणेन विमलीभूतां वीक्ष्य आकृत्याऽसूयां प्रकटयन्तः सुहृदोऽर्दितं नाप्नुयुरिति बिभेमि।"

"तर्हि ते निधनदिने महोत्सवमायोजयिष्यामि।"

"अत्याहितम्। परिचिता निर्बाधं शप्स्यन्ति, श्रोतारश्च समोदं भाष्यं रचयिष्यन्ति।"

"तर्हि अशेषजनविदितमभिनन्दनं ते रचयिष्यामि।"

"शान्तं पापम्। नात्र सन्देहो यन्मृते मयि हालः खाचं खाचं पूर्णो भविष्यति। जनसम्मर्दजो हर्षातिरेको मम न स्यादतो मयि जीवति लोको नागच्छति, सा भीतिस्तदा न भविष्यति, अतो लोकः समूहश ऐष्यति, निर्बाधमाधाय विषमधरे मामपवदिष्यति, प्रसादोन्मुखा नागमिष्यन्ति। भद्रे प्रसीद मैवं चिन्तय।"

"तर्हि विशालमभिनन्दनसन्दर्भं प्रकाशयिष्यामि।"

"अब्रह्मण्यम्। अभिनन्दनीयस्य कथा त्वेकपत्रावकाशा। अतस्तत्र विज्ञम्मन्यानां वाग्व्यायामो भविष्यति। ये मामाकृत्या प्रकृत्या वाण्या भावेन आजीवनं नाबुध्यन्त ते स्वस्य सोपाधिचित्रं मुद्रयितुं शुद्धमिथ्याऽङ्कयिष्यन्ति यथामौर्ख्यमष्टगुणशर्करमोदकाभं वा।"

"तर्हि किं कुर्वीय ?"

फलनिरपेक्षा कर्त्तव्यबुद्धया राष्ट्रं भजस्व, येन लोको मां विस्मरेत्। मानवस्य योग्यतासूचकन्त्विदं यत्स शिष्यान् तथा साधयेत् येन कार्यं तदभावेऽपि सुन्दरतरं प्रचलेत्, तञ्च न कश्चन स्मरेत्। स्मृतिः स्वार्थमयी भद्रे! नेतुरेतत्परमं दौर्बल्यं यदि स इच्छेद्यल्लोको मय्युपरते मां स्मरेत्। परमार्थतः स राष्ट्रद्रोही पामरः कुवृत्तिः कुमतिः कुकर्मा कदाचारी कुपुरुषः इति। सम्प्रति शेष्व। इति।

विविधविचारविकला त्रुट्यन्तीं निद्रां समाप्य प्रातरेव कवयेऽर्हत्तमं वासो भोज्यं सन्दर्भप्रकाशनञ्च प्राबध्नाम्। सप्ताहान्ते मुद्रितं सन्दर्भमादाय कविमद्राक्षम्, आरक्ताकृतिं मांसलं युवानमिव प्रतीयमानम्। तस्य कोटर-शायिनी चक्षुषी सम्प्रत्युत्फुल्लपुण्डरीकप्रतिमे अभूताम्।

अहम्—श्रीमतां प्रियः सन्दर्भो मुद्रितः, उपह्रियतामिदानीम्।

कविः—उपहाराय मम समीपे..........अहमेवास्मि।

अहम्—तर्हि कपर्दकथां निरूपय।

कविः—भवत्याः पत्रमादायाहं कपर्दं गतः। तत्र वार्त्ताप्रसङ्गेन बहूनि प्रश्नोत्तराणि भूतानि। तारया सह तव कः सम्बन्धः? कियता कालेन? त्वां सा परिणेतुमिच्छति किम्? रात्री कुत्र शेषे? तारया सह भुङ्क्षे कदाचन? इत्यादीनि, परं तैर्ज्ञातैरज्ञातैर्वा न किमपि प्रयोजनम्। अन्ततः स राक्षसो ममाभिलाषं श्रुत्वा सम्भर्त्सयन्नवदत्। आदानप्रदानिको वैदुष्यं विद्यादपि कथम्? "मूर्खस्त्वं सा रण्डा च" (क्षणं विचिन्त्य) अस्तु भवादृशानां तु भववेदनाव्यपगम एव वरीयान्।

भवता भवतापहारिणा किं रचितम्?

अहम्—अद्यतनसमाजस्य दोषापहारि।

कपर्दः—विविक्तसूक्तरचनेऽक्षमोऽप्राप्ताभिलषितपदो वा लेखकः समाज-माक्रोशते, क्रुद्धा मार्जारी पुच्छं लुञ्चति, विरसः किलोष्ट्रस्ये-क्षुदण्डः। एवंविधः कोमलभावनः क्लीबः कविः स्वस्य मौर्ख्य-मचिन्तयन् समाजाय क्षुभ्यति व्यक्तेः प्रतिशोधं समष्टेर्जिघृक्षति च जगतो भास्वद्रत्नानि विपरीतमालोचयन्। परं कविराज! समालोचना गृहकपोती। निस्सारिता गृहकपोती यथा गृहं प्रत्येति तथैव समालोचना समालोचकम्। पुनश्च भगवानपि मानवकर्माणि मरणोत्तरमेव निर्णाययति तदा मरणात्प्राक् मानवस्तत्र कथं साधिकारः? परमत्र जन्मान्धोऽपि पर-दोषदर्शने दिव्येक्षणः। हन्त विधिर्यस्य भाग्यरेखां स्वर्णलेखिन्याङ्कित-वाँस्तस्मै लोको द्रुह्यति। शृणु, पृथ्वीं प्राप्तं भगवानपि शूकरोऽभवत् तदाद्यतनस्य धनिनः को दोषः? अचेतनो मृताङ्गो मृदङ्गोऽपि स्पृष्टो धनं धनं नदति तदा सचेतनस्य नरस्य का कथा?

अहम्—सन्दर्भकस्य पावनं कर्त्तव्यं समाजोद्बोधनम्, दोषापनयनाय समस्यानां समाधानाय मन्त्रणा च।

कपर्दः—तदा संस्कृते तादृशः प्रयासः सर्वथा व्यर्थः कर्त्तुर्मौर्ख्यमेव बोधयति यतः संस्कृते न नवीना रचना न मुद्रणं न च पाठकाः। संस्कृतज्ञा अपि न पाठयन्ति स्वशिशून्संस्कृतम्, आयुर्वेदविद आयुर्वेदमिव। अनेन सत्यमेव तदभ्यस्तशास्त्रस्य वैयर्थ्यं बोध्यते। हरिवैद्यः स्वसुतं वैदेशिकचिकित्सकं चकार राधाकृष्णश्च विदेशभाषाशिक्षकम्।

अहम्—सत्यमेव लोके तद्भाषाविद एव तस्या वैमुख्यमापादयन्ति। परं संस्कृतस्यैतिहासिकं महत्त्वं विपुलम्। पुनश्चागमिष्यन्त्यः प्रजाः संस्कृतज्ञान्नोपालम्भेरन्नित्यर्थमप्यारम्भ आवश्यकः।

कपर्दः—विश्वम्भरेण विश्वस्य चिन्तायै मन्ये भवानेव नियुक्तः। (क्षणं स्थित्वा) स्मितेन धनमासाद्य मूर्खा मुखरा रण्डा गर्विता नार्जनश्रमं जानीते। द्रविणं वणिजां प्राणाः शरीरं पुनस्तृणनिर्विशेषम्। धनस्य महत्त्वं वयं जानीमो न तारा न च त्वम्। नासैव मालत्यामोदं जानीते न लोचनं पुण्डरीकायतमपि, तदा चिन्तय कथमवकरप्रक्षेप्येषु कर्मस्वर्थं व्यर्थयामः?

अहम्—श्रेष्ठ, नाहं भिक्षाजीवी दरिद्रो याचको वास्मि। अमुना पत्रेण प्रेरितस्त्वामुपागतोऽस्मि, मा खेदमावह, त्वद्धनं त्वयि तिष्ठतु, अहं प्रसीदन् यास्यामि।

"एतत्कार्यन्तु करणीयमेवाभूतपूर्वम्। अनेन सह गच्छ, एष सर्वं साधयिष्यति।" क्षणं विचिन्त्य रक्षोमानवं निर्दिशन्सोऽवोचत्, ऐतस्त्तिकीं कथां कृत्वा मां व्यसृजच्च।

अहो छद्मादक्षो न च्छद्म परिचिनोति, यतोऽहं तस्य वाचि सत्यत्वेन व्यश्वसं रक्षोमानवेन सह मरुत्तरेण मद्यशालामागच्छञ्च। स मां सज्जिते हाले विश्रमितुमादिश्य स्वकार्ये लग्नः।

जागरखिन्नोऽप्यशेषान् विशेषान् स्मरन् निद्रां नालभे। कस्मादप्यज्ञाताद् भयान्मनो मे त्रुट्यदिव प्रत्यैयत। भाविन आनन्दाः प्रत्यक्षाशङ्कया विचूर्ण्यमाना इव प्रत्यैयन्त। पदे पदे चिन्तानिर्भरः प्रावहत्। शान्ति-

र्भीषणसत्यस्य सन्निधिमद्योतयत् । पूर्वं यत्राहमगच्छम्, स्नेहं श्रद्धां सहानुभूतिं सत्कारभोजं यशश्चालभे, परमद्य वैपरीत्यमलक्ष्यत । हृदि कण्टक इव निखन्यमानः प्रत्यैयत दुर्विभाव्यः सुखेन न निःसार्य इव । केनाप्यज्ञातेन भारेण मनो मस्तिष्कश्चाक्रान्तमिवाभवत् । नैराश्यमात्मसात्कर्त्तुं मौनमवालम्बे।

ग्रीष्मस्य निरभ्र आकाशे वारितस्करोऽहस्करोऽभ्राजत । शान्तं वातावरणम् । कदाचन वाष्पयानस्य मरुत्तरशृङ्गस्य वा ध्वनिर्विदूरादव्यक्त इवाश्रूयत । एककोणादपरकोणं यावदमैत्रीपूर्णं दुर्भाविभावितं क्षणं व्यापत् । नवं विषमं बिषादमुत्पादयितुमिव सज्जा अलज्जा उत्कटा भ्रकुट्योऽभितो व्यलोवचन्त । सर्वस्या दिशः कपर्दकिङ्करहुङ्कारा इवाश्रूयन्त । अहमचिन्तयं स्वस्मै अक्रुध्यञ्च यत्किमर्थमसौ दुष्ट एतादृशविचारैः परिचितीकृत उत सेवितः ? इति

महद्वियल्लोकचक्षुर्जघान । प्रतीकारमकुर्वाणं स्वार्थव्रतं मौनिनं लोकं विभाव्य विषण्णा सन्ध्या नेत्रे निमील्य कपाटं पिदधे । तस्याः शोकोद्गाराः शून्यमश्यामयन् । शोकाश्रुक्लिन्नमतिगुरु तमः परितः प्रसृतम् । श्रान्त्या निश्चले श्रमिशरीरे मांसेप्सया समाजरक्षसा निखाता दन्तावलीव, कृष्णपाषाणे खचिता श्वेतपाषाणशकलावलीव, प्रत्यैयत नक्षत्रावली गगनाङ्गने । ततः पुनर्लोकं तमस्तोमेन ग्रसमानो दुःशासनस्यादेश इव पूर्वरात्र उपैत् ।

मानवम्मन्याः पञ्चोपेयुः । एको मम हस्ताद्धस्तलिखितं पुस्तकमाच्छिद्य भ्राष्ट्रे चिक्षेप । अन्ये च परस्परमालप्यागमन् । परं दुःखमुपनतम् । युगैश्चिन्तिता भावा भस्मसाद् भूताः । शरीरमदाहिष्यत पुस्तकञ्चेत् प्राकाशयिष्यत सुखं मे परमभविष्यत् ।

घट्यनन्तरमेक उपेत्यावदत्—पण्डित, श्मशानस्य दीप्तां चितां प्राप्तोऽसि । मद्यशालाभ्राष्ट्रं तवानन्तनिद्रायै प्रदीप्तम् । क्षणेन तव शरीरस्य तत्त्वानि तत्त्वैः सह मेलिष्यन्ति, सूर्यस्याद्यतनः किरणस्तव जीवनेऽन्तिमः । क्षणञ्चिन्त्यतामीश्वरो यद्यस्ति सः । इति ।

प्राभातिकेऽरुणिम्नि कालवारिदा अनुरागरक्तां सन्ध्यां शृङ्गाररहितां विधाय परितः प्रासरन् । मम कर्णाविविश्वस्तौ । न कदाप्यहमचिन्तयं यद-

द्यापि संभ्यम्मन्यो मानव एवं भवितुमर्हति। अहं चीत्कर्त्तु मभ्यलषम्। ब्रह्माण्डमार्त्तनादेन नादयितुमचिन्तयम्, परं श्वनिद्रो विचारक इव धैर्येण व्यवाहरम्। भयं व्यामोहमपनीय लीलाचातुरीमरचयम्।

सोवदत्—एकदाहमपि त्वमिव लेखको भाषकः स्पष्टवक्ता वासम्। सत्यं सच्चरित्रं वा को नामाद्रियते ? मम स्पष्टैर्लेखैर्भाषणैश्च क्षुभिताः प्रभवो मय्यसत्यान्दोषानुद्भाव्य साक्षिणः प्रकल्प्य मां कृष्णाक्षरितं चक्रुः। लेखान्भावान् श्रुत्वा 'साधु साध्विति' वादिनो वानरा गता गेहगुहासु। दण्डापगमादनन्तरं भृत्यर्थं सर्वद्वाराण्यावृतानि। अस्यां स्थितौ कपर्दमद्यशाला परमा गतिः। इति।

अहम्—आ एवम्। तर्हि मृत्युरुपेतः परमहं धन्य एवास्मि यत्त्वादृशं सद्भावमत्र मित्रं लभे लङ्कायां विभीषणमिव। मित्राणां सन्निधौ मृत्यु जीवनादन्यून एव।

सः—अत्र बहवो दुर्भाग्यदुर्हस्तेन शिरसि स्पृष्टा दाहाशिषमलभन्त धरित्रीमातुः सुचरित्राः पुत्राः।

एवं स निगद्य तृष्णीमेकतोऽव्रजत्।

मन्मानसाज्जीवनाशा व्यपागच्छत्। अहमचिन्तयम्, यदस्मिन् संसारे मम कार्यं समाप्तम्। तीव्रेण वेगेन चिन्तनोत्तरं चिन्तनम्। "कियता कालेनाग्निर्मां धक्ष्यति, अग्नेर्ज्वालया शरीरे सन्तापः कथं कदा पर्यन्तं वा स्थास्यति ? दाहोद्विग्नश्चीत्कुर्वन् केषाञ्चित्साहाय्यमाप्स्यामि न वा ? अथवा रात्रेर्मृते यामे रहसि, एषां दानवानां सन्निधौ, अस्मिन्नालये को नामागन्तुमुत्सहिष्यते ? शिरः पादौ वा पूर्वं दाहमुपेष्यति सर्वं शरीरं वा ? वेदनया कथमहं ससञ्ज्ञः स्थास्यामि—एवं विधैर्विचारैराक्रान्तस्य मम हृदयमश्वप्लुतिसमं स्पन्दमानमवर्त्तत। काराया वातावरणम्, मुखानि, व्यवहारश्च तथा दुःसहान्यासन् यदहमधुना चिन्तयन्नपि चिन्तामनुभवामि।

- क्षणेन स पुनरुपेतोऽवदत्—निशीथे त्वामहमितो निःसारयिष्यामि। त्वज्जीवनरक्षणपुण्यकर्मणा जीवनेऽर्जितानां पापानां ह्रासो भवेन्नाम? त्वं भ्राष्ट्रे मया निपात्यः। अस्मिन्कार्ये सहायको मया स्वापं गमितः, मुष्टिमात्रशरीरममुं पण्डितमहमेव निपातयिष्यामि, त्वं स्वपिहीत्यभिधाय।'

अथ स स्वपरिधानानि बलात् पर्यधापयत्, पक्षद्वाराद् बहिर्निष्क्रमयामास च। पत्काषी निःसृतोऽहमाशङ्कितोऽशङ्किताकारमधावम् । सामान्योऽपि ध्वनिर्मां स्विन्नं चकार यदहं पुनर्गृहीतोऽस्मि । शशोऽपि सिंहः घासोऽपि राक्षसः सूत्रमपि तक्षकः, वृक्षोऽप्यृक्षः श्रुतिसंवेदनञ्च शिथिलमभूत् ।

अकस्मादुपेतेन मृत्युना विमूढीकृतो वक्तुं स्थातुं शयितुं चलितुं चिन्तयितुमसमर्थोऽभितो विभिन्नाकृतीर्मां पश्यन्त्य इवापश्यम् । ततः प्रत्यूषे स्थानं परिचीय तत्र निवसतो मित्रस्य स्मृतिं प्राप्तो विषादोपशमायाहोरात्रं व्यतियापयितुमिच्छन् तस्य गृहमविशम् । मम मानसे प्रागयं विचार एव नासीत्, परं स्थानदर्शनादुपेतया स्मृत्याहं तमद्राक्षं ज्वराक्रान्तोऽभूवञ्च । एवमहमेकान्ते मासं यावत्परिप्रेम्णा परिचरितो भगवत्कृपयोल्लाघो गृहं गन्तुमभ्यलभम् ।

अजेयशासनस्य विश्वेशितुः प्रभावमुपेक्ष्य स्वबुद्धौ महत्त्वमाधाय स्वैरं पापमाचरति पापपरः । परं क्षुद्रो भगवच्चेष्टितं परिवर्त्तयितुं न प्रभवति । क्षणं विरम्य गर्वितकाणकूरकुक्कुरकरजैरकारणमाहतः कविर्निःश्वस्योच्छ्वस्य हसन्नवदत् ।

"सम्प्रति त्वां पृच्छामि यदेकतः स्वहस्तेन वल्गामादायाश्वमारोहयसि इतश्च धक्केन गर्त्ते पातयसि । एकतो मां सम्मानयसि, पुस्तकं मुद्रापयसि, साधीयसीं श्रद्धां रचयसि, इतश्च जिघांसोः सकाशं प्रेषयसि । किमिदम् ?

मम ग्लानिस्तव निश्छलेन निःस्वार्थेन निरवधिना प्रेमाग्रहजलेन धौता, परं जिज्ञासाऽऽकुलयति ।"

—"मा चिनु, छिन्नस्रजः कुसुमानि कवे ! यद् गतं तद् गतम् । ईश्वरस्त्वया द्वारेण महत्कार्यं कारयितुमिच्छति । त्वमत्र सानन्दं वसन् निर्भयः स्वाध्यायं चर, समये सर्वं बोधयिष्यामि ।"

—कर्णपथप्रमाथिनीं मनोमर्द्दिनीं कथामाकर्ण्याहमवोचम् ।

प्रभो ! एषा स्थितिः संसारस्य । साधकः साधनां कुर्वीत त्रीन् पञ्च वा । धेनुर्यदि दुग्धं न दद्यात्तदा किं वृषो दुह्येत ? यो मह्यं नियुतं प्रयुतं ददन्नाञ्चति सङ्कोचम्, यो मत्स्मिताय स्वं होतुं सज्जेत्कामातुरः स पापाचारो

धनस्मयो मम पत्रे एवं व्यवाहरत्। दानाय पृष्टो दष्ट इव सर्पेण पलायितः। तमहं द्रक्ष्यामि, अहमपि कृष्णतारा विपक्षक्षयदीक्षिता दृष्टिदग्धविशीर्णशैला।

कपर्द, कर्पदाय त्रसिष्यसि। सोऽयं साहङ्कारं श्मश्रूत्पाटनं सिंहस्य शिवाभिः। अस्यापि मर्द्दतोदो विधेय एव। एष जनार्द्दनो नीलकण्ठोऽवश्यमामृश्यः। दुष्टः कर्णमर्द्दनं विना पन्थानं नोपैति। अस्यापि गण्डोऽतितरां चेष्टते चपेटायै। कवेर्जल्पमल्पमतिर्गुणासहिष्णुर्न सेहे। अवार्यवीर्या निरर्गला धनिनो मया द्रष्टव्या एव।

कथय कुत्र कोणे वराको विद्वान् निलीय तिष्ठतु? मुष्टिमात्रमानवसङ्केतेन सञ्चाल्यमाने राष्ट्रे जनस्य जीवनं सापमानमपि न सुरक्षितम्। अत्याचारशृङ्खलाऽवशं राष्ट्रमधुना निःसहायम्। शोषकाणां शोषणप्रणालीभी राष्ट्रं विपन्नम्। यत्र देवाः स्वर्गं विहाय वस्तुमुत्सुका आसन्, स देशः श्वेव लगुडजर्ज्जरशरीरो ललाटं वीक्षतेऽवीक्ष्याणाम्। खेदः परमः, पूर्णसाहसं वक्षो मस्तिष्कञ्च लोकाद् व्यपगतमिव।

सोऽयं कविः सरलं तरलं मानसंविवदमानं कस्यापि पुरो न प्रकटयन् कदापि न्यूनतां नान्वभवत्। जगतो मधुरं कटुतिक्तं व्यवहारं निरीक्षणपरीक्षणवत् स्वाभाविकं मन्वानः स विश्वं सन्दर्भवत् प्रैक्षताध्यैत न्यध्यायच्च। वाङ्मये काव्यवत्सहृदयानन्दी, काव्ये ध्वनिरिव सुमनश्चमत्कारी, ध्वनौ रस इव परमाह्लादी, रसे शृङ्गार इव कैवल्यप्रत्यायी तमःपूर्णासु दिक्षु प्रकाशरेखामव्याहतप्रसरं प्रसारयन् रसध्वनेरध्वनीनो वाग्विभ्रमभूस्तृणत्याजं परित्यज्य संसारसुखमनायासलभ्यमजस्रमस्रेण सिञ्चन्नुत्साद्यमानमूलं संस्कृतजरठपादपं विश्वस्य हालाहलं निपीयापि लोकाय दिव्यं काव्यामृतं निर्भरं पाययन् कविः।

सदा विकसितं नित्यप्रमुदितं ललितमधुरं यस्य वदनं वीक्ष्येर्ष्यालवः स्वभावसञ्चितेनाशुभेन प्रेरितास्तस्मा अद्रुह्यन्, परं तस्य मानसे तेषु दयैवासीत्। सत्यम्, सर्वस्मिन् काले सर्वशुभचिन्तकाः साधवः। यस्य सात्त्विकं निश्छलं स्मितं दैवेन प्रकाशेनोद्भासितं वपुश्च वीक्ष्य सर्वस्य शिरः स्वत एव

नमति, तस्मा असौ तमस्वी ब्रह्मर्षये मृषामयोऽद्रुह्यत्। प्रियतमादधिकः प्रियः सुकृतिनः शास्त्रवद् बोधपूर्णः, निरभिमानः, सौरः प्रकाश इव सर्वसुलभः, हास्यरसेनौतप्रोतोऽपि गम्भीरः, मिताशी मितभाषी मितहासी मितप्रकाशी, वत्सरे सकृदपि जलं स्पृष्ट्वा मरौ साह्लादं विकसन् पादप इव च्छायया फलेन रसेन पत्रैः पुष्पैः काष्ठेन च लोकमुपकुर्वाणः, संसारस्य प्रियवस्तूनि जगत्सेवाहुताशेऽकातरं हुत्वा, जगतो दुःखं स्वस्मिन्नाधाय जगतीं निर्दुःखां वीक्षितुं हृत्कमलं रागशोणितेनापूर्य जगद्भगवतेऽर्घ्यं दातुं सदैव प्रवृत्तः, जगतः कष्टेन क्लिष्टान् कातरक्लान्तान् प्राणान् अन्नकणास्वादनेन लोकस्य भाविशुभाशया धारयन्, स्वार्थसिकतिले स्नेहवल्लरीणां निकुञ्ज इव कविः किमु दग्धुमभिलषितः ? पाषाणप्रक्षेपेण जलाशयस्य शान्तिर्भङ्क्तुं शक्या, परमाकाशस्य मन्थनं हिमालयेनापि न शक्यम्, तद्वत्कवेर्मानसस्यापि ।"

—तारे, अतिसाहसं सङ्कटाय । नाग्निर्वाससा बन्ध्यः । मन्ये धनपतिं विजित्य दृप्तासि, परं कपर्दो न सामान्यो मानवः । नूनमनूनविक्रमः प्रबलः स्फुरच्छिखाकलापोऽनलः पद्भ्यामाक्रमितुमभिलषितः । अवधारय, उपद्रवाग्नौ प्रथमाहुतेर्न महत्त्वम्, पूर्णाहुतावविशिष्टोऽत्राभिषिच्यते । अत इमां चेष्टां नेष्टां मन्ये । दीपप्रसनमतिः पतङ्गो दीपमत्रासयन् मृत्युमेवालिङ्गति ।

कृष्णतारा—एतदहं सर्वं वेद्मि, परं म्रियमाणोऽपि पतङ्गः पक्षाभ्यां दीपं निर्वापयत्येव । प्रभे, वात्याविभ्रमेण पक्षिणो धरां नासादयन्ति । तरङ्गाणां वलनेनोद्विग्ना मीनास्तटं नाश्रयन्ति । आपदुत्सङ्गः कृतिनो बालदोला (पालना) । प्रतीक्षस्व, अवेक्षस्व, किंभवति ? परं दशाननदुःशासनन्तून्मूलयितव्यमेव । अथ चात्रैकैवाहुतिः सा च होतुः स्वस्यैव । बहोः कालात्कपर्दं हन्तुमहमेकमसिमैच्छम्, अधुना कविरुपेतः । षड्यन्त्रस्रष्टुः कपर्दस्य जीवनं निष्क्रियं निरानन्दं विषाक्तं विधास्यामि । अवमतानामपहृतानां दलितानां पर्याकुलानां महिलानां प्रतिशोधः केवलया कृष्णया विधास्यते । एतान्नाशकनागान्नाथयितुं कस्यापि कृष्णस्यावश्यकता, पुंल्लिङ्गस्य स्थाने स्त्रीलिङ्गमेव स्यात् । सशरीरादस्मात्प्रेतात्सर्वाः स्त्रिय

उद्धरिष्यामि। पीडितानां रक्षा मानवस्य धर्मः कर्म शर्म च। स्वजनशोणित-रक्तं द्रव्यप्रावरणं परिधाय, अनौषधः सर्प इव निराशङ्कः कपर्दोऽधुना क्व गमिष्यति? शृणु, नहि स्वर्भानुर्भानुचन्द्रौ गृह्णन् ग्रहाधिपतित्वं प्रयाति।

एतादृशा राष्ट्रस्य कलङ्काः। एतेषां कृत्रिमं मुखमण्डलं न कस्यापि राष्ट्रस्य परिचायकम्। वस्तुतो नैषां किमपि राष्ट्रम्। एषां राष्ट्रं धनम्। धनञ्चाद्यतने काले लुण्ठनाधिगतम्, न न्यायार्ज्जितम्। अर्जको धनस्यार्जने स्वक्षमतायां विश्वस्य धनं दातुं समर्थः; नैवं लुण्टाकः यतो हि लुण्टनस्य सौविध्यं न सार्वकालिकम्।

यवनपददलितां भुवमुद्धर्त्तुं शिवः प्रायतत, स्वतन्त्रतायै राज्ञी लक्ष्मीः प्रासादं विहाय वनाद्वनं चचार, हुङ्कारध्वनितदिशा कृशापि क्षपयामास राष्ट्रद्रुहः। तदा कृष्णायाः किं भारतशोणितं व्यपगतम्? शिशुरपि विहङ्गमः पद्भ्यां न प्रचलति प्रभे! केवलं तवाज्ञां प्रतीक्षे, तदनु भीरुतां विध्वस्य रोधं विच्छिद्य हर्षहारिणं निरन्वयं कपर्दं मर्द्दयिष्यामि। तस्य ब्रह्मानन्दार्णवमिवाभिमतं कणशः शोषयिष्यामि। अद्य कः कपर्दं रक्षितुं प्रभुः? सिंहचा भक्ष्यमिव। भ्रान्तिविभावरी व्यपगता, विपरीतं ज्ञानं नष्टम्, विपरीतदर्शना दृष्टिरधुना सम्यग्दर्शना, आनन्दसूर्योधुनोदितः। इमाँ-ल्लोकरक्षकान्धर्मावतारानहमज्ञासिषम्, जागरकालोऽधुना समरेऽमरीभवितुम्।

अहह, राष्ट्रस्य श्वास एव निर्गतः प्रतीयते यदेतादृशमत्याचारं वीक्ष्यापि न श्वसिति। हन्त, आकाशः किमु सर्वकालं दिनमणिविहीनः? शौर्यञ्चारण्य-वासि? राष्ट्रस्यानन्दगौरवशशी किमु सर्वकालं महाविहायो विहाय गुहामध्यतिष्ठत्? किमु चेतनाश्रितञ्चेतोऽद्य चिताचितम्? निस्सीम व्योमाद्य किमु कलशिकाबद्धम्? अहह किमु चिरकालाय विलं गतास्ते सिंहगर्जिनो दयाधामानः? वसुन्धरावक्षोऽद्य किमु स्तब्धम्? किमु निर्वीर्यवीरमुर्वीतलम्? पञ्चाननाननमद्य किमु निर्दंष्ट्रम्? आशीविषमुखमद्य किमु निर्विषम्? अहह, तमसि पक्षिणो नीडमिव समाश्रिता मानवम्मन्या गृहम्, समुद्रो घटे स्वमगूहत्? हरिः शिवाश्रयमभिक्षत? गजराजोऽजा-

श्चयश्च। यत्र मुग्धरूपस्य पीनकुचस्य क्रूरकरे क्रयो विक्रयः; निर्दयं विनिमयः, सरलकोमलानां भावनानामदयमर्द्दनम्, राष्ट्रस्तम्भानामुत्खननम्, दुश्चरित्र-दुर्नीतिप्रसारणम्, किमिदं सभ्यकर्म ? द्यौरप्येतत् सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी विधायानिमिषनयना वीक्षते इत्यवैमि।

विध्वस्तवसन्तानां कपर्दस्त्रीणां खञ्जननयनाञ्जनमधुना वासःसु समेतम्, सौवर्णी भा नीरक्तायां त्वचि, मुखचन्द्रस्य चन्द्रिका केशेषु, शिञ्जितं करताले, कङ्कणक्वाणो व्यथाक्वणने, स्वरसाधना रोदने, अम्लान उल्लासो मृत्योर्विभावने, प्रेमोन्मादो नैराश्योन्मादे, स्मितं स्वप्ने, आनन्दो मृगतृष्णाभः, भविष्यच्चान्धकारावृतम्। अर्ककार्पासवत्तासां यौवनं व्यर्थमेव विशीर्णम्।

प्रतप्ताश्रुपूर्णानि, मूकं सव्यथां कथां व्यञ्जानानि त्रस्तानि, अन्तर्दुःखाग्निना धूमायितानीव, समागताय सत्कारह्यारकणिका इव कारुण्याश्रुमुक्ताः समर्पयन्ति तासां क्लमपूंषि चक्षूंषि विभाव्य को नावसीदेत् ? तासामश्रु-सरित्स्वसङ्ख्येयाः पुरुषाः प्लवन्ते प्रभे !

सभ्यम्मन्ये समाजे पदा निर्दयं मर्द्दिताः पुष्पस्रज इव यौवनमधु सिकतासात्कुर्वत्यो जीवनं जारयन्ति निःशब्दरोदनेन सह मर्मान्ति मलिनं श्वसन्त्यः शुष्कतृणार्पणमिवाग्नये प्राणार्पणं कर्त्तुमाकुलाः कपर्दस्त्रियः।

अहं भगवतीं भैरवीं प्रार्थये यत्पुनरेकदा भूमौ प्रसृतान्मधुकैटभान् विदारय पुनः कपालमापूरय रक्तबीजानां रक्तेन, पुनरुल्लासनृत्येन मेदस्विनीं मेदिनीं मर्द्दय, पुनश्च मृण्मयीं वसुन्धरां विधेहि।

उत्पीडनेन भग्नमनसां नग्नानां क्षोभं दुःखं शोकं मानं विस्मृत्य सर्व-सहानां वराकाणां घाताघातोत्पातैरार्त्तक्रन्दनैश्चापूर्वं मनःस्पन्दनमनुभवतां स्वार्थरतानां स्वार्थपूर्णानां जगद्विपद्भूतानामपि जगज्जीवकोपाधिधारिणां धर्मावगुण्ठिनां क्रूरशूराणां निरङ्कुशशोषकाणामत्याचारेण चीत्कारविकलं मनोऽद्य तूष्णीं न स्थातुमर्हति। एतेषामगणनीया अपराधाः प्रभे ! एतेऽनभिलषिताः श्यामा घना नीतिवातेन दूरीकरणीया एव।

यदा यदाहं कलङ्कितायाः रथ्यासु पर्यटामि लुण्ठितविलोडितानां क्रन्दनं मानसे नवं नवं भावं स्फोरयति। वस्तुतो दुर्भाग्यावासो मे प्रेरणास्थलम्।

कालस्तु प्रतिक्षणं मानवस्य शिरसि भ्रमत्येव तदा तस्मात् किमर्थं भेतव्यम्। मृत्युर्मित्रम्, न शत्रुः। ईश्वरस्य साक्षात्कारस्तु तद्द्वारैव, स ममाभिलषितः। जीवनं स्वप्नायितम्। स्वप्नजगतः प्रतीतिर्दिवा स्याद्रात्रौ वाऽसत्यैव। तेनासत्येन सत्यं यशोऽर्जनीयमेव। जगन्नाथस्य रथो यथाशक्यं पुरः प्रवर्त्तनीय एव, तत्र प्राणात्ययोऽपि सुखकरः। प्राणानदत्त्वा न कोऽपि कमपि प्राणवन्तं कर्त्तुमीशः। मानवो यदा विश्वमेति रोदिति; परे च हृष्यन्ति, मृत्यौ यदा वैपरीत्यं स्यात्तस्यैव जीवनं मरणञ्च। मनुजचर्मण उपयोग एव कियान्? सत्कर्मणि त्यागातिरिक्तः।

आधारस्य दोषोऽथ साधनस्य वा, यदेते धनेन दग्धाः। प्रचण्डेन चण्डांशुनाऽऽप्यायितः पीयूषरश्मिर्विश्वस्याभिनन्दनीयः, परं तत्किरणैरीषत् स्पृष्टा सिकता च दृष्टैव तापिनी।

सूर्यप्रभा—तारे, कुसुमसुकुमारशरीरापि कुलिशमानसा। परं पन्था विमृश्यः। मृत्यावनिवार्येऽपि न कोऽप्यात्मानं हन्ति तत्क्षणम्।

कृष्णतारा—पन्थानो मे परिचिताः। अभ्यासेनान्धोऽपि पन्थानं परिचिनोति, अचक्षुः पाद उपानहाविव। निश्चितमहं प्रतिभटघटापाटनपटुतामुत्पाटयिष्यामि कपर्दस्य। पाटवस्य प्रकटा प्रतिमापि काटवस्य विकटा मूर्तिः, मधुमय्यपि किराततिक्ता, सरोजनेत्रैरुरोजकुम्भैर्जनान् स्नेहयन्त्यपि परं मादिका, प्रणये मधुमुदिरहासापि क्रोधे दैत्यशतशातिनी सुधारश्मिशीतलं हसन्ती विलसन्त्यपि दारुणमरुणसखखरं तापयन्ती, विषयवासनाया उद्दीपिकापि साधनायास्तनूः, शिरीषकोमलापि वज्रकठिना, वात्सल्यमूर्त्तिरपि प्रलयकारिणी लज्जितापि सज्जिता रक्षायै भारतीया रमणी।

सूर्यप्रभा—वीक्ष्यतामुष्ट्रः केन पार्श्वेण विलुठति। परं वेनाद्धरिष्ठोऽयं द्विजवाग्वज्राविप्लुष्टभगः कपर्दः।

कृष्णतारा—भगवतो मूर्धानमधिगच्छन्त्यास्तुलसीमञ्जर्याः शौकर्या विष्ठया किं साम्यम् ? कविं विद्वांसं तपस्विनं त्रिकालमतिमवमत्य विनाशयितुं कृतमतिर्जीवनार्हः किमु ? अधुना तु कण्टककर्दमं विनाश्य विशोष्यैव गन्तव्यम्। तरुपर्णतृणवसना वसुमती सुमतिसम्पन्ना मायां मयासुराणां मर्दयितुं ज्योतिर्मयी हिमहसना।

नैर्धन्यादीनि भूतानि धनमध्यानि केवलम्।
नैर्धन्यान्तानि च तथा तत्राकर्षणमेव किम् ?॥

न जाने प्रवहन्ती जीवनसरित् क्व कदा वा मरौ शुष्येत् ? अतोऽस्मिन्नर्थे तस्या उपयोगः परमः सुखावहः। शूरस्य मृत्योर्भयमेव किम् ? अहमेकाकिन्यपि शतसमा। प्रबलेच्छः सर्वोऽपि तादृशः। आत्मशक्तेः समूहीकरणं सिद्धिः। भाग्यविश्वासिनीनां कपर्दस्त्रीणां भाग्यमहं परिवर्त्तयिष्यामि तासां भवितव्याश्वानां रश्मिं वर्चस्विभिर्विवेककरैर्नियम्य। नियतेः स्थिरग्रहेषु गतिमापादयिष्ये, नियतं नियतिप्राचीरमुत्खनिष्ये, भाललिपिं प्रमार्जयिष्ये, प्रारब्धस्याजेयं दुर्गं ध्वंसयिष्ये च।

राष्ट्राय सर्वस्वं दातुमहमुद्यता स्वर्णरत्नानां कोशस्य तु मूल्यमेव कियत् ? जीवनमप्यनाकुलं निःस्वार्थं निष्प्रत्युपकारम्। प्रत्याशया नहि, कर्त्तव्यबुद्ध्या केवलम्। मातुर्दुग्धं सार्द्धमेकं वा वत्सरं पिबामः भूमातुश्चान्नदुग्धमाजीवनम्। तदर्थं यदि देहस्त्यज्येत किमतः परं गौरवास्पदम् ?

देवदारौ लग्नोऽग्निर्यथा नोपशाम्यति, तथैव मे मनसः स्थितिः। कवेस्तिरस्कारं विभाव्योद्विग्नास्मि परम्। प्रभे ! मोदकानां मोदकैः सह सङ्घर्षे माधुर्यं क्षरति, परं लोहेन लोहस्य सङ्घर्षे तु स्फुल्लिङ्ग एव।

ग्रीष्मो भीषयतां विश्वम्, दहतु कोमलपत्रपुष्पफलम्, तापयतु तप्तायःप्रतिमां पृथिवीम्, परमेकदा श्रावणः समेष्यत्येव। अङ्गारा आत्मसात्कुर्वन्तु जिह्वाज्वालाभिः शुष्कतृणनिर्विशेषानशेषान्, परं मेघोऽपि नानन्तकालाय विलीनः। स पुष्पैः पृथिवीं पूरयिष्यत्येव। दुःस्वप्नाः क्लेशयन्तु निद्रायामदरिद्रम्,

परं तेषां निगरणाय जागरणमपि जागर्त्ति । मा भैषीः । पुनरन्धं तमो विदल-यन्नुदेष्यति सूर्यः पुनः शशशृगालशार्दूलदलितं वनं भस्मयन्नुदेष्यति दावः, पुनश्च तत्र नवपल्लवम् ।

राष्ट्रस्योज्ज्वला सरस्वती मालिन्यमभक्ष्यत्, धराधरराजः पातालम-व्रजिष्यत्, भास्करो निष्प्रभश्चन्द्रश्चन्द्रिकया रहितोऽभविष्यत्, साहित्योपवनं प्रबलस्तुषारोऽग्लपयिष्यत्, विद्वद्वृन्दस्य चक्षुरश्रुधारां प्रावाहयिष्यदक्षय्यौ-दासीन्येन सह, यदि नित्यसत्योदयं कविं सोऽधक्ष्यत्। दुःखदारुणो दहनोऽध-क्ष्यन्ममापि देहदारु प्रायश्चित्तातुरायाः ।

हसति तुषारे, बभस्ति[१] रौद्रे ग्रीष्मे, रुदत्यां प्रावृषि सरति शरदस्तीव्रे प्रभञ्जने निरन्तरं तपस्यन्, शब्दब्रह्माराधयन् कविर्वाण्या करपोषं लालितः संवर्द्धितः पुष्पशय्यां शयितुं सप्तभूमं प्रासादं वस्तुम्, स्वर्णकुट्टिममटितुं नाभ्यलषत् सन्तुष्टिपुष्टः। आयुर्वेदविज्ञानेन लोकं सेवमानो जीवयन्नाप्याययन् यदृच्छालाभसन्तुष्टोऽवर्त्तत कविः, यतस्तस्य साहित्य-साधना स्वच्छन्दं सुप्रतिष्ठं चलेत्, कमप्याराधयितुमावश्यकता न भवेत् तमसौ तमस्वी दग्धु-मचेष्टत तपस्विनम्, सरमां लालयन् गोधाती। अधुना स चिकित्सितव्य एव ।”

कृष्णतारा साक्रोशमवदत् ।

देवस्य निद्राप्रसङ्गसमयः ॥

सप्तममाह्निकम् ।

[१] भस भर्त्सनदीप्त्योः

सूर्यप्रभा किंवा वैभवपिशाचः

अष्टममाह्निकम्

छिन्नाम्भोधरवारिबिन्दुजटिले गर्त्ते स्थितः स्वां तनूं
वीक्ष्य स्वर्णसमां किमित्यतितमां जल्पन् मुधा मोदसे।
रे रे वर्वर दर्दुर स्फुटमिदं जानीहि वर्षात्यये
यत्नेनापि गवेषितः कुतुकिभिः कुत्रापि न प्राप्स्यसे। "मधुसूदनस्य"

दर्पं मावह बालवत्सनिकरानालोक्य पुच्छच्छटा-
पातैरेव महोक्ष! गर्जसि मुधा किं गर्जितेनामुना।
तावत्सञ्चर यावदाशु न मनागादाय सीरं हठात्
कर्षत्येष कृषीवलस्तत इतो भूयोऽपि भूमीतले। "भट्टवीरेश्वरस्य"

निध्यायसि विषयसुखं न ध्यायसि विषयस्य परिपाकम्
बन्धुं तमेव चिन्तय बद्धुं मोक्तुञ्च यः क्षमते। "अप्पयदीक्षितस्य" ॥

न सर्पस्य मुखे रक्तं न दष्टस्य कलेवरे।
न प्रजासु न भूपाले धनं दुरधिकारिणि॥ "अप्पयदीक्षितस्य" ॥

भ्रान्त्वा दिग्वलभीर्विचिन्त्य विपिनान्यासाद्य दैवादिह
क्वापि क्वापि मुखेन केवलमथैकैकां शलाकां हरन्।
कृत्वा नीडकुटीं चिरात्तरुशिरस्यध्यास्त यावन्न तां
काकस्तावदहो, तदेव विपिनं दग्धं दवज्वालया। "मधुसूदनस्य"।

पञ्चास्यशावक, न तावकरीतिरेषा वेषान्तरैर्विहरसि श्वश्रृगालशावैः।
कुम्भीन्द्रकुम्भदलनोत्पतनाक्रमेच्छां वंशोचितां न खलु रीतिमुरीकरोषि॥

—क्व व्यापृतासि तारे, दिनेष्वेषु ?

—पक्षेण शिरस आर्त्तिरासीत्परमा प्रभे !

—कश्चन चिकित्सकः सम्मन्त्रितो नहि किम् ?

—अचिकित्स्या चिकित्सकैर्विलक्षणा शिरःपीडासीत् ।

—किमात्मिका तारे,

—पौरप्रतिष्ठानस्य सदस्यानां निर्वाचनम् । नगर्याः ख्याताश्चौरा अद्यत्वे श्रेष्ठा दानिनः, गोवधेन प्रतिदिनमसङ्ख्येयं धनं लभमानाः परमा गोभक्ताः, स्वप्रभावं स्थवयितुं लोकं मूर्खयितुं विद्यालयध्वंसिनोऽद्य शिक्षाप्रचारकाः, शवाद्वासोऽवतार्य शुल्कमाददानाश्चिकित्सका लोकसेवकाः, च्युतचरित्राश्चरित्रप्रियाः, भ्रान्ता मार्गदर्शकाः, प्रासादेष्वाशिखं विलासमग्नास्त्यागोपदेष्टारो, देही मिथ्याचारः सदाचारधुरन्धरोऽसत्यश्च सत्यप्रचारकः । वेश्यावेश्मवासिनो गङ्गातटे जनसम्मर्दे उच्चैःस्वरेण हरेर्नामोच्चारयन्तो विविधतिलकाङ्किता रामनामाङ्कितवाससा पद्भ्यां व्रजन्तः पथि मिलितान्सर्वान्नमस्यन्तो देवालयेषु विविधोपचारैः पूजां तन्वन्ति । जनसमक्षं सेवाप्रतिष्ठानानां प्रतिनिधित्वेनाचक्षमाणेभ्यः स्वनियोजितेभ्यो घटकेभ्यो विपुलं दातुं प्रतिजानते, संस्थासु अध्यक्षतामुपेता यामिनीमायामिनीं कुर्वन्तो विपुलं दातुमाचक्षते च । परं ते कदापि नादुर्दास्यन्ति च । पक्षकोटरकर्त्तनचतुरो लोकः शैलीं केवलां परिवर्त्तयति ।

लोकप्रियाय प्रचारस्य का नामावश्यकता ?

यः काण्यै काकिण्यै कृन्तति लोकस्य गलं स लक्षशो मुद्रा यदि व्ययते तदा निश्चितमेव न न्यूना दशलक्षतस्तूपार्जयिष्यत्येव, यस्तस्य प्रतिक्षणाचारः । य आचारो येन जीवने पालित एव नहि, श्रुत एव नहि, अनुभूत एव नहि तत्र तस्य प्रवृत्तिरेव कथम् ? परं मूर्खो लोक उद्घोषैः प्रभावितो घटकैः प्रेरितः स्वगलं स्वयमेवोच्छिनत्ति । एते धूर्त्ता न कदाप्यवेक्षिष्यन्ते, अधुनैते हास्यपूर्वं हास्यमध्यं हास्योत्तरं वदेयुर्नाम ? परं कार्येऽवसन्ने एतेषां सत्यं रूपमवेक्षिष्यते । मानवाकृत्युचितां सहानुभूतिमपि नैते प्रकटयिष्यन्ति

कदाचन । एतेषां प्रतिज्ञाः पुनर्नवाक्षरैर्नवपरिवेषैः प्रसरिष्यन्ति परमियं वेदनामयी प्रजा अज्ञानेन क्षुधया दुर्नीत्या म्रियमाणैव स्थास्यति। हन्त ! न कश्चनैतदर्थं सावकाशः । परमनुभूतपूर्वानपीमान् विस्मरणशीलो लोको विदन्नपि स्वीकरोति । पशुसमूहः पशुपालेन यष्ट्या प्रेर्य्यमाणस्तदिच्छानुरूपमिव पटुना प्रेर्य्यमाणस्तदिच्छानुरूपं चलति ज्ञानविज्ञानविकलः पशुनिर्विशेषो लोकः। तत्र मतदात्रीणां सत्यासत्यविधौ मदधीनः प्रबन्ध आसीत्। स ह्यो व्यपगतः । हन्त हिमालयनिभा विडम्बना ब्रह्माण्डोपमञ्च धौर्त्यम् ।

*   *   *

—तारे ! महती चिन्तनीया दशा । अहमवोचम् ।

—कथम् ? किम्भूतम् ?

—साभस्य जामाता रुग्णो भूतः। सौभाग्यगृहदीपो निर्वाणोन्मुखः। तारे ! ज्वरः कासो वक्षोव्यथा शिरःशूलञ्च। तारे नवोढायाः पत्ये स परमं विकलः साश्रुर्मां व्यजिज्ञपत् । त्वयि स दृढं विश्वसिति । त्वं यथेच्छं व्ययमाना तस्य चिकित्सां कारय । स नितरामनवकाशः । परां चेष्टामाधाय साधय, यद्यपि तुभ्यमेतत्कथनं नोचितम् ।

—प्रभे, प्रियवियोगकातरा त्वमपि कस्यापि वियोगमाशङ्क्य विवेकविकलासि । मा भैषीः सर्वं सेत्स्यति, सप्ताहं यावत् प्रतीक्षस्व ।

*   *   *

—साभस्य जामाता नितरामुल्लाघः सूर्यप्रभे !

—कथं कथं तारे, वद वद कोऽयं चिकित्सातत्त्ववेत्ता साक्षादीश्वरोपमः ।

—तूष्णीम्भव प्रभे, नितरामहं निर्विण्णाऽज्ञानां दुश्चिकित्सकानां दुर्व्यवहारेण मौर्ख्येण च । कृपेयं भगवतो लक्षात्मिका यदयं तेषां दुर्मोक्षात् पाशान्निःसृतः । नहि तु साभस्य पुत्री विधवैवाभविष्यत् ।

—कथं कथं भद्रे…।

—कौतुकं चेत् श्रूयताम्—

क्षये विशिष्टज्ञानवतां नगर्यां उच्चतमचिकित्सकानां सूची मम पक्षकोटर आसीत् मरुत्तरञ्च पादतले। द्वौ बलिनौ जामातुरवरोहणारोहणाय। षडास्यं मरुत्तरमादायाहं नलिनाक्षस्य गृहं गता।

राजपथस्य कोणे चिकित्सकस्य विशाल आवासः, श्रान्तः पान्थ इव शान्तः। उपरि च तस्य ब्रह्मदेशीयशाल्मलीनिर्मितं चारु दारुगृहम्। चिकित्सकस्य सहायका लोके तस्य शिष्यतां ख्यापयित्वा विपुलं धनमीप्सिष्यन्तो विनैव वेतनं लोकवञ्चनकलाकौशलमभ्यस्यन्, रोगिणो विश्वासमापादयँश्च यच्चिकित्सकेन स्पृष्टे दृष्टे सम्मन्त्रिते च यमान्न भयम्। दैवश्चमत्कारः, जन्मजात आरोग्यदानप्रभावः, शीघ्रं रोगनिश्चायिनी प्रवृत्तिः शक्तिं बलं जीवनं ददच्चौषधम्। एवं ते मधुरविषेण रोगिणः प्राभावयन्। लोकस्तु गतानुगतिको विवेकविकलः। एतत्कलानभिज्ञा विज्ञा अपि चिकित्सका सक्तुदाहाराः, एतत्कलाचार्याश्च सौधविहाराः सुधाहाराः। तेषां स्वास्थ्यज्ञानं सुतरां साधारणम्, परमाडम्बरेण स्वं विकाशयन्तिस्म घटकबलाः भ्रान्तभ्रान्तमस्तिष्कान्मूर्खान्।

घटकघटितेषु रोगिशतेषु कथमपि मध्याह्नेऽवसरं लब्ध्वा चतुष्षष्टिमुद्रया पत्रशकलं प्राप्याविशम्। वयसः षष्ठे दशकेऽपि मां स वीक्ष्य प्रासीदत्। परं स तस्य विपणिकाल आसीदतो मुद्राप्रियः स पूरितापराधं मौनमाकलय्य मनोजवेन नाडीं चक्षुषी जिह्वां फुफ्फुसञ्च परीक्ष्य पत्रमलिखत्। मूत्रपुरीषयोः, रक्तनिष्ठीवनयोः परीक्षणम्, वक्षसः शिरसो हृदयस्योदरस्य च रञ्जनरश्मेश्चित्रम्। शरच्छोधशालां याहि, तत्रैव श्रेष्ठं परीक्षणमिति सूचयित्वा च्योतितरसं फलमिव बहिःप्राक्षिपत्क्षणद्वयेन। कथनप्रश्नावसरो नहि। घण्टिकासङ्केतेन परो मूर्खोऽविशत्।

शोधशालायै मुद्रापञ्चशतीं दत्त्वा दिनत्रयेण विवरणं प्रापम्। पुनः सौरातपे जनसङ्कुले निःशङ्कं साधिकारं लुण्ठन्तं सभ्यं प्रसह्यकर्माणं नलिनाक्षमपश्यम्, चतुष्षष्टिमुद्राः समर्प्य। स वामतो दक्षिणत उद्भ्रु नतभ्रु सोपनेत्रं निरुपनेत्रं वीक्ष्याब्रूत—विवरणं स्पष्टं नास्ति। दुष्टा इयता

शैघ्र्येण परीक्षन्ते यन्न किमपि ज्ञातुं शक्यम् । अस्तु, सकृत्पुनः कष्टं कुरु । पुनरेकदा विश्वशोधशालां याहि । ततः सुस्पष्टं विवरणं ज्ञातुं शक्यम् ।

किमहमकरवं ? सहस्रं मुद्रा साऽग्रहीत्, दिनत्रयेण तदेव विवरणमदाच्च । यत्र कुत्रापि नासीद्दोषलेशोऽपि ।

चिकित्सकस्यानुभवि मस्तिष्कं सम्पन्नरोगिभ्यो लाभमासादयितुं निपुणमासीत् । विचार्य सोऽवोचत्—

'एवं कुरु । व्यर्थं मा भ्रम । मम सेवासदने प्रवेशय । सप्ताहेन स्वस्थं विधास्ये, व्ययोऽप्यल्पः । प्रतिदिनं शतम्, धात्र्या भेषजादेश्च शतम् । अथवाद्य पञ्चषा उच्चतमाश्चिकित्सका आहूयन्तेऽपराह्णे तैः सम्मन्त्र्य व्यवस्थापयिष्यते । परामर्शशुल्कं प्रत्येकस्याष्टाविंशत्युत्तरैकशतम्, अल्पाहारश्च ।"

सोऽधुना स्वपरिचितानपि लाभान्वितान् कर्त्तुमभ्यलषत् । किन्नाम न कुर्यान्निरुपायः ? यथादेशमगच्छम् । बहवश्चिकित्सका आसन् । सत्यमिदमासीद् यन्नलिनाक्षश्चत्वारिंशद्वर्षीयां कुमारीं पुत्रीं चिकित्सिकां परिणाययितुमैच्छत् । येषाञ्च पुत्रा भ्रातर आसन् कुमारा विधुरा वा ते तैः सह कन्यादर्शनायाहूता आसन् ।

परस्परं प्रशंसतां चिकित्सासाफल्यहेतुं जिज्ञासमानानामालापोऽभूत् । नवानुभवे मृतानां मारितानां मरिष्यताञ्च चर्चापि क्षणमभूत् । सत्यमुद्गीर्य स्वस्य पापाविलं मनोऽलघयन् ।

नरान् घ्नन्तोऽप्येते निरपराधा एव नराधमाः सम्मानिताश्च । कुमारी, परं पुरन्ध्रीव प्रतीयमाना पर्यवेक्षिता, सुदीर्घ आलापोऽभूत्, आख्यानजल्पाश्चानल्पाः । लघ्वाहारो भवन्नासीत्, । एतत्तस्य केवलं नामैवासीत्, आसीत् स बृहत्तोऽपि बृहदाहारः । चतुरो रसगुल्मान्निपीड्य युगपद् गिलन्त एते को जानीते-कस्मात्कालाद् बुभुक्षिता आसन् । उदरदैत्यस्य दर्पे दलितेऽस्माकं स्मृतिरुदैत् । मां रोगिणञ्चादाय सर्वे सम्मिल्य क्षणं हस्तेनामृश्यावदन् 'यथा चिन्तितं तथैव । क्षयस्य द्वितीयावस्था । नलिनाक्षो व्यवस्थापत्रमलिखत् सर्वे चान्वमोदन्त । नलिनाक्षो मां सम्मन्त्रशुल्काय प्रैरयत् । सप्तभ्य एकैकस्मै अष्टावि

शत्युत्तरमेकशतम्, तेषां सहायकेभ्यश्चतुःषष्टिः, परिच्छदाय षोडश, षोडश, उपस्थापकेभ्यश्चतस्रश्चतस्रः। अधुनैवाहारस्य क्रयपत्रमादाय चर्परास्य उपेतः।

सङ्ख्या १७२

भोक्तव्यमथ जीवितव्यम्

(उच्चतमाहाराणामेकमात्रं प्रतिष्ठानम्)

क्रमः	वस्तुविवरणम्	परिमाणः	भावः	मूल्यम्
१	वातादवर्त्ती	२० प्रस्थम्	१०) प्र.प्र.	२००)
२	रसगुल्माः	४००	०)२५	१००)
३	समाशाः	१००	०)२५	२५)
४	दाली	५ प्रस्थम्	५) प्र. प्र.	२५)
५	भर्जिताः (भाजाः)	५ प्रस्थम्	५) प्र. प्र.	२५)
६	चायचषकानि (विशिष्टानि)	१००	०)२५	२५)
७	ताम्बूलदलानि (विशिष्टानि)	२००	०)२५	५०)
८	सज्जाव्ययः			१००)
९	प्रापणव्ययः			१०)
१०	विकिरपदव्ययः (खुदरा खर्च)			१०)

(सप्तत्युत्तरं पञ्चशतरूप्यकं केवलम्) योगः ५७०-००

सूच्यते ☞ न्यूनाक्षरमधिकाक्षरं वा लेयं देयम्

विक्रीतमपरावर्त्यम्। कृते भोक्तव्यमथ जीवितव्यम्

सन्दिग्धं भोज्यं विपणावेव विवदनीयं ० उत्थानपतनमार्गः

भवेत्, बहिर्भूते न वयमुत्तरदायिनः। कलङ्किता १०१

एवमहं षष्टिशतोत्तरद्विसहस्रमुद्रया (२१६०) पत्रशकलमादाय 'रात्रिन्दिवम्' प्रतिष्ठानमगच्छम्। भेषजं तस्मादेव ग्राह्यमित्यहमादिष्टाऽऽसम्। तस्य प्रधानकर्मकारो नासीदिति सायमागमनायाज्ञप्ता पथि प्रतिष्ठानान्तरेभ्यः भेषजप्राप्त्यै पृष्टे 'लेखो ज्ञातुं न शक्यः' इत्युच्यमाना रात्रौ तत्रैवागच्छम्। सप्ताहभेषजस्य मूल्यमासीत् ६४७. ३२।

द्वे धात्र्यौ नियोजिते,दिने निशि च । शुल्कं दिनस्य विंशतिः रात्रे-रेकविंशतिर्मुद्राः। दिनत्रयेण ज्वरः प्रसभं प्रवृद्धः शिरोव्यथा कासः पार्श्वशूल-मुत्क्लेशः शीतपित्तम्, नेत्रज्वाला,अनिद्रा, अशान्तिः अशक्तिश्च।

अहमचिन्तयम्, सप्ताहश्रमेण पञ्चसहस्रमुद्राभिश्चैतत्क्रीतम्। तस्य गमन-शक्तिर्नष्टा, उपद्रवाः प्रवृद्धाः । ज्ञानवतां मन्त्रणयामलाक्षमानेतुमगच्छम् ।

रात्रेरबाधा गतिः सर्वत्र प्रासरत्। तस्या अनन्तोऽव्यक्तो मर्मरध्वनिः प्रेतात्मनामुच्छ्वास इव व्यापत् । लोहमयी मोहमयी कृष्णा भयावहा निशा राक्षसीव सुप्ताऽऽसीत् स्रुतरक्ता तनूरिव विवर्णा मृतेव चेतनाशून्या। निशाया निविड सूचीभेद्यं तमः सृष्टौ व्याप्तं मुद्रायाः कष्टमिव दुर्निवारम्। गगनपते-र्वक्षसि तुषारोपस्निग्धामलकावलीं विस्तार्य सुप्तायाः कदाचन हसन्त्या निशाया दशना इव नक्षत्राणि क्वचन क्वचन प्रादुरासन्। कलङ्किताया अट्टालिकाः निश्शङ्कं तारिकाभिः सहाखेलन् । नितरां शीतम् । हस्तो मरुत्तराद् बहिर्निःसारयितु-मशक्यः । पन्थानः शून्याः । नगरं विजनमिव नीरवम् ।

अमलाक्षः प्रचुरं प्रेरितश्चतुर्गुणं वीक्षणशुल्कं दातुं कथितोऽपि रात्रौ नागात् । प्रातः सप्तवादन आगन्तुं सोऽसूचयत् ।

परेषां वेदनया दानवस्य हृदि का वेदना ?

अहं निःश्वस्य प्रत्यावर्त्तमानाऽऽसम् । ईडनोद्यानस्य निकटे सन्निवेश-(पुराद् बहिर्विहरणभूः) भुवः समीपे सवस्त्रा उपदश युवानो व्यायच्छन्त । मार्गे तमस्तोमाकुले प्रकाशस्तम्भा हसितुं सयत्नाः प्रत्यैयन्त निष्फलम् ।

—पूर्णवस्त्रोपेतानां कीदृशोऽयं व्यायामो निशीथोत्तरम्?—अहमपृच्छम्।

—नायं व्यायामः, अपितु शीतमपनेतुं चेष्टा । सन्निवेशेऽद्यान्तिमो द्वन्द्वः पादकन्दुकाक्रीडिनाम् । तस्य प्रवेशपत्रं क्रेतुं निशीथात्पूर्वमेवोपेताः । गवाक्षस्योद्घाटनं षड्वादने, प्रलम्बायां पङ्क्तावस्माकं पदं पुरो भविष्यतीति सद्य उपेताः । शीतमपनेतुं व्यायच्छामहे च ।

—कियन्मूल्यं प्रवेशपत्रस्य ?

—पञ्चविंशतिर्मुद्राः ।

निशाया नीरवे स्थले राष्ट्रस्य यूनां विवेकमहं व्यचारयम् । एको गर्दभ उच्चैर्व्यरौत् । तस्य ध्वनिः सर्वतो व्यापत् । गर्दभस्तेषां बुद्धिवैभवमुपहसन्निव प्रत्यैयत ।

सन्निवेशं यास्यामि, जनसमूहे मिलेद्राजकुमारोऽपीत्यहमचिन्तयम् ।

० ० ०

पूर्वाह्णेऽमलाक्ष उपेतः । तदाज्ञया पुनरन्यस्यां शोधशालायां परीक्षणं त्रिविधमभूत् । पुनः सर्वाङ्गाणां विभिन्नप्रकारेण रञ्जकरश्मियन्त्रेण चित्राणि च । पुनरमलाक्षपक्ष्याणां चिकित्सकानां समागमः सत्कारः, पुनस्तेभ्यो नवीनमुद्राणामधिकोशादानयनम्, पुनस्तेषां स्वपक्ष्यभेषजप्रतिष्ठानाद् भेषजानयनाय बृहत्पत्रलेखः, पुनर्बृहता व्ययेन भेषजक्रयश्चाभूत् । परं जानासि भद्रे, रोगो विवर्द्धितो यथा यथा चिकित्सितः ।

नगर्याश्चिकित्सकानां वर्गत्रयमन्वभवम्, सप्ताहत्रये त्रिंशत्सहस्रमुद्रा अव्ययिषि च । जामातुः परिमाणोऽर्द्धमणं न्यूनीभूतः । शरीरं जातं चिन्त्यदशम् । अहमात्मानं विफलमुद्विग्नं न कदापि तथाचिन्तयम्, यथा जामातुश्चिकित्सायाम् ।

एकदा प्रातश्चिकित्सकगृहात् प्रत्यावर्त्तमाना मध्येहृदयं क्रन्दन्ती प्राणवायुं सेवितुमुन्मुक्तवाते श्वसितुं विश्रमितुमीडनोद्यानं प्राविशम् ।

पूर्वा दिगधुनाऽरुणासीत् । इतस्ततो भ्रमन्तो जना अस्पष्टरूपाः प्रत्यैयन्त । क्षणेन प्रकाशः किरणरथमारुह्य तमो जेतुं प्रातिष्ठत । कविर्लिखन्नवर्त्तत । अहमुपागमम् ।

कथं चिन्तितासि, भद्रे ! किन्ते वैकल्यकारणम् ? सोऽपृच्छत् ।

अहं सर्वं मानसोद्वेगं तस्मा उदगिरम् ।

परमं त्वमुद्विग्नासि भद्रे, परं यावानुद्वेगस्तावानेव चिकित्सकस्य लाभः कलङ्कितायाम् । उद्विग्ना अभिभावका भाग्येनैव प्राप्यन्ते देवि । चिकित्सकस्तद्दिने पञ्चमुद्राणां मिष्टान्नमर्पयति काल्यै । अस्तु, अहं ते रोगिणं दिदृक्षे ।

—को विलम्बः, अधुनैव दयतां देवः ।

दयायास्तु प्रश्न एव नहि। पथि पथिकान्नियन्त्रयन्मार्गिकः (मार्गे नियुक्तः) प्रतिदिनं सहस्राधिकेभ्यो जीवनं प्रयच्छति, स किं साधुवादाधिकारी? तत्तस्य कर्त्तव्यम्। जीवनस्य महाविज्ञानमायुषो वेदमध्यैषि व्यवाहार्षं व्यवहरामि च। जीवनरक्षणं मम कर्त्तव्यम्।

अन्तःसलिला　　समवेदनासरस्वती　　कवेर्मानसात् प्रास्फुरत्।

एतादृशमहापुरुषस्य दर्शनेनैव रोगो व्यपगमिष्यतीत्यहमचिन्तयम्।

०　　　०　　　०　　　०

"निश्चिन्ता भव। जामातुर्न क्षयो न चान्यो रोगः। भेषजव्यापदेव केवला। सर्वं निरुध्यताम्। निष्कास्येयं धात्री न प्रवेश्याश्च चिकित्सकाः। केवलममुनैव कर्मणा पादोना सिद्धिः।

वस्तिरधुना देयो रात्रौ पथ्यादि क्वाथश्चेति" कविरादिशत्।

कवेरादेशो ब्रह्मण आदेशः। वस्तौ दत्ते सर्वं दिनं स शयानोऽभूत्। निद्रा सर्वाः समस्याः शमयति। पूर्णरात्रे स जागरितः। ज्वरः षण्णवतिमात्रः। परमा च क्षुत्। पथ्यादिक्वाथः सगुडः प्रदत्तो भोक्तुं चत्वारो रसगुल्माश्च। पुनः सोऽस्वपत्। कविरहोरात्राय तत्रैवातिष्ठत्।

क्षुत् प्रवृद्धा। दिने दशवारं पयोर्द्धमर्द्धं प्रस्थं दत्तम्। शनैश्शनैः शिरोव्यथा विलीना। न्यूनीभूतः परिमाणश्चतुष्प्रस्थं वर्द्धितः। अधुना स स्वं सर्वथा स्वस्थं मनुते। नष्टः परिमाणो मासेन पुनराप्स्यते। औषधस्य व्ययो मासे मुद्राद्वयम्।

परमायुर्वेदज्ञेष्वपि सर्वत्र नैष चमत्कारः। निर्विण्णाहं वैद्यश्रेष्ठान् मन्त्रयितुं विद्यालयानगच्छम्। बाहीकी भिन्नता भवेन्नामसु परमाभ्यन्तरीया स्थितिः सर्वेषां समानाऽऽसीत्। शासनात् प्रजायाश्च विपुलं धनमाददानानां तेषां दशां विभाव्याहं व्यसीदम्।

मललिप्तेष्वदृष्टकाष्ठेषु व्यग्रेषु ऊष्मपूर्णाद् गृहाद् बालकोलाहलादुद्विज्य तडिद्व्यजनस्याननुभूतपूर्वां सेवां गृहस्य विजनशान्तिञ्च सादरमुपयुञ्जाना रोगिणस्तन्द्रामनुभवन्त उपविष्टा आसन्।

कर्दमावगाहिमहिषसवर्णायामास्यायां सवर्णो यौवनवृद्धोऽशौचदुर्गन्धो दुर्वासा लोमशोऽतिष्ठन्मलायतनं मलज्ञः। य उन्मत्ताय स्वपितामहस्य पितुः स्वस्य च चिकित्सावैशारद्यं विकत्थमानोऽनभ्यर्थितोऽनुत्साहितः प्रलम्बं विवृण्वन् शंसां हिक्कन् (हांकता हुआ) मां पश्यन् श्रावयन्निव समयस्यापव्ययं कुर्वन्नासीत्। अहं पुनः पुनर्घटीं पश्यन्ती मध्ये मध्य उत्थाय गतागतं कुर्वती सङ्केतैर्वृत्तभङ्गायासूचयम्। परं निष्ठुरो गर्दभधीः सङ्केतं न जानाति। अन्ततोऽवोचं यदहं श्रीमतां यशःसौरभमाजिघ्रती सौभाग्येनाद्यैव कृतार्था। प्राचीनतमविज्ञानस्य रक्षितारं बहोः कालादहं दिदृक्षमाणाऽऽसम्, परमद्यैव भाग्योदयः। अहमस्य चिकित्सायै समेता।

—अद्य तु समयो नास्ति, सायं चयनागारवरे (चेम्बर) समागच्छ।

स निष्कर्मैवासीत्, परं व्यर्थाभिमानं दर्शयन् रम्यां धनियुवतिं वा विचारयन्नेवमुक्त्वाऽगच्छत्। मुद्रातोषिता धात्री मामातुरालयमदर्शयत्। शय्यासु निर्बाधं रजः। धात्र्यवदत्—शासनस्य निरीक्षणावसरे पदपद्यातः कङ्काला आनीय शाय्यन्ते, भोज्येन सहैकां मुद्रां दत्त्वा परेद्यवि निष्कास्यन्ते च। मुख्यो व्यवहारचतुरः सर्वेभ्य आदाय प्रदाय कार्यं चालयति। एते रोगिणश्चागृहा रथ्याकोलाहलादुपेत्य शान्तिमनुभवन्ति विद्युद्व्यजनवातं सेवन्ते च।

काचन दिगम्बरेव जैनमहिला मामेकदा बोकुकविराजस्य नामासूचयत् प्रशंसापरा। सा युवतिरासीदप्रजाः। अस्याः प्रशंसया परं सन्दिहानापि जिज्ञासोपशममहमकरवम्।

नाम तु तस्यापरमेवासीत्। परं स्थूलवामनं पीतयोष्णीषिकया आपादाग्रलम्बिनोत्तरीयेण, गम्भीरगत्या, किञ्चिद्विरम्य विचार्येव वचनस्य रीत्या विदुषोऽभिनयं कुर्वन्तम्, व्यवस्थापत्रे नाम्नः पूर्वं पश्चाच्च बहूनि विदेशभाषाक्षराणि सक्रममक्रमं योजयन्तम्, लोकायानर्गलं किमपि बोधयन्तम्, अपूर्वभिषङ्मानिनं लोको बोकुकविराजनाम्ना जानातिस्म।

परं तस्याद्यं रूपमासीद् बोधकुबेरः। एतत्तेन स्वस्योपनाम कृतमासीत्।

यतः सर्वो बुद्धिमन्मानी स्वस्योपनामाकृत, तदा बुद्धिमन्मानिनां सम्राण्मन्यः कथं न कुर्वीत। तदेतत्स बो० कु० इति सङ्क्षिप्तमलिखत्।

एकस्मिन् कार्ये तस्य वैशिष्ट्यमासीत्। कुत्रापि कस्यचन विदुषो लेखकस्य कवेर्भिषजो वा सम्माननमभवत्, तत्रासावनाहूत एवाव्रजत्, अनामन्त्रित एव गर्दभगर्वद्राविणा स्वरेण नासे विस्फार्य व्यरौच्च। कौशिकाय सूर्योद्गमनमिव कस्यापि सम्माननं तस्मै नारोचत। तद् दृष्ट्वा मूर्खो लोको यस्मिन् दिने वरेण्यान् सममानयत्, तद्दिनं सोऽकृतभोजन एवातिष्ठत्। एभिः कर्मभिस्तस्य नाम सर्वत्र कुख्यातम्। अतो बोकुकविराजस्य दर्शनं सुलभमेवासीत्। एष लोकं भ्रमयितुं चिकित्साव्यग्रतां स्वस्योपयोगितां वा दर्शयितुं द्वित्रेषु स्थानेषूपाविशत् परं लोकः खल्वादर्शः। स कान्तारवर्त्तिनमपि योग्यमन्विष्यति। पुनः पुनरात्मानं दर्शयन्तमपि न पश्यत्यविवेकिनम्।

मक्षिका मारयन् स स्वविपणावेवातिष्ठत्। कस्मिंश्चन भ्रान्ते विपणिं प्रविष्टे स सर्वेषां धनिनां नामान्याख्यत्। जिह्वाग्रगतानि नामानि। यथा तस्य पुत्रो मृतः, एकमात्रं पुत्रः; मयैकया गुटिकया पुनर्जीवितस्तस्याधुना पुत्रद्वयी। तस्मात् पञ्चाशत्सहस्रं लब्धम्। एवं स एकमासस्यायं लक्षाधिकमाचष्ट। परं कश्चन पृच्छेद् यत् प्रतिमासं विपणेर्भाटकाय दशमुद्रा, चायचषकाय द्वे मुद्रे, रजकाय तिस्रो मुद्राः कथं न दीयन्ते, तदा स किमुत्तरेदिति न ज्ञायते। अस्तु, अहं तस्मात् रोगिदर्शनस्य समयं शुल्कञ्च ज्ञात्वा प्रत्यावर्त्तिषि।

एवं तथाकथितं भस्मनि तिरोहितं रत्नमज्ञासिषम्।

× × × ×

जामातुर्व्याधिना बहोः कालान्मनोरञ्जनमवरुद्धमभूत्। चिन्तितमासीदेवेति सन्निवेशमगच्छम्। विशालः सन्निवेशः। मञ्चातिमञ्चेषु लक्षशो मानवाः पाणिगृहीताभिः (प्रेम्णा यासां पाणिर्गृहीतः, न तु परिणीताः) सहोपविष्टा आसन्। आक्रीडिनां वर्गो वाते तरन्निवावर्त्तत। युवानः केशान् विशृङ्खलानाशङ्क्य कङ्कतिकया प्रतिक्षणं प्रासाधयन्। मुहुर्मुहु-

मुखदर्शनव्यग्राः सेवितनवसङ्गरसायना आयौवनं नित्यानन्दास्तत आजीवनं निरानन्दा युवतयश्च करकोशादादर्शमलक्तकं तूलिकामवचूर्णनञ्च निःसार्य मुखमण्डलं कपोलावोष्ठौ च प्रसाधयितुं व्यग्रा आसन्। प्रत्यैयत यत्तासामेव स्वयंवरप्रतियोगिता।

× × × ×

अद्यतनजगतो दुर्नीतिं वीक्ष्य वियद्रोदीद्दिवाविश्रान्तधारम्। अहं कविना सहालपन्त्यासम्।

"तारे त्वं किञ्जातीया ?"

"आर्यास्मि"

"सामिषा वा निरामिषा ?"

"सामिषाऽऽसम्, परमधुना निरामिषा"

"तदाहं ब्राह्मणस्तव गृहे कथं भोक्तुं क्षमः ?"

"भक्षितस्य शष्पस्याद्यः सारो दुग्धम्, पश्चाच्च मांसम्, तद्यदि पयो निपीयते चेन्मांसादने को दोषः ?

"दुग्धादाने हिंसा न भवति, मांसादने च हिंसेत्येव विशेषः"।

"कवे, प्रतिदिनं मानवानां सद्यश्शोणितपायिनां पापीयसां गृहेषु साह्लादं भुङ्क्षे तदा जनसेविनां गृहेषु को दोषः ? कपर्दसमानानां समक्षं "जय जीव" इत्युच्चारयन्, तेषां ललाटं पश्यन्, पद्मनसिङ्घाणयोः शुभाशुभं विचारयन्, नित्यनृशंसं धर्मावतारं गदन्, दुश्चरित्रं सच्चरित्रयन् तद्गृहे भोक्तुमभिलषसि, यद्यपि न स भोजयितुं साभिलाषः। अथ च न केऽपि सर्वदा मांसाहाराः, ते कदाचनैवानुपयोगिनां पशूनां मांसं भुञ्जते। अजस्योपयोग एव कः ? ऋते भोजनात्। एष निर्मित एव भोक्तुं केवलम्। यदि नामी हन्येरन् वर्षचतुष्टयेन समस्तां धरित्रीमाच्छादयेयुः, यत्र मानवस्य स्थितेरपि प्रश्नः स्यादनुत्तरः।"

—नहि नहि, प्रतिपलमेधमाना अपि नरा न भक्ष्यन्ते, न कदाचन तेभ्यश्चिन्तितम्। वस्तुतः मानवजीवनोपयोगाय पशव एधन्ते न त्वाहाराय।

तारे, विदुष्यसि। अद्य प्रभृति तव गृहे भोक्ष्ये शाकाहारम्। कथमहं भवत्या औदार्यं प्रशंसामि यन्मादृशे निर्गुणेऽप्येतादृशो निर्बन्धः।
—"निर्गुणे निर्बन्धो मुक्तिकारी कलाविद्!

त्वामहं गुप्तवृत्तं पृच्छामि, कति मुद्रास्तव कोशं पूरयन्ति?"

"किमर्थं जिज्ञाससे भद्रे।"

"एवमेव तव कोशं जिज्ञासे"।

"आ एवम्। भद्रे कश्चनैडकापालः सहयोगिनाऽऽभीरेणैडकाश्चारयामास। विधेर्विधानं विचित्रम्। कश्चन राजा निःसन्तानो मृतः। एडकापालस्तस्य निकटतमसम्बन्धित्वादुत्तराधिकारी घोषितः। काले व्यतीते शैशवसुहृदं वीक्षितुमाभीर उपेतो राज्ञा सप्रेम सत्कृतश्च। राजा तस्योत्कर्षमभिलषँस्तस्याभिलाषमपृच्छत्। स उदतरत्। ग्रामस्य मध्ये चतुश्शालं गृहं भवेत्, विंशी पत्नी कपिला च महिषी। तदा तव भ्रातृजाया राजते पात्रे सुपक्वं पयः सन्तानिकोपेतमादायोपतिष्टेत्। पर्यङ्क उपविष्टस्तया पुनः पुनरभ्यर्थितस्तद्धस्तात्पात्रमादाय सिताप्रसृतिं प्रक्षिप्याङ्गुल्याऽऽलोड्य पिबेः" इत्येव ममाभिलाषः।

"तव पार्श्वे किं विद्यते, मया च किं कार्यम्" राजाऽजिज्ञासत।

"मम समीपे केवलाङ्गुली वर्त्तते"—आभीर उदतरत्।

भद्रे, ममाप्येषा स्थितिः। प्रतिदिनं नवं कूपं खनन्, तस्माज्जलं पिबामि स्नामि च, परं कामपि न्यूनतां नानुभवामि। मनःकल्पितं सुखं दुःखञ्च। परं लोको धनमर्जयितुं किमर्थं धावति? किं तेन लभ्यम्? कोटिपतिः किमु शतसहस्रगुणमुपयुङ्क्ते?

अहम्—दुग्धं पीत्वा स्थूलीभूतस्तस्य गुणान् वेत्ति, अतः कश्चन धनी जिज्ञासितव्यः।

कविः—विनिमयसाधनं धनम्। तदर्थमाकर्णणं नहि।

अहम्—तदा तव जीवनं प्रहेलिकायितम्।

कविः—स्यात्तत् । एकः संसारस्तु मे व्यपगतः । अत्र तव गलग्रहीभूतः कियदवधि काराजीवनं यापयिष्यामि ? बहिर्गतः कपर्दचरैर्वीक्षितश्चेद् ...।

अहम्—आशाक्षेत्राणि सम्प्रत्युर्वराणि । पश्य विचारय, कर्म धारय, येन शस्यसम्पद् भोगाय गृहमानीता स्यात् ।

कविः—अधुना परत्र संसारं रचयामि, यतः सिंहस्य न निजं वनमेवं विदुषोऽपि । सुखस्य शोषणोन्मुखां वल्लरीं पुनरुज्जीवयिष्यामि । यतो हि न कश्चन निवृत्तक्रियः स्थातुमर्हति । अधुना हलधराद्धलम्, वृषवाहनाद् वृषम्, विष्णोश्च पदक्रमजितां धरामादाय कृषिं करिष्ये । अनावृते कुट्टिमविष्टरो (फर्शी विस्तर) मह्यमलम् ।

अहम्—कपर्दात्त्वमेवं बिभेषि किम् ? सुश्लिष्टम् । तदा त्वं विकत्थन एव चतुरो वचनवागीशो मृन्माधवः । धातुरेषा विच्युतिर्यत् स तुभ्यं नरविग्रहमदात् ।

कविः—एषा विच्युतिस्तु तस्य वृद्धस्य सम्भाव्यैव, यस्तुभ्यं नारीविग्रहमदात् । परं शृणु, न मया कपर्दो विनाश्यः । कथं नाम पिनष्टु केशरी मशकशावकम् ?

अहम्—तर्के त्वमजेयः । परमेते धनिनश्चुरवः, कण्डूयितुमेव क्षमाः, नतु हन्तुम् । परं परितः प्राप्तवेदनः पुमान् किमर्थं जगतः क्षेत्रेऽवतिष्ठते ।

कविः—सङ्कटसाफल्यैः पूर्णे सुदीर्घेऽस्मिन् जीवनसङ्घर्षे पराजयस्वीकारो नोचितः । काककोलाहलेऽपि पिकैर्गेयमेव । दुर्दम्यसाहसो जीवने स्वत उपनतं दुःखस्य पूर्णपात्रमातलं पातुमिच्छत्येव । बालः क्रीडन्नाहतोऽपि क्षरच्छोणितोऽपि भग्नास्थिरपि कम्पमानोऽपि श्वसन्नपि बहुशः पराजितोऽपि तिरस्कृतोऽपि किं क्रीडाक्षेत्रं विमुञ्चति ?

सङ्घर्षः सृष्ट्या सहासृज्यत । सङ्घर्षे स्थिरो बली जीवन् साफल्येन म्रियते । अयं मानवः सृष्टेरारम्भत एव सङ्घर्षरतः पशून्नदीर्मेघं खञ्च स्वोप-

भोग्यं विदधौ दम्भं द्रोहं विश्वासघातं चक्रे करोति च, यद्यपि नास्ते स साधुः पन्थाः परं संसारसुखमनुबुभूषुः कल्पनापथे चलत्येव ।

अथ च ममापि गृहं समृद्धम्, तारे, अस्मद्द्वन्द्वो द्विगुरपि बहुव्रीहिरव्ययीभावः क्षमः संसारयात्रायै । द्विहल्या (दोहली=डोली) सज्जा, अहल्या च क्षमा पशुधनाय । पल्लीजन्मा द्विजन्मा नेन्द्रासनमाकाङ्क्षते ।

अहम्—अग्रिमः कार्यक्रमः कः ?

कविः—अद्यतनं भारतं सङ्क्षेपितं सङ्कोचितमप्याकर्षकं द्रष्टुङ्कामये । पुरातन्यो विलुप्ता लुप्यमानाश्च राजधान्यः, अधुना नवोद्गता नवपल्लवाश्च मया द्रष्टव्याः । तव लोकस्य च सम्पर्केण जाताः मधुरा अमधराः स्मृतीर्धारयन्नटिष्यामि ।

अहम्—तदाहं त्वया सह भविष्यामि ।

कविः—नवमङ्गलमयो शरीरिणीव मानवता त्वञ्चेत्सज्जा, सङ्कीर्णभ्रष्टशोषितमानवानहमुद्धरिष्ये ।

अहम्—कपर्दाय किं चिन्तितम् ?

कविः—बोधय किं कृतवत्यसि कपर्दाय ?

अहम्—शृणु । स्थितौ निरूपितायामपि साभः कपर्दं ग्रहीतुं सज्जो नाभूत् । यतः स कपर्दात्सत्कारमलमलभत । परं मत्समक्षं निराकर्तुमव्यलज्जत । अन्ततो दृढीकरणशाखायै (इनफोर्समेन्ट ब्राञ्च) कार्यमेतत्समर्पितम् । प्रथमवृष्टेः पर्वतादवतरन् शैलोद्भवः प्रवाहः शुष्कं सरित्स्रोत इव दृढीकरणशाखाकर्मकराणां समूहो विपणिं मद्यशालां कपर्दगृहमुपवनञ्च युगपदविशत् । शौण्डिकाः कारायामङ्गनाश्च नारीकल्याणकेन्द्रेऽवरुद्धाः । भ्रष्टशक्तिः भ्रष्टस्थानोऽशक्तः प्रश्लथो जुगुप्सितबीभत्सकर्मा मदमात्सर्यदोषदुर्गुणदुःसाहसभूमिः कुटिलकलः कपर्दो दुर्गेऽवरुद्धः । घटकचुम्बितचरौ चरणौ लोहेन निगडितौ ।

द्वित्रदिनोत्तरं शौण्डिकानपश्यम्, क्षुधया तृषया पीड्यमानान् स्नानप्रसाधनसौकर्यरहितानज्ञातभविष्यतस्त्रस्तान् । तेषां लगुडगर्वो व्यपगतो बाधि

काठोर्य्यञ्च। मया पृष्टाः स्वस्वकष्टं न्यवेदयन्। स्नानं प्रसाधनं सद्भोज्यं शीतजलं नापितं वासःशुद्धिञ्च व्यवस्थाप्य सप्ताहोत्तरं पुनरालपम्। —"कथयत किं कष्टम् ?"

सर्वे—अधुना तु प्राचीरबन्धनमेव कष्टम्। भवत्या दया चेत्तदपि.....।

अहम्—बन्धवः! वस्तुत एष भवतां दोषो नास्ति, येनाद्यात्र रुद्धाः। परमिङ्गालकसम्पर्केण धवलमपि कृष्णायते। दुरवस्थेन, बुभुक्षितेन क्वापि कर्म तु कार्यमेव। विक्रीततनुर्भृत्यः स्वामिना प्रेरितस्तदाज्ञानुसारं प्रवर्त्तते। तत्र तस्य दोष एव कः ? न तस्य विशिष्टो लाभः, न पदोन्नतिः, न यशः, न मरुत्तरम्, न बकधवलम्, न च सचिवेन पाणिस्पर्शः। तेन तु मासान्ते नियतं वेतनम्, कदाचन ततोऽपि न्यूनमेव लब्धव्यम्। को नामेदृशलाभाय कुकर्मणि प्रवर्त्तेत ? परमन्यत्रालब्धभृतिर्बुभुक्षितः किं न कुर्यात् ? अहं भवद्भिः सहानुभवामि।

सर्वे—सत्यम्, सर्वथा सत्यं भवती वक्ति। अस्माकं सत्यां स्थितिं त्वं वेदितुमुत्सुका चेन्निरूपयामो यद्वयमपि राष्ट्रस्य सुनागरिका आस्म, अस्मज्जनपदे पञ्चायतनेषु सम्मानिताश्च। जीविकायै दारिद्र्यध्वंसिनीं कलङ्कितामुपेताः। परमत्रावासो भोज्यञ्च स्देषामेव कृते दुर्लभः। अन्ततोऽलब्धभृतयो जलाहाराः, पदपद्यासूद्यानेषु विश्रान्ताः शयितुमलब्धभूभागा निराश्रया निरपराधा अदण्ड्या अपि दण्ड्यसङ्ख्यां संवर्द्ध्य स्वयोग्यतां दर्शयितुं दण्डिता जनसेवाविभागेन। बुभुक्षया म्रियमाणैः स वरो मतः, यत्र रूक्षमुदरपूरणायालभ्यत। परं तत्रावासोऽपि सावधिकोऽभूत्। वयं मोचिताः। परं कृष्णाक्षरितानां (दागी) भृतये द्वारं रुद्धम्। अन्ततः कारायामिव कपर्दस्य मद्यशालायामुदरदर्पं दलयितुं प्रवृत्ताः। निष्किञ्चनेन जीवनस्याभावस्त्वपनेय एव। सर्वथा पूर्णा अपि धनिनो यथा हाहाकारदूषिता अभावग्रस्ताः, न वयन्तथा...

अहम्—स्युर्नामैतेऽभावेन भावेन वा ग्रस्ताः। अस्माभिस्तु स्वस्य रक्षायै विचार्यम्। अधुनापि समयः, यद् भवन्तः प्राचीरं भङ्क्त्वा मुक्ता भवितुं शक्नु-

वन्ति, पत्नीः शिशून् जनकं जननीञ्च द्रष्टुं प्रभविष्यन्ति च । जागृत निबोधत, बुद्ध्या विचारयत । भवतां दौर्बल्येनैते स्वार्थलोलुपाः स्वस्य सुखाय लोकं प्रलोभ्य लुण्ठन्ति । एते महन्मन्या लोकस्य सुखशोणितमाचूष्य कथमाप्यायिताः ? भवादृशाश्च लाभस्य सत्याधिकारिणः कथं नग्नाः कुचैलाः बुभुक्षिता हताशाः कारासु वसन्ति? इयं धरित्री स्वपुत्रान् भवद्विधान् वीक्ष्य रोदिति यत् कथं पाशवपूर्णं जघन्यं विवेकविकलं मनो मनुजानां भूतम् ? कथं श्रमिण आत्मबलविहीनाः साधनहीना दीनां अभ्यस्तात्याचाराश्च जाताः ? भ्रातरः, अधुनाप्युन्नतेरवसरः, शुद्धेन मनसा कृतायाऽनुतप्य भविष्यज्जीवनाय किञ्चिदुद्देश्यमासादयितुमभिलाषश्चेद् भग्नोऽपि मेरुदण्डः पुनः सन्धातुं शक्यते, दग्धं जीवनमुज्जीवयितुं शक्यते च।

सर्वे—वयं सज्जाः स्मो देव्या आदेशाय ।

अहम्—तर्हि शृणुत, दोषः शुद्धेन मनसा स्वीकार्यः। परिस्थितिर्विवरणीया यत्कस्याज्ञया किं किं वयमन्वतिष्ठाम । अवधारयत स्वाम्याज्ञप्तो भृत्यः सापराधोऽपि निरपराधः ।

सर्वे—सर्वथा सत्यं भवती भणति । अन्यूनानतिरिक्तं देव्या आदेशं पालयितुं वयं सज्जाः ।

० ० ० ०

कपर्दः कारायां लगुडभर्त्सितो वन्यः सारमेय इव क्षुभितो भ्रमन्नवर्त्तत । मध्ये मध्ये तस्य मुखाच्छब्दा निरसरन्, ये गवाक्षैः स्पष्टं श्रूयमाणास्तस्य वैकल्यं व्याञ्जिषुः । 'येनकेनापि मूल्येन मम प्रतिष्ठाध्वंसिनः प्रवादा उच्छेद्या एव । कीदृशः षड्यन्त्रः ? एतादृशाः प्रवादाः सर्वत्र यदि प्रसरेयुः, मम मानो व्यपगत एव। किमपि स्याद् वृत्तस्य शैशव एवान्त आवश्यकः। अस्मिन्नभियोगे निष्णाताः सद्बुद्धयो धूर्त्ततमा अनुत्तरणीयतर्का वाक्कीला योज्याः । किमपि स्यात्, अभियोगप्रत्याख्येयतायै चेष्टितव्यमेव । मुद्राः दशकोटिमिता इतोऽप्यधिका वा व्ययिताः स्युः। मुक्तेन च मया किञ्चित्कार्यमेव । एतेऽपि किं

ज्ञास्यन्ति, केन प्रतिद्वन्द्विता? कुजाताः कुक्कुराः। सर्वं जीवनं लालाटिकतां कुर्वन्तोऽपि मामदशन्।"

एवं स शून्यकारायां स्वस्योत्थानपतनं चिन्तयन्, वैषम्यं विचारयन्, कदाचन निस्सीमनैराश्यराशौ स्वस्य विलोपं वीक्षमाणः, कदाचनाशा-किरणमाप्य सतर्कः सन्तुलनविहीनः, कदाचन सद्भावनालेशोदयात् 'विनाश-क्रीडया सुखं शान्तिः समृद्धिश्च कथं लब्धुं शक्यानी' तीव विचारयन्मूक इतस्ततोऽभ्रमत्। अहं बहुशो गवाक्षेण म्रियमाणस्यान्तिमामुद्विग्नतामिव प्रतिक्षणं क्षीयमाणं हृदयस्पन्दनमिव तटस्थभावेन चिकित्सिकेवापश्यम्। तस्य वार्द्धकं व्यकसत केशानां कृत्रिमः कृष्णरागोऽपागच्छत् कपोलयुगलञ्चा-सीद् गर्त्तोपमम्।

जनपदसेविनां विशालो जालावृतौ मरुत्तरः कर्पदमाबध्यानिनाय। गर्वेण गर्जित्वा स्थूलो धनी समुद्गीर्यापानवायुमिव पार्श्वतो धूमं विसृज्य मूत्रयन् मौनमवालम्बे।

गगनगुहाध्वंसिनि विशाले न्यायप्रासादे लोकजीवननाट्याभिनयः प्रति दिनमैक्ष्यत। श्रमार्जितं धनं शिक्षायां स्वास्थ्ये उन्नतौ वा न व्ययित्वाऽ भियोगयज्ञे व्ययितुमुपेता मिथ्याभिमाना भ्रान्ता इतस्ततोऽधावन्। विनाज्ञां हालं प्रविष्टाः कपोताः गुङ्कुर्वन्तो लोकस्यैकतानतामभञ्जन्। विस्तृतं न्यायमन्दिरम्, न्यायदुर्गः।

कविः—न्यायस्य क्रयविक्रयागारम्। उत्कोचस्य प्रधानं पण्यपत्तनम्।

अहम्—उत्कोचस्य दानमादानञ्चात्रापराधः। लघुष्वेतद् भवेत्?

कविः—भ्रान्तासि भद्रे, तस्य प्रणाली विविधा। अपि जानासि चीनीयां रीतिम्? यत्राप्तसङ्केतोऽभियुक्तो न्यायालयविसर्जनावसरे छत्रमादाय चलति स्वच्छ आकाशे। न्यायी पृच्छति, कथं छत्रं वहसि विपुलबुद्धे? "पञ्चभिः क्षणैर्वर्षणम्, नो चेत् पणो भवेत्पञ्चसहस्रस्ये" त्युत्तरति। न्यायी पणते, पञ्चक्षणे वीते लोकसमक्षं पञ्चसहस्रमुद्रा आप्नोति च।

अहम्—न्यायस्य गलावरोधाय विलक्षणो विचक्षणबुद्धेराविष्कारः।

कविः—मुष्टिर्यदेषच्छिथिला न्यायिनो मुखं च्यवते, अन्यथा निर्णयं प्रतीक्षमाणस्य मुखं धूल्यैवाभिषिक्तं भवति। आम्, ततः....।

अहम्—नगर्याश्छलकूटकपटकलाचार्याः कलहकाण्डकुशला लोकाय न्याय-नीतिं सरलयितुं ? अनुत्ता एवोत्पन्ना दम्भिनोऽभियोगजीविनो वाग्जीविनस्तर्क-दिक्पाला अलम्बुद्धयो वाक्कीलाः सकृदुपस्थितेर्मुद्रासहस्रद्वयीमाददानाः पत्रमुद्रासागरे सन्तरन्तस्तर्कतूणीरान्निर्भरमापूर्य यूथशो न्यायालयरणमञ्च-मुपेयुः, विना श्रममधिगतेन लोकद्रव्येणाप्यायिताः गोधा आक्रीड (अखाड़ा) मिव। तेषां शिष्याश्च शस्त्रास्त्राणीव पुस्तकानि कक्ष आदायाऽऽगच्छन्। न्याययुद्धं जेतुं दलमर्द्दकतोपानिव सन्दर्भान्मुखेषु पत्राण्याधायास्थापयंश्च।

वाक्कीलकुलकाकानां कोलाहलोऽश्रूयत। अन्तर्बहिःकृष्णानां सितशिरोरुहाणां पापचारिणामसत्यमाचारो वञ्चनमञ्जनम्, दम्भोऽम्भः छलमेवाञ्चलम्। हन्त! मानवः कथं कर्माकर्मविकर्मविकलः ?

क्षणेन सर्वे श्वासन्नियम्यावातिष्ठन्त, सर्वेषां चक्षुर्न्यायासने स्थिरम्। वातावरणं शान्तं वाक्चावरुद्धा।

न्यायाधीशो लोहपरिवेषस्यान्तर्न्यायास्यामुपाविशत्। निष्केशकल्पं शिरः, यौवनवार्द्धकेन विभक्तस्थलमिव। शिशोर्वार्द्धकस्य गरीयान् भाग आसीत्। सकेशभागश्चाल्पः परं ज्येष्ठो भ्रातेव सोऽल्पं गृहीत्वापि प्रसन्न आसीत्। इतो लघुभ्रातेव निष्केशभागस्त्रिपादीमासाद्यापि तप्तताम्र इव सक्रोध इवासीत्। उत्सुको लोकस्तस्य क्रियां भीत इवापश्यत् कोणेन तिर्य-क्चक्षुषा च।

अनाकुलमतिः शासनप्राड्विवाकोऽपि स्वासनमाससाद।

इतश्च कृष्णवाससा रागमिव भावमपरिवर्त्य जटाजूटेन स्थाविरं भावं नीरजस्तमतामार्षन्तेजश्च द्योतयमानाः परे न्यायमूर्तय उपेत्य कर्त्तव्यनिकषे कटु सत्यं कषन्तो लोकस्य भाग्यं भविष्यच्च निर्णेतुं समासत। अभियुक्ता-श्च केचन स्तब्धाः परलोके मनसा गता इव कयाप्युत्तेजनया केनापि कोला-

हलेन चाचला अवर्त्तन्त। आह्वानस्योद्वेजको ध्वनिर्दुष्टान् कम्पयँल्लोककर्णेषु चचार।

कण्टकशोधनाधिकरणे (फौजदारी) छलयुधिष्ठिरो भीमकर्माऽर्जुनवासांसि परिधाय नकुलोऽपि सह देवनैर्न्यायालयमानीतो मृषाभाषिभूषणं क्रान्तकलिः कपर्दः। कारागारिणां मूर्धन्यो नरभक्षी रक्षोहासं सदम्भं हसन् स्वं सत्यसम्मतं प्रत्याययन् "भगवतः परब्रह्मणः पिता वसुदेवोऽपि कारायामुवास, धर्मराजो युधिष्ठिरो मर्यादापुरुषोत्तमो रामः कलिकिल्विषानलो नलश्च वनं बभ्रमुः। भगवान् कृष्णोऽपि वृष्णिभिः सह जन्मभूमिं तत्याज। परं दैवेन दुःखमापादिताः सर्वेऽपि सत्याश्रया निस्तुलं यशः सुखञ्च लेभिरेऽन्ततः" इत्यपृष्ट एव सर्वतः सर्वान् वदन् सर्वतोऽपश्यज्जनतायामपि निर्जनताम्।

कपर्देऽभियोगा आसन् वञ्चनं बलात्कारः, प्रसभकर्म, पातिव्रत्यभङ्गः, जनहत्या, शासनवञ्चनम्, समाजसेविसंस्थानां धनस्य दुरुपयोगः, अवैधाचरणम् इति।

कपर्दस्य सधर्माणो मुद्राबलमशकीकृतमानवा धनादित्या मुद्राभोजा धनिनो विविधानि साधनधनान्यादाय, अमोघां शक्तिं चेकपुस्तिकाञ्च, आत्मवीर्यं विचार्य प्रचुरोत्कोचैर्नयनिष्ठान्प्रभावयितुमचेष्टन्त, यतो व्यवहाराधिकरणे (दीवानी) कण्टकशोधनाधिकरणे उभयत्रायथाचारोऽधस्तनन्यायालयेषु प्रसृत आसीत्, परं प्रलयमरुताप्यविचाल्यं चेतः सताम्। न्यायमूर्त्तयोऽप्रभाविता एवासन्। कोटिशो मुद्राणां प्रतिभुवा तं मोचयितुमवाञ्छन्, परं शासनप्राड्विवाकस्तादृशस्य दुर्मदस्य दुश्छलस्य मोचनं नान्वमोदयत्। अविज्ञातदोषो दोषी स्वयमेव दोषभाक्, परं ज्ञातदोषो दोषचारी चेच्छासनस्य दोषः।

न्यायिनः कपर्दस्याभियोगपत्रपुञ्जमधीत्य परं प्रभाविताः। तेषां बाहवः स्वाधिकारं दर्शयितुं कण्डूयमाना अवर्त्तन्त।

कपर्दस्य दोषास्तस्य भृत्यैरङ्गनाभिश्चाक्षरशः साधिताः। इतः कपर्दो

ऽपि चतुंरस्तोरक (तैराक) इव पाणिपादं विविधं प्रचालयन्नभियोग-जलराशौ निमज्जनावरोधाय प्रायतत।

इतश्च वाक्कीलानां विवादे शब्दाच्छब्देन स्पर्शे स्फुलिङ्गा इव तर्का उदभवन्।

विकल्पोपहतं कपर्दस्य चेतः सन्देहसन्दोहे निमग्नम्।

"स्मरदूनानां कामकण्डूतिशान्तिर्न व्यभिचारोऽपि तु सत्कारः। अनेकासां कामयमानानां स्त्रीणामिन्द्रियसुखदः कृष्णो न कदापि सापराधो घोषितः। लोकस्तं भगवन्तं मेने। तदा ममापराधः कथम्? धर्माय राष्ट्रस्य सेवायै विपुलधनोपयोगाय मद्यशाला। उर्वीवर्वरभारहाराय दुष्टा भाष्ट्रे दाहिताः,, येन काष्ठस्यापव्ययो नाभूत्, भाष्ट्रञ्च प्रज्वलितम्, येन मद्यशालायां लाभः, स च धर्माय राष्ट्राय च। जनक्षयेन जनवृद्धेरवरोधः, दुष्ट-संहारः, राष्ट्रकल्याणं देशावतारस्य कर्त्तव्यम्। एवं सर्वं राष्ट्रोन्नत्युद्देश्य-मकार्षम्। परमश्रद्धास्पदेषु गुणगुरुतमेषु न्यायाचार्येषु मनागपि कटाक्षक्षेपेण नात्मानं पङ्के पातयितुं लेशतोऽप्याकाङ्क्षे, परं न्यायमूर्त्तयो न्यायस्य मर्यादां पालयिष्यन्तीत्यहं प्रार्थये',—इत्यादि कपर्दोऽवदत्।

वाक्कीलांस्तोषयितुं तेषां शिथिलीभूतां मतिं गतिं निशातयितुं तेषूत्तेजनां स्फूर्त्तिमापादयितुं पुण्यां वाचं छलच्छद्ममयीं विधातुञ्च शार्करं मद्यं निम्बुक-नीरं चायः पयः न्यायालयस्य कर्कशमाकाशं मधुरयन्ति पुनः पुनरुपेयुः।

वाक्कीलानां वाक्केलिः पुनरारब्धा। तर्ककर्कशा तेषां काकवाणी तस्य मानसमपीडयत्। स तेन विवादेन परमुद्विग्नो विदीर्यमाणमिव भाग्यं मन्वा-नोऽश्रुसमुद्रे स्वं पातयन् न्यायमूर्त्तीनां पुरो हस्तावायोज्योवाच। तान्यश्रूणि यदि प्रायश्चित्तरूपाण्यभविष्यंश्छोभनमभविष्यत्, परं तान्यपि वञ्चनायैव।

"न्यायमूर्त्तयः! जीवने न कदाप्येवं करिष्यामि। अग्निस्पृष्टोऽग्नि-ज्वालाशोभां नेक्षते जातु। सकृदहं क्षम्यः। सद्भावनया कृतं कर्म दुर्भा-वनया न मन्यध्वम्।"

शासनप्राड्विवाकः तर्कक्षुरं शाणितं विधाय दण्डसूत्रेणापराधिनां जीवन-वासो निर्मातुं सक्षण उदतरत् "हिमस्पर्शेन ज्वरस्य दाहो न प्रतीयत इतिसत्यम् परं न तेन स शाम्यति। दीपमावृण्वन् सूक्ष्मपत्रं प्रकाशस्य नाशेषां तीव्रतां व्यपोहितुं शक्नोति। सङ्कटग्रस्तः कुकर्मा क्षणं ग्लायति, परं तद् ग्लपनं श्मशानवैराग्यनिभम्। पांसुप्राकारोऽपि जललववाहेनोह्यते, इति। छली विलासी धनी प्रलयङ्कारिशक्तीनां वर्णिका सृष्टौ। प्रभञ्जनप्रवेगादपि प्रबलं तीव्रगतिकं दुश्चक्रं विभवस्य।

कपर्दः—दशकोटिमुद्राणामत्ययो (जुर्माना) विधेयः। लक्ष्मीव्यपगम-व्यथातिविषमापि सोढव्या सहर्षमहर्षं वा, परमेवंविधा गर्हणा मे नापादनीया। विचित्रो बुद्धिभेदो बुद्धिमतामपि। गोपकन्या अहोरात्रं रमयन् कृष्णः श्वेतचरित्रः। अहञ्च साधनरहित एवं विगीये। अहो दुःसमयः। लोको-पकारिणं राष्ट्रसेवकमपि स्वार्थविघातेन विपरीतं प्रचारयन्ति चौराः।

शासनप्राड्विवाकः—नास्य गृहे चिन्तामणिः सुरतरुः कामधेनुर्वा। अय-मत्ययधनं दत्त्वा तीव्रेण वेगेन विश्वं लुण्टिष्यति लुण्टाकचतुरशिरोमणिः। येन जगति त एव दोषाः प्रादुर्भविष्यन्ति प्रबलतरेण वेगेन। अतो दोषा-णामपाकरणायापुनर्भवाय नैतदुचितम्। इति।

अधुना निश्चयानिश्चयदोलायामभियोगो दोलायमानो वर्त्तते। न्यायेशा-स्तस्मै दण्डदाने नैकमताः सन्ति। मृत्युदण्डाय बहुमतम्। एतत्कपर्द-चरितम्। बोधयाधुना कार्यम्।

कविः—भ्रान्तासि भद्रे, अनन्तकालाद् भूतलेऽनन्ताः शासका लोकहित-कामनया लोकहितव्याघातकान् दण्डयन्तः, आमरणं कारायां वासयन्तः जीव-नतन्तुना विरहयन्तोऽवर्त्तन्त। परं किम्भुवः पापं व्यपगतम्? बुद्धिमानपि मानव आसृष्टेर्नृशंसः। इतिहासः साक्षी। विश्वस्मिन् येन परराष्ट्रम् परसम्प्रदायो यावान् विनाशितः, तावान् प्रसिद्धः, यदि सफलः, विफलश्चेद् -गतः। परं कञ्चन निहत्य समस्यायाः समाधानं न। अस्माभिः समाजस्य सौविध्यञ्चिन्तनीयम्, व्यक्तेर्न हि, समष्टेः। एकस्मिन्दण्डि-

तेऽपि समाजस्य रक्षा नहि, लाभो नहि। दण्डेन मानवस्य पशुत्वं क्षणं शाम्यति, सत्यम्, परं नश्यति नहि। कशाघातेन पालितस्य सिंहस्येव। दण्डेन न्यायस्य स्थिरता नहि। सा भवति भावस्थापनेन! अतो मृत्यु-दण्डस्तस्मा अनुपयुक्तः।

अहम्—लोकशिक्षणायैव स्यात्, शूलारोहणन्तु वरमेव। दृष्टदोषस्त्विष्टोपि हन्तव्यः किं पुनरनिष्टः।

कविः—कलङ्कितायां कस्यावकाश इमां शिक्षां ग्रहीतुम्, यत्र लोको भोजनं परिजनमपि विस्मरति। कार्यभारविपन्नोऽत्र जनो लोकवृत्तं श्रोतुं निरवकाशः। लोकस्य पापाद्विरतिर्दण्डस्योद्देश्यम्। अतस्तादृशी दण्ड-व्यवस्था साध्वी यां लोकः स्मरेत्। शूलारोहणं क्षणं श्रूयेत स्मर्येत च द्वित्राणि दिनानि। लोकस्य स्मृतिरतिदुर्बला। यं स परमं हिंसकममन्यत, तमेव सोऽल्पीयसि समयेऽतिक्रान्ते परमहंसं मनुते। एवं नापराधो रोद्धुं शक्यः। धनिनामात्मानं कलुषयति केवलं धनम्। तेन तस्मै चैष पिशाचकर्मणि प्रवृत्तः। वस्तुतो यशोविलासदायिनां वस्तूनां वियोगस्तेषां भिषज्या। शीतोष्णादिक्लेशहारि वह्निवर्द्धि शक्तिदमेषामौषधं दारिद्र्यम्। परं तारे न्यायाधीशास्तं दण्डयितुमक्षमाः दण्डसंहितायामाश्रिताः। कपर्दः कथमपि तेभ्य उचितं दण्डं नाप्स्यति। भद्रे, मृत्युदण्डं तस्मै मह्यं न रोचते।

अहम्—योऽजीर्णग्रस्तो बुभुक्षितानां म्रियमाणानां मुखेभ्योऽन्नमाकृष्यान्नकूटेन भूगृहाण्यपूरयत्, नरान्निर्दयं मशकवदमारयत् स्वार्थाय, इन्द्रियतोषाय राष्ट्रस्य लज्जां निर्लज्जमलुण्ठत्, सर्वं विकर्म कुकर्म सपारणं सहस्रकृत्वाऽन्वतिष्ठत्, उत्कोचबलो राष्ट्रस्य सम्पदं शतमार्गैराचूषयत् यश्च दुःशीलदुराचारदुर्विचारमूलं लोकपरम्परालोपी पौरप्रतिष्ठानस्याध्यक्षीभूय नगर्याः पितृपदे प्रतिष्ठितो नगरहितं निघ्नन्, केवलमधर्म-निरतः स्वोदरं भूगोलार्द्धमिवाकृत, कन्याशालाविधवाशालाऽऽरोग्य-शालानां सञ्चालको भूत्वा भौमानन्दे न्यमज्जत्, उदमाद्यत्, केन शब्देन

स सम्बोध्यः ? को वैयाकरणोऽस्मिन्नर्थे धातून् शब्दान् वाऽविश्वकार । तस्य जीवनं किमर्थं कवे ? मशकोऽपि दंशनात् पूर्वं ध्वनिना लोकमवदधाति, परमेष राक्षसोऽसूचयित्वैव निश्शेषयति । तस्मै दया किमर्थम् ? यः समाजाय दयां विहायोन्नतेः शिखरमारुरुक्षति स किं दयनीयः ?

यदा श्रान्ताः सुखं शेरते, तदैष ताँल्लुण्ठति लुण्ठनैकव्रतः । कपोतेभ्योऽन्नकणान् विकीर्य, धार्मिकतां प्रचार्य, तान् परिचितान् विधाय खादति । असिना किं सौहार्दम् ? कदाचन शनैः कदाचन हठात् स क्षपयत्येव । यो लोकगलानि च्छिनत्ति, तस्य गलालिङ्गनं न क्षेमङ्करं कवे !

कविः—धारासम्पातो धरित्रीं धावयति सत्यम्, परं तस्या उष्णतां शनैश्शनैः पतन्तः शीकरा एव शमयन्ति । प्रतिदिनं पश्यामः । अल्पापराधो दण्डितोऽपि पुनः पुनः कारामुपैति । परं नीतिनिपुणो दिनप्रकाशे सहस्रशोऽपराध्यन् न्यायमूर्तीनामक्षिषु मरिचपिष्टेर्मुष्टिं प्रक्षिप्य विलासवैभवेषु रममाणः राष्ट्ररत्नत्वं सज्जनशिरोमणित्वमधिगच्छति, पश्चाच्च पदधनमत्तो यत् कुर्यात्तदेवाल्पम् । एवमेव मृत्युदण्डात्सक्रुद्धयमुपस्थाप्यते, परं सत्या शान्तिर्लोकदण्डेनैव । विवेको भावनां व्यवस्थापयति भद्रे, विवेकोऽस्माभिर्व्यवस्थाप्यः । एकस्मिन् कपर्दे निहतेऽपि न लाभः । कपर्दा अनन्तास्तारे । साहसप्रवणा प्रवृत्तिर्बालस्यैव न विवेकिनः । विवेकाद्वृद्धिः । दोषा नोत्खन्यन्ते अपि तु परिष्क्रियन्ते । नहि कश्चन समुद्रजलं बहिर्निःक्षिप्य पारं यायात्, अपि तु समुद्रात्ससुखं तरणाय पारे यात्रायै नावो निर्मीयन्ते । एवमेव दोषाणामानुकूल्यापादनं विधेयम् । दुष्टस्य विनाशो नहि परिष्कारः कार्यः । एतत्सत्यम्, यदन्धं तमो विपुलं दीपशिखा च तनीयसी । परं सफलमानन्दितञ्च जीवनं विधित्सता तत् क्रमशः क्रमणीयं भविष्यति । समाजे बद्धमूलाः क्रमागता विकृतयः क्वचन सुप्ताः क्वचनोद्बुद्धाः सन्ति । अद्यतनं वैषम्यं तज्जनितं त्रिविधा हिंसा च । वस्तुतोऽद्य जगतो जीवनमगण्यदुष्कृत्यपूर्णम् । एवं दुष्कृत्याणुभिर्महान्ति दुष्कृत्यानि प्रादुर्भवन्ति बिन्दुभिः समुद्र इव ।

अत एतादृश उपायोऽन्वेष्टव्यो येन जगतो दुष्कृत्ये प्रवृत्तिरेव न स्यात्। अद्य मानवो मानवस्य, राष्ट्रं राष्ट्रस्य, वर्गो वर्गस्य भक्षणाभिलाषी। किञ्चिदपि साधनमुपार्ज्य स स्वं संसारात् पृथगेव मन्यते। पार्थक्यमेवेर्ष्यायाः कारणम्। सुखं द्वैते नहि, तत्त्वद्वैते लभ्यम्। पार्थक्यभावना मानसे लोभं स्वार्थं भयं मानमीर्ष्यां द्रोहबुद्धिञ्च जनयति, यैरभिभूतो हिंसामत्याचारमुत्पीडनञ्च चरति। अतो यावन्मानवमानसात् पार्थक्यभावनाया न व्यपगमस्तावदानन्दस्य चर्चैव व्यर्था। स्वप्रवृत्तिवशो मूषको निरुद्देश्यमेव नौतलं कृन्तन् न चिन्तयति यदनेन कियतां संहारः कियतो धनस्य स्वस्य च नाशो भविष्यति, तथैव धनप्रियो दुष्प्रवृत्तिवशः स्वनाशं राष्ट्रं नाशयति।

प्रकृतेः प्राप्ते द्रव्ये सर्वेण समानाधिकारेण भवितव्यम्, तत्रैकाधिकारस्य प्रश्न एव कथम्। वयमेतद्यदि प्रचारयाम लोके व्यवस्थापयाम च तदा लोभः स्वार्थो भयं सर्वमेवोन्मूल्येत सुनिश्चितम्। व्यक्तेराचरणमेव समष्टेराधारः। प्रकृतिप्राप्ते लोकस्य समानाधिकारः, तद्विपरीतमाचरितुः सामाजिको दण्डः—इतिद्वयं लोकमानसे प्रवेशयितव्यमस्ति, विवेकेन शनैश्शनैर्नतु बलेन। रिक्तं पात्रमिव लोकस्य मस्तिष्कम्। यस्मिन् बुद्धिमान् यत्प्रवेशयितुमिच्छति प्रवेशयति। कमलस्य बीजं वर्षसहस्रं निष्क्रियं तिष्ठति, परमेकदा सहस्रांशुस्तस्मात्सहस्रपत्राणि प्रकाशयति। एवं विचारा अपि जनस्य मस्तिष्के प्रवेशिता निश्चेष्टा अपि कदाचन महत् कर्म कुर्वन्ति विचारो हि प्रसार्यमाणो विश्वस्मिन् प्रसरति भूमौ प्रसार्यमाणं बीजमिव। काले प्राप्ते चाङ्कुरतां पल्लवफलानि च लभते।

तारे, दीपस्य शिखा स्वकलेवरं तमस्यावृत्य लोकं प्रकाशयति। तथाविधमेव कर्म विवेकिनः। सुनीतेरेव ध्रुवोत्पत्तिः।

एष पुञ्जवादस्य स्वभावो यत्स सर्वानेव दुर्गुणैः प्रभावयति।

पुरा समाजस्य रचना राज्ञां घनिनाञ्चेच्छयाभूत्। परमधुना परिवर्त्तनमपेक्षितम्। परमेतत् परिवर्त्तनम्, पुरोगमनं शनैः शनैर्धैर्येण धर्मेण सर्वेषां

सम्मत्या च। येन सर्वेषां हृदये परिवर्त्तनस्य भाव उत्पद्येत। सहसा परिवर्त्तितस्य साधोरपि भावस्य सञ्चारश्चतुरस्यापि मानसमुद्वेजयति। अतः सोद्देश्यकं प्रयत्नपूर्वकं परिवर्त्तनमेव हितकारि।

नवधारां नवप्रयोगं नवविचारं प्रति लोकस्याज्ञात्वैवाविचार्यैव पूर्वं प्रबलो विरोधः,—यतो लोकः परम्पराप्रियः, ततो विरोधेन सह क्रोधः, ततोऽकिञ्चित्करे उपेक्षा, ततः कौतूहलेन समीक्षा, ततः परीक्षा, ततोपेक्षा ततः प्रबलं प्रशंसनम्, ततोऽनुष्ठानम्—इति लोकस्य स्वभावः। वस्तुतो विरोधवैविध्यं जीवनस्य लक्षणम्, जीवन्नेव वैविध्यं भावयति, मौनञ्च म्रियमाणस्य मृतस्य वा।

नवीनं यशोऽभिलाषुकं प्रति कथमर्जितयशसो विपुलयशःप्रार्थिनो वा वागवरुध्येत ? परं नवविचारकेणापि तस्मान्न भेतव्यम्। चन्दनं लोकाय स्वस्य धारणं नोपदिशति, सौरभाभिलाषः शैत्याभिलाषो लोकः स्वयं तद्धारयति। अतस्तेन स्वविचाराः प्रचार्या एव। इच्छुकस्तान् धारयिष्यति। प्रेम्णः स्वाभाविकः प्रकाशः सर्वत्र प्रसरत्वित्येव ममाभिलाषः, दण्डाय भावनैव मनसि नास्ति तारे !

जीवनाय न मे मोहः। तद् व्यपेयात्तिष्ठेद्वा नान्तरम्। जीवनं बृहती ज्वलच्छिखा ययाहं लोकं प्रकाशयितुमभिलषामि। लोकस्नेहेनैषा यावच्चन्द्रदिवाकरौ विश्वं प्रकाशयन्ती तिष्ठेच्च।

मम मनो राष्ट्रस्य स्वर्णयुगं स्मरति, स्पृहयति च पुनस्तस्मै। परं सर्वं शान्त्या कार्यम्। परस्परं सहयोगे सौहार्दे प्रतिष्ठितं विश्वं वीक्षितुमभिलषामि। यां व्यवस्थां वयमधुना कामयामहे, यदि तामधुना न करिष्यामस्तदा श्वस्तु सा स्वत एव भविता, प्रकृतिस्तां साधयिष्यति। विकासं को नाम रोद्धुं क्षमः। विपुलधूलिसमाच्छन्नमपि बीजं प्ररोहत्येव। अस्माभिर्बहुविधाः प्रणाल्यो व्यवस्थाप्याः। आलवालस्य शोभा नैकेन पुष्पेण, तेषां बहुत्व एव शोभा गरीयसी।

कोऽसौ संसारो यत्र मानवः परस्पराद् बिभेति द्रुह्यति क्रुध्यति म्रियते च। अस्माभिर्हिंसाया मूलमुन्मूल्यम्।

अतः कपर्दाय सामाजिको दण्डो लोकाय दुर्वृत्तप्रवृत्ताय प्रकाशमानः स्तम्भ इव निरन्तरं प्रकाशको व्यवस्थाप्यो येन लोकोऽप्रेरितो बुद्ध्वा सरलं निर्दोषं जीवितुं प्रयतेत। दूषितो यदि बोधितोऽपि दुष्टतां न जह्याच्चेदुपेक्ष्यः, परं दोषसाधनेन स प्रसह्य वियोज्यः। सर्वतः प्रसृतं तमोऽपनेतुं सर्वो दीपं प्रज्वाल्य चेष्टते स्वमभितः किञ्चिदपनयति च, परं सर्वथापनेतुं सर्वैर्युगपच्चेष्टितव्यं भविष्यति, यतः सर्वस्तद्वाञ्छति।

मानुषमानसे प्रेम, वात्सल्यम्, त्यागः, उत्साहः, साहसञ्च वर्त्तन्ते। एते भावा लोभादिभिरनन्तकालाद् युध्यन्ति, यद् दैनिकाचारे पश्यामः। कदाचनोदात्तानां कदाचन तद्विपरीतानाञ्च भावानामुद्गमो विजयश्च। उदारा लोकव्रता लोभादिभिर्नाभिभूयन्ते, विजयस्तेषामनुभवसिद्धो विपरीतानाञ्च पराजयः। कपर्दानुभवेनास्माभिर्लोक आप्यायनीयो येन जनो जीवने क्वापि कथमपि न पतेत्, निश्शङ्कं सानन्दं पुरः पुरो गच्छन् सर्वं सत्यं सुखसौकर्यं प्राप्नुयाच्च। सर्वस्य सर्वत्र सुखोपलब्धौ स्वार्थो लोभस्तद्विनाशाद् भयं वा न जायेत। अधुना विभवी विभवं वाञ्छन् वा, सर्वाधिकं लाभं कामयमानः सर्वतोऽल्पं श्राम्यति। अत एकत्र सम्पत्तिः परत्र च विपत्तिः। एतल्लोभस्य भयस्य हिंसाया निरानन्दस्य च मूलम्। एषु विनष्टेष्वेव शोषणमन्यायो दुःखं दारिद्र्यञ्च नङ्क्ष्यन्ति। धर्मशास्त्राण्यासृष्टेरेतद्विपरीतं समर्थयन्ति, परं जगतो विस्मृतिरनल्पा। तैः स्वार्थे लोभे भये उत्पीडने च न परिवर्त्तनं जातम्। अपि तु पूर्वस्मात्समृद्धानि।

धनस्यैकस्मिन् पत्यौ न्यासधरम्मन्येऽपि मनसोऽस्थिरत्वात्तस्य भ्रंशः सम्भाव्यते। शासनावरोधं विना स्वैरं प्रसरन् पुञ्जवादो लोकशोषकः। पुञ्जवादे मुद्राया महत्त्वम्, विलासो ह्रासो विकासस्तस्य साध्यानि, सरलोच्चजीवनाय लोकहिताय वा तत्र नावकाशः। पुञ्जवादे सरलः सुवाक्

सद्वेषः साधुः पतितो मन्यते महार्हवेषश्छली सम्मतश्च। हरिणानां रक्षकः श्वेव श्रमिणां रक्षको धनी।

मृत्युदण्डेन कार्यं न सिद्ध्यति। एषु दण्ड एतादृशो योज्यो येन समाजस्योद्बोधनं भवेल्लाभश्च। मृत्युदण्डे समाजस्य को लाभः? दुराचारेण छलेन धनं केनाप्यर्जितम्, तद्धनं समाजस्यासीत्। अतः सर्वतः पूर्वं तत्समाजाय प्रत्यर्पणीयम्, यदा दुरवस्था परमावधिं स्पृशति तस्याः प्रतीकारोऽपि तदा दुःसहबलेनैव। धनिभ्य एतद् व्यवहर्त्तव्यमेव। ततो भवेद्दण्डान्तरम्। पुञ्जवादे मानवस्य छलादयो दुःस्वभावा एधन्ते, यतः स स्वस्यैव हितमिच्छति न लोकस्य। सम्पदां समवितरणे छलादीनामुद्भव एव न।

वस्तुतः पुराऽस्माकमाध्यात्मिक आधार आसीत्, येनास्माकमैक्यम्। स्वस्य स्वतन्त्राभिलाषाणां दमः स्वेच्छयाऽऽसीत्। अधुना भौतिकभावापन्नानामाध्यात्मिकी भावना क्षीणतरा। यद्याध्यात्मिकी भावना तदनुरूपमैक्यञ्च स्वीक्रियेत तदा भयस्य लोभस्योत्पीडनस्यावकाश एव न।

राष्ट्रस्य प्रकृतिराध्यात्मिकी। अस्माकमुद्देश्यमध्यात्मप्रतिष्ठापनम्। येन विना न सुखं न च शान्तिः। भौतिकोन्नत्यै श्राम्यतां न तत्फलम्। हिमवतः प्रसूतां गङ्गां को नाम तस्मिन्नारोहयेत्, आरोहितेऽपि च कियत्कालं साफल्यम्?

समाजे महत्त्वं धनाश्रितं न स्यादपि तु धनमधिकं सदुपयुञ्जानस्य। एतस्य विवेचकश्च लोकः। यतो धनी सगुणान्सधर्मणो निर्णये न्यायाधीशतामापादयति, चौरश्चौरस्येव स्वार्थं साधयति, स्वसदृशान् जीवनासुपिपासून्नरभक्षिणो नियुञ्जानो न्यायाय।

चन्द्रं प्रेप्ससि चेत्तं वियतीक्षस्व न तु तडागे प्रतिबिम्बम्। अतो विचारवात्यायां मोड्डीयस्व, वस्तुनः सर्वाण्यङ्गानि निरीक्षस्व, एकमेवाङ्गं मा पश्य। उत्तेजनां त्यज, साफल्येन हर्षविह्वला फुल्ला दिङ्मूढो-

द्विग्ना च मा भव। प्रतिभाप्रभां प्रसारय। मा क्रुधः। तवापि दौर्बल्य-मस्त्येव, चातुर्येण तत् पिहितं स्यात्। अतः शान्त्या चिन्तय। मानव-समाजे बुद्धेर्महत्त्वम्। बुद्ध्या बुद्ध्यस्व। भारतीयः शाश्वतसुखा-भिलाषः। समष्टेः सुखे स सुखी। एषा तस्य परम्परा। तामेव विस्मृतां परम्परां स्मारयितुमभिलषामः। तारे, अस्माभिश्चेष्टितव्यम्, यज्जगद्रङ्ग-मञ्चे सूत्रधारस्य स्रष्टुः सृष्टौ सतां पुंसां प्रभवः स्यात् प्रभूतानाञ्च सद्भाव-प्रचारप्रबलता स्यात्, येन पुनर्भारतं भायां रतं देवसेव्यं ज्ञानालोक-विभासितं स्यात्।

---कवे, त्वं घनीभूता परमप्रज्ञा। विकीर्णं ज्ञानं त्वयि समेतमवैमि। जिह्वा जिह्रेति त्वदग्रे तर्कयितुं कवे! वस्तुतस्त्वं कलावान्। तदा बोधय किं करणीयम्? तव सद्युक्ति सूक्तिं श्रुत्वा प्रासीदन्तमाम्।

कविः स्वप्रशंसामाकर्ण्य प्रबलं जहास। गम्भीरविचारशीलोऽप्येव-मुन्मुक्तं हसतीत्यहं प्रथममेवाचिन्तयम्। तस्य वाग्धारा मम तर्कताप-मशीतयत् इति।

सोऽवदत्---प्रशंसा मूर्खाय, प्रशंसा प्रशंसाकुलाय, विदुषः प्रशंसा तदा-देशानुष्ठानम्।

कलाया महत्त्वं कर्त्तव्येनैव। अस्माकं संस्कृतौ चिकित्सकोऽध्या-पको धनी वा स एव यशस्वी, येन समधिकाः सफलं चिकित्सिताः पाठिताः उद्धृताः सम्पादिताश्च। न केवलमनुभवी विद्वान् सङ्ग्रही वा। कलापि सैव गरीयसी, यया जीवने सत् परिवर्त्तनमुपेयात्। स्वतः परिवर्त्तनम्, निशोत्तरं दिनमिव।

दण्डसंहितायां कापि धारा कपर्दायोचितं दण्डं दातुं नानुमोद-यिष्यति। दण्डे दत्तेऽपि दण्डस्य महत्त्वं नङ्क्ष्यति। पुनरुच्चतमन्यायालये प्रार्थनया दण्डः शमयितुं शक्यः। अतो न्यायाधीशैः सम्मन्त्र्याभियोगं धर्मशास्त्रपरिषदे विचाराय प्रेषयितुं यतस्व तया दण्डिते न क्वाप्यावेदनम्।

तस्यां नीरजस्तमा अनपेक्षाः सुधियः सन्ति लोककल्याणव्रताः। त एवैनं दण्डितुं क्षमाः।

—तथैव यतिष्ये।

—अस्माकं न कस्मै अपि द्वेषः, सर्वेऽस्माकमङ्गानि। परं दोषमपनेतुमङ्गस्याप्युच्छेद आवश्यकः। एतद्राष्ट्राय तस्मै च हितम्। दुष्टतायाः कारणमपनेतुमस्माकं प्रयत्नः।

सत्योपासनां नाट्यन्तो न्यायाधीशा विविधमधीयते, परं सत्यज्ञानं तेषां नोद्भासते। अत एतादृशन्यायाय धर्मशास्त्रपरिषदेव क्षमा। न्यायधारास्वप्यनावश्यका अनेका धारा अनुसृतिप्रियैः प्रचाल्यमाना वर्त्तन्ते, या भङ्क्तुं श्राम्यतः स्वेदः शिरसः पार्ष्णि प्रयाति बहुवारम्। अथ च स्वस्थस्य का नाम चिकित्सा? पतन उन्नतिमानी जगन्मान्यम्मन्यः साधुम्मन्यो दम्भी दयापात्रं कपर्दसमः पापीयाँस्त्ववश्यमेव चिकित्स्यः। आग्रहः स्यात्कल्याणे न तु वादे। नीतिर्व्यवस्थाप्या, खड्गादपि बलवत्तरा नीतिः। तस्यै चायमुपयुक्ततमः समयः। समयो न स्थायी न स प्रतीक्षते नोपेक्षते, गाङ्गप्रवाहः पातारमिव। तस्य धर्मः प्रवहणम्, एवं समयस्यापि। सर्वः सर्वेण स्कन्धौ संयोज्य शक्तिं विकासयेत्। दुरालोचनायाः भाषणस्य च नायं समयः। भावनया बलेन च दृढैः कर्म करणीयम्। सम्भाव्यते साफल्यसूर्यो नोदियात्समये, परमस्माभिः श्रमोऽनुष्ठेय एव। अथ च सूर्यः समय उदेत्येव, परं प्रतीक्षकस्योद्वेगश्चिन्तयेन्नाम समयवैकल्यम्, अस्माभिर्धैर्यं दूरदृष्टिश्च व्यवस्थाप्ये।

स्वशक्तीनामुपयोगो जीवनस्य चरितार्थता। शक्तिं प्राप्य यः शक्तिं नोपयुङ्क्ते, न स केवलं स्वस्मै, अपि तु शक्तिप्रदात्रे अप्यपराध्यति। स आत्मम्भरिर्भारभूतो जगतः। सत्पथस्य कण्टकः कीदृशोऽपि महान् भवेत् स तूच्छेद्य एव।

× × × ×

कश्चनाचार्यम्मन्यो मारवो धूर्त्तः परिवारपोषणाय विविधाडम्बरैर्मूर्खान् प्रभावयन् चतुर आपणिक इव शासनाधिकृतानाकारयत्। घटकाः साभमपि मोक्षमार्गसाधकं धर्मोपदेशं श्रोतुमाचार्यं साक्षात्कर्त्तुंञ्च बहुशः प्रार्थयन्त। साभो मां गन्तुं प्रैरयत्। सद्वेषा आसन्नविंशा नराः पञ्चषा मरुत्तराश्च मां नेतुं सज्जा आसन्। अहमगच्छम्। वैकुण्ठादवतीर्य भुवमुपेताया भगवत्या इव मम सत्कारोऽभूत्।

विताने शतेऽशीति स्त्रियः। विशिष्टाकर्षणमासीदामरणमनशनमेकस्या युवत्याः।

एवं प्रत्यैयत यत्साभस्याह्वानं सोद्देश्यमासीत्। केचन युवानो विज्ञानविवेकविकसितविचारा असन्दिग्धबुद्धय एतत्कृत्यं गर्ह्रणीयममन्यन्त प्राणिवधमात्महत्यां चाऽघोषयँश्च। यदि शासनस्य दृष्ट्याप्येषाऽऽत्महत्या मन्येत प्रतिशतं नवनवत्याचारेण सम्भावितमप्येतदेवासीत्तदा तु महानर्थः स्यात्। अतो धर्मधारिम्मन्येषु धुरन्धरा धनिनः समये साभमुपदया बहुशस्तोषितवन्तोऽधुनापि विविधसम्भारैः सन्तोष्य स्वार्थं साधयन्तो नरबलिमपोषयन्।

मध्ये काष्ठपीठे मलिनदुर्गन्धितवासा दुर्गन्धिरोधाय मुखे वस्त्रमायोज्य रूक्षभीषणो विकृताकृतिरूर्ध्वकेशोऽस्पष्टाक्षरं गदन्नासीत् पाखण्डपण्डितः "नहि क्षणनश्वराणां प्राणानां कृते मोक्षमार्गगामी शाश्वतधर्मं त्याजयितुं क्षमः। न कश्चन कैवल्यद आचार्यो गुरुश्चैवमुपादिशत्। त्यक्तस्यादानं नास्माकं शास्त्रेषूपात्तम्। धार्मिकाणां गुणः स्थैर्यं धैर्यम्। प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।" इति।

एकाष्टादशी युवतिर्भूमौ प्रसृताऽऽसीत् कातरतरलायताक्षी क्षीणवाक्। एकतो मोक्षदायकानां यूथम्; अन्यतो ग्राहकाणाम्, परतश्च द्वेषमलीमसधियां भाक्तिकानां भिक्षूणाम्।

"जलम्, जलम् जलम्" असकृत्सकातरं सकरुणं सदैन्यं शनैश्शनैः साऽभ्यघात्। तृषा तां भृशमपीडयत्। परमाकर्णयतां कर्णौ बधिरौ, पश्यताश्चक्षुषी अन्धे, विभावयताञ्चेतश्च पाषाणम्। विषण्णया निर्विण्णया करुणया दृष्ट्या कस्तया नाभ्यर्थितः, न निरीक्षितः, उपवासक्षीणेन दक्षिणेन करेण कथं कथमप्युत्थापितेन को नाम नाभीक्ष्णमाहूतः? परं न कस्यापि मानसमदुद्रुवत् न कस्यापि बुद्धिरबोधि, न कस्यापि चक्षुरक्लिद्यत्, न कस्यापि जिह्वाऽस्फुरत् न कस्यापि करोऽकरोत् न च कस्यापि पादः प्राचलत्। प्रत्यैयत प्रतिक्षणं जीववधव्यसनिनो निष्ठुरसौनिकस्य हृदयं सर्वेष्ववसदिति। केचन सामर्षा युवानः सामाजिकं कलङ्कं शोधयितुकामाः पानीयमादाय पातुं प्रातिष्ठन्त। परमुष्ट्रस्य मुखे जीरकस्य किं स्थानम्? ते सर्वे एव सावमानमवसादनां प्रापिताः क्लीबाः प्रापुः प्रकोष्ठताम्।

अधुनाऽऽचार्यभणितिः कर्णयोः समचरत्।

'साध्वि, सहस्व यातनाम्। स्मर देवमर्हत्तमम्। कैवल्यं साधितवत्यसि। सालोकं कृतवत्यसि परलोकम्। अधुना क्वाधिः क्व व्याधिः क्व क्षुधा क्व च पिपासा? एतत्सर्वं शरीरसम्बन्धिनाम्। भगवानसाधयत्तव तपस्याम्। मन एकाग्रं विधाय नेत्रे निमील्य श्वासं नियम्य संसारस्मृतिमपहाय तूष्णीमास्स्व, शाश्वतानन्दमनुभवितुं सज्जा भव च। वैमानिकास्त्वां स्तुवन्तः प्रतीक्षन्ते, भास्करस्य रथोऽवतिष्ठते धर्मरतिन्ते प्रेक्ष्य, पवनोऽपि तव तनुस्पर्शं प्राप्य स्वं पुनाति' इति।

सम्प्रत्येव कश्चन भद्रमातुरः सभ्यवाग्वेषो विदितवैभवप्रभावो युवा जनसमूहादागत्य सर्वान् सम्बोध्याब्रूत—'हन्त, वैशिष्ट्यं वादस्य। अहिंसावादिन एवं नृशंसा मिथ्याचारा भवन्तीत्यहमद्यैव व्यलोकयम्। इमां कमलकोमलाङ्गीं विकसन्नवयौवनां मौग्ध्येन प्राप्तगर्भां सम्प्रदायप्रतिष्ठाविलोपभयाद्धर्मद्वारा दीयमानमृत्युदण्डां विलोक्य धरित्री नून-

मभेत्स्यत्, लोहमलाययिष्यत्, वज्रमपि कणशो व्यशरीष्यत्, नरादस्यापि मनो व्यदरीष्यत्, परं निकषपाषाणकर्कशकृष्णमनसामहिंसकम्मन्यानां मनो न खिन्नम्। कीटकायक्लेशलवासहानां नेतो न स्विन्नम्। धर्मदग्धा दहनदृष्टिरेव भवतामस्यां न्यपतत्। दिग्भ्रान्ताः सर्वे शून्यात्मानो मूकाः। पटूनां प्रस्तावो गलादधः। सर्वत्र कीटसत्तया वनस्पतिभक्षणं निषेधतां ज्ञानं कियदल्पम्? यत्तेऽदो न जानन्ति यच्छुष्केऽपि कीटवधः समधिक एव न न्यूनः। अद्यो मांसभक्षणे शुष्कमांसभक्षणे वा दोषवैविध्यं नहि। रक्ताभिस्रुतावपि जीववधो महान्। परं वैपरीत्य-माचरितुं मुण्डिभ्यो जटिलेभ्यश्चात्मानं पृथक् दर्शयितुं जीववधो हिंसाऽनु-चिताचारो वा स्यात्तदापि नापत्तिः। किमयं हठाग्रहो दुराग्रहो मौर्ख्यं वा नास्ति? लोकस्य मुग्धभावनाया दुरुपयोगो वा?

पशुवसालिप्तानि मसृणानि वासांस्युपयुञ्जानानां स एव दोषः। सायास-सन्त्रासतरलाऽऽविलेक्षणा कीर्णाश्रुकणा करुणाकणं कामयमानोपवासकृशैषा-ऽबला जानन्त्यपि भवतां धौर्त्यम्, अगत्या, विषमामवस्थामापादिता भवतो वन्दते। सुवृत्तः कृत्तः पीडितो वा माधुर्य्यमेव वितरतीक्षुकाण्ड इव! दुष्टश्च पयः पिबन्नपि विषमेव सर्प इव। अस्तु, एषा निमीलिष्यति लोचनमपुनरुद्घाटनाय, यतः सत्त्वमयात्मानो जीविते गतस्पृहाः, अव-लम्बिष्यते चाविनाशि मौनम्, न च पुनः खेदयिष्यति। परमवधार्यताम्, प्रतारणाय लोकं लोकमञ्चे नटानामिव भवतां पापमिदमस्मान्नाशयिष्यति। ध्यायताम्, सुगुप्तं सुप्रयुक्तं सत्कर्मच्छन्नमपि पापं प्रधावति। धर्मस्योपदेशस्याचारस्येदमेव विलसितं किमु? हन्त मुषिता वयम्, हता वयम्।

किमियमहिंसा? एषा तमोमयी निष्क्रियता। एष राष्ट्रस्य कलङ्कः हिंसाया पुंल्लिङ्गो विग्रहः, हतात्मा दुरात्मा महात्मनोऽभिनयं कुर्वाणो बाणोपमो जगच्छेदी द्रोहदम्भमूर्त्तिरस्माकं परमः शत्रुः।

परिचितस्य पक्षिणः शुनोऽपि मृत्यौ कातर्य्यं विलोक्यते सहृदयानाम्, परमेनां म्रियमाणां जानन्तः पश्यन्तोऽपि मौनिनः सम्प्रदायाभासलुप्तचेतना दुराग्रहाः। देवि, विषादकवलितवदनः क्लीबोऽकर्मण्यस्त्वां नत्वा यामि, यावज्जीवं यतिष्ये चैतद्वादसंहाराय। प्रतिजाने, एतादृशे कुकृत्यसङ्घे नात्मानमागमनेन कलङ्कयिष्यामि। एषा सुकुमारी कुमारी स्वगृहमधितिष्ठन्ती 'साधुभ्य आहारदानं पुण्यं मत्वाऽऽहारं ददत्येकदा खरतरमरुत्प्रतिमकामेन गोचर्मच्छिन्नव्याघ्रेणागृहीता 'तां साधुसपर्यां मत्वा' गर्भं जग्राह। सिद्धः साधुः, परमियं वराकी शिष्याऽहिंसाप्रियैर्गर्भनाशाय प्रेरिता जीवनं सन्देहसिन्धौ निपात्य मातुराभरणानि विक्रीय चिकित्सकेभ्यः सहस्रं मुद्रा दत्त्वा जीवनमधात्। हन्त, नरं समाजे न केनापि परिणीतेयं दरिद्रा। अगत्या भवत्सम्प्रदायमेवागच्छत्। विगतचापला प्रौढेव शान्ता दिनानि यापयन्ती तेनैव दुर्दानवेन प्रियाचार्येणाहितगर्भा विपज्जालमापन्ना मुग्धा मेषीव सम्प्रत्यामरणमनशनाय बाध्यते। का नाम करुणा करिणो मालतीमर्द्दने ?

प्रसन्नबुद्धिता मैत्री दया दानं दमः क्षमा।
येषां तेषां तपः श्लाघ्यं शेषास्तु कायशोषकाः॥

दृष्टा भवतामहिंसा, हिंसाप्रिया भूतजातजरयितारोऽबोधान्धा धर्मान्धाः। सत्यम्, अभ्यासवासनासूत्रेण स्यूताः प्राणिनः।

अहिंसायाः प्रथमं सोपानं सौहार्दम्, परं हन्त! स एव कणशः कृतः। एष मधुदिग्धाननः क्षुर इवानाचार आचार्यः, वेश्यावीथिकासु लघु विशन्त एतेऽसन्तः श्रोतारो विश्वमुद्धरिष्यन्ति किमु ? आश्चर्यम् ??

आपत्परम्परापूर्णे संसारे धर्मः खलु विपदां त्राणाय, परमेष विपदां दानाय। प्रियं सम्भाषणं मधुरो व्यवहारो लोकवञ्चनाय च्छलिनाम्। एकपदव्रतो मौनी वको बहून्मत्स्यानश्नाति। विपुलं मांसमादित्सुः सौनिको वध्याय मेषायोत्तमं शष्पं दत्ते।

विविधा निष्फलाः प्रणाल्यो लोकमोहकानि व्रतानि चाविष्क्रियन्ते मानेप्सवः सत्यानभिज्ञा लोकप्रियतां प्राप्तुकामाः सिद्धान्तविरहिता आस्या-(सीट) कामिनः शासनलोलुपाः सादरमाहूयन्ते। तेषां व्याख्यानानि चित्रैः सह सम्पादकान् सन्तोष्य वृत्तपत्रे प्रकाश्यन्ते। हन्त, कूटकपटिनां कीदृशो व्यामोहकः प्रयोगः। जीवहारी व्यापारः। अहो निर्दयः कमलिनीष्वपि हिमं कुसुमलतास्वप्यग्निं पातयत्येव। गुणगुरौ गौरवम्, इतरथा तु स्थूलो-पलवद् निष्फलमेव।

अहो कथं मुनीनां चिरं चरित्रचित्रिता निद्राणा भारतभूमिः? कथं मोहान्मूर्च्छिता? कथमपास्तसत्त्वा? कथं छिन्नसामर्थ्या? कथं भिन्नो-दारभावा। कथमान्तरद्वेषविघटिता?

किमियमहिंसा? अहिंसाऽहिंसेत्युद्घोषकै राष्ट्रस्य शक्तिरेव क्षयिता अस्मासु राष्ट्रस्य रक्षायै बलमेव विनष्टम्। परमहिंसा न समेता। समेता भ्रान्तिः व्यापारस्यैका शैली च।

मुक्ताश्रुस्नातकम्पाकुलकाया सैषा निन्द्यसौन्दर्याऽनिन्द्यसुन्दरी नव-वयस आनन्दं कमनीयवपुषः कल्पनां समाप्य, अभिलाषदीपानां मालां निर्वा-प्य, कामनाकल्पलतां विदाह्य, भाविनो गृहस्थाश्रमस्य मोदिनीं रचनां दम्पत्योः सौहार्दञ्च परित्यज्य भवतां यशो रक्षितुम्, केवलं भवतां दोषा-नाच्छादयितुं मुण्डं मुण्डयित्वा संन्यासिनी भूता। परं भवन्तोऽत्याचा-रिणः शरणमापन्नां तामेव निशितकुठारेण हन्तुं व्याकुलाः। सततं क्षण-परिणामिनि संसारे उदरपोषणीमापातरम्यां भावनामारूढा यूयं क्व गमिष्यथ?

अहो ज्ञानिमानिनामज्ञानविजृम्भितम्। अहो मतिवैपरीत्यम्? दिनो-पवासिनो निशामिषाशिनो निरन्तरं कुलटाभिलाषिणः शठाः कथमर्च्यन्ते? अन्यमताय भूतिमावासञ्च देयं हेयं मन्वाना मनुजाकृतयो दनुजाः साध्वाचारा-श्चौराः कथं दयाशालिनो निगद्यन्ते। हन्त मौग्ध्यम्?

प्रतिशोधकारविचारोऽपि दुराचारैश्चालितो वादः सम्प्रदायो धर्मश्च निगद्यते ? इति।

एवं स आभाष्य युवतिं दण्डवत् प्रणम्य सर्वैरीक्षितो विभवियुक्तोऽगात्। सर्वेषां श्वासो रुद्ध आसीत्। युवतिरपि निष्कम्पाऽनन्तं व्यश्राम्यत्। अहमप्युत्थाय साभमुपेत्य सर्वमवोचम्। स स्मित्वा मां कार्यालयं गन्तुमादिशत्, इति।

—"किं कृतवत्यसि तारे, कपर्दाय। मासेन परं व्यग्रा विलोक्यसे ?

अहमपृच्छम्।

तारा—आम्, तथैव। कपर्देतिहासः परिपूर्त्तिं प्रापत्। आकर्णय, न्यायपरिषद्विचारव्यग्राऽऽसीत्। जनपदसेवाविभागाध्यक्षस्य विशिष्टादेशेनाहमपि गुप्तचरविभागस्याध्यक्षा कपर्दाभियोगे प्रधानमाहूता। बहवस्तर्काः प्रतिभाशालिमस्तिष्केभ्यो निरसरन्, परं दण्डसंहिता तान्नान्वमोदयत्। अन्ततोऽभियोगस्य धर्मशास्त्रपरिषदि प्रेषणाय सममन्त्रये। मन्त्रणामाकर्ण्य न्यायेशा विसिस्मियिरे। परमेष विस्मयः पथोभ्रष्टस्य पथिकस्य सुपथ्यापाद इव परमो हर्षकर आसीत्तेषामित्यहमन्वभवम्।

तेषां शिरस आर्त्तिर्व्यपागच्छत्। न्यायपरिषद् वृत्तक्रमं संयोज्य स्वसम्मत्या सहाभियोगं धर्मशास्त्रपरिषदि प्रैषयत्।

पत्रपुञ्जमधीत्य कपर्दस्य दोषाचरणप्रवणताञ्चास्थाय हुताग्नेः समक्षं दर्भासनेषु दर्भपाणयो ब्रह्मर्षयस्तस्य वाचमश्रौषुः। मुक्तमुखं गालीं वाचं वदन् खे खेलितुं खातं खनत् स्वमांसं विहाय कपर्द उपैत्। प्रत्येकं क्षणं चिराय गच्छदवर्त्ततापुनरागन्तुम्। सोऽग्निसाक्षिकं स्वं सप्रमाणं निर्दोषं न्यवेदयत्।

तत्राहमभ्युपातिष्ठम्। कपर्दस्तस्य सहचराश्च मामपश्यन् दशाश्वमेधिषूपस्थितां गोघातिनीमिव। कपर्दस्य भयजडाऽऽकृतिः आतङ्काशङ्क्या दग्धमिव चक्षुश्च मां पुनः पुनस्तद्दर्शनाय प्रैरयत्।

धर्मशास्त्रपरिषदा लोकस्य विदुषामाश्रमिणां वर्णिनां नीतिविदाञ्च मतं ज्ञातुं स्वनिर्णयो वृत्तपत्रेषु वियद्वाण्याञ्च प्रसारितः। केचन स्वस्यापीदृशीं दशां सम्भावयन्तो निर्णयं बीभत्सं वदन्त उपाहसन्, बहवश्च बीभत्सकर्मभ्यो बीभत्सो दण्ड उचित इत्यवोचन्।

नवपद्धतौ विरोधः प्रबलः सम्भावित आसीत्, परं जातोऽणीयानेव, सोप्यापाततः।

स्तब्धकण्ठा साश्रुः परिषन्निरणैषीत्, यस्माद्दोषोद्भूतिस्तत्रैव तस्य लयः। श्मशानाग्निवन्नास्य छललब्धं स्फीतपापं धनं सत्कर्मणि नियोज्यम्। कलङ्किताायाश्चतसृषु दिक्षु जनसम्मर्दे कपर्दापहृतधनेन चतुर्भूमिका नियन्त्रितोष्णशीतवाताः शतं पायुकक्षाः स्युः। एषोऽसत्साधनार्जितवित्तस्योपयोगः। प्रतिपायुकक्षं शतं शौचागाराण्युत्थापकयन्त्रोपेतानि शोधकानां सुप्रबन्धश्च। यतो न स्याद्दुर्गन्धगन्धोऽपि। शौचागाराणां कवाटेष्वाभ्यन्तरे भागे कपर्दचरित्रमङ्कितं तिष्ठेत्। यतः शान्तचेता एकान्ते तच्चरित्रं विचार्य तथा न प्रवर्त्तेत। पायुकक्षाणामधस्तनो भागोऽभितः काचेनावृतस्तिष्ठेत्, यतोऽन्तःस्थं दृश्यं सर्वो द्रष्टुं पारयेत्। अधस्तनतले कलिकालकलङ्कपङ्कपङ्किलस्य कपर्दस्य पुरुषाकारा दैनिकसञ्ज्ञोपेता सोपनेत्रवृत्तपत्रा प्रतिमाऽऽसन्द्यां स्थापिता स्यात्। मूत्रपुरीषपूर्णा पायुकक्षाया महामलप्रणाली प्रतिमायाः शिरसि निपतेत्। लोकशिक्षायै तस्य चरित्रं धर्मावतारपदव्य उत्कोचाधिगतानि पदानि सेवासंस्थासु चरितं कर्म च प्रधानद्वारे धवलपाषाणे कृष्णाक्षरैरङ्कितं तिष्ठेत् यद् वीक्ष्य दुश्चरित्राणां चित्ते कम्पो विजायेत। सर्वत्र राष्ट्रे पायुकक्षास्वस्य मूर्त्तिर्निधेया स्यात् स्मृत्यै। कपर्दः साङ्गनः सभृत्यो मोक्तव्यः। अङ्गनानां भृत्यानां न कोऽपि दोषः। भोजनापरं कपर्दं गृह आवासयन्, तेन व्याप्रियमाणो वा वत्सराय दण्ड्यः। भोजनाच्छादने ददत् षण्मासाय। कपर्दप्रसादे तस्य भार्याः स्वेच्छया

कानपि सहयोगिनः पतित्वेन स्वीकृत्य संयुज्य वस्त्रवयनशालां वस्त्रसीवन-शालां सञ्चालयन्त्यो जीवनोपयोगि धनं प्राप्नुयुः । तस्य पुत्री पुत्रश्चाजीवनं प्रतिमासं शतद्वयं मुद्रा लघु गृहञ्च । समर्थः पुत्रः सद्व्यापाराय विवाहोत्तरं पुत्री च लक्षमुद्राः । मद्यशालाभवनं गोशालायै दशकोटिमुद्राश्चात्ययः शासनकृतः पञ्चकोटिमुद्राः पायुकक्षासु व्ययिताः स्युरिति ।

अमुना निर्णयेनानाचारिणां जीवने नवः, क्षयस्याक्षय इतिहास आरब्धः । तेषां कल्पनासौधेषु कम्पो व्यजायत । धनेनाभिजात्यं क्रीत्वा मदान्धानां कौलीन्यं कवलयन् अरण्यान्यां दावानल इव निर्णयः सर्वत्र प्रासरत् । एवं कपर्दस्य कलुषित इतिहासः खातमितः । अधुना नवः पौरजनै रज्ञात इतिहासः कङ्कालकुटीरेषु पोषणं प्राप्स्यति । एवं मया बोधितः कविरब्रूत "पक्वफलस्य वृक्षान्निपतने यथा स्वाभाविकता तथैव कपर्दस्य ।"

कपर्दस्यायमार्गः शासनशासित ऋषिवरनियन्त्रित आसीदतो विनैव सङ्घर्षमधिगतः ।

एवं कपर्दस्य पश्यत एव जीवनोपवनात्पक्वफलानि व्यपागच्छन्, आदृता लोकदृष्टयः सर्वकालं व्यलुप्यन्त, आशासरितोऽशुष्यन् भाग्याकाशे तमोमयी निशोदासीनः सूर्यश्च सर्वकालमपुनरस्तङ्गमायोदैत् । अधुना कपर्दस्य पदपद्या आश्रयो भिक्षुकान्नेन च जीवनम् ।

नारीकल्याणकेन्द्रेऽवरुद्धानां कपर्दकान्तानां वृत्तं न्यायपरिषत्तत्रैवाश्रौषीत् । ता उन्मोचयितुं कपर्ददण्डाकर्णनव्याकुलतामपगमयितुमहमगच्छमवदञ्च ।

"प्रिया भगिन्यः ! परमा दया यद् भवत्यो मुक्तबन्धनाः बन्धकश्चापत्स्वगतिम् । परमेषा बन्धनमुक्तिरद्यतने समये कष्टावहा । पातिव्रत्यं स्त्रीणां परो धर्मः । अद्य केचनापावना विषयविषविषण्णा परिस्थितिविपन्नानां स्त्रीणां पावनतां नाशयन्ति । परं विपरीतपरिस्थितावाहिताऽपावनता

न स्थिरा। प्रायश्चित्तेन साऽपनेया भविष्यज्जीवनाय चापावनभावो हेयः। भवतीनां दूषणमपि तथाविधमेव, यद्गतम्। तज्जन्मापि भवतीनां व्यपगतम्। अधुना द्वितीयं जन्म। "सनातने पातिव्रत्यधर्म एव स्थास्याम" इति प्रतिज्ञातव्यम्। अथ च जीवनं महद् बाधाविकलञ्च, अतः कश्चन सहयोगी निर्वाच्यः।" इति।

जनानाः प्रत्यूचुः प्राक्तनं जीवनमस्माकं व्यपगतम्, सम्प्रति नवमुपेतम् "सूर्यं साक्षित्वे न्यस्य वयं प्रतिजानीमहे यद् प्राचीने पातिव्रत्यधर्मे स्थास्यामः" इति।

कपर्दकान्तानामसमये शुष्कं नीरसं विनाग्निं पक्वं फलरहितं संसारवासनावासितं मानसकुसुमं परिणयचर्चासुधासरस्याः स्पर्शेण प्रफुल्लम्। ता मां परिवृत्यावदन् —

तारे, त्वादृशीं बुद्धिवादिनीमुच्चाशयां विलोक्य मानसं नः सन्देग्धि, यदधुनापि मानवतावशिष्टा, स्याद्वा बीजरूपेणैव क्वचित् इति।

अहमुषस्येव कपर्दप्रासादं नवीनप्रणाल्या व्यवस्थापयितुमगच्छम्। अरुणे पथि कश्चन तरुणः पान्थो राजपथं युगपद् भासयन्नुपेतः। तस्य बालालोकस्तारुण्यं प्राप्येव सुमनसां सौरभं घ्रातुं धावन्नवर्त्तत। रात्रौ खग्रासचन्द्रग्रहणमासीत्। प्रातरेव लोक उच्चैस्तमां हरेर्नाम रामनामोच्चारयन्, परलोकस्य पाथेयं पुण्यमर्जयितुम्, ऋणादाने परमां साधिकां धार्मिकतां प्रसारयितुम्, पापपूरप्रणाशिनीं गङ्गां मत्वाऽगच्छत्।

मार्गेऽसङ्ख्याता भिक्षवश्चेलान्यास्तीर्योपाविशन्, येषु द्वित्रान् धान्यकणान् तिलान्, केचन दानवीरास्ताम्रिकान् पणानपि किरन्तोऽगच्छन् राष्ट्रस्य ख्याताश्चौरा व्यभिचारिणोऽत्याचारिणः प्रसभकर्माणो विश्वासघातिनः कपर्दसमाः कृतघ्नाश्छद्माजीवाः सदेहा दम्भाः पुण्यपाथोधिमीप्सन्तः पापमेरुं दग्धुं कामयमाना अक्षयं स्वर्गमकुण्ठ्यं वैकुण्ठञ्चानेनेहमानाः। अहं मरुत्तरेण व्रजन्त्यासम्।

कलहास्यमुखरो विशालः प्रासादः कपर्दविलासो विजनो निश्शब्दो निस्पन्दश्चासीत् । घट्या लोलको वामे दक्षिणे सत्वरसत्वरं भ्रमन् वैकल्यं व्याक्षीत् । बलभद्रो विद्युद्वटनं ममर्द्द । प्रकाशस्तत्क्षणमेव जृम्भणं विहाय सपद्यङ्गं सम्मर्द्य त्वराशीलो भृत्य इव प्रासरत् । सर्वे भृत्याः स्वामिने निष्कार्पण्यमाक्रोशपिण्डं दातुं व्यग्रा आसन् ।

सर्वः शीतेन योद्धुं चायचषकेभ्यः स्वागतं व्याजहार । अहं मौनिनी तेषां भावनामधीयानाऽखिलं प्रासादं पश्यन्त्यवर्त्तिषि ।

बलभद्रोऽवदत्—एतत्कपर्दस्य मुखपीठं काश्मीरकारुकरकर्मणां चार्वी वर्णिका । अनिरीक्ष्यमाणः संयोगः । अनेन बहूनामुत्थानपतनमनुभूतम् । महतां पापानां साक्षि । अनेकासां पतिव्रतानां पातिव्रत्यविनाशे, कुमारीणां कौमारापनयने, श्रमिणां विध्वंसनसङ्केतेऽस्यैव सान्निध्यम् । अधिकारिणोऽत्रोपविश्योत्कोचमवापुः । न्यायमूर्त्तयोऽत्रान्यायमर्जयामासुः । अत्रैव स मद्यं पीत्वा क्रान्त्यै क्रन्दन्ति विलासभवनानि सस्मार । अत्रैवोपविश्य धनार्जने धनचयने धनापहरणे विविधा रीतीराविश्चकार । तस्येदं मुखपीठम् । तस्य पापानां प्रतिनिधिरेतद्दाह्यम् । केवलमस्मिन् दग्धे प्रासादोऽस्माकं सुखं भोज्यः । इति !

क्षणविनशनशीलतां कपर्दस्य रिक्तं मुखपीठं जगतः विचिन्तयन्तीं मां क्षगमखेदयत् । सर्वं दिनं विमर्शे न व्यतीतम् । स्त्रिय आलेपुः—प्रतीक्षायाः प्राचीरं शीर्णम् । मर्यादाया मिथ्या बन्धनानि दग्धानि, आयान्त्वद्य पुण्यक्षणे सौभाग्यरात्रिं सम्पादयामः । सायमेवारुणोदयो जातः कुक्कुटो व्यरौत्त्र ।

कपर्दस्त्रीणां मुखेऽद्य विचित्रा कान्तिरासीत् । सौभाग्यरात्रौ मादकक्षणे कुसुमशय्यायां मिथ्यानिद्रामधिगतायाः कस्याश्चन नवविवाहितायाः अवगुण्ठिते मुखे पत्योद्घाट्यमाने यथा ।

यथारुचि योग्यतां जातिं वयः स्वभावं वा समीक्ष्य निर्भरं निर्वृताः कपर्दस्य रू (लू) पवत्यो भगवत्यो मद्यशालाभृत्यैः प्रासादकर्मकरैश्च सह सङ्गताः। सर्वा एव च्युतचरित्रा ,वासनापतिताः परिस्थितिपरिणताः पीडिता नवीनेनोल्लासेन जीवनोपवनं प्राविशन्। केवलाऽनसूयोत्तरकाशीं गन्तुमैच्छत्, मार्गव्ययायाऽऽगृहीता न स्वीचकार पदातिरगच्छन्न। इति।

कृष्णतारा मामसूचयत्। देवस्याधुना निद्राप्रसङ्गसमयः।

अष्टममाह्निकम्।

—: ० :—

सूर्यप्रभा किं वा वैभवपिशाचः

नवममाह्निकम्

अनेकविषयोचिताध्ययनचिन्तनालोचनो—
पलब्धवरवैदुषीप्रथितकीर्त्तिकम्रा बुधाः
चिरन्तनपरम्पराधिगतमात्मनो गौरवं
यशस्वि जगतीतले पुनरवाप्य देदीप्यताम्—वासुदेवद्विवेदः

स्वाधीनो रसनाञ्चलः परिचिताः शब्दाः कियन्तः क्वचित्
क्षोणीन्द्रो न नियामकः परिषदः शान्ताः स्वतन्त्रं जगत्।
तद् यूयं कवयो वयं वयमिति प्रस्तावनाहुङ्कृति
स्वच्छन्दं प्रतिसद्म गर्जत वयं मौनव्रतालम्बिनः

विना हेतुन्द्वेषो हृदयदलनं वीक्ष्य विभुतां
गुणेभ्यो वैमुख्यं सततदरदोषेष्वभिरुचिः।
प्रसङ्गे वृद्धेर्वाक्कलहपरता ह्रासकरणं
चरित्रं नीचानां चलयति मुनीनामपि मनः। आचार्यो जानकीवल्लभशास्त्री

"क्वचिद्वीणावाद्यं क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्"

नास्त्येषामुपयुक्तता तटतरोः सस्योपयोगः कुतः
न स्नानाय च योग्यतास्य पयसां का नाम पानार्हता।
उद्गर्जन्तमियन्तमन्तरुषितैर्दुर्जन्तुभिर्भीषणं
स्रष्टुः सृष्टवतो जलाशयममुं को वाशयः कथ्यताम्? —वेङ्कटाध्वरी।

चेत् पौरादपि शङ्कसे हिमरुचेरप्यर्चिषो लज्जसे?
भोगीन्द्रादपि चेद् बिभेषि तिमिरस्तोमादपि त्रस्यसि?
चेद् कुब्जादपि दूयसे जलधरध्वानादपि क्षुभ्यसि?
प्रायः पुत्रि! हतास्मि हन्त भविता त्वत्तः कलङ्कः कुले। —भानुकरः

"प्रभे, वसन्तपञ्चम्यां प्रातः कविसम्मेलनेऽध्यक्षाऽऽसम्, सायं कविना सह संस्कृतसम्मेलने निमन्त्रिता च।

विवस्वतः प्रकाशः स्तनन्धयस्य निर्दोषो हास इव परितः प्रासरत्।

नखहरणेन नखान्, क्षुरेण क्षौरं कारयित्वोपेताः कवयः, नखान् वर्द्धयित्वा केशान् वलयित्वोपेताः कवयित्र्यश्च मञ्चे विविधावस्थानेनोपाविशन्। सम्मुखञ्च चौर्याद्भीता वासोवेष्टितमुपानद्युगलं कक्षे विनिवेश्योपाविशन् श्रोतारः।

अहं कार्याकुलाऽऽसमिति सर्वतः पूर्वमवोचम्।

विचित्राचारके जगति मानसोल्लासः परमावश्यकः। काव्यसुधया यथा तर्षतोषस्तथा न केनापि। परमं सौभाग्यं यदद्य श्रीमतां दर्शनानन्दमनुभवामि। सुधासमः किल सुधीसमागमः। अबालमतीनां भवतां पुरोऽपारयन्ती व्याख्यातुं भवतामादेशेन सङ्कोचाञ्चिता नूनं मृष्या यद्यसम्बद्धं किमपि वदेयम्।

गरीयसी सङ्ख्याद्य काव्यविद्यावधूधवानां विलोक्यते। बहवोऽत्रत्याः केचन बाहीकाश्च। अथ च कवयः सर्वतोदिक्काः। एवं परस्परं पृथग्जन-

पदानां समागमेन भाषायां प्रणाल्यां भावे च वृद्धिर्भवति। विद्वत्संसत् प्रतिभाविकासाय कामधेनुः किल। परमोऽयं हर्षावसरो यदद्य कतिचन ख्यातनामानः स्पृहणीयकीर्त्तयः कवयोऽपि नेत्रोत्सवं तन्वन्ति।

मृते कवौ स्यात् परमा प्रशंसा देशान्तरीयेऽथ च मध्यमा स्यात्।
गुरोः समे बुद्धिविवेकपूर्णे कवौ स्वदेश्ये तु परा विमानना—

लोकप्रवादोऽयं मम मानसं परं खेदयति। हन्त, अतिपरिचयोऽवज्ञाहेतुः। खेदास्पदं दौर्बल्यं यद्वयं परस्य यशोऽपि श्रोतुमक्षमाः। सत्यम्, नेतेवाधूर्त्तो मूर्त्तो मिथ्याचारो वणिगिवातस्करोऽमत्सरः कविर्दुर्लभः। परं मत्सरस्य निगूहनमपि कला। सापि व्यपगतेव प्रतीयते। अस्तु,

लोकचक्षुषामुपनेत्रीभूताः कवयः; तैः समाजस्य दर्शनसामर्थ्यमेधते। वाचाऽनिर्वचनीयमानन्दमाविर्भावयन्तो भावयोगिनः कवयो विश्वस्य प्रकाशस्तम्भाः। बहवः पथो भ्रष्टा एतेषां वाण्या पन्थानमानीता।

पुरा कलुषितानां करुणामसृणां दृष्टिं कामयमाना लालाटिकताश्चरन्तः प्रतिभापटलं विनाशयन्तोऽप्रस्तोतव्यान् प्रशंसन्तः सारस्वतवैभवं व्यशसन् कवयः, परं वीता सा रजनी। निरन्तरायमधुना सत्याभिप्रायान् वक्तुं सर्वः स्वतन्त्रः। कविकुलकलानिधीनां चमत्कारिकिरणाभरणा कल्पनाचातुरीचन्द्रिका नाधुना पुञ्जवादसामन्तवादराहुणा ग्रसितुं शक्या। अधुना शब्दसुमनःस्रजां कौशलं स्रष्टुं सर्वः क्षमः।

यद्यपि नहि सर्वत्र कालिदासानामुद्भवः, यतो न सर्वा शुक्तिर्मुक्तां जनयति, परं सार्वकालिकोऽभ्यासो बुद्धेः प्रावीण्यन्तूत्पादयत्येव। येन च नूनं हर्षा वाणा अनघा माघा भवभूतयः सम्पादयितुं शक्याः। परं पूर्णतो निष्कलङ्कप्रावीण्यमपेक्षितम्। निष्कलङ्कैकापि कला गिरीशतां विदधाति, कलङ्ककलानां बाहुल्यमपि न तथा।

काश्चन भूतभाषाकविताः सालङ्काराः शालभञ्जिका इव रसरहिता एव प्रस्फुटिताः। परं पदचयनेनैव न ता विदुषां मनो मदयितुं मोदयितुं वा क्षमाः। व्युत्पत्तिप्रतिपत्तिरहिता अज्ञातशास्त्ररहस्याः परोक्तिपाटच्चरतां चरन्तः कपय इव चापलञ्च, प्रचलितप्रतिभायाः कञ्चिदंशं सङ्गृह्य विषयस्योपरि भ्रमन्तः पल्लवग्राहिपण्डिताः कलालवा अपि कलालया इवात्मानं दर्शयन्तोऽप्राप्तपारायणप्रावीण्याः सारस्वतालोकलवविलोकिताः, तिक्तवचना अपि मृद्वीकामाक्षिकवचनम्मन्याः काव्यमव्याकुलेषु रचयन्तः श्रियं मानं वा न लभन्ते वल्गु फल्गु जल्पन्तो देवानां प्रियाः। अतोऽस्माभिः न कुकवयः पोष्याः। मुखपीठस्थाभिः परिचयपट्टिकाभिर्विचारयामि यदद्य नैकोऽपि संस्कृतवाक्कविराहूतः। परमुच्चैस्तरसाहित्यायाकर्षणं भवेदित्यहं निवेदये। करतलाघातोऽट्टहासो वा न स्यात्तस्योद्देश्यम्। सौरः प्रकाश इव स स्थायी लोकं पोषयेत्।

अहं कार्यव्यापृता, क्षणं केषाञ्चित्कवीनां कर्णरसायनं वच आस्वाद्य यास्यामीति क्षम्या।

एवमाभाष्य विरतायां मयि सञ्चालकः फुप्फुसं प्रसारयन्नवोचत्—भूतभाषारत्नं देवः कविः सम्प्रति सुधां विकरिष्यति। भाषायां भावे चास्य तथाधिकारो यथा पुरा भार्यासु भर्त्तुः अधुना च भार्याणां भर्तृषु। महानयं कविर्यदि विक्रमकालेऽस्थास्यत्तदा दशमं रत्नमगणयिष्यत्। परमधुना तु—

अथ श्वेतकञ्चुकः स्कन्धविसर्पिणः केशानङ्गुलीभिर्व्यवस्थापन् अर्द्धधौतं वासो गले दधत्, चलनेन वलयनेन भाषया भङ्गिम्ना अभिनयेन लोकं चमत्कुर्वन्निव चमत्कर्त्तुं चेष्टमानो वा साहङ्कारं मञ्चमाससाद। बालाः करतलाघातैस्तस्य हर्षमैधयन्।

स प्रचुरभावभङ्गैर्गलं विशोध्यावदत्—
प्रतिश्यायदुष्प्रभावेण गलं मे सर्वथा दुरवस्थम् पद्यसङ्ग्रहश्च केनाप्यपहृतः। परं स्यान्नाम, यथाशक्यं श्रीमत आराधयामि, इति स आभाष्य ध्यानमग्नो विश्वभाषासमुद्रमवगाहमानः शब्दरत्नानि भावसुधाञ्चोद्धरन्निव क्षणमतिष्ठत्। तस्य वचसा गलं निर्दोषमिव प्रत्यैयत। परं छलिनो दुर्गलतां पद्यापहरणञ्चोद्घोष्य लोकं प्रभावयन्ति।

अथ स दशमरत्नम्, ध्वनिविस्तारकयन्त्रमध ऊर्ध्वं विधाय मुद्रया लोकमाकर्षन् साधनाफलं काव्यमवदत्—

तैन्तिडीके पत्रके
दण्डायमाने मयि।
आगतेयं भामिनीव
यामिनी भ्रातर्भुवि।

'पुनरेकवारम्' 'पुनरेकवारम्' (once more) जना उच्चैर्जगदुः। कवेर्हर्षोदवेर्लहर्य्यो हिमांशुं पस्पृशुः। एकस्यैव खण्डस्योच्चारणं विंशतिवारान् भूतम्। 'एकोऽपरः' 'एकोऽपरः' (one more) पुनर्जना जगदुः।

कविः पुनः प्रसृत्या लोकं समाद्रियमाणो हर्षेण मद्यमानो गलं प्रमार्ज्य स्वं गुरुशुक्रयोर्गुरुमिव वाल्मीकेरध्यापकमिवापूर्वकाव्यस्रष्टारमिव मन्वानः, परमनिषगातान् श्रावकान् लब्ध्वा हृष्टोऽगासीत्।

स्वानेऽप्यहं विरहितः
प्रचुरं ह्यरोदिषम्।
नेत्राम्बु भूतं भूतले
प्रसरत्कटिं यावत्।

सन्तरंस्तस्मिञ्जलेऽहम्,
मानसं प्रागां सरः
यत्र रुचिरैः पक्षिभिः सह
समतरं पुष्पावृतः।

करतलाघातैः कर्णरन्ध्रमभिन्दञ्जनाः।
अथ कवौ स्वासनं स्पृशति सञ्चालकः पुनरुत्थायावोचत्—अधुना वाणि-

ज्यारभाषाभूषा सोहंनिवासः [साहम् नेवास—साहन् नेवाज शाहनवाज] श्रीमतां मानसं प्रमोदयिष्यति। इति

सोऽहं निवासस्य पादत्राणादपि सङ्गीतध्वनिर्निरैत् 'मचड् मचड्' इति। अथाजश्मश्रुर्वासोवेष्टितां यष्टिमिव तनुयष्टिं मञ्चे निनाय। मूर्धानं मुहुर्मुहुर्नमयन् प्रसृतिञ्चोत्क्षिपन् शुक्रं चुक्रमिव वदन्नवदत्—

हालां निपीय नापि
माद्यसि मुधा कथम् ?
शोणिताक्षो विस्खलन्
घूर्णसे वद विभ्रमिन्।

लोकस्य करतलाघातस्तस्य योग्यतां व्यशदयत्। हर्षौघेण तस्य वपुर्भज्यमानमवर्त्तत। पुनस्तस्य मानसेऽहले क्षेत्रे घास इवाभद्रभाव उद्गतः। यस्मिन्न क्रमः, न सुरभिः, न च सज्जा। अप्रतिरुद्धः स्थानमभजत।

विश्वस्य मोहनानि
स्थास्यन्ति सर्वकालम्
बत, खेद एष वीता
वयमेकदा भवामः।

जनानामट्टहासो हर्षचीत्कारश्च वितानं व्यापत्। अचिन्तयम्; व्यर्थः समयव्ययः। अहमेते वाऽवश्यं मूर्खाः। उदतिष्ठम्। लोको मां वदितुकामामिव वीक्ष्याशाम्यत्। अवदम्—केचन भूताः येनाद्य भूतभाषा अपि भूताः। अन्यथा जटाधारिणामनाचारिणां कृपया त्वेता अमरिष्यन् क्षमध्वम्, यामि इति।

गर्वगिरा गीर्वाणगुरुं विगणयन्तः केचन कविम्मन्याः कपयो विना मूल्यं चायचषकं स्प्रष्टुम् ताम्बूलं नागवल्लीदलं वा चरितुम्, रूक्षं शिरः-

स्नेहयितुम्, अयनेन ग्रथितं केशजालं कङ्कतिकया सुभगयितुम्, रिक्तमुदरमेकस्मै दिनाय पूरयितुम्, भद्रमानुषेषु स्थानमापादयितुम्, पत्नीभर्त्सितं शिरः सम्मानयितुम्, वर्षेभ्यः क्लिन्नमलिनानि वासांसि सम्मेलनव्ययेन परिष्कर्त्तुमुपेता आसन्, मद्वचः श्रुत्वा क्रोधाभिनयं चक्रुः। यतः सत्यं सर्वदा दूरादेव रम्यम्। क्षणं तान् भावयन्त्यवोचम्, प्रतिभया सह हृदये काव्येष्वाकर्षणम्।

सहृदयकाव्यन्तु सहस्राब्दीषु व्यतीतास्वपि मदकम्। परम्, अल्पज्ञो मूर्खो लोको विडालीविरुतेऽपि माद्यति। गान्धारेऽपि किमु न गर्दभाः? यदि सर्वः स्वविचारान् प्रकटयितुं स्वतन्त्रस्तर्हि नाहं खगसाहित्यस्रष्टॄनभिनन्दयामि। इति। पुष्पझरीसमां क्षणचमत्कारिणीं कवितां कुर्वन्तश्चलत्क्रीडनकनिभा इमे किमु कवयः?

वर्द्धितैः केशैर्लिप्तेन नेत्राञ्जनेन विना मूल्यं लब्धेनावचूर्णनेन विचित्राभिर्हस्तमुद्राभिः, सहावेन पदपातेन नवीनाः प्रतीयमानाः कवयः पुनरुक्तेर्जनां भेजिरे वक्तुं सन्नेहुश्च, परं लोकस्तान्न्यवारयत्। नामानि तु तेषामवश्यमासन् परन्त उपनाम्नैव प्रसिद्धा आसन्। अतो लोकस्तांस्तन्नाम्नैव व्याजहार।

कविः सायम्, विद्वत्सम्मेलने सभापतिर्वृतः स्वेन सह मामपि नेतुमैच्छत्। विदुषां दिदृक्षा परमाऽऽसीन्ममापि। कापि शौल्किकी यदा नाधिगता तदा वसेन गन्तुं प्रवृत्तौ। वसावस्थाने वसं प्रतीक्षमाणावास्व, कश्चन सहृदयः स्वयं मरुत्तरं चालयन्मामुपेत्यावदत् क्व गन्तुमीहसे? उपविश तत्रैवाहं प्रापयिष्यामि, मरुत्तरस्य प्रयोजनमेव यानविहीनानां साहाय्यम्। मम तु तद्दिश्येव गमनमपि।

'साधु, परं नाहं गन्तुमीहे एष यास्यति, यदि भवान् प्रापयितुं समर्थः, कविं निर्दिशन्त्युदतरम्।

एवं क्षणादुत्तरं पर इति त्रयस्त्रिरुपेताः। परं सर्वे यन्त्रस्य समानोत्पादनानि। निःश्वासमपि न निःसार्योपसस्तुः।

कविर्मत्सौन्दर्ये जहास।

एको जटिलः सिन्दूरचन्दनचर्चितशरीरोऽविदितागमन आवयोर्भाले सिन्दूरं दददब्रवीत्—युगलं चिरं जीवतात्। कीदृक् सुभगं युगलम्? भालेऽकल्प्या रेखाऽनन्तं धनं घोषयति, श्रीमत्याश्च पत्युः परमं प्रेमपात्रताम्। श्रीमत्याः प्रियः परमः संसारसौभाग्यभागी। अपूर्वो राजयोगः। भवतीं विश्वं दर्शयिष्यति। अहमपि श्यामाचरणभट्टाचार्यस्य शिष्यः। साफल्ये स्मर्त्तव्यः। सिद्धिदातुर्गणपतेरुपहारः परमं साफल्यसाधकः। भगवतः पूर्णः प्रसादो भवतु काल्याः पूजा च। इति।

कविस्तस्य वचः श्रुत्वा हतवाक् चक्षुषी विस्फार्य तं पश्यन्नवर्त्तत। पार्श्वे पिप्पलस्याधस्तात् परिचिता अपरिचिता अर्द्धा अर्द्धार्द्धा मूर्त्तयो वर्त्तुलाः समा विषमाः पाषाणखण्डाः श्वेतरक्तेन चन्दनेन पुष्पदूर्वाक्षतबिल्वपत्रैस्ताम्रिकैः पर्णैश्च पूजिताः क्वचन क्वचन कुक्कुरमूत्रेणाभिषिच्यमाना आसन्। श्रद्धालुभक्तानामश्रद्धालुभिः सुतैर्विदेशाप्सरःप्रस्तरप्रतिमां वासयितुं गृहान्निर्वासिता देवप्रतिमाः कं नामाश्रयेयुर्विना पिप्पलच्छायाम्? जटिलोऽविच्छिन्नधारं वदन्नेवावर्त्तत। अहं विवदिषन्त्यासं तदैव वस उपेतः।

वसे स्त्रीभ्यः स्थानं सुरक्षितम्। परं कविर्दण्डमाश्रित्यातिष्ठत्। क्षणोत्तरं व्यवहर्त्ता कविं सम्बोध्यावदत्—श्रेष्ठ, इत उपविश। क्रुद्धः कविरब्रूत कथमाक्रोशसे भद्र! व्याकरणे यस्मिन्नर्थे श्रेष्ठो व्यवाह्रियत, तस्मिन्नर्थे त्वहं श्रेष्ठ एवास्मि, परं तस्य त्वमनभिज्ञः। अधुना चायं लक्षाधिकानामुत्पीडितमानवानां शोषकाय जनसुखविघातकाय वर्णवर्गधर्मसम्प्रदायनिरपेक्षाय मानवाभाय व्यवह्रियते। अतोऽधुनाऽऽक्रोशः।

× × × × ×

विद्यालयस्य बृहद् हालं मान्या विद्वांस उपातिष्ठन्त । मुख्यो न्यायपतिः प्रधानातिथिः कविश्चाध्यक्षः ।

हालः खाचं खाचं पूर्णः । श्रावकाणामुत्कण्ठाऽदृष्टपूर्वा, संस्कृतमण्डले नैवंविधो जनसम्मर्दः कदापि श्रुतः । परं क्षणेनैव कार्यक्रमे वितीर्णे रहस्यमज्ञासिषम् । कापि वरारोहा गानद्वयं गातुमाहूताऽऽसीत् । यस्या नाम कार्यक्रमे प्रधानातिथेरध्यक्षस्यापि नाम्नो बृहदक्षरैर्विशिष्टपरिवेषेणाङ्कितमभूत् ।

सैव पूर्वं मङ्गलगीतिमगायत्—

वन्दे मातरम्,
विमलाम्, अचलाम्, सुरसितवसुधाम् ।
वेदिनीम्, क्षमाम्, मातरम् । वन्दे मातरम् ।

१

मञ्जुमन्द्रपरिवादिनीहस्ताम्,
कुन्दचन्द्रहिमहसशशिधवलाम् ।
सुवासिनीम्, जडताविनाशिनीम्
सुविभां सुषमां मातरम् !
वन्दे मातरम् ।

२

पुण्डरीकसुभगासननिष्ठाम्
स्मितविमताननशारदचन्द्राम् ।
सुशासिनीं समशर्मकारिणीं
सरलां तरलां मातरम् ।
वन्दे मातरम् ।

३

मूर्खलोहकनकीकरणाय
स्पर्शमणिं विनुतां नरदेवैः ।
हंसयायिनीं स्रग्विभासिनीम्
सुगुणां वरदां मातरम् ।

शब्दसुधां यस्या आस्वाद्य
स्वर्गसुधां नहि कश्चन वाञ्छति
सुवर्णिनीं नवरससारिणीम्
विमदां प्रमदां मातरम् । वन्दे •

क्षणमाश्वास्य लोकस्य गगनोद्भेदिना करतलाघातेन गर्विता चपलेनाक्षिपक्ष्मयुगलेन प्रत्यक्षेक्षणप्रहर्षरोमाञ्चितान् दुर्दिनदशावशान् धर्मपथप्रस्थि-

तान् विदधती श्रावकान्, चन्द्रकिरणाह्लादिभिः कटाक्षैरभ्युक्षन्ती स्मरभस्मितान् मधुरमन्दस्मिता सौरीमिव गौरीं प्रभां प्रसारयन्ती विकसितसितसरोजावमानिहासा रोषापनोदनदक्षकपोला गन्धात् नासाद्वारेण, रूपाच्चक्षुर्द्वारेण शब्दात् कर्णद्वारेण मानसं प्रविशन्ती स्मरपरवशानां स्थितप्रज्ञान् लुप्तचेतनान्, पङ्गून् मेरुमर्द्दने, मूकान् चारुकाव्यग्रथने स्पृहावतः चुल्लाँश्च दिव्यदृष्टीन् विदधती नीरन्ध्रनीरधरानुकारिमरूटजोपमकेशोच्चया रसरहस्याचार्या, विद्वद्वृन्दारकवृन्दप्रशमदा प्रमदा पुनरगासीत् ।

स्वागतं कुसुमेश ! माधव ! स्वागतं ते स्वागतम् ।
वाति वातो मालतीबकुलावलीशुभपरिमली ।
उत्सवोच्छलदङ्गरागालङ्कृतानन ! स्वागतम् ।१।
के न मोदन्ते भृशं श्रुत्वा प्रियामलिझङ्कृतिम् ?
नूतनच्छदनच्छलेन शाखिनामपि हर्षणम् ॥२॥
हन्त कान्त ! वसन्त ! शान्तं स्वागतं कुर्मो वयम् ।
जीवने शरदः शतं स्यात् स्वागतं ते स्वागतम् ।३।
स्वागतं रोलम्बवृन्दालम्ब ! शाश्वतमास्यताम् ।
श्रीनिवास ! मतिप्रकाश ! स्वागतं ते स्वागतम् ।४।

अथ कवेर्वाग्धाराऽऽप्लावयितुं प्रावर्त्तत

"भुवनवन्दितावदातचरिताश्चेतनाचिन्तामणयः ! प्रशमसलिलस्नातचेतसः सारस्वतसुधासूतयः सुधियः ! तद्दिव्यसम्भाषा ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी । स्वर्णसूर्योऽद्य यद्वयं तदेव कर्म चरितुं समवेताः । ज्ञानालोकस्तत्त्वं ज्ञातुं क्षमः किल । भूत्यै जागरणम् । अभूत्यै स्वपनम् । चरन्नेव मधु विन्दति । श्राम्यतो देवा अपि सहयोगिनः ।

विद्वांसः किल जीवन्तो देवाः। मन्दिरेषु प्रतिष्ठापिता देवा अप्येषां कृपयैव देवाः, अन्यथा पाषाणपिण्डाः। अहोरात्रं परं श्राम्यतां युगद्वयोत्तरं विद्वत्पदवीं लभमानानां विदुषां विलक्षणेयं साधना। परमेण सौभाग्येन तेषां मध्यमध्यास्यते।

समृद्धसाहित्या संस्कृतेः प्रतिमूर्त्तिर्विश्वबन्धुत्वविवर्द्धनी संस्कृता वाङ् न केवलं भारते वर्षे, अपि तु विविधापभ्रंशैर्विश्वस्मिन्नेवोच्यते। यद्यपि सर्वस्यानुसमयं ह्रासविकासोर्मयः समुल्लसन्त्येव। परदेशेषु विदुषामगमनेन तस्याः संस्कारोऽवरुद्धः, फलतः शब्देषु नैसर्गिकता लुप्ता अपभ्रंशश्च प्राप्तः, ब्राह्मणादर्शनेन विश्वस्मिन् प्रसृतेष्वार्येषु वृषलत्वमिव। जरदुष्ट्रो जरथुस्त्रो जातः सूनुः सन (Son) गौः कौ (Cow) श्च। अस्माकं शब्दास्तु प्रायशो दृश्यन्तां सर्वथा निकटस्था एव संस्कृतगिरः। यथा—

ब्राह्मणब्रुवः = बुरिया ब्राह्मण
स्थानम् = ठान
दन्ताली = दँताली
नावरम् = बराबर
अर्द्धवीचिः = अधबीच
मध्यधारम् = मझधार
चतुःशृङ्गी = चौशिङ्गी
सगृही = सिघरी
प्रतिपृष्ठम् = परपूठ
साण्डः = सांड
विजारः = (विशिष्टो जारः)सांड
गोधा = (गवि दधाति गर्भम्)
अङ्कितः = आंकिल (सांड)

तापवाहनम् = तवा
घूर्णिः = घाणी
मोहकारणम् = मोहकाण
धावी = धोवी
मुन्नीः = (मुदं नयतीति)
लिङ्गाटः = लङ्गोट।
क्षुपपाः = खुरपा
खण्डासः = गण्डासा (खण्डानस्यति)
कुचिकित्सकः = कूंचिया (जातिः)
मोदी = आटेसीधे व्यपारी
= (मोदयतीति मोदी
गवाटः = गवाड़
'स्था' 'पा' = ठा, पा,

कुचमादी = (दूध पीता शैतान बच्चा) कुचयोः स्तन्यं पीत्वा माद्यति सः।

हरिताल:=। संस्कृतज्ञा अव्यवहार्ये पदे पुरा हरितालमयोजयन् इदमव्यवहार्यमिति। तद्वदद्य।

षड्यन्त्र:=षण्णां युधिष्ठिरादीनां कुन्तीसहितानां लाक्षागृहे दाहाय कृतो यन्त्रः।

बृहन्नला = भींडला। आकारेण विशालायै गृहकृत्येऽचतुरायै स्त्रियै व्यवह्रियते, यस्यास्तनौ वासांसि न शोभन्ते च। यतोऽर्जुनः स्त्रियो वेषं दधत्तादृशोऽभूत्।

मुखोक्त्या= मुकाते। विना तोलनं मुखेन मूल्योच्चारणम्। क्रयणे प्रसिद्धमिदम्।

इहेहि=अहीयो। उत्तरभारते गवामाह्वानाय प्रयुज्यते गोपालैः।

क्षौरी=छौरी। शासकाः क्षत्रियाः कन्यां विधिवद्विवाह्यापि स्वापमानं मेनिरे। तदा तेऽगदन् यदस्माकं मुच्छमधस्ताद् भूतम् (मूछे नीची हुई) परं धर्मध्वंसिनो यवनाः प्रसह्य कन्या अपजह्रुः, तदा ते मुच्छस्याधो भवनं नहि कर्त्तनमेव मेनिरे। (मुछें कटी) तदा ते कन्याजन्मन्यवोचन् यत्कन्या नहि, क्षौरी (छोरी) जाता मुण्डनकारिणी। अस्तु, परमधुना वयं विपरीतां स्थितिं प्रीतां कर्तुमुपेताः।

केचनेमां संस्कृतां वाचं देववाचं कथयन्ति। परं यदवधीमां देवभाषां कथयिष्यामः, तदवधि नैषा जनभाषा राष्ट्रभाषा वा भवितुं शक्ष्यति। समाजे दिवङ्गतेभ्यो देवशब्दो व्यवह्रियते। अतो देवभाषाशब्देनेतः प्रेत्य परलोकं गतानां फलतो मृतानां भाषेतिभवेन्नाम। पश्चाच्च केनापि कर्मधारयो विहितः, (मृता चासौ भाषेति) यदि तु देवशब्देन देववदुज्ज्वलबुद्धयो विद्वांसो गृह्णन्ते तदापि साधारणजनोपादेयता नास्याः सिद्ध्येत्। प्रतीयतेऽस्या गुणाधिष्ठिता संज्ञा 'अमरवाणी' इति। परं केनापि भावुकेनामरशब्दं देवपर्यायं मत्वा षष्ठीतत्पुरुषो विहितः, परमिदं सङ्गतमसङ्गतं वेति सर्वथा सन्देह एव। स्यान्नामैषा देवानां भाषा न वा.! परं वयमधुनेमां जनभाषां कर्तुमुत्सुकाः। पाणिनिकाले सैषा यथा व्यवहारभाषाऽऽसीत् तथैवाद्य द्रष्टुमुत्सुकाः। निर्विवादं संस्कृतज्ञा इमां प्राचीनतमां वाचमुन्नतेः शिखरं समारूढां राष्ट्रभाषापदे समासीनां द्रष्टुं कामयन्ते। यद्यप्येषा कामनैव केवलम्, न व्यापारः। अस्माभिर्वाञ्छितव्यं यन्न्यायाधीशः मन्त्री सचिवः शिक्षकः श्रमी

कृषको हालिको भृत्यश्च संस्कृतज्ञाः स्युः, यतो यावत्पर्यन्तं शासने संस्कृतज्ञानां प्रवेशो न भविष्यति, तावत्पर्यन्तं परमया चेष्टयाऽपि न लाभः। न पाषाणे सर्षपोत्पत्तिः। केवल आदर्शे न कश्चन जीवनं धारयितुं शक्नोति। ज्वलद्भास्कर-सन्निभं सत्यं यदस्मै कार्याय विलोक्यते नितरामल्पो यत्नः। व्यापारशून्या कामना मनसो भारः केवलम्। मानसकल्पनासौन्दर्यं प्रसादयेत्कल्पकस्य मानसम्, परं न तत्कथमपि शक्तं लोकमानसं प्रसादयितुम्। जर्जरा बहिःसुन्दरा स्तम्भाः प्रासादं कथं रक्षेयुः? भाषाया उन्नतिस्तस्याः साहित्यस्य समृद्ध्या भवति, तदध्येतॄणां लोके नियोजनाच्च। यतो जीवनेन सह जीविकायाः सम्बन्धो निकटतमः। यया भाषया जीवननिर्वाहः तस्या एव सर्वत्रोपादेयता। इतः साहित्यमपि कान्तासम्मिततयोपदेशाय युज्यते। तथाविधेन साहित्येनास्माकं भाषा गौरवमापन्ना। तथाविधः प्रयासोऽधुनाऽल्पोऽनुष्ठीयते बाधाश्चापि भूयस्यः अध्येतारश्च नियुज्यन्तेऽल्पतमाः।

हिन्दीज्ञा नवसाहित्यसम्पादनेन पुरस्कारप्रदानमानादिना तेषामुत्साहवर्द्धनेन प्रणीतानां ग्रन्थानां परीक्षासु पाठ्यग्रन्थरूपेण वा निवेशनेन कथं दत्तावधाना इति तु तस्याः प्रचार एवाख्याति। नवीना शब्दरहिताऽव्याकरणा हिन्दी राष्ट्रभाषापदमधिरूढा। प्राचीना विश्वशब्दनिर्माणक्षमा सद्व्याकरणा संस्कृतापि भाषा नादः पदं प्राप्तुमशकदिति किं नास्मदौदासीन्यम्?' हिन्दीज्ञानामवसरप्रावीण्यं प्रावण्यञ्च दरमुकुलितनेत्रं प्रेक्ष्यम्।

परमस्माकं दौर्बल्यमौदासीन्यमीर्ष्याबाहुल्यं विघटनञ्चात्र कारणमिति सामाजिकाः। किंवदन्ती, न पण्डितः परस्य कीर्तिं वोढुं सोढुञ्च क्षमः। संस्कृते नवीनसाहित्यस्य परमोपेक्षा च तदा कथं स्यान्नवसाहित्यवृद्धिः? एषैव स्थितिः संस्कृतपाठिनाम्! ते व्यवहारशून्या अनुपयुक्ता घोषिताः क्वापि पदं न लभन्ते। अस्यां स्थितावुन्नतिराकाशकुसुमायितेव। इति

"संस्कृतभाषया जीवनं वाहयन्तः, प्रतिमासं दशशतीं मुद्राणां

लभमानाः स्वसुतान् परदेशभाषाविद्यालये बहुव्ययेन पाठयन्तो विद्वांसोऽमरगिर उन्नत्यै परमौदासीन्यं भजमाना उपेक्षन्ते। यः किल गोः स्तनन्धयात्स्तन्यमुत्सर्ज्य शूकरान् पाययति, देवमन्दिरार्जितं द्रव्यं जराजीर्णं शीर्णावयवं मन्दिरमुपेक्ष्य पण्यस्त्रीप्रणये वा प्रणयति तदा तस्य कृतघ्नता केन शब्देन वर्ण्या? ते संस्कृतगिर उन्नत्यै समाहूताः पत्रमुद्रापुञ्जं प्रार्थयन्ते, नवीनसन्दर्भान् विना मूल्यं वाञ्छन्ति [वराको लेखको दण्डस्वरूपं प्रेषणव्ययमपि सहते], कस्यचित् ग्रन्थस्य सम्मत्यै प्रार्थिता नावकाशं लभन्ते। अवकाशस्तेषां समीपे प्रचुरः, परं तेषां हस्तः परस्य कृतिं प्रशंसन् परस्य यशो विस्तारयन् कम्पते, लेखनी च स्विन्ना हस्तात् स्रंसते गलं मुमूर्षोः श्लेष्मणेव जाड्यं भजते मुखञ्चार्दिताकुलम्।"—इत्यप्यभित आवादः। अयञ्चेदित्थम्, वयसो वृद्ध्याऽनुभवेन विद्यया यशसा गौरवेण च श्रेष्ठान्भवतो विदुषो जिज्ञासे मात्सर्यमुत्सार्य चोत्तरातुरा भवन्तु, यत्किमेतादृशेन प्रसङ्गेन संस्कृतोन्नतिर्भविष्यति? क्षणं विचार्यं विचार्यचरितानां चरितम्।

वयं जानीमहे, प्रचुरश्रमनिर्मिता बहवो ग्रन्था अमुद्रिता एव, लेखकेनार्द्धोदरं जग्ध्वा मुद्रापिता वा भित्तिमञ्जूषां भूषयन्ति पत्न्या बहुश आक्षिप्यमाणाः कीटभक्ष्यतां व्रजन्त्युपेक्षिताः मूसलाघातं सपरितापं सहमानाः पत्रपात्रतां वा प्रयान्ति। अस्मदुपेक्षयाऽस्माकं पत्राणि न जीवन्ति, जीवन्त्यपि निरन्तरं याचनैकचेतांसि निकृष्टतमपत्रमसीसंस्काराणि त्यागमूर्त्तिना केनापि सम्पादकेन सञ्चाल्यमानानि संस्कृतविदुषां परं प्रेम प्रकाशयन्ति (?) कथञ्चिच्चलन्ति।

विदितवेदितव्या विद्वांसः! जगतः सुखं दुःखम्, जयो विजयः, सबलता निर्बलता स्वर्गोऽपवर्गः, उत्थानं पतनञ्च साहित्याश्रितम्। यस्य समाजस्य विषयस्य वा साहित्यमुन्नतम्, स सुतरामापन्नोन्नतिरेव। रावणः कंसश्च तिरस्क्रियते युधिष्ठिरो हरिश्चन्द्रश्च सत्क्रियते, अत्र कारणं साहित्यमेव केवलम्।

परमियं साहित्यसरिद् रुद्धा। अस्या जलमधुनाऽचलम्। यदीयं साधारणी

सरिदभविष्यत्तदा तु सत्यमेवास्याः पूतिगन्ध उदगमिष्यदुद्वेजयिष्यच्च परम्। परमस्या वैशिष्ट्येनेदृशी स्थितिर्न भूता। परमवरोधस्त्ववरोध एव।

एतत्सर्वमस्मदौदासीन्येन जातम्। खेदः, सैव स्थितिरद्यापि। अद्यापि संस्कृतज्ञैरुपेक्षित एव संस्कृतविकासः। न कस्यचन विदुषो मानसेऽस्या उन्नत्यै तादृशोऽवकाशो यादृशोऽपेक्षितः। येषां जीवनं प्रतिष्ठा धनञ्च यदाश्रितम्, ते यद्यस्याः संवर्द्धने पोषणे च पराङ्मुखाः, तदा क्वेयं यायाद्वराकी मृत्युमृते ?

औदासीन्यमस्माकं विभाव्य खिन्नं सर्वस्य मनः।

अस्माकं पूर्वजाः म्लेच्छानामाक्रमणकाले, संस्कृतरक्षायै ज्वलद् गृहं रुदतीं स्त्रियं मातरं भगिनीं शिशुञ्च विहाय ग्रन्थान् पृष्ठे निबध्य स्वं सरित्सु पातयामासुः, यदस्मासु मृतेष्वपि जले तरन्त्यो ग्रन्थान् रक्षिष्यति, कश्चन भद्रभावस्तानुद्धरिष्यति च। तेषामुत्तराधिकारिषु सुलभसाधनेष्वपि कथमेतादृशी दुर्बलतोपेता ?

अस्तु, गतमशोच्यम्। वयमधुना विसर्जितामवधीरितां देवीं वाचं तस्याः प्राक्तने सिंहासने प्रतिष्ठापयितुं सन्नद्धाः। यत्र विराग उपरतिरुपेक्षा चावनतेः कारणान्यभूवन्, तत्रानुराग उपक्रमः समीक्षा च भूयासुरुन्नतेः कारणानि।

"निःसारोऽयं संसारः स्वप्न इव पान्थशालेव नाकर्णनविषयः, अस्माकमत्रावस्थानं नद्यां निमज्जतामिवाध्रुवम्। यद्भवति तदीश्वरप्रेरणया,, अक्षमा वयं तद्विपरीतं कर्त्तुम्"—इति निराशावादान् केचनाऽऽचक्षतां नाम, परमस्मदुन्नतिविरुद्धानां समस्तानां तत्त्वानामुन्मूलनमस्माकं परमं लक्ष्यं तिष्ठेत्।

यस्यां दिशि वयमुद्युञ्ज्महेऽस्मच्छ्रमाकृष्टा विजयलक्ष्मीरस्मान् वरीतुं वैजयन्तीमादाय मालां समुत्सुका स्थास्यति। अस्माकमेव ज्योतिः सूर्यचन्द्रमसो रूपेण भ्राजते, वायुरूपेण वाति, अग्निरूपेण भाति, कस्माद्वयं न्यूना ईशाः ?

आबालवृद्धम् आराजरङ्कमुच्यमानाऽमरा वाणी सम्प्रति तुहिनाविलेव कमलिनी दुःसहसहस्रकिरणोपसङ्गमाप्य मरुमध्यमागतेव मराली खिन्ना। तस्याः

खेदापनयनमस्माकं प्रथमं ध्येयम्। यद्यप्यद्य परिस्थितयः परिवर्त्तिताः, परं मानवः परिस्थित्या सह परिवर्तते, परिस्थितिं वा परिवर्त्तयति।

महत्स्वधैर्यस्थलेष्वप्यविचलितधैर्याणामस्माकमुत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं लक्ष्यं भवेत्। अद्रिर्विशीर्येत, वायाद्वा प्रलयवातः, साफल्यमधिजिगमिषूणां न वैचित्यम्। विषमास्वपि परिस्थितिषु पुरोगमनमेव वीरसिंहस्य कर्म। अङ्क-लीनस्य विजये किं नाम पौरुषम्?

क्षितितलं शयनीयं प्रकल्प्य तृणं खादन् राणः प्रतापः महिष्ठां प्रतिष्ठा-मर्जितवान्। मान्याः! वाचः सिंहासने प्रतिष्ठापनमपि तद्वदेव परमां साधना-मपेक्षते।

लोको वदति यत् "संस्कृतज्ञः परस्परं द्रुह्यति, परं पण्डितं न मनुते; तस्य रचनां दूषयति, तस्य यशः कलङ्कयति, तस्य योग्यतामपनयति, बहुशः प्रबोधि-तोऽपि दुग्धधौतः काकः कलहंसतामिव न प्रबोधमेति"—इति यदीदं सत्यम्, किमयं द्रोहः संस्कृतस्य मृत्यवे न कारणम्? 'यथा चित्तं तथा वाचो यथा वाचस्तथा क्रियाः।'

अथ च "प्राचीनैरकृतरचनैर्वृद्धत्वेन विश्वविद्यालयादिषु पाठ्यसमितिसदस्यतां गतैर्विद्वद्भिर्नवीनविदुषां यशोविस्तारभीत्या नवीना रचनाः परीक्षासु न निवेश्यन्ते। स्यान्नाम संस्कृतस्याधोगमनं सगलबन्धं मरणं वा, परं परेषां विदुषां यशस्तु न प्रसृतम्, इत्येव परसमीक्षादक्षाणां तेषां सन्तोषः। पश्चिमवयसि वर्त्तमाना अपि तेऽधुना अधना नवविचाराणाम्, परमाः शत्रवश्चामरगिरः"—इत्यपि लोक-प्रवादः। परं वयं सर्वमुन्मूलयिष्यामः।

एभिर्दुस्तर्कैर्न प्रेमोत्पद्यते, न भाषागौरवं कार्यञ्च। अपि तु कलहः कलिः कैतवञ्च चिरेणानुद्घाटिता संस्कृतमन्दिरार्गला च यथावत् स्यात्।

एतत्तु सत्यम्, यन्नवसंस्कृतरचनानां परीक्षानिवेशं विना नाद्यतने जगति भाषाया लोकप्रियता लेखकानां प्रवृत्तिर्वा। विचार्यताम्, कालिदासभारविहर्ष-

वाणप्रभृतीनामेव सर्वदा यशःप्रचारणे किमु ब्रह्मण आज्ञाऽस्ति ? निर्विवादं ते महाविद्वांसः सिद्धरसाः कवीश्वरा आसन्। तेषां लोकोत्तरचमत्कृती रचना मतिश्च। परमनेन किं तेषामयमधिकारः ? यत्त एव भवेयुर्नान्ये। नवीनाः कवयः संवर्द्धिताः पोषिताः प्रोत्साहिताः कदाचन कालिदासतां हर्षतां वा प्राप्नुयुरेव। सम्प्रतीक्ष्यतां भूतभाषाकवयो न्यूना अपि प्राचीनेभ्यः समाजेन परं प्रोत्साहिता अन्यूनां कवितां कर्तुमारब्धाः धनेन यशसा सह प्रचुरमैश्वर्यं लभन्ते च। परं संस्कृतज्ञाः सुमनोभिरामं काव्यं तन्वन्तोऽपि न तथा। पुराणस्य गृहस्य पुष्टिर्जीर्णोद्धारो वा यदि न विधास्यते तदा शनैश्शनैस्तस्य स्खलनमेव ध्रुवम्। कलाकलेवरं वरमपि तद्वस्तु कथावशेषतां प्रपद्यते। तदेव च प्रतिवर्षं सुधासिक्तं पोष्यमाणं नयनान्यानन्दयन्नवं प्रतीयात्। एषैव स्थितिः साहित्यस्य।

अनवद्यविद्यामहितमतयः काव्योपकाननकेलिलालिताः ! क्वाद्य वेदान्तदान्ताः व्याकरणधुरीणाः साहित्यसौधा न्यायनिधयो मीमांसामांसलाः श्रुतिविश्रुता ज्योतिष्मन्तो ज्यौतिषिकाः प्रकृष्टप्रतिभाप्रभाः प्रोद्भूटप्रतापाः प्रौढा विपश्चितः ? क्व चाद्यतनाः संस्कृताध्यायिनः ? क्व ललितलतापल्लवमय्यां शय्यायां शयाना अखेदलभ्यं पादपानां फलं भुञ्जानाः पयस्विन्या अनायासलभ्यं पुण्यं पयः पिबन्तः स्वाधीनवनफलनीराहारा निराहारा निरीहाः प्रकृत्याऽविकृताः लोकाय देहगेहमप्युत्स्रष्टुं क्षमाः साधकाः कृतिनः ? क्व चाद्य तेषामुत्तराधिकारिणः, येषां स्वार्थकोलाहलः कामप्यकाम्यामेव कोटिं प्रकटयति।

हन्त किमेतदुचितम् ?

विद्वत्स्वपि समाजद्वेषिणी स्वार्थान्धा स्पर्धेर्ष्याराक्षसी मुखं व्यादायोज्जृम्भते। हन्त !! अस्माकं तपस्विष्वपि त्यक्तसंसारवस्तुष्वपि परमो यशोऽभिलाषो विलोक्यते हन्त, उदात्तचेतसामप्यन्तिमा दुर्बलता ख्यातिः। महदत्याहितम्, यन्न ते परेषां ख्यातिमपि प्रत्याख्यातुं सङ्कुचन्ति। "नवीनेष्वपि केचन द्वीपिचर्मच्छन्ना गर्दभाः ख्यात्यै पुरो जिगमिषन्ती" त्यपरो वादः। परं कश्चन संस्कृतप्रचारेण

२५

वेतनमिव ख्यातिं लभेत, तदा लभतां नाम का नो हानिः ? तस्यायोग्यताऽपि यदि भवेदस्माभिर्मृष्या। एवंविधा सहिष्णुता त्वस्माभिरापादनीयैव।

मान्याः ! प्रथमत एवावकरनिक्षेप्यं द्रव्यं संस्कृतमुपैति। ततश्च द्रोह ईर्ष्या-सूयोपालम्भाश्च तानभिभवेयुश्चेत्तदा कस्त्राता ? अहो स्वर्णभूमिरन्नपूर्णाऽपि दैन्यपूर्णा !!

परमधुनैषा गजनिमीलिका भङ्क्तव्या। अधुनैष भारो युवभिरुह्यः। वृद्धविदुषां सत्यां निर्मायां, केवलामाशिषं गृहीत्वा सर्वविधविषयेष्वद्यतनकालोपयोगीनि पाठ्य-पुस्तकानि विरचय्य तानि पाठ्यक्रमे निधाय, छात्रान् शासनोपयोगिनो विधाय पुरः प्रचालयितव्याः आफलदर्शनञ्च न विरन्तव्यम्। नवं शोणितमेवास्मै कार्याय साधु। वारिधिस्तृपां शमयितुं न क्षमः, सा शक्तिः कूपस्यैव किल। प्रकर्षोऽस्माकं लक्ष्यः। प्रकर्षतन्त्रो हि विजयः।

युवानो विस्मरणशीला वृद्धैर्घोष्यन्ते। परं प्रिया युवानः ! एषा विस्मृति-र्विच्युतिर्मृत्योरन्यूना भविष्यति। विनष्टं धनं प्रयासेन, यौवनं रसायने-नाङ्गना विवाहेनेवैषा प्रतिष्ठास्माभिः सततश्रमेणार्ज्या।

प्रतिदिनं वयमवलोकयामो यत् संस्कृतज्ञेषु राजनीतिर्विषम्, वृत्तपत्र-पठनमनाचारः राष्ट्रवृत्तज्ञानमनर्थकम्, भूगोल-खगोलविद्या निष्प्रयोजना, इति-हासो हासः, विज्ञानञ्च व्यर्थम्। एषा स्थितिर्यत्र गुरूणाम्, विचार्यतां तत्र का स्थितिर्भवेत्तेषां शिष्याणाम् ? इतिहासेन वयं जानीमहे यत्सर्वेषु क्षेत्रेषु पुरस्सरा अभूवन् प्रवर्त्तयितारश्च विद्वांसस्तदा तेषां सर्वत्र प्रभुत्वमासीत्। यदा ते तस्मात्पथः पृथग्भूताः, तदा कार्यन्तु विश्वस्य प्रचलत्येव, तेषां स्थाने परे समेताः।

परं वयस्याः ! एता आस्था अस्माभिरेवाध्यास्याः।

अस्मिन् वैरिञ्चे प्रपञ्चे भारतीयभावनानुसारं महात्मनां जीवनव्यापारः सरलः, वासः स्वल्पम्, भोज्यमल्पम्, विचारा लोकहिताधायकाः, मेधा महीयसी, उक्तिः पटीयसी, शक्तिर्वरीयसी, भावना गरीयसी, कीर्तिः स्थवीयसी, तनूः कृशी-

यसी, वासना क्षोदीयसी यदा भविष्यति, तदैवास्या उद्धारो भविष्यति नान्यथा। भारतस्यैतदेव वैशिष्ट्यम्।

विद्वत्सु प्रत्यहमकर्मवादो नैराश्यंच वर्द्धते। परमिदं विचार्यं यन्न ह्यभिमतमवस्थानं चिराय करसेनानुभवितुं शक्यते। इष्टैरनिष्टैश्चापि संयोगा न स्थायिनः।

पिण्डितस्त्वर्थस्त्वयं यदधुनाऽऽलस्यं नाश्यम्, कर्म च करणीयं फलानुबन्धि। व्याख्यानसमयोऽधुना वीतः, प्रतियत्नः सम्प्रत्यनुष्ठेयः। अतीतस्य गानं वयमगासिष्म। परमयं समयो निर्मास्यत्कालस्य गीतेर्गानस्य। आगामिनि काले वयं कीदृशा भविष्याम इत्याशा जीवने स्फूर्त्तिं सञ्चारयति कर्मणि च प्रवर्त्तयति सोत्साहम्। श्रेयसे प्रेयसे च भविष्यन्त एवादर्शा भूतानामविरोधेन व्यवहर्त्तव्याः। भविष्यन्निर्माणे साहाय्यकृदेव व्यतीतैश्वर्यस्मरणमुपयोगि।

नात्राणीयानपि सन्देहो यद्यदि विद्वांसोऽस्योद्धाराय समयानुकूलं परिस्थित्यनुकूलं सम्पादनाय प्रयतेरंश्चेत्संस्कृतं राष्ट्रभाषापदमेव नहि, विश्वभाषापदमेवालङ्क्रियेत्। परमेतन्न भविष्यति। यतोऽस्मासु न साहसम्, न सहनशीलता, न स्पृहा, नात्मगौरववर्द्धनचेष्टा, न जीवनम्, न त्यागो न च कर्मण्यता। वयं श्वसिमो यत्प्राणा न निर्यान्ति, परं जीवने जीवनं नास्ति। साधनाविरहितमपि किमु जीवनम्?

प्रतिवर्षं बहुशः संस्कृतमञ्चेषु वयं मिलामः, संस्कृतोन्नत्यै गलविदारं वदामश्च। परं परिस्थितीर्विभाव्य संस्कृतज्ञानां चेतनां चिरमनुभूय सत्यमिदमुदीरयितुं शक्यं सलज्जञ्च यत्, मञ्चेषु वाचां कण्डूयनं परस्परं मिलनं मधुरभक्षणं नवनगरपर्य्यटनं यस्य कस्य सम्माननं विना नान्यत् किमपि स्थायि कार्यं भवति। महदिदं दुःखास्पदम्, यद्वयं नाटकपात्राणीव सम्मेलनमञ्चे स्वं स्वमभिनयं निर्वर्त्य भावि कार्यं मञ्चे ग्रामसीम्नि वा विमुच्य स्वे स्वे कर्मण्यनुरज्यामः। यावत्पर्यन्तं परस्मिन्वर्षे सम्मेलननिमन्त्रणं नोपैति, तावद्वराकः संस्कृतोन्नतिविचारश्चार इव केनाप्यलक्षितः कथमपि जीवनं धारयति। प्राप्त निमन्त्रणे पुनरुद्धमविधमा मुखरीभवति। पुनर्लोकलज्जया, यशोविवर्द्धयिषया,

अन्याभिः काभिश्चनान्तर्गुहागेहलीनाभिराशाभिभर्भीषणसञ्ज्ञायै पुस्तकानि यत्र तत्र संस्कृतोन्नत्यै सम्मेलनमञ्चे च प्रलपितानि भाषणानि विलोक्यन्ते। केवलमिदमेव कृत्वा स्वं कृतकृत्यं मन्यामहे। पुनरिदं चक्रं पूर्ववच्चलति। वचांसीमानि कटूनि स्युः, परं सत्यानीति तु भवन्तो विदन्त्येव। मा नाम मद्विचारं जिह्वानुमोदयेत्, परं मनो मद्विचारानुमोदि वर्त्तत एव। क्षम्यताम्, स्वार्थं सङ्कोच्यैव परार्थं साधयितुं शक्यम्। यद्यपि नैष परार्थः, अपि तु शुद्धः स्वार्थः। द्वेषविषं विस्मृत्यैकात्मतां सम्पाद्य चोन्नतेः शिखरमारोढुं शक्यते। प्रान्तस्य केन्द्रस्य शासनेन हिन्द्याः संस्कृतस्य चोन्नत्यै प्रबन्धो विहितः। प्रतिवर्षं बहवो ग्रन्था पुरस्क्रियन्ते, नितरामल्पाश्च संस्कृते। यतः संस्कृते लिखिता उत्तमोत्तमा अपि सन्दर्भा बहुशः संस्कृतज्ञैरवहेल्यन्ते। पुरस्काराय प्रदत्तं द्रव्यञ्च खातपत्रेषु वर्द्धते हिन्द्यै वा प्रदीयते। यतो हिन्दीज्ञा पुरस्करणीयधनराशिवर्द्धनाय सततं यत्नशीलाः। फलतः संस्कृते नवीनलेखकानामुद्भवोऽवरुध्यते। यदि किञ्चन पुरुषरत्नं प्रयतेतापि, परं स्वार्थरतेषु नास्य विचारः फलावहः ?

अस्तु, विषमास्वपि परिस्थितिष्वस्माभिश्चेष्टितव्यम्। सरलसरला धार्मिका यात्राजीवनवृत्तगवेषणाप्रधानाः सन्दर्भा अस्माभिर्लेख्याः। रचनाशैली भवेदाकर्षिकी। ते व्ययमात्रेण मूल्येन विक्रेयाश्च। येन समाजे विश्वासो भवेद् यत्संस्कृतेऽपि लोकोपयोगिनः सन्दर्भा लिखितुं शक्यन्ते। महानयं प्रवादो यत्संस्कृतमतिकठिनम्। अस्मत्कृत एष प्रवादोऽस्माभिरेव प्रमार्ज्यः।

नियमश्रृङ्खलाविरहिता परदेशभाषा संस्कृतापेक्षया कठिना। परं तज्ज्ञास्तां कठिनामुद्घोष्य समाजं न भीषयन्ते। वयञ्चास्मद्भाषाया महत्त्वं काठिन्येन घोषयन्तः समाजस्य रुचिं परावर्त्तमिहे। षोडशवर्षाधीतविद्यः परदेशभाषाचार्यः (M A.) केवलं नाम्नैवाचार्यः नाण्वपि पदप्रकृतिप्रत्ययज्ञानं तस्य। यद्येवंविधव्यवस्थया संस्कृतभाषाया आचार्यः स्यात्, स्यात्स वस्तुत आचार्यः। परं तथाविधं सौकर्यं तस्य कल्पितमेव नहि।

भाषायाः श्रेष्ठत्वे सौष्ठवापादनेऽमूनि कारणानि :—

लेखनोच्चारणयोरेकरूपता, नवशब्दनिर्माणसामर्थ्यं सङ्क्षेपेणार्थबोधकत्वं पदविन्यासस्वातन्त्र्येऽपि समानार्थता च। तेऽम्यनन्यसुलभा अनुपेक्षणीया विलक्षणा निष्पक्षपातं शस्या अस्या अमरगिरो गुणाः। इतोऽप्यधिकाः स्पृहणीयरमणीया गणनीया गुणा अस्या अतुलत्वं वेदयन्त्येव। परमस्मदौदासीन्येनैषा स्वरूपानुसारि पदं लब्धुं न क्षमा।

प्रतिदिनं संस्कृतोन्नत्यै विचाराः श्रुतिपथमायान्ति, परं तेषां प्रगतिर्न सन्तोषावहा। अस्याध्ययनं परराष्ट्रेष्वप्यनुष्ठीयते गौरवञ्चापि वर्द्धते। परमत्रोत्साहोऽल्प एव। अस्तु, सम्प्रति लघूनां वृहतां साहाय्यं समुह्याग्रे गन्तव्यमेव। स्वरूपसमुचितां गरीयसीं सम्पदं प्रतिष्ठामुपयुञ्जानानां विदुषां भावदारिद्र्यमप्रीतिकरम्। जगत्क्लेशोन्मूलनव्रता विवेकालोकाः परार्थे निर्व्यथाः परद्वेषदरिद्रा अमर्यादधैर्या आसन्विद्वांसः, येषां कृपया वयमद्य यावदर्चिताः, परमधुना कालः परिवर्त्तितः। अधुना स्वस्मिन्नेव योग्यताऽऽपादनीया।

जीवनस्य जीविका सर्वाधिकं विचारणीया। विद्वांसमपि जठरपिठरवर्त्ती वह्निः कदर्थीकरोत्येव। अतो जीवनव्ययशोधिकां जीविकां शुद्धां प्रकल्प्य पुरो गन्तव्यम्। अद्यतने जगति भैक्ष्यं न मोदावहम्, अकीर्तिकरं दौर्बल्यवर्द्धकञ्च। पुनः संस्कृतोन्नत्यै साग्रहमभ्यर्थयमानो विरमामि वन्दनाप्रवणः। जयतु भगवती वाचामीश्वरी। इति।

कवौ वदति लोकोऽपि प्रेरणामासाद्य वदितुमुत्सुकोऽवर्त्तत। एकतः संस्कृतस्योन्नत्यै प्रस्तावपण्डितैः परिष्कृताः प्रस्तावाः प्रस्तोतुं सज्जा अवर्त्तन्त, यत्कर्मानुष्ठातुं सम्मेलनमनुष्ठितमासीत् कष्टं विषह्यानन्तं द्रव्यं व्ययीकृत्य लोक उपेत आसीत्, परं दम्भैकधर्मा धनमहत्त्वाश्रितः पाखण्डिमण्डनो महामन्त्री लोकमबोधयत्, यदधुनाऽस्माभिः स्वागताध्यक्षस्य गृहं गन्तव्यम्, यत्रास्माकं तेन सह चित्रं चायचषकोपलब्धिश्चेति।

शय्यायां सर्प इवोपेतः। लोकः क्षणेनास्या अशून्ययत्, स्थानं निर्मक्षिकम्

कविर्हतवाक् , अहञ्च चकिता। मम स्कन्धमाश्रित्यः शनैः शनैः कविर्मञ्चादवततार, क्षोभात्तस्य शरीरमकम्पत।

× × ×

प्रत्यावर्त्तनावसरे स्वावासोन्मुखा चित्तरञ्जनमार्गमवातरम्। दूरालापगृहघटी सार्द्धदशासूचयत्। सुभगा रात्रिः। किञ्चिदुद्वेजकं शीतम्। प्रभातचित्रालयस्य पुरः पञ्चाब्दः शिशुः खर्परशकलद्वयं वादयन् लोकं रञ्जयन्नवर्त्तत। परं क्षणोत्तरमेव लोकस्तन्मनोरञ्जनं विहाय हालमविशत्।

'हन्त मृता'-इत्युच्चैरुच्चार्य शिशोः समीपमुपविष्टा युवजरती भित्तिं लग्नाअहं शौल्किकीं प्रतीक्षमाणा जिज्ञासाकुला तामपृच्छम्, किम्भूतम्?

—भगिनि, शिशुरयं सर्वं दिनं लोकं रञ्जयन्न किमपि लब्धवान्। अधुना चाशापि व्यपगता। प्रातर्यातनिशं भोज्यमलभत केवलम्। अलब्धद्रव्यस्य गृहे प्रवेशो नहि।

—क्व ते गृहम्।

—गृहम्? गृहन्तु क्वापि नास्ति।

—तदा क्वास्य पिता?

—अस्य पिता? सोऽपि कोऽपि नास्ति।

—परं केनापि शिशोः पित्रा तु भाव्यमेव। उत जीवति सः?

—परमिदमपि नाहं जाने। व्यभिचाररतानां निश्चितं कथं पिताख्यातुं शक्यते भद्रे!

—तदा त्वं क्व निवससि?

—नगराद् बहिः। पदपद्यायाम्। परमद्य तु गमनाय पणा अपि न सन्ति। निशाप्यत्रैव गमनीया।

—तत्र तव कः?

—वस्तुतस्तु कोऽपि नास्ति। परमधुना सोऽस्मान् व्यवस्थापयति।

—तदा भवन्तः कति ?

—अनेकशतम् ।

—किमु अनेकशतम् ?

—तथैव ।

—तदा स कः ?

—एको दयाशीलो मानवः ।

—दयाशीलः ? दयाशीलो बुभुक्षितं शिशुं गृहे न प्रवेशयिष्यति किमु ?

—तस्यापि नियमः, सर्वं दिनमर्जयित्वोपेतानेव स भोजयति, नान्यथा । अस्मिन्नियमे स परमः कठोरः ।

—तमहं वीक्षितुमिच्छामि ।

परमनेन वेषेण तत्र भवत्या गमनं नोचितम् ।

—अहं तुभ्यं भोज्यं दास्यामि रूप्यकञ्च । व्यवस्थापयास्मै कार्याय ।

—कङ्काल्या वेषेण तत्र शक्यते गन्तुम् ।

—तदाहं श्वः पूर्वरात्रे त्वदनुरूपं वेषमायोज्यागमिष्यामि दास्यामि च पञ्च मुद्राः । गृहाणाधुना मुद्रे ।

× × × × ×

पूर्वरात्रः तमोविनाशाय प्रयतमानो नक्षत्रसमूहः कङ्कालचेलगृहेषु प्रतीयमानः कपर्दस्य पादन्यास आक्रोशो व्यवहारश्च । सापराधः कथं प्रायश्चित्तं चरतीत्युत्कण्ठयो कपर्दस्योत्तरां दशां वीक्षितुं तस्य सामीप्यमासाद्य यद-द्राक्षं तद्विभाव्य मस्तिष्कं मे घूर्णमानमतिष्ठत् । अहो ? दुष्कर्मणामभ्यासः परिपाकश्च किमु इयान् दुष्टः ? सत्यम्, स सप्तकपर्द एवासीत् । तस्याधुना सार्द्धशतं शिशवः, पञ्चाशत् पीठसर्पिणः कुष्ठिनः चत्वारिंशदन्धाः, षष्टि विकलाङ्गाः, विंशतिः स्त्रियः, दश नवप्रसवाः शिशवः पञ्च षोडश्यः ।

किं वदन् कथं विलपन् कथं नाटयन् को भिक्षुकः कुत्र स्थित्वा भिक्षामर्जयिष्यति, ? का स्त्री कं बालमादाय कुत्र चरिष्यति? मध्याह्ने निद्रितासु स्त्रीषु गेहं प्रविश्य पात्राणि वस्त्राणि शिशून् वापहरिष्यति, गृहिभिः सन्तर्जिताः स्त्रीश्च प्रलोभ्यानेष्यति ? का युवतिः कीदृशीं सज्जां विधाय केषूद्यानेषु क्लबेषु क्रीडास्थलेषु गत्वा केन व्यवहारेण हावेन भावेन च धनियूनः प्रभाव्य धनमर्जयिष्यति ? पक्षकोटरापहरणे कः शिशुः केन सह वसेव्यायामे वाणिज्यारे जनसम्मर्दे केन वेषेण कथं स्थास्यति अपहरिष्यति च। सङ्घर्षे जायमाने च तटस्थ इवापरः किं वदिष्यति व्यवहरिष्यति। को बालः गानं वाद्यं भगवत्कीर्त्तनं चरन् लोकमानसे दयामाविर्भावयिष्यति ? एवं स चौर्ये व्यभिचारे शिशूनां क्रये विक्रये च कलां कौशलं सज्जाञ्च शिक्षयति। रात्रेर्द्वितीये यामे सर्वान् गणयित्वा दिनार्जितमादाय स्विन्नांश्चणकानोदनञ्च भोजयति। चन्द्रसूर्योपरागे सङ्क्रान्तौ पर्वान्तरे वा गन्तुमसमर्थान् भिक्षून् ब्राह्ममुहूर्त्तात् प्रागेव लोकपथे गङ्गातटे च प्रापयति। दशभिक्षुष्वेकं निरीक्षकं नियोजयति, यः प्रतियामं तेभ्योऽर्जितमादत्ते भिक्षुर्भैक्ष्यमुपयुङ्क्ते न वेति निरीक्षते च। भैक्ष्यमुपयुञ्जानो भृशं पीड्यते एवं स उद्योगवृन्दमिव भिक्षूद्योगं सञ्चालयति।

विनार्जनमुपेतान्नृशंसोऽदयं ताडयति न च भोजयति। अमुनोद्योगेन निश्शेषित आयः प्रतिदिनं दशमुद्राः। ताभिः षण्मुद्राणां समर्घं मद्यं मुद्रयोस्ताम्बूलं मुद्रायास्तमालवीटिकां क्रीत्वा सपरिवार आस्वादयति। दिने स्वतन्त्राः स्त्रियः किमप्यर्जयित्वोपेता रात्रावुन्मुक्तवाते पदपद्याप्रासादे तमावृत्य स्वपन्ति। अधिकमधिगतं द्रव्यं कन्थायां सीव्यति यस्यां स शेत उपविशति च। अहं परस्यां निशि स्ववेषेण गन्तुं चिन्तयन्ती परावर्त्तिषि।

गगनोद्भासी भास्वानन्ततः शैत्यमगात्। प्रबलो विरोधस्तेजस्विनामपि दुःसहः। परतापपरायणो न चिरमभ्युदयभूः। दिनच्छविः सन्ध्या-

चितायां स्वमजहात् । इतश्च शाणोल्लीढैर्हीरकैः खचितं प्रावरणं परिधायोपस्थिता निशासुन्दरी ।

कपर्दः पदपद्यायामुपविष्ट आसीत् । प्रचुरं शिङ्घाणं च्यावयन्ती स्रवदरुंषिका नासिका, ओष्ठौ कुष्ठपृथुलौ, पादावुपेतश्लीपदौ, दृतिस्थूलं पूर्णजलमिवोदरम्, घटभं त्रिकोणमण्डं भाण्डमिवानावृतम्, पञ्चषा भिक्षुयुवतयश्च परितः । गलिताङ्गुलिरपि स दण्डायितेन दोष्णा स्मितमुखश्च्युतलालस्तासां दलितमर्दितान् वक्षोजान् परामृशन्नवर्त्तत ।

अहं क्षुभिता तमवोचम्—

पापिनस्तु बहूनद्राक्षम्, परमननुतापः पापस्त्वमद्वितीयः । कथय का गणिका त्वामद्य गणयेत् ? को जन्तुस्त्वामनुगन्तुमुत्सुकः ? योऽनुपमं पापं कृत्वापि पोषितः । स्वानां घाताय शृगालधौर्त्यं दधानाः त्वादृशां धनिनां शक्तिमताञ्च चरणरेणुं रसनया लिहन्तः, दुर्बलेषु स्वमीश्वरं ख्यापयन्तो रौद्राः क्षुद्राः अभद्राः परुषोत्तमाः स्वार्थसंरक्षणैकव्रताः पवित्रभारतभुवः क्रोडे कृमिवत्क्रीडन्तः मानवाभाः दानवास्ते प्रियतमा घटकाः क्वाद्य, तिरोहिताः ? सतीलोकं पातयितुं त्वां वाजीकरणैराप्याययन्तः क्वाद्य ते प्रियाश्चिकित्सकाः ? विविधं भ्रान्त्वा कपटकलयाधिगतानि धनानि ते भूतानि धरणीशरणानि, यैस्त्वं मत्त आसीः । क्वाद्य तव दर्शनस्पृशो दृशः ? क्व दम्भोद्भवः प्रभावः ? स्वमलेन लोहस्येव तवापि क्षयो भूतः । परं तव मनसि विचाररेखा नास्फुरत् । पापप्रायश्चित्ताय चित्ते भगवत्स्मृतिर्नोदैत् । मलिनः कुचैलोऽधुना शुनोक्षोरं पिबसि, तादृशैः सह पद्यायां स्वपिषि कङ्कालोच्छिष्टं खादसि । क्व त्रय आन्धसिकाः ? क्व हैयङ्गवीनोपप्लुतानि तेमनानि, क्व धारोष्णपयसः कंसाः क्व च स्नेहमर्दिन उत्कलीयाः । अधुना शिरसि निर्बाधं यूकालिक्षं सरति । मलेन कालकायो धूलिधूसरित उर्ध्वकेशः प्रेत इव दैन्यदुःखोऽभङ्गव्यङ्ग्यः कङ्कालसङ्घर्ष-

भग्नजानुकटिः च्यत्रदोष्ठनासो विभिन्नव्रणगर्त्तेषु क्लाम्यत्क्रिमिकुलाक्रान्तः क्लिन्नकायः शवायितः पाणितलविरहितेन दोष्णा कङ्कालयुवतीरामृशन् अनुचितमाचरन् न लज्जसे। अथवा विचेतसः क्व लज्जा ? अहह सर्पग्रस्तोऽपि भेकोऽजस्रं मक्षिका भक्षयति। आश्चर्यम्, उच्छिष्टमपि भक्षयित्वा हृष्यति श्वा। परं त्वं नीचैस्तरः पशोरपि। इति।

दुर्वासा लोमशो गोतमो विश्वामित्रः स तीव्रं हसन्मामप्याजुहाव।

प्रभे, त्वमधुना गिरिग्रामदुर्गमध्वानं व्यतिक्रम्य प्रजविनां वाजिनां बलेन कवलयन्तीव भुवं याहि शौर्यस्य सजीवं चित्रमिव स्थानानां राजानं राजस्थानम्। स्थानस्यामुष्य कणा अपि शौर्यस्मारकेण शोणितेनाङ्किताः। राणः कुम्भः साङ्गः स्वातन्त्र्यस्य प्रथमोऽध्यापकश्चेतकारोही निर्द्वन्द्वसाहसिको मारवीगीयमानगुणः प्रतापोऽनन्यदुर्लभा पद्मिनीदुर्गावतीप्रभृतयो विश्ववन्द्यगुणाः स्त्रियः, वैदुष्येण काव्येन दयया दानेन लोकं चकितयन्माघश्चात्रैवाभूवन्। आनन्दमन्दाकिनीं भक्तहृदयेषु प्रवाहयन्ती साकारेव भक्तिर्मीराऽत्रैव चिरमक्रीडत्। यां स्मृत्वा गहनायां कलिनिश्यपि मानससरोजं विकसति। चन्दनप्रसविनीं लोकनमस्कृतां पन्नां धात्रीमेतदेव प्रासूत। वेदसमीक्षकचक्रवर्ती भौमबृहस्पतिर्मैथिलमधुसूदनोऽत्रैव चिरमरमत, तादृश एव तच्छिष्यो गिरिधरचतुर्वेदश्च। अभुक्तभङ्गोऽपि शिवसेवनमत्तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो नवरङ्गोऽपि तत्रैव छात्रकुलं सच्चरित्रयति च। यत्र विपद्भिरहितसम्पदः शाश्वतसुखावासाः कैवल्यजयिन उत्पलनेत्रा नवत्यामप्यप्रयुक्तोपनेत्रा दृढदन्ता महाशालाः विमलप्रख्याः सद्भालसद्भाला अस्तापदोऽनवद्यविद्या निरामया निर्भया निर्माया निर्ममा निर्दोषा निर्दोहा निर्दम्भा निःसङ्गाः निःसमा नीरागा महनीयचरिता अचिन्त्यप्रभावाः सुकृतिनो युक्तसूक्तवादिनः सर्वसत्त्ववन्दनीयनन्दनीयस्मृतयः सन्मतयः सघृतयोऽप्राप्तप्रियवियोगा विज्ञा निवसन्ति। ते तव सर्वं साधयिष्यन्ति प्रियं लोकाटनमपि ते भविष्यति। घनान्धकारघनायां तमस्विन्यां

क्वात्र चन्द्रः ? प्रभे ! नास्याममावस्यायां कदाचन चन्द्र उदैत् उदेष्यति वा । व्यर्थस्तेऽत्र श्रमश्चन्द्रावगाहनस्य । नास्याखण्डनिशीथस्यान्तं प्रभातं कदापि भविष्यति, कथमनन्तनिशीथिन्यामासक्तासि ?

अहं धनप्रतापानलकवलमहाकालं कविमादाय प्रसिद्धस्थानानि वीक्षितुं वाञ्छामि । दुर्भावनानां कोशीभूता मद्यस्य कूपीव फेनिलोद्विग्ना व्यपेत-नृचन्द्रा नगरी कलङ्किता मनोः पुत्राणामागतये वसतये वा नोपयुक्ता, न प्रभवामि प्रभे, क्षणमप्यत्र स्थातुम् । कालाकुलां यां प्राप्य निश्शेषकल्मषापहा निर्मलतुङ्गतरङ्गा गङ्गापि तन्वङ्गी विगतभङ्गा मलिना क्षुभिता सङ्कुचिता कलकलविहीना हतवाक् समुद्राय निःस्पन्दं स्पन्दते, विक्षुभिता च ज्वारं प्रकटयति । दिव्यदेहा जगज्जननी देव्यपि प्रियशोणिता श्यामा संवृत्ता का कथा मनोदौर्बल्यविहतविवेकानां मानवानाम् । हतभाग्येव मलिना दुःखैराशिखं निमग्नोत्क्लिन्ना विलासिनां विश्वासघातेन सवर्गद्रोहेण व्यथया चोत्पीडिता दीर्घमुष्णं कृष्णं निःश्वसन्तीवाभितोदिशं धूमवाहिनीभिर्भ्राष्ट्री-भिरनवरतं घोषेण बधिरयन्तीव निष्करुणमार्त्तं विरौति रोदिति भूः ।

यत्र विनैव मृत्युमग्निमुपेयिवान् सर्वोऽशेषसुखसाधनं धनमेव मन्वानो रात्रिन्दिवमकृतविश्रमः श्राम्यति । यत्र पठनीयं पठितुमक्षमोऽपाठ्यं पठितुम्, श्राव्यं श्रोतुमसमर्थोऽश्राव्यं श्रोतुम्, अनीप्सितं कर्म कर्त्तुं प्रसह्य प्रेर्यते मार्गच्युतो जीवन्मृतो मानवः पशुरिव ।

एकेन पक्षेण चलन्ती व्यवहरन्ती पक्षवधग्रस्तेव, अनन्तजनाऽपि जनहीना अनन्तधनाऽपि धनहीना नगर्य्येषा वियत्स्पर्शिभिः सौधैः, चक्षु-श्चमत्कुर्वद्भिः प्रकाशैः, जनरवपूर्णैः सुचिक्कणैर्जनपथैर्विविधैर्यानैः पानैर्भोज-नैरलङ्कारवासोभिश्च आलोकप्रभेव नद्यां निपतन्ती मिथ्या भ्राजमाना यथा दूरादभिरामा तथा न निकटात् । परस्परं संयुक्तैर्विविधयुगानां नवां नवां स्थापत्यकलां विश्वविमोहकं कारुकार्यं सूचयद्भिराकाशस्य वक्षो विदार-यद्भिरेभिस्तस्कराणां प्रसभकर्मणां गुहागृहैः क्वचन क्वचन विमोहकैरभिनवैः

क्वचन क्वचन स्थाणुकल्पैः शताब्दीसाक्षिकैर्वृक्षैः, मध्ये मध्ये विशालै-रुन्मुक्तक्षेत्रैः कलितकलैरुपवनैः क्रीडाङ्गनैः, असफलानां पीडितप्रताडित-प्रतारितानामनिश्चतभविष्यतां विविधैर्भवैरान्तरिकैरुद्वेगैः स्वार्थसङ्घर्षैर-तानां हिंसक्रूपशूनां वनस्थलीव प्रतीयते कलङ्किता, यत्र नारीरज्ज्वा बद्धाः पुरुषपशवः सततं क्रोशन्ति। कथमत्र गलत्कुष्ठपूयप्रतिमे पङ्के स्पन्दमानाः क्रिमय इव जीवनं जर्ज्जरयन्त आकर्षणसङ्घर्षणविकर्षणपूर्णे विषाक्तवातोदधावानुवंशिकक्रमेणाऽऽगलं निमग्ना निवसन्ति मानवाः? अथवा क्वाद्य तेषु मानवता? परहितविहितान्तरायां कलङ्कितायां देवी शान्तिः श्रद्धया विवेकेन च सह मानवतामादाय प्रव्रजिता।

अत्र हि त्यागो मलमूत्रस्य सोऽपि विलम्बेन, आस्तिक्यं शब्दकोशे तच्चाप्यध्ययनेन, अव्यभिचार आचारोपदेशेषु सोऽप्यानुषङ्गिकः, दानं रजकाय तदपि पाक्षिकम्, दाक्षिण्यं स्वार्थसाधने तदपि क्वाचित्कम्, अमालिन्यं मरुत्तरेषु तदपि बाहीकम्, अचौर्यमवकरपिठरस्थानाम्, तदपि पौरप्रतिष्ठानकर्मचारिभयात्, अपैशुन्यं प्रतिमायाः, तदपि ज्ञानाभावात्, धर्मः स्त्रीणामृतौ सोऽपि कष्टेन, अर्थः शववाससापि, कामो मूर्त्तावपि मोक्षो नीव्याः, पाटवं परधनाकर्षणे, शौर्यं कुकार्ये, साहसं चरित्रच्युतौ, सङ्क्षयः साधूनाम्, अविरहो जनकभुवा वृक्षाणाम्, सोऽपि वर्षात्परम्। भक्ष्याभक्ष्यविचारः पुस्तकेषु, अप्रतिग्रहोऽप्राप्तौ, सन्तोषोऽगतौ, योगोऽङ्गा-नाम्, भोगो नारकीययातनानाम्, रोगो वैशिष्ट्येनोपस्थस्य, वृत्तविपर्यासः पद्येऽपि, परमहर्षः परदुःखे, परमदुःखं परानन्दे, गर्वो दुर्वृत्ताचारस्य पातिव्रत्यं छायायां पातीव्रत्यं प्रकाशे। दुर्वर्णयोगः पण्डितेषु, अभिलाषः परकीयकामिनीकाञ्चनयोः, भावावेशः प्रेयसीप्रतीक्षायाम्, अभिनिवेशोऽत-न्त्रे, अभ्यासो नर्मसाचिव्यस्य, उषःपाठः समाचारपत्राणाम्, शोणिमा वियोगा-श्रुताम्रेषु नेत्रेषु, तर्कः श्रमिशोणितस्य, नित्यमुच्छेदः श्मश्रुजालस्य, उत्सा-होऽसत्कार्ये, सङ्कोचः सत्कार्ये, उत्कोचः सर्वकार्ये, अखलता परिष्कृतेषु,

तैलेषु, आहिताग्निता नारिकेलरज्जौ सापि तामालपत्रिकेषु, क्षमा दौर्बल्ये पादप्रहारविषमाभ्यो वेश्याभ्यश्च, चर्चा दूतीचरित्राणां चलचित्राणां वा, वृत्तिभङ्गाभयता सुन्दरीषु युवतिषु, अविकारिता प्रगृहचाणाम्, असहिष्णुता गुणस्तुतीनाम्, वीतरागिता परपीडने हर्षामर्षराहित्यञ्च, उपासनोत्कोचिनाम्, वृद्धिः सर्वासु दिक्षु भिक्षुकाणाम्, अर्चा चलचित्रनटानाम्, अनर्चाऽर्चितचराणाम्, सम्पदिन्द्रियतुष्टये, विपल्लोकदुष्टये, आर्जवं वञ्चने, सत्य कूटव्यापारे, शीलं नामसु, सख्यं कपर्दाश्रितम्, पूजनं रूप्यकाश्रितम्, ध्यानमभिनेत्रीणां, कुलाटनं वरारोहाणाम्, भयं सद्वृत्तादायकराकलकात्।

मरणं द्रविणकणत्यागो जीवनं तदवाप्तिः। शरणं चरणौ पौररामानुजानाम्, हरणं देवद्विजानाथविववार्थानाम्, आभरणं भर्त्सनं तरुणीनाम्, सम्माननं धूर्त्तानां वेश्यानां वा, प्रोक्षणमुपस्थस्य प्रणीताभिः, आदरः स्वार्थसिद्ध्यै, अनादरः स्वार्थवृद्ध्यै, सौन्दर्यं लोकरञ्जनाय, वैदुष्यं धनापहारकलाविष्काराय, प्रसाधनं प्रतारणाय, सत्यं लोकवञ्चनाय, सदाचरणमनाचारावरणाय, शपथं विपथाय, प्रकारः प्रचुरा धनाहरणाय, अपकारो जीवमात्रस्य स्वार्थाय, संस्कारो दुश्छलस्य, अवकारः सद्भावस्य, निष्कारा धर्माचारस्य, दुष्कारोऽनुकरणीयचरितस्य, विकारो नित्यशुद्धस्य वायोरपि, निकारः सत्प्रकारस्य, न्यक्कारोऽन्यकृतचराणाम्, अतिकारोऽभद्राचाराणाम्, उत्कारो दुराचाराणाम्, प्रतीकारः सदाचाराणाम्, परिष्कारो वाससाम्, उपस्कारः शिरोरुहाम्, आविष्कारो दुर्नीतीनाम्, बहिष्कार उदात्तभावानाम्, प्रतापः पत्रमुद्राणाम् अनुतापस्तपस्विनाम्, सन्तापः परोन्नतौ, तापो लोकोन्नतौ, प्रचारो व्यभिचारस्य, सञ्चारो जारानुचराणाम्, अनुचारोऽभिसारिकाणाम्, विचारो वेदान्तस्य, आचारो धूर्त्तशिरोमणीनाम्, उच्चारोऽपानवायोः, उपचार उष्णवातोपदंशयोः, अत्याचार आचारस्य, लज्जा निर्लज्जेषु, कर्म धनार्जनैकफलम्, आढ्यता मुद्राश्रया, उपालम्भो देवेभ्यः, असूया मित्रेभ्यः, जिह्मता सरलेभ्यः, द्विजिह्वता

गुरुभ्यः, कैतवं कुलादपि, क्रौर्यं कुसुमादपि, स्मरतारुण्यं क्षेत्रियाणामपि सज्जा वृद्धास्वपि, यत्र सुजना अन्नकणा इव दुर्लभाः, यत्रासाधुता साधुतां विजित्य पादैः सम्मर्द्य लोलुपलोकलेखकानां मुखं शर्करयाऽऽपूर्य माद्यति । यत्र मृतं विवसनं शोकाश्रूण्यावृण्वन्ति । चिन्ताकुला चिन्तापि चिन्तिता । भीषणं दुःखं विभाव्य मृत्युरपि बिभेति । एवंविधा धर्मे दुर्मेत्रसः दिवाकीर्तयो धूर्त्ता निन्दितकर्माणो मधुरवचसो विषपुरुषा अत्र निवसन्ति, यत्तेभ्यः पशुपदोपादानं पशूनामप्यपमानकरम् । यत्र भक्षित-जीवानां कङ्कालाः भग्नचषकाणां गगनालिङ्गिनः कूटाः प्रतिकोणं प्रेक्ष्यन्ते-अहिंसायै जीवदयायै दिवानिशं भाषमाणानां रूक्षीभूतां रसनां सरसयितुं प्रतिदिनमगण्या गावो महिष्योऽजा एडका जाता अजाताः पक्षि-णश्च निर्दयं कर्त्यन्ते । परितः प्रसृतैर्जालैर्मत्स्यवेधनैः पाठीनैर्मद्गुरैः प्रोष्ठीभिर्मीनहस्तैर्मानवैश्च कैवर्त्तकुलाकुलेव प्रतीयमाना क्षरद्रक्तैर्मेषमुण्डै गोपाश्वैर्घाताय निबद्धचरणैश्चरणायुधैः हंसाण्डकूटैः क्रन्दत्तित्तिरिकुलैर्व्याध गृहायमानेवेयं कलङ्किता ।

अनृतपरिचिता वाक्, वेश्यावक्षःस्पर्शविकलौ करौ, परावगुण-दर्शनदक्षा बुद्धिः, छलचञ्चलौ पादौ, परदोषदर्शि दर्शनम् । अर्जनं धन-स्य स्याद्वर्जनं यशसो धर्मस्य प्रतिष्ठायाः संस्कृते राष्ट्रस्य वा भवेत् । इह प्रव-र्त्तका गुरुदण्डेभ्यः सहस्रशो मुद्रा दत्त्वा स्वोद्योगप्रतिष्ठानेषु बन्धं (हरितालं) कारयित्वा तद्द्वारैव प्राग्विनिश्चितमनावश्यकं व्यर्थमवकरकूटं विध्व-स्वपुष्टैर्वृत्तपत्रैः महान्तं प्रतिष्ठानसङ्कटमुद्घोष्य, तेन जीविकामर्जयतां कर्मकराणां जीवनसमस्याञ्च विपुलीकृत्य एवं स्वार्थं लोकमानसे कलया प्रतिष्ठाप्य शासनाधिकृतेभ्यो बहु विनाशं निवेद्य प्रधानानि सन्तोष्य प्रति-ष्ठानोत्पादितवस्तूनां मूल्यं समेधितं शासनानुमोदितं विधाय कलया कोटिशः प्रतिवर्षमर्जयन्ति, ततोऽधिकं समाश्वसनप्रतिष्ठानाच्च । वायोरपि यत्र न प्रवेशस्तत्र प्रवेश उत्कोचस्य ।

यत्र दद्रौ दकारः जीवने धिक्कारः सत्कर्मणि नकारः प्रियो भकारः, सर्वाधिकोऽहङ्कारश्च । न्यायं सत्यं त्यागं नीतिं सेवां तपस्यां साधनामहिंसां निचित्य यत्र विपरीताचरणेन्धनेन चितां प्रज्वाल्य भस्मीकृतेव भारतीया संस्कृतिरनुक्षणं लोकपादमर्द्दनाय राजपथे प्रसार्यपुनरुद्गमायेङ्गालकद्रवेण संयोजिता । लक्ष्मीं मातरं कथयते पत्नीं कर्तुं विकलाय किमु वक्तव्यम् ? मांसापणेषु देवमूर्त्तिं संस्थाप्य तदग्रे पशून्निहत्य स्वार्थं साधयन् देवाराधनां घोषयन् देवमपि वञ्चयति वञ्चनाचतुरः । अहो, प्राणिनां कष्टकणमालोक्य व्याकुलचरो मानवः कथं तेषां शोणितैर्मेधं पूरयितुं विकलोऽर्थाकुलः । कियन्तोऽस्यां जायन्ते, कियन्तो यौवनं वार्द्धकं विनैव म्रियन्ते, केचन शताधिकानामुपानहां तलानि वीप्सया घर्षयन्तो योजयन्तो यमेन युध्यमाना वा ।

यत्रालङ्कानिवासिनो निशाचराश्चरन्ति कुत आगताः क्व वा गन्तव्यमित्यजानानास्तमःसमुद्रं संसारं चरन्तो निराशा निराश्रया निराहारा पापचारिणो दरिद्राः कृशा दुर्वर्णा अकालजराव्याधिपीडिता भगेच्छवोऽपि भोगासमर्थाः परिभावितकाया अल्पायुष्का अल्पशक्त्यो अल्पबुद्धयोऽल्पभाग्या अनल्परागद्वेषमोहमात्सर्याः विपन्नशीला दुःशीला अशुभे शुभमानिनः, पापे पुण्यमानिनो विधुतधर्माणोऽर्थपरिपक्वाः कामाकुलाः मुक्तमोक्षा उपप्लवनपरिभवनपरिभाषणतर्जनभर्त्सनाक्रोशकुशला वाग्विवादपर्याकुलबुद्धयः । यत्र परिचयम्लानो मानो मैत्र्या सह विनश्यति । को जानीते कालमहाग्रन्थे कत्यध्याया अत्रारभ्य लीनाः । केषाञ्चनाध्यायानामुल्लेखः केषाञ्चन नापि । कलङ्कितताया विलक्षणोऽनुभवः । कटूनां काटववदवर्ण्यः ।

इह महादम्भस्तूपाः समाजकल्याणध्वजा लोकसंघटननामधारिणो दूरत एव केवलं लोकं विमोहयेयुर्मुग्धम्, परं निकटतो दुर्गन्धयन्ति परम्, अधस्तान्निर्दयं निखातस्य प्राणिसमूहस्य दुर्गन्धेन । यत्र

मुद्रया प्रक्रम्यमानायां प्रशास्यमानायां म्रियमाणायां भ्रियमाणायां नगर्य्याम-स्यां प्रेता इवाप्रेर्य्यमाणा रात्रिन्दिवं धावमाना मानवाभा इव प्रतीयमाना भ्रमन्ति भूताः रजस्वलामेव भुवमनिशमालिङ्गन्तः ।

राष्ट्रव्यापिनं भयावहं भ्रष्टाचारमत्याचारं व्यभिचारं संहारं हाहा-कारं प्रति सम्पन्नसमाजस्यौदासीन्यं प्रोत्साहनञ्च प्रेक्ष्य निश्चितं वक्तुं शक्यं, यदेकदात्र कदाचन महान् स्फोट आभ्यन्तरेण भविता। निर्दयं पिच्चितो मानवः कदा पर्यन्तं स्थास्यति मूकः ? परिवर्त्तनमपरिहार्यम्। परं नापि। मृतमवैमि राष्ट्रम् । नान्यथैतद् सम्भाव्यमासीत् ।

यत्र व्यपेतवैक्लव्यो मानवो मानवस्य शोणितममानवादम्मन्योपि निर्विशङ्कं निर्दयं निर्लज्जं पातुम्, भ्राता भगिनीं व्यभिचाराय नेतुम्, माता समविकलाभेप्सया तस्या अङ्गोपाङ्गान्युपश्लोकयितुमाकुलाः, तत्र किं वर्ण्यं विकसितमतेर्मनुसुतस्य दुर्जीवनम् ? यद् विभाव्य जिह्वा जडतां वाग्विकलतां कर्णौ शीर्णतां चक्षुषो अन्धतामुपयन्ति !

वाममार्गसिद्धान्तेनात्र कश्चनैवाधन्यो मोक्षपदानधिकारी । अहह दुर्जन-सारमेयपूर्णसरणिः, इन्द्रजालाविलाऽसदुपाध्यायधुरन्धरेयं कलङ्किता ।

यत्र विधवा बहुधवाः, विधुराश्चानन्तपत्नीव्रताः । पाणिग्रहणं प्रति-दिनं शतसहस्रवारम् । यत्र गृहाङ्गनाऽवःकृतमेनकापि न प्रमोदाय, गृह-पतिश्च कामोपमः । यत्र निर्मातारः पदपद्यासु म्रियन्ते, चौराश्चिरं प्रासा-देषु रमन्ते। मलिना रथ्याः शिशून् प्रसूवन्ते। राजपथे कामुका वासनाः शमयन्ति । लुण्टाका मध्याह्ने एव लुण्ठन्ति । शिङ्घाणपूर्ण-घोणा गर्दभ्योऽत्र वर्यमत्तरेष्वारोहन्ति, अप्सरोजयिसौन्दर्याश्च पद-पद्या मृद्नन्ति, अमतिर्नमति च शूद्रं द्विजः । यत्र रूपापाकृतकामो ब्रह्मणः प्रतिमूर्तिर्मानवो यन्त्रापीडनेन कीटीभूतः पशोरपि पतितः । एषा मायापुरी यत्रापरूपः सुरूपोऽसिद्धः सिद्धश्च वामकदर्शनो मानवपशुश्चात्र

सतर्षं द्रष्टव्यः। यत्रासत्यं सत्योपदेष्टृ, सुलोचनोऽन्धः, अन्धो मार्गनिर्देशकुशलः, सुकर्णो बधिरः, बधिरो गानगुणज्ञः, अधीतविद्यो मूर्खो मूकश्च, मूर्खश्च मतो विमर्शविशारदः। यत्र वाक्यासारे वैदुष्यम्, मौने मौर्ख्यम्। यत्र सर्वो धावति, किमपि लब्धुम्, किन्तत् इति न कोऽपि वेत्ति। पृष्टः कथयति पुरो गच्छन् प्रष्टव्यः, अहं समनुधावामि। हन्त मानवेष्वप्येडकाधर्मिता? यत्र जरतामपि स्खलनम्, स्वपतामप्यधरस्फुरणम्, व्रजतामपि समाधिः, यजतामपि व्याजरुचिः। यत्रैकतः शोकमेकत उल्लासो नृत्यति। यत्रैकतोऽजीर्णजा पीडा परत्र च क्षुज्जा। यत्रैकत्र रमणं स्वर्णेन शयनं तदभावेन, जागरणं तज्झङ्कारेण तत्रैव परत्र सर्वथा वैपरीत्यम्।

यत्र मुष्टिमेयमानवानां सपर्यायै सर्वः पर्याकुलः।

प्रेक्षाऽपेक्षासमीक्षान्वीक्षाऽवेक्षाऽधीक्षाप्रतीक्षापरीक्षोपेक्षाणां साम्राज्यम्। यत्र विस्मृताशेषशक्तिः क्षीणो मानवपदवाच्यः श्रमी शोषितस्य शोणितस्य लुण्ठितस्य चरित्रस्य, विनौषधं मृतानाम्, विना साधनं निरक्षराणाम्, विना भोज्यं युवजरतां स्वानां प्रतिशोधविधावधीर उच्छ्वस्य निःश्वस्य विकलो निःसहायो निर्बलो निरुद्यमो निरुत्साहः प्रबलमुत्तिष्ठासुरपि चिचर्वयिषुरप्यक्षम एवोदराहतः।

यत्र भयं नैराश्यं मात्सर्यं भर्त्सनं मरणमसौविध्यमवसादना आत्मग्लानिः, आत्मशंसा, आत्मवञ्चना, उच्छृङ्खलता, अव्यवस्था, विघटना, असन्तोषश्चेत्यमूनि सहजानि, यैर्न कोऽपि दूरीभवितुं प्रभुः।

यत्र विभवपिशाचं प्रसादयितुं तस्य कृपाणुमासादयितुं लेखका गणकाः, वृक्षं छेत्तुं कुठारे दण्डा इव, सहयोगिनश्छेत्तुं शस्त्रीभूता अवशान् कारकान् निर्मापकान् घ्नन्तः स्वामिने फ़लकायिताश्चरित्रं गुणांश्च विना मूल्यं विक्रीणाना विविधेषु भावस्वप्नसौधेषु विचरन्तः कार्ये निष्पन्ने विभवपिशाचेन वामाक्षिस्फुरणेन सह परिखासु क्षिप्यन्तेऽनामशेषं चेतनाशून्येन यन्त्रेण तुल्यं कर्म कुर्वाणा नराः।

उदारता नम्रता दानशीलता कृपा क्षमा चेमा नरस्य सहजाः सहचर्योऽत्र समाजश्रेष्ठैः परित्यक्ताः, परमा प्रेयसी च परिणीता परम—प्रमोदास्पदीभूता कान्ता कुटिलता।

विभवेन दारिद्र्येण तेजसा तमसा वासनया अतृप्त्या उल्लासेनाक्रन्दनेन पूर्णायां यस्यां द्विवेदा मार्जकास्त्रिवेदाः शोधकाः, चतुर्वेदाः प्रेष्याः, व्यासा वान्तापहारिणः उपाध्याया उपानद्ध्यायिनः, शुक्लाः कृष्णकर्माणः, चक्रवर्त्तिनस्तक्रवर्त्तिनः, चट्टोपाध्यायाः निश्चेष्टध्याया मुख्योपाध्याया मुखापेक्षिणो वन्द्योपाध्याया निन्द्याध्यायाः, आचार्याश्चरणसेविनः, सूर्यवंश्या दिनद्वाःस्थाः चन्द्रवंश्या निशाद्वाःस्थाः राष्ट्रवाहा यष्टिवाहाः रावणं देवा इव विभवपिशाचमर्चयन्ति, सरस्वतीद्वारा बहुशो लक्ष्मीं प्राथ्र्यापि तस्याः कृपां न लभन्ते च।

यत्र देशे धनमूलोन्नतिः सा किमुन्नतिः ?

यत्र पत्रभक्षो धूमपायी विलक्षणस्तपस्वी नखदन्तविहीनोऽपि परमो हिंसको बाहीकान्तद्रोहपूर्णोऽपुण्यजन्मा राष्ट्रस्यानावश्यकं तत्त्वमुद्योजन्व्याजः प्रसभकर्मा समस्तं सौन्दर्यमहमेव भुञ्जीय, एते महान्तः कुमेरवः सुमेरवो वा, उच्चा अनुच्चा वा मम चरणरेणुकणविमर्द्दिताः स्युः, एतत्प्रसाधनं वासश्च ममाङ्गं भूषयेत्, एते चिकित्सका रसायनैर्वाजीकरणैः ममैव शरीरं साङ्गोपाङ्गं दृढीकुर्युर्विदध्युश्च भोगक्षमम्, एते प्राणिनो ममाज्ञयाऽन्यूनानतिरिक्तं चलेयुः, सर्वाः सम्पत्तीः सञ्चित्याहमुपभुञ्जे, विश्वं म्रियेत जीवेद्वा ममोपभोगायेत्यभिलषन्, सर्वमङ्गलभावाज्जग्ध्वा रक्षोऽभिरुचिः, अस्तिसारोऽर्थकामयोः नास्तिसारो धर्ममोक्षयोः, विश्वस्मिन् व्याप्तिमिच्छुर्वैहायसं मार्गमाश्रितः सुरसाकारं मुखं व्यादाय, उदारतां शान्तिमुल्लासं वात्सल्यं सत्यं निगीर्य, मानवतां दंष्ट्रया विचूर्ण्य, शीलं संमर्द्य, पीडितानां हाहाकारेणोच्छ्रत्रासेनामन्दमानन्दमनुभवन्; अश्वद्रुतौ वाग्द्यूते (फाटका) चलचित्रा-

भिनेत्रीसपर्यायां नूपुरशिञ्जिते समयं व्यतियापयन्, चौर्यबलात्कार-वञ्चनवधादिभिर्विविधैर्व्यायतवपुर्न्यायं नीव्यां निधाय, नर्मसचिवेभ्यः किञ्चिद्दत्त्वा धर्मावतारपदवीमुपलभ्य, राजनीतिनिपुणैः सन्धाय निर्बाधो निर्भयः, विना मूल्यं शुद्धदुग्धस्य हैयङ्गवीनस्य च प्राप्त्यै गोशालां प्रतिष्ठाप्य गुरुतरं दातुं प्रतिज्ञाय लोकात्सङ्गृह्य, सङ्गृहीतधनेन लक्षाधिका मुद्राः प्रतिवर्षमर्जयन्, कदाचन चयनाय लोक उपस्थिते स्व-स्याधिपत्यं द्रढयितुं सर्वतः प्रथममेकादशसहस्रं लिखन् गोशालाश्चा-लयन् धार्मिकताम्, मुग्धं लोकं भागभाजं विधाय व्यापाराश्रितां दुग्ध-शालां चालयन् सामाजिकतां वा, स्वशिशूनां सम्यक्शिक्षायै पूर्वरीत्या शिक्षायतनानि व्यवस्थापयन् यशोधनशिक्षानुरागञ्चार्जयन् आयकर-विमुक्त्यै शासनमप्यन्धयन्, स्वस्य निःशुल्कमारोग्यायारोग्यशालाः मनोमोदाय सभ्यानुमोदितव्यभिचाराय सङ्गीतशालाश्च चालयन् स्वार्थपिठरपूरणपटुः कटुर्धर्मविडम्बनो लोकापवादभीत्या स्वस्या-वैधप्रजाभ्योऽनाथालयान्, लक्ष्मीलालितानां निष्ठ्यूतभाजनानि वेश्यावेशन्तानि विरचय्य स्वेनैव दुश्चरित्रिताभ्यो वेश्याभ्यो विध-वाभ्य आश्रमान्निर्मापयन्, व्यवसायगृहेषु यन्त्रेषु श्रमिभ्यः पण्डितेन धर्मं स्वामिभक्तिमुपदेशयन् पूर्णदम्भः खलः समाजं भ्रमयितुं धर्माडम्बरं रचयन्, जगतो जीवनाय जनतायै परमीश्वरमिव वेदयन्, यदा कदा नगर्याः स्वसम्पादितेभ्यो भिक्षुकेभ्यो घुणजर्ज्जरितमविक्रेयमन्नं ददत् मम धार्मिकतां घोषयन्तो भ्रमतमसि मम सत्यं रूपं तिरोदधाना जीवन्तो वर्द्धन्तामिमे दिने द्विगुणा रात्रौ चतुर्गुणा भिक्षुकाः, वासनां शमयितुं भवतु विधवाभिर्वेश्याभिश्च पूर्णं सर्वं गृहम्, भवन्तु च मम सहचरा अपि शासनोपेक्षया शासककृपया वेन्द्रवरुणारुणकुबेराः, असत्कर्म न्यायं घोषयितुं प्रसरन्त्विमे धनविजिता न्यायस्य जीवनविरहितां मूर्त्तिं दधानाः न्याया-लयाः, केवलं स्वयशोवृद्ध्यै स्वेन्द्रियारामाय, केवलं स्वस्मै जीवन्तो

जघन्यकर्माणोऽपि स्वार्थव्रतसहचरपोषिताः परं पूज्यतां प्रापिताः पापिष्ठाः, दुर्बलं लोकं गर्धयमानाः खट्वाभञ्जिनो मन्त्रिण उत्कोचमुद्रामुग्धो राष्ट्रसेवाविभागश्चेति कामयमान ईश्वरमाह्वयमानः साट्टहासं हसति नृत्यति सूर्यप्रभायां सञ्चयदुर्गपिशाचो वैभवपिशाचः।

यदि केनाप्युपायेन मेदस्वी नैव कृष्यते।
परोत्कर्षश्रुतिस्तस्य मेदो हन्ति श्रुतिं गता ॥१॥
पुञ्जवादोऽधुना नश्यन्नन्तिमक्षणमीक्षते ।
जगदुद्बोधनाय स्यात्तस्य चारित्र्यचित्रणम् ॥२॥
सूर्याचन्द्रौ नरा नार्य्यः सागराः सरितो नगाः।
तावत्सूर्यप्रभा लोकं स्थास्यन्त्यानन्दयिष्यति ॥३॥
अष्टग्रहेषु मकरस्थितेष्वन्तमगादयम् ।
श्रीनिवासमहाकाव्ये भागः सूर्यप्रभाभिधः ॥४॥
सर्पमणिर्हरिकेशरकृयणधनं पतिव्रताकुचकम् ।
स्पृश्या भवन्ति मृत्यौ कविदैन्यं विश्वसम्राजा ॥५॥
भूमण्डलमिव वृत्तं धौतवसनबद्धमपि धरास्पर्शि।
स्निग्धं घटकसुतैलैः पायादण्डं कपर्दस्य ॥६॥

सक्रोधशोणितविलोकनचारुचञ्चद्वाग्बाणवेधकलितं चलितं समन्तात् ।
भूत्यै भवेद्विभविनां विभवे विहीने सम्भर्त्सनं विकरुणं पुरसुन्दरीणाम् ॥७॥
राजानः स्मृतिशेषतां बुधवराः क्षुच्छेषतां प्रापिताः
दुश्शिक्षां जनता करैर्विदलिता दारिद्र्यदैन्याकुला ।
शास्तारोऽपदया मकारनिरता वाग्गुम्फ! कुत्रैष्यसि ?
स्वच्छन्दं चर वा विहायसि विदां क्षोभाय भो भाविनाम् ॥८॥
नाधीते न च रक्षति स्पृहयति ब्राह्म्यै गिरे कश्चन
वंशानुक्रमपण्डिता अपि मनाङ् नाध्यापयन्त्यात्मजान् ।

राज्यञ्चापि गतस्पृहं न च धरा धत्तुं क्षमा भारतीं
दैवे हन्त पराचि केवलमसावाकाश एवार्त्तिहा ॥९॥
विद्यासत्यदया मृताः कलुषितं धौर्त्यं धराव्याप्यहो
नो सौख्यं तप आर्जवं दम उतौदार्यं क्वचिद् वीक्ष्यते ।
दैन्यं शून्यमनस्कताऽनुकरणं मौर्ख्यश्रियं चर्यत
आर्यावर्त्त ! नु जीवसि श्वसिषि किं किं वा भ्रमो मे महान् ॥१०॥
प्राक्पुण्योदयतो वभूव विदुषो गेहे सुदेहोदयो
यस्य श्रीनवरङ्गरायविदुषः शास्त्रोदयोऽर्कोदयः ।
ज्ञानेनाखिलभेदभङ्गनिपुणेनासीदशेषोदय—
स्तेनायं रचितो लघुः कलिजुषां पैशाचवृत्तोदयः ॥११॥
आब्रह्माण्डविसारिदुग्धधवलप्रोद्यद्यशोराशिभि—
र्वन्द्यैः सत्कविभिस्तता व्रततयः कीर्त्तेः समन्ताद् भुवः ।
ता आलम्ब्य कृतो विदग्धदयितो यत्नोऽयमार्योद्धृतौ
विद्वद्वृन्दमुखारविन्दमुकुलव्याकोशनेऽहस्करः ॥१२॥
दृष्टं काव्यसुधाम्बुधेर्नहि तटं चर्चावगाहस्य का !
दोषौघेण कवीन्द्रपादकमलं स्पर्शाकुलं नाकृषि
पित्रोः सत्करुणाम्बुवाहकणकैर्यच्चापि सङ्गुम्फितं
तत्काव्यामृतपायिनां लवणिवत् सुस्वादु सञ्जायताम् ॥१३॥
येनाम्बा सुतिनी धरा च गुणिनो सम्मानि विद्वत्कुलं
शस्यं ब्रह्मकुलं क्रियाश्च सफलाः शास्त्रं समृद्धार्थकम् ।
मर्त्याः साहसिका विभासि सुरसं विश्वं भवः सार्थकः
सोऽख्यन् मानसतोदिनां कुचरितं श्रीश्रीनिवासः कृती ॥१४॥
रोगारण्यविपद्यमानमनुजग्रामागदङ्कारिभि—
र्नित्यं सत्यचिकित्सकैरनुगतो विद्वद्वरै रैवरैः ।
शान्तिस्रोतसि सन्तरन्ननुदिनं दीनान्समुद्बोधयन्

यँस्तिष्ठन् विहरन् वचन् गुरुतरस्नेहाकुलोऽनाकुलः ॥१५॥

विद्वांसो बहुधा धिया गतभिया जल्पन्ति नत्तँ वचो

लालाटीं धनिनां चरन्ति चरिते कादर्य्यभाजां सदा ॥

व्याधुन्वन् पदकेसराननलसं वीरोऽयमुज्जृम्भते

द्रव्योन्मत्तपुरारिकुञ्जरतनूसञ्चारिपञ्चाननः ॥१६॥

आशेषं शास्त्रमाप्तं स्वपितुरधिगताशेषविद्यादुदात्ताद्

देशाद् भाषा विदेशात्समुदमुपगताः सेवितुं यं समन्ताद्

श्रीयं भेजे विनेहामनवनतशिराः सौख्यभाजां प्रधानं

शास्तालं श्रीमदानां मदलवरहितः श्रीनिवासोऽहमस्मि ॥१७॥

सत्यं विद्यां तपस्यां समधिकमयितुं यैर्वने वास इष्टो

नो वर्णो नैव वर्गो धनकुलवलवाग्घेतुभिश्चैव राद्धः ।

ओजस्तेजस्तपस्याधनजनमहितैः शुद्धरक्तैर्वदान्यैः

सप्तर्षिव्रातजातैः कुशलसुमतिभिर्भाव एष प्रसार्यः ॥१८॥

निर्यान्त्यरं भावतुषारपर्वतात् प्रक्षालनाय क्षितिकल्मषाणाम् ।

गङ्गेव गीः शान्तसुनिर्मला मे पुनात्वलं विश्वमबोधविक्लवम् ॥१९॥

अनेकधनिदानवाकुलकवीश्वरप्रेरितो

गुणाकरसुहृद्गणाग्रहविभारसंयोजितः ।

निरन्तरसमीक्षिताघसमवायसंखेदितः

पदैरनघसुप्रभैरमरभारतीमार्चयम् ॥२०॥

योऽध्येष्यते प्रसरदस्र उदात्तबुद्धि—

र्वाकर्णयिष्यति समाहितहृत् सकृद् यः ।

तस्यर्द्धितुष्टिशमपुण्यविवेकलब्धिः

स्यादाशु वैभवपिशाचभयं न तस्य ॥२१॥

अवगुण्ठनम्

—तदा कृष्णतारा सम्प्रति क्व सूर्यप्रभे ?

—आर्यपुत्र ! साधुना कविना सह लोकं सत्कर्मणि प्रेरयन्ती वर्त्तते । तस्याः पत्रलेखाः समेताः, यानहं सङ्गृह्य समयेन देवं श्रावयिष्यामि ।

—प्रभे, यात्रावर्णनन्ते रोचकमुपयोगि च ।

—परं देव ! कृष्णतारा किं वा नवपल्लवम् , ततोऽप्यधिकं रोचकम् ।

—अस्तु, समयेन श्रोष्यामि ।

—देवस्य यथाऽऽज्ञा ।

—०—

उपस्थाते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम
अथर्ववेद १२/६२

अभयं करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु ।
अभयं मित्रादभयममित्रादभयंज्ञातादभयं पुरो यः
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।

—०—

पात्रपरिचय

चन्द्रः—राजनगरके महाराज नवेन्दुपालका पुत्र, सर्वाभ्युदयवादका व्यवस्थापक राष्ट्रका निर्वाचित राजा। इसका वर्णन इस ग्रन्थके पूर्वभाग "चन्द्र-महीपति कमला" में है।

सूर्यप्रभाः—पाषाणपुरके महाराजाको यही सन्तान थी। उन्होंने इसका पुत्रवत् पालन किया था, फलतः यह परम साहसी युद्धप्रिय प्रान्त-विजेत्री सेनासञ्चालनदक्षा थी, सिंहका शिकार था इसका व्यसन। एकदा यह एकाकिनीही अश्वारूढ हो शिकारके लिये गई। उसे अनायासही वनराज मिला जो मानवरक्तपिपासाकुल था। घोड़ा उसकी गर्जना सुनकर चौंका और सूर्यप्रभाको पटककर भाग खड़ा हुआ। केसरी अब पड़ी हुई सूर्यप्रभाके निकट था। सूर्यप्रभा मृत्युके अन्तिमक्षणमें ईश्वरभावमें लगी मृत्युप्रतीक्षामें निश्चल थी कि चीत्कार सुनकर देखने लगी कि सिंहकी छाती में घुसा हुवा शर उसके प्राण ले चुका है। मारनेवाला मर चुका था। विधिके विधानको वह सोचही रही थी कि कन्दर्पदर्पदलन युवक घनी झाड़ियोंसे निकला। यही था जिसने सूर्यप्रभाप्राणापहरणोद्यत सिंहके प्राणोंको लिया था। इसकी शौर्यमण्डित सूरतसे यह वीरबाला अज्ञातचर अननुभूतचर भावसे विभोर हो उठी। इस युवकने अपने प्राज्ञोचित उपदेशसे सूर्यप्रभाको समझाया कि यह कार्य तुझ जैसी रमणियोंका नही...

यह कह वहयुवक चला गया, पर सूर्यप्रभापर जो बीती वह पुस्तकमें पढ़ें।

कृष्णतारा—सूर्यप्रभाकी परमविश्वासपात्र सखी। इस उपाख्यानकी द्वितीयपात्र। परमचतुरनीतिनिपुण परमसुन्दरी विविधकलादक्ष। इसीने धनपतिको जेलमें रखवाया और बदमाशीसे एकत्रित उसके धनका सदुपयोग किया।

यह कविके प्रति श्रद्धावनत हुई और कविके परामर्शसे कपर्दको धर्मशास्त्रपरिषद्द्वारा समाजिक दण्ड दिलानेमें समर्थ हुई। प्रारम्भमें इसीने कामाविष्ट सूर्यप्रभाका उद्बोधन किया और आगे उसे सर्वत्र सफल बनानेमें इसीका सहयोग हुवा। यह कलङ्किता नगरीमें स्त्रीगुप्तचर विभागकी अध्यक्ष बनी और विलक्षण कार्योंमें सफल हुई। जब उसे इस कलङ्किताके मनुष्योंका दुःखद अनुभव मिला तो उसने सूर्यप्रभासे कहा कि यह नगरी मानवोंके आने रहनेलायक नही है। यह अनन्त निशीथ है, इसमें कभी भी चन्द्र न मिलेगा। मैं अब कविके साथ भारतके प्रसिद्ध तीर्थ स्थानोंको देखने जाती हूँ। [इसीभारत भ्रमणका वृत्त "कृष्णतारा किं वा नवपल्लवम्" नामक संस्कृत उपन्यासमें है]

धनपति :—सम्पन्न घरकी कन्यासे विवाहकर उसका लाखों रुपैयोका इन्स्योरेन्स करवाकर कुछ दिन वाद उसको मरवाकर इन्स्योरेन्ससे रुपैया लेना और फिर विवाह करना—यही इसका कारवार था जिससे वह करोड़पति हो गया था। ट्रान्सपोर्टके व्यापारमें इसकी सैकड़ों शाखा थी। हरमास किसी एक शाखामें योजनाबद्ध दुर्घटना करा दी जाती थी और इन्स्योरेन्स से रुपैये ले लिये जाते। वैङ्कका भी वैसा संगठन था, जिसमें चालू चतुर चौरचूडामणि चाकर और दलालोंके बलपर बहुत रुपैया इकट्ठा हुवा। अकस्मात् अखवारोंमें रिकार्डोमें आग लगनेकी खबर पढी गई और दूसरे दिन वैङ्कके दिवालिया होने की। लोग रो धोकर रह गये। इसकी एक स्त्री पेट्रोल डालकर रातको जलाई जा रही थी तो सूर्यप्रभाने दूरवीनसे देखा—इस जांचका पूरा भार कृष्णताराको दिया तो वह दोषी मिला पर कोई पुष्ट प्रमाण उसके विरुद्ध न था केवल सन्देहमें वह दण्डित न हो सकता था। पर इस पर दूसरे ढंग का रौब गांठकर पचासलाख रुपैया स्त्रीशिक्षा संस्थाओमें खर्च करवाया।

सप्तकपर्दः—इस उपाख्यानका खलनायक। यह पूर्वावस्थामें दरिद्र था। अपने धनी चाचाकेपास पितापुत्र दोनो नौकरी करते थे।

कपर्दने धीरे २ चाचाका पूर्णविश्वास प्राप्तकर सब धन हड़प लिया और चाचाको दिवालिया घोषित कर दिया। चाचाका घर कारबार सब नीलाममें इसीने ले लिया। चालाक तो था ही जिसपर महाझूठा और मक्कार। धनीहोनेके ये सभी गुण अब उसे रात दिन बढाने लगे। सुवह ८ बजे आवश्यकताग्रस्त सैकड़ो आदमी उसके पास आते थे। क्योंकि कई संस्थाओंका सभापति मन्त्री होनेकेकारण उसने मक्कारनाम कमा लिया था, अत:मिलनेवालोंका तांता लगा रहता था पर यह अपने स्वार्थसाधकोंके अतिरिक्त किसीको कानी कौड़ी तक न देता था। इसके बहुत रखैलें थीं। यह सभासंस्था यज्ञादिमें वहुत बड़ी रकम देनेकी घोषणा करता था, पर देता कुछ न था। इसके चतुराचार्य मुनिम उन कामोंको देखते थे और इसके ५१०००) का हिसाब छपवा देते थे। भ्रान्त मन्दवुद्धि लोग इन्ही कारणोंसे इसे धार्मिक समझने लगे थे, बस यही यह चाहता था। अवैध शरावखाना कसाई खाना निरन्तर धन उगलते थे औरपापाचारप्रवण इसकी प्रतिभा विविध दुष्कृत्य। कृष्णतारा इससे एक वार भेंट करने गई। सुन्दर और व्यवहारचतुर कृष्णतारा इसकी आंखोंमें समा गई। कपर्द उसे चाहने लगा। अचानक किसी युवकने कृष्ण ताराको उसको खोया हुवा बैग लाकर दिया। उसमें ५००) रु० और कागजात थे, पर युवकने उसे खोला न था। युवकने नम्रतापूर्वक कहाकि यह ७ दिन पहले यहाँ गिरा था जब मैं देने चला तो आप मोटर दौड़ा कर चली गयी थी, अस्तु, इसे अब सम्भालिये। युवक चला गया पर अपनी छाप कृष्णतारापर छोड़ गया। कृष्णतारा सुन्दरी थी युवति थी विदुषी थी चतुर थी। जीवनमें प्रथम उसे ऐसे निरपेक्ष युवक को देखने का मौका मिला था। लोग तो उसके सौन्दर्यके चारों ओर चक्कर लगाते थें और इसने आंख उठाकर देखा तक नहीं। एक दिन वही युवक उद्यान में लिख रहा था कि कृष्णताराने आकर उसकें लेख देखने चाहे। सङ्कोचवश वह दिखलाना न चाहता था पर परमाग्रह करनेपर उसने दिखाया तो

वह बहुत प्रभावित हुई और उसे छपवानेकेलिये पत्र लिखकर युवकको कपर्दकेपास भेजदिया। कविकी प्रतिभा और उसके साहित्यसे होने वाली ख्याति चरित्र और गठन देखकर कपर्दको ईर्ष्या हो गई और अपने नोकरोंसे कहकर शराबकी भट्ठीमें डलवादेनेके उद्देश्यसे उसे मद्यशालाभवनमें टिका दिया। वहाँके कर्मचारीसे यह रहस्य उसे मालूम हुवा और वह उसके योगसे भाग सका। कई मासकेवाद यह वृत्त कृष्णताराको मालूम हुवा। तो वह वहुत विगड़ी। उसे कपर्दके काले कारनामोंका पता तो था ही वह I. G. P. से मिलकर कपर्दको पकड़ाकर उसीकी रखैलों कर्मचारियोंसे उसके दोष सिद्ध कराकर उसे दण्डित करवा सकी।

पद्मिनीः— धनपतिकी सचिव विदुषी परमसुन्दरी थी जो उसकी स्त्रीकी तरह रहती थी। कृष्णतारा जब धनपतिकी स्त्रीमारणरहस्यको जाननेके लिये नियुक्त की गई तो वह धनपतिकी बहिन चन्द्रकलाको सङ्गीत पढानेके लिये धनपतिद्वारा नियुक्त हुई। कृष्णताराके सौन्दर्य सौस्वर्यने शीघ्र ही धनपति को खेंचा जो पद्मिनीको वुरा लगा। एक रात संयोग वश कृष्णतारा एवं पद्मिनी एक साथ रही। कृष्णताराने पद्मिनीसे सारा रहस्य जान लिया और आश्वासन दिया कि तुम अब इसको स्त्री ही वनोगी।

प्रान्तपुलिस अधिकारी I. G .P. :—पहिले सूर्यप्रभाके पिताके पास काम करता था। सूर्यप्रभा कलङ्कितामें आतेही इससे मिली और कथा व्यथा कह सुनाई। यह इसके अदम्य साहसको खूब पहचानता था, उसने सूर्य प्रभाको सूर्यसिंह नाम देकर स्वसहायकपदपर रख लिया और कृष्णतारा को स्त्रीगुप्तचरविभागकी अध्यक्ष। I. G. P. की कन्याके विवाहपर वरपक्ष वालोने वाराणसीकी पाँचवेश्याओंका नाम दिया। I. G. P. इस महफल का खर्चा किसी दूसरेपर डाल देना चाहते थे, फलतः यह कार्य कृष्णतारा को सौंपा गया। वह कपर्दको अध्यक्ष बनाने और फलतः खर्च वहन करानेमें समर्थ हो गई। यह प्रकरण शृङ्गारसाहित्यमें अनूठा है इसे अवश्य पढें।

कविः—उत्साही सद्भावी प्रौढलेखक । इसने कृष्णताराको मन्त्रणा दी कि अनन्तकालसे शासकलोग इस संसारसे बदमाशी उठा देनेकेलिये विविध दण्ड देते आये हैं, पर संसारसे अनाचार न मिटा अपितु बढ़ा । वस्तुतः दण्डका स्वरूप समाजिक और प्रतिदिन दिखलाई पड़ने वाला होना चाहिये । संसारमें भूलनेका स्वभाव अत्यधिक है । कल जिसे वह परम हिंसक समझता था उसे आज परम हंस समझ लेता है । अतः दैनिक उद्बोधक दण्डसे ही सही लाभ होगा । दण्डसंहिता कपर्दको दण्ड नही दे सकती अतः यह अभियोग धर्मशास्त्रपरिषद्को भेजना चाहिये ।

धर्मशास्त्रपरिषद्ः—वीतरागविद्वान् तपस्वियोंकी सत्यनिर्णयार्थ अन्तिमन्यायपरिषद्ने कपर्दको दण्ड दिया कि कलङ्किताकी चारों दिशाओं में सौ पायुकक्षा (पाखानें) चारतल्ले बनाये जायें । प्रत्येकतल्लेमें २५ पाखाने नियन्त्रितशीतताप हो वीचमें हाल । दुर्गन्धलेश कही न हो ऐसा सुप्रवन्ध हो ।

कवाडोंके भीतरकी ओर कपर्दका चरित्र लिखा रहे, ताकि शान्त चित्तसें एकान्तमें वह दोनो समय पढा जासके, और निरन्तर मननसे वह दुष्कृत्योसे निवृत्त हो सके । नीचेके तल्लेमें चारों ओर काचकी दीवार रहे ताकि भीतर का दृश्य सभी देख सकें । इसी तल्लेमें कपर्दकी पुरुषाकार प्रतिमा दैनिकसज्जा के साथ कुर्सी पर रखी जाय और प्रतिमाके शिर पर मलमूत्रकी महामल-प्रणाली निरन्तर वहती रहे । कपर्दका चरित्र और समाजसेवाके आधारपर चाटुकारोंसे मिली पदवियां और पद प्रधानद्वारपर सफेद पत्थरपर काले अक्षरोंसे लिखे जाय । राष्ट्रके समस्त पाखानोमें कपर्दप्रतिमाका प्रतीक लगाया जाय ताकि सबको याद रहे । कपर्दको घरमें रखनेवाले या उससे व्यापार करनेवालेको एक वर्षका घोर कारावास, भोजनवस्त्रदेनेवाले को छह मासकी सजा दी जाय । दश करोड़ रुपैया जुर्माना शासन ले

पांच करोड़ रुपैया पायुकक्षामें लगे। कपर्दके सब मकान समाजसंस्थाओंको दिये जाय क्योंकि वे समाजधननिर्मित हैं। कपर्द अपनी स्त्री एवं नौकरों सहित छोड़ दिया जाय। स्त्रियां अपनी इच्छानुसार पति चुन कर कपर्द-प्रासादमें आजीवन रह सकती हैं और सहकारी सीवनशालामें काम करती हुई जीविकार्जन कर सकती हैं। उसके पुत्र एवं पुत्री आजीवन दो सौ रुपैया मासिक प्राप्त करे।

इनके अतिरिक्त दाम्भिकनेता, पाखण्डीधर्माचार्य, धूर्त्तनागरिक व्यापारी चिकित्सक सम्पादक लेखकोंके चरित्र पुस्तकमें पढ़ें।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०	८	निदध	निदाघ
५०	१७	दुर्वल	दुर्बल
५१	२०	धर्त्तं	धर्त्तुं
५४	८	युद्धो	र्युद्धो
६१	११	परामशो	विमर्शो
६४	१६	क्षुब्धः	क्षुभितः
६७	१५	सद्वेशा	सद्वेषा
७२	११	सद्वेशेन	सद्वेषेण
७५	२७	गरन्ती	गिरन्ती
,,	,,	दमना	मदना
,,	,,	न्तवलीय	न्तर्विलीय
,,	,,	मदङ्गु	मदङ्गं
९३	८	मधना	प्रधुना
९७	६	परामर्शः	सम्मन्त्र
१००	१८	मुच्छड्	मुच्छृङ्
१०१	४	परामृश्य	विमृश्य

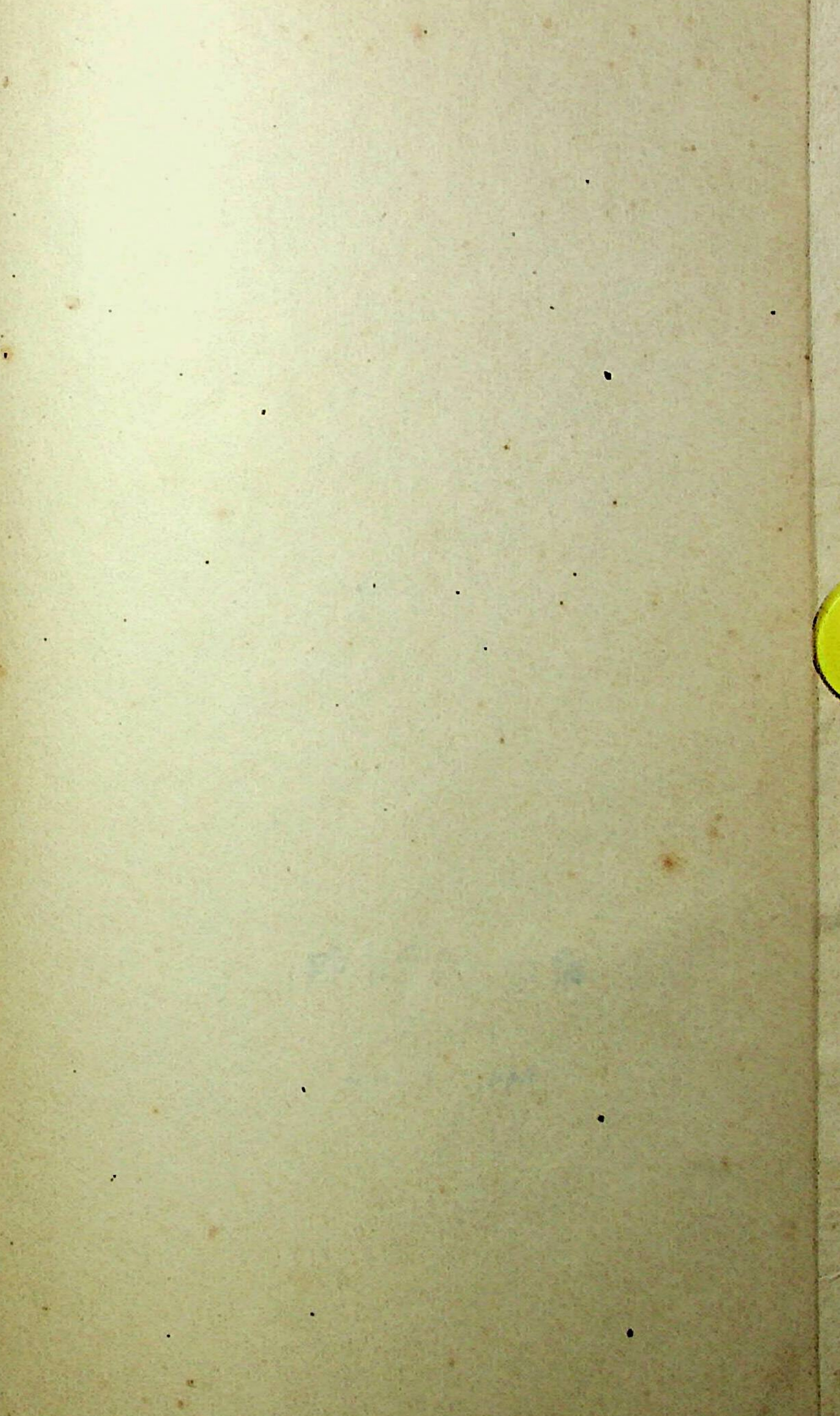
११६	६	गोर्य्य	गौर्य्यः
११८	८	भ्रातुभार्षा	भ्रातुर्भार्या
१२७	२६	रोद्धं	रोद्धुं
१२६	२	पर	परं
१३०	२७	चण	चणः
१३५	११	परामृष्टा:	आमन्त्रिता:
१३६	१२	परामर्श	विमर्श
१४१	२६	पर्पटा	पर्पटान्
१४३	२६	काय	कार्ये
४४	२४	परामृशामि	सम्मन्त्रयामि
१४७	३	परा	वि
,,	२२	पराम्र	निर्दं
१५१	५	वरामर्शौ	सम्मन्त्रो
१६०	२५	यितं	यितुं
१६१	१	कपर्दी	कपर्दो
१६६	१७	रजुन	रर्जुन
,,	२४	हर्त्तुं	हर्त्तुं
१७२	१६	सेवका	सेविका
,,	२३	परामृष्टा	आदिष्टाः
१८१	२	वत्तुल	वर्त्तुल
१८६	८	रात्त	रार्त्त
१६०	२६	तत्त	तत्तु
१६१	१३	प्रमांश	मांश:
१६७	१२	सत्कत्तु	सत्कर्त्तु
२१०	२०	वद्धनी	वर्द्धनीं

२२२	४	कासुः	काषुः
२३३	१३	पीञ्जष	पीञ्जूष
२३४	५	सार्द्धत्रि	सार्द्धद्वि
२३५	६	पिद्ध	षिद्ध
,,	१५	कर्त्त	कर्त्तुं
२७६	३	शाया	शायी
२७८	११	परामर्श	विमर्श
२७९	२६	कत्तु	कर्त्तुं
२९५	१६	कम	कर्म
२९६	६	गिरण	गरण
,,	२७	,,	,,
३०१	२७	भवन	भंवनं
३०४	१५	चरणीय	चरणीयं
३०५	८	क्षुखस्य	गौरवस्य
,,	२१	गणा	क्षुणा
३३८	१६	विद्यद्	विद्युद्
३४३	९	अमघरा	अमधुरा
,,	१७	कत्तु	कर्त्तं
३४९	२३	ल्पष्टो	तुष्टो
,,	२५	नवया	वनया
३६५	८	साश्रः	साश्रुः
,,	१३	द्दर्गन्ध	दुर्गन्ध
३७५	४	चक्रः	चक्रुः

सूर्यप्रभायां . समेतानां नवीनानां शब्दानां कोशः

अनुपदी खोजी रैभद्रः रायबहादुर

आवासकक्षा	फ्लेट	वकधवल	वंगला
आपिष	आफिस	वणिका	वानगी
आदानप्रदानिकः	लेवावेचीकरनेवाला	वरण्डिका	वाड
		विरामदा	वरामदा
इङ्गालकः	कोयला	विदाय	विदायी
उपदा	रिश्वत	विच्युति	गलती
उत्सर्प	उफाण	व्यञ्जः	वेञ्ज
उन्नम्यमान-तन्त्रावली	स्प्रिङ्ग		
ओ०के०	ओके	शार्कर	शर्वत
कोच	कोच	शौल्किकी	टैक्सी
(कुचउपवेशने)		साभ	साहिब
कृष्णाप	खिजाव	सर्वकार	सरकार
क्षार	सोडा	सग्धिः	साथभोजन
जीवनाश्वास	लाइफइन्स्योरेन्स	स्थितिस्थापक	स्प्रिंगदार
त्रिपादी	तिपाई	साहजित्	साहजी
दूरालाप	टेलीफोन	हस्तवाह्य शकट	ठेला
दूर्वालान	दूबकालान	हालः	हाल
द्विनाली	दुनाली	धूलिकोट्टः	धुलकोट
पण्यपत्तन	मण्डी	पत्काषी	पैदल
पक्षकोटर	पोकेट	पण्डाल	पण्डाल
प्रतीक्षक	वेटर	प्रतिभू	जमानत
फलक	फलसा	फलाट	फ्लेट
बहिका	बही	मरुत्तर	मोटर
मण्डनिर्घुष्ट	कड़पदिया	महफल	महफिल
मायाच्छिद	मस्जिद	मोची	मोची
मोहमयी	बम्बई		





वैद्यपञ्चानन काव्याल...
कविराज श्रीनिवा...
आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ, ...
बी० ए०, डि० एन्० ...

...ा ...ान्ताऽतनुवटुना जगत्त्र...
निर्वीयो मणिशकलेन जायते...
आचान्तः कलशभुवा सवाडवाऽब्धि-
र्दुर्ज्ञाना खलु विदुषां जनेन शक्तिः ॥

द्वारा रचित ग्रन्थ

१. विष्णुसहस्रनामस्तव :—स्तुतिके योग्य मनोहर छन्दोंमें भगवान्के हजार नामों को चतुर्थ्यन्त किया हुआ।

२. चन्द्रमहीपति :—कमला (संस्कृतमें कल्पनापर आधारित प्रथम उपन्यास) यू० पी० शासनसे २०००) रु० का सर्वोच्च पुरस्कार एवं राजस्थानसरकारसे ७५०) रु० का विशिष्ट पुरस्कारप्राप्त। मूल्य १०.०० रु०

३. सूर्यप्रभा किं वा वैभवपिशाच :—भाषा और भावमें वर्तमान आकाशमें प्रथम पुस्तक। जीवित नरोंद्वारा अवश्य पठनीय संस्कृत उपन्यास। राजस्थानशासनद्वारा सर्वोच्च २५००) रु० से पुरस्कृत। पृष्ठ संख्या ४१६। मूल्य १०.०० रु०

४. श्रीनिवाससूक्तित्रिशती :—हिन्दी अनुवादसहित संस्कृत इडियम। मूल्य ४० पैसे

५. दैनिकदशकर्मपद्धति :— मूल्य १३ पैसे

६. उडुदायप्रदीप :—नवरङ्गभाष्यसहित लघुपाराशरीपर संस्कृत और हिन्दीमें सम्पूर्ण साधिकार सोदाहरण विवेचन। अमुद्रित

७. स्वयम् :—(आत्मकथा) रमणीय भाषामें सृष्टिके आरम्भसे आजतक ब्राह्मण जातिका इतिहास, गोत्र, शासनपर प्रमाणित विवेचन एवं अद्यतन युगके युवकोंका परम उपादेय ज्ञानसे परिपूर्ण अपूर्व (हिन्दी) ग्रन्थ। अमुद्रित

८. कृष्णतारा किं वा नवपल्लवम् :—संस्कृत उपन्यास। अमुद्रित

९. सर्वाभ्युदयः किं वा सत्यं शिवं सुन्दरम् :—संस्कृत उपन्यास। अमुद्रित

१०. शब्दशती :—हिन्दीके सौ शब्दोंकी उत्पत्ति और व्युत्पत्ति। अमुद्रित

११. हेमलेट :—शेक्सपीयरके अंग्रेजी नाटकका अपूर्व संस्कृतानुवाद। ,,

१२. कलिपुराणम् :—द्वादशस्कन्धात्मकम्। ,,

१३. शब्दश्रीनिवासम् :—भाषाविज्ञानपर प्रातिशाख्योंपर आधारित भारतीय तत्त्वोंसे परिपूर्ण अपूर्व ग्रन्थ। अमुद्रित

१४. कलियुगी जातियाँ :—इसी युगमें स्वयम्भू (हिन्दी)।

पता :—श्रीवाणीवेश्म, १६१/१, महात्मा गान्धी रोड, कलकत्ता-७.